जैन न्याय पारिभाषिक कोश

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी।।
(पु.सि. 225)

निर्देशन व सम्पादन
प्रो. दामोदर शास्त्री

जैन न्याय पारिभाषिक कोश

(पृष्ठभूमि)

जैन न्यायशास्त्रीय साहित्य की एक विशाल व समृद्ध परम्परा रही है। उसमें विशिष्ट अवधारणा के वाहक अनेकानेक शब्द प्रयुक्त हैं, जिन्हें पारिभाषिक शब्द कहा जाता है। उनमें कुछ शब्द तो जैन व जैनेतर दोनों दर्शन-परम्पराओं में समान अर्थों में स्वीकृत है, किन्तु अनेक ऐसे शब्द हैं जिनका विशिष्ट अर्थ में प्रयोग जैन परम्परा में हुआ है। इसके अतिरिक्त, यह भी देखा गया है कि उन अवधारणाओं में कालक्रम से परिवर्तन, परिष्करण आदि भी हुआ है, फलस्वरूप परिभाषाएं भी बदली हैं। उदाहरणार्थ 'प्रत्यक्ष' की अवधारणा जैन परम्परा की अपनी पृथक् रही है, किन्तु इसका स्वरूप व पारिभाषिक अर्थ कालक्रमानुसार परिवर्तित या परिष्कृत होता रहा है।

अतः एक ऐसे **'जैन न्याय पारिभाषिक कोश'** की आवश्यकता प्रतीत हुई, जिसमें जैन न्यायशास्त्र में प्रयुक्त शब्दों या विशिष्ट अवधारणाओं का स्पष्टीकरण एकत्र उपलब्ध हो, साथ ही जिसमें कालक्रम से हुए परिवर्तनों को भी रेखांकित किया जा सके। प्रस्तुत कोश से उक्त आवश्यकता की पूर्ति का प्रयास किया गया है। विद्वानों से परामर्श कर कुछ ग्रन्थों को विशेष रूप से चयन किया गया और इन ग्रन्थों में जैन आचार्यों व नैयायिकों द्वारा जो न्यायशास्त्रीय विवेचना हुई है, उसके आधार पर विशिष्ट शब्दों या अवधारणाओं की कालक्रमागत परिभाषा व उसके स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास इस कोश का प्रमुख उद्देश्य है।

जैन न्याय
पारिभाषिक कोश



निर्देशन व सम्पादन :
प्रो. डॉ. दामोदर शास्त्री

जैन विश्वभारती संस्थान
(मानित विश्वविद्यालय)
लाडनूँ-341 306, राजस्थान

प्रकाशक :
जैन विश्वभारती संस्थान
(मान्य विश्वविद्यालय)
लाडनूं–341306, राजस्थान
Website : http.//www.jvbi.ac.in
E-mail: office@jvbi.ac.in

सम्पादन-सहयोगी : डॉ. सत्यनारायण भारद्वाज, डॉ. सुनीता इंदोरिया

© जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं

ISBN : 978-93-83634-13-2
प्रथम संस्करण : 2015
मूल्य : 500/=

मुद्रक
तिलोक प्रिंटिंग प्रेस, बीकानेर

अनुक्रमणिका

प्रस्तावना	V-XVI
जैन न्याय शास्त्र के प्रमुख आचार्य/ग्रन्थ	XVII-XXII
संदर्भ संकेत विवरण	XXIII-XXX
संगृहीत पारिभाषिक शब्दसूची	XXXI-XLVI
पारिभाषिक कोश	1-380
परिशिष्ट खण्ड	383-468

प्रस्तावना खण्ड

प्रस्तावना

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में प्रमाणशास्त्र या न्यायशास्त्र का प्रारम्भ ई. 2री शती के आसपास हुआ माना जाता है। कपिल मुनि का सांख्यसूत्र ई. पू. 6-7 में निर्मित हो चुका था। ई.पू. प्रथम शती में गौतम ऋषि का न्यायसूत्र तथा ई. प्रथमशती में कणाद ऋषि का वैशेषिकसूत्र प्रकाश में आया। ई. चौथी शती तक ब्रह्मसूत्र वेदान्त की भी रचना हो गई। इन ग्रंथों का प्रमाणशास्त्रीय चर्चा के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

जैन दार्शनिक परम्परा में भी प्रमाणचर्चा या न्यायशास्त्रीय परम्परा का इतिहास क्रमिक विकास को व्यक्त करता है। जैन (आगम) सूत्रों में न्यायशास्त्रीय या प्रमाणशास्त्रीय चर्चा के दर्शन नहीं के बराबर है, यद्यपि उनमें न्यायशास्त्रीय या प्रमाणशास्त्रीय चर्चा के आधारभूत बीजों को यत्र-तत्र देखा जा सकता है। 'न्याय' से तात्पर्य है-प्रमाण की कसौटी पर पदार्थ (प्रमेय) का परीक्षण (प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः)। जैन परम्परा में दार्शनिक दृष्टि से अंतिम प्रमाण सर्वज्ञ तीर्थंकर के वचन माने जाते हैं, इसलिए तर्क या युक्ति अथवा अन्य किसी प्रमाण से उसकी परीक्षा करने का प्रश्न ही नहीं उठता था। यही कारण था कि प्रमाण-चर्चा में जैन तार्किकों का प्रवेश अन्य तार्किकों की तुलना में कुछ मन्दगति से हुआ। आगम युग में अतीन्द्रिय चेतना के संवाहक तत्त्वसाक्षात्कर्ता विद्यमान थे, किन्तु शनैः शनैः इनकी परम्परा विच्छिन्न हो गई और फलस्वरूप तत्त्व-प्रतिपादन के क्षेत्र में तर्क का प्राधान्य हो गया।

जब अन्य दर्शनों के क्षेत्र में प्रमाणशास्त्रीय चर्चा व्यापक व प्रतिष्ठित हो गई तो जैन आचार्यों ने उसमें सक्रिय रूप से सम्मिलित होने का निश्चय किया। उनका ऐसा करना तत्कालीन दार्शनिक क्षेत्र की अनिवार्यता-सी थी। ई. 3री शती से 8वीं शती तक बौद्धों व नैयायिकों में परस्पर खण्डन-मण्डन का तीव्र संघर्ष चला। इस वैचारिक संघर्ष में प्रत्येक दर्शन के लिए अपनी मान्यता की सिद्धि के लिए युक्ति व तर्क को प्रमुखता देना अनिवार्य-सा हो गया था। इस स्थिति में जैन आचार्य पीछे रहने वाले नहीं थे। जैन न्यायशास्त्रीय विद्वानों के समक्ष जो आगमिक तत्त्वज्ञान उपलब्ध था, उसका उन्होंने भरपूर उपयोग किया और उसके मौलिक स्वरूप को यथासम्भव सुरक्षित रखते हुए तार्किक युक्तियों के आलोक में 'जैन न्यायशास्त्र' का एक विशाल भवन खड़ा किया। उनके प्रयास से जैन न्यायशास्त्र की एक सुदीर्घ परम्परा प्रवर्तित हुई और शताधिक प्रौढ़ ग्रंथों का निर्माण हुआ जिनसे भारतीय न्यायशास्त्रीय भण्डार की महनीय श्रीवृद्धि हुई है। उक्त जैन न्यायशास्त्रीय परम्परा की विकास-प्रक्रिया का एक सिंहावलोकन यहां प्रस्तुत है।

जैन आगम और प्रमाणशास्त्रीय विवेचन

उक्त विकास प्रक्रिया का विवरण प्रस्तुत करने से पूर्व, सम्बन्धित वैचारिक पृष्ठभूमि का भी परिचय देना यहां अपेक्षित है। जैन दर्शन या जैन न्यायशास्त्र को अन्य दर्शनों या न्यायशास्त्रीय विवेचनों से जो वैशिष्ट्य प्राप्त है, उसका कारण यह मौलिक मान्यता है कि सर्वज्ञ-वचन ही एकान्ततः प्रमाण हैं और व्यवहार-जगत् में 'ज्ञान' (आत्मीय विशेष स्वाभाविक गुण) प्रमाण है। अतः प्रारम्भ में ज्ञानचर्चा में ही प्रमाण-चर्चा समाहित रही है। प्राचीनतम जैन साहित्य-जैन आगमों में प्रमाणचर्चा व ज्ञानचर्चा -दोनों पृथक्-पृथक् स्वतंत्र स्थिति में दृष्टिगोचर होती हैं। कालान्तर में दोनों चर्चाएं जुड़ गईं और ज्ञान को ही 'प्रमाण' रूप में प्रतिष्ठित कर दिया गया। ज्ञान व प्रमाण से सम्बन्धित अवधारणा के क्रमिक विकास का संक्षिप्त विवरण यहां प्रस्तुत है जो जैनन्यायशास्त्रीय विकास-क्रम पर भी प्रकाश डालता है-

आगमिक साहित्य के अध्ययन करने से यह बात भी स्पष्ट प्रतीत होती है कि ज्ञान व प्रमाण सम्बन्धी चर्चा का विकास वहां क्रमशः हुआ है। प्रमुखतः उसे तीन भूमिकाओं में विभक्त किया जा सकता है।

प्रथम भूमिका वह है जहां ज्ञान व प्रमाण-दोनों में प्रत्येक की पृथक्-पृथक् चर्चा हुई है। भगवतीसूत्र में यह स्थिति प्रतिबिम्बित होती दृष्टिगोचर हुई है। वहां एक स्थल (8/2/97) में ज्ञान के (आभिनिबोधिक, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान -ये) पांच प्रकार बताये गये हैं; जबकि दूसरे स्थल (5/4/97) पर प्रमाण के (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम -ये) चार भेद बताये गये हैं।

द्वितीय भूमिका वह है, जहां ज्ञान को प्रमाणवत् मानकर उसके भेद बताये गये हैं। स्थानांग में यह स्थिति दृष्टिगोचर होती है। वहां (4/125) प्रमाण को द्रव्य, क्षेत्र, काल, व भाव -इन रूपों में विभक्त किया गया है, किन्तु दूसरे स्थल (2/86) पर ज्ञान के प्रत्यक्ष व परोक्ष -ये दो भेद बताये गये हैं। प्रत्यक्ष को (2/87 में) केवल व नोकेवल प्रत्यक्ष -इन दो रूपों में, नोकेवलप्रत्यक्ष को (2/95 में) अवधि व मनःपर्यय -इन दोनों रूपों में, और परोक्ष ज्ञान को (2/100 में) आभिनिबोधिक व श्रुतज्ञान -इन दो रूपों में विभक्त किया गया है। इस प्रकार, इस भूमिका में ज्ञानचर्चा को प्रमाणचर्चा के निकट लाने की स्थिति दिखाई पड़ती है।

तीसरी भूमिका वह है, जहां इन्द्रियजज्ञान को 'प्रत्यक्ष' की कोटि में रखने का प्रयास हुआ है। यह भूमिका नन्दीसूत्र में दृष्टिगोचर होती है, जहां (3/1) प्रत्यक्ष का इन्द्रियप्रत्यक्ष नामक एक अतिरिक्त भेद दर्शाया गया है। इससे पूर्व किसी भी आगम में ऐसा नहीं किया गया है। पूर्वोक्त भगवती व स्थानाङ्ग की तरह ही यहां (2/1 में) ज्ञान के पांच प्रकार बताये गये हैं। वहीं (2/2 में) ज्ञान को प्रत्यक्ष व परोक्ष -इन दो रूपों में विभक्त किया गया है। वहीं (3/1 में) परोक्ष ज्ञान के आभिनिबोधिक व श्रुत -ये दो रूप बताकर, फिर 'इन्द्रियप्रत्यक्ष' -यह नया प्रत्यक्ष-भेद बताया गया है। निश्चित ही यह भूमिका दर्शनान्तरों में प्रत्यक्ष रूप में स्वीकृत इन्द्रियज

ज्ञान को प्रत्यक्ष की मान्यता देने की दिशा में प्रथम प्रयास है, क्योंकि आगमिक दृष्टि से इन्द्रियज ज्ञान को वस्तुत: परोक्ष रूप ही माना गया है। अत: नन्दीसूत्र में वर्णित 'इन्द्रियप्रत्यक्ष' की अवधारणा में दर्शनान्तरीय प्रत्यक्ष प्रमाण सम्बन्धी अवधारणा के साथ समन्वय बैठाने का प्राथमिक प्रयास लगता है। कालान्तर में जैन न्यायशास्त्रीय आचार्यों ने इस भूमिका के आधार पर 'सांव्यवहारिक' नामक प्रत्यक्ष की अवधारणा को जन्म दिया और जिससे जैन आचार्यों के लिए दर्शनान्तरीय प्रमाणचर्चा में सम्मिलित होने का मार्ग प्रशस्त हो गया।

चौथी भूमिका वह है जहां 'ज्ञान' के साथ दर्शनान्तर-स्वीकृत प्रत्यक्षादि प्रमाणों को जोड़ दिया गया। यह स्थिति आर्यरक्षित-कृत (वि. 2री शती) अनुयोगद्वारसूत्र में परिलक्षित होती है। वहां (1/1 में) ज्ञान के आभिनिबोधिक आदि पांच भेद बताये गये हैं, साथ ही अन्यत्र स्थल (11/515) पर ज्ञानगुणप्रमाण के रूप में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान व आगम –इन चार प्रमाणों का निर्देश भी किया गया है। ये चारों प्रमाण वही हैं जो नैयायिकों में स्वीकृत रहे हैं।

आगमिक समग्र निरूपण को देखने से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वहां कहीं भी ज्ञान को प्रमाण अथवा अज्ञान को अप्रमाण –इस प्रकार विभक्त नहीं किया गया है।

आगमोत्तर साहित्य में प्रमाणचर्चा का विकास

आगमीय व्याख्याग्रंथों-चूर्णि, निर्युक्ति, भाष्य व टीका आदि में प्रमाण-चर्चा क्रमश: विकसित होती गई। निर्युक्ति साहित्य (वि. 2री शती) में आभिनिबोधिक ज्ञान के संज्ञा, स्मृति आदि पर्यायों का निर्देश प्राप्त होता है तथा वहां ज्ञान के प्रत्यक्ष व परोक्ष भेदों को भी स्वीकृति मिली है।

ज्ञान व प्रमाण का वास्तविक समन्वय वाचक उमास्वातिकृत तत्त्वार्थसूत्र में उपलब्ध होता है। तत्त्वार्थसूत्र और उसके स्वोपज्ञ भाष्य (1/12) में ज्ञान को प्रमाण बताकर समस्त ज्ञानों को प्रत्यक्ष व परोक्ष –इन दो प्रमाणों में विभक्त किया गया, साथ ही दर्शनान्तरों में स्वीकृत अनुमान, अर्थापत्ति आदि प्रमाणों को मति व श्रुतज्ञान में समाविष्ट किया गया। भाष्यकार का यह प्रयास दर्शनान्तर के आचार्यों को शास्त्रीय चर्चा के लिए आमंत्रण देने जैसा था।

इधर आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रंथों में ज्ञानचर्चा के प्रसंग में ज्ञान को प्रत्यक्ष व परोक्ष रूपों में विभाजित कर इन्द्रियज ज्ञान को परोक्ष रूप में ही स्वीकृत किया, किन्तु ज्ञान की स्वपरप्रकाशकता का सयुक्तिक समर्थन किया। उन्होंने (नियमसार 51 में) विमोह, विभ्रम से वर्जित ज्ञान को 'सज्ज्ञान' की संज्ञा देकर प्रमाण व प्रमाणाभास के भावी स्वरूपों की आधारशिला रख दी। समग्रत: आ. कुन्दकुन्द की ज्ञानचर्चा आगमिक मान्यता का कट्टर समर्थन करती हुई भी अन्य दार्शनिकों की प्रमाणचर्चा से अप्रभावी भी नहीं प्रतीत होती है।

उत्तरवर्ती आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने अपने विशेषावश्यक भाष्य में पांच ज्ञानों का विशद व विस्तृत विवेचन किया और तर्क व युक्ति के बल पर आगमिक मान्यता को एक सुदृढ़ आधारस्तम्भ भी प्रदान किया।

आगमिक परम्परा में श्रुतज्ञान के प्रतिनिधि मात्र लोकोत्तर आगमशास्त्र (अंगप्रविष्ट व अंगबाह्य) स्वीकृत थे, किन्तु आचार्य जिनभद्रगणी ने (भाष्य-गाथा-96 में) श्रुत की नई परिभाषा देते हुए कहा कि इन्द्रियमनोनिमित्तज श्रुतानुसारी ज्ञान श्रुतज्ञान (भावश्रुत) है, शेष (इन्द्रियादिज) मतिज्ञान है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने 'श्रुतानुसारिता' को स्पष्ट करते हुए कहा कि धारणात्मक ज्ञान से पद-पदार्थ की वाच्य-वाचकतापूर्वक संयोजना से जो ज्ञान बनता है, वह श्रुतानुसारी होता है। आचार्य जिनभद्र ने मति व श्रुत की भिन्नता में अनेक कारणों का भी निर्देश किया। इस प्रसंग में यह भी ज्ञातव्य है कि नन्दीसूत्र (3/35) में मतिज्ञान व श्रुतज्ञान को सहभागी बताया गया, किन्तु वाचक उमास्वाति ने (तत्त्वार्थभाष्य-1/31 में) स्पष्ट किया कि मतिज्ञान जहां है, वहां श्रुतज्ञान हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है, किन्तु जहां श्रुतज्ञान है वहां मतिज्ञान होगा ही। उत्तरवर्ती आचार्य सिद्धसेन ने (भाष्यानुसारिणी टीका में) मति व श्रुत को एक ही ज्ञान मानने तथा श्रुत को पृथक् प्रमाण न मानने का अपना मत व्यक्त किया।

स्वतन्त्र जैन न्यायशास्त्रीय ग्रंथों का प्रणयन

आचार्य समन्तभद्र व आचार्य सिद्धसेन -इन दोनों आचार्यों के पौर्वापर्य में विद्वानों का मतभेद है, तथापि इन दोनों को जैनन्यायशास्त्रीय चर्चा का प्रथम सूत्रधार माना जा सकता है। आचार्य समन्तभद्र ने सर्वप्रथम (बृ. स्वयम्भू स्तोत्र, 102) जैन प्रवचन में 'न्याय' शब्द की यथार्थता को उद्घाटित किया। उन्होंने आप्तमीमांसा में न्यायशास्त्रीय विषयों की चर्चा का सूत्रपात किया और (स्वयम्भूस्तोत्र, 63) प्रमाण को स्वपरप्रकाशी के रूप में निरूपित किया।

अनुयोगद्वार व तत्त्वार्थसूत्र -इन दोनों में प्रमाणचर्चा का जो सूत्रपात हुआ, उसे आगे बढ़ाने का कार्य आचार्य समन्तभद्र और आचार्य सिद्धसेन ने किया। आ. सिद्धसेन का योगदान और भी महनीय कहा जा सकता है क्योंकि उन्होंने अपने न्यायावतार जैसी छोटी सी (द्वात्रिंशिका) कृति में प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय, प्रमिति -इन चारों तत्त्वों को समाहित किया और प्रमाण-निरूपण के साथ-साथ नय-सम्बन्धी निरूपण भी प्रस्तुत किया। वस्तुतः उन्होंने जैन न्यायशास्त्र को प्रथमतः वह सुदृढ़ आधार प्रदान किया, जहां से अन्य दर्शनान्तरों के साथ प्रमाणशास्त्रीय चर्चा का मार्ग अधिक प्रशस्त हुआ।

आ. सिद्धसेन का महनीय योगदान

आचार्य सिद्धसेन ने प्रतिपादित किया- 'ज्ञेयः परसिद्धान्तः' (द्वात्रिंशिका-8/19) अर्थात् अन्य दर्शन

ग्रन्थों का भी ज्ञान अपेक्षित है। उनके इस कथन से जैन और अन्य दर्शन-परम्परा की दूरी कम होनी शुरू हुई। उन्होंने यह भी (सन्मति. 3/43-45) प्रतिपादित किया कि आगम के वचन हेतु या तर्क से अतीत होते हैं, किन्तु इन्द्रियगम्य विषयों की सिद्धि के लिए हेतु (तर्क, युक्ति) का प्रयोग वांछनीय ही है।

उन्होंने यह भी (सन्मति. 3/47) कहा कि जितने भी वाद (दर्शन-मत) हैं, वे सब 'नय' है। सभी नयों का उद्गम-स्रोत 'जिनप्रवचन' ही है। अन्य सभी दृष्टियां नदियां हैं तो जिनप्रवचन एक समुद्र है, जहां सभी नदियों का आश्रयण देखा जा सकता है (द्वात्रिं. 4/15)। अन्य दर्शनों में जो भी युक्तियुक्त तत्त्व या कथन है, उन सबका स्रोत जिनप्रवचन ही है (द्वात्रिं- 1/30)। आचार्य सिद्धसेन ने (सन्मति. 3/48-52) सभी दर्शनों को जैन परम्परा में मान्य नैगमादि नयों या द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक -इन दो नयों में समाहित करने का प्रयास किया। इस समन्वय-पद्धति का अनुसरण परवर्ती आचार्य हरिभद्र, आचार्य मल्लिषेण (स्याद्वादमंजरी, का 14, 28) तथा उपाचार्य यशोविजय (जैनतर्क भाषा, 2 परिच्छेद) आदि आचार्यों के ग्रंथों में भी किया जाता रहा।

आचार्य सिद्धसेन की उक्त विवेचना का फल यह भी हुआ कि जैन आचार्य परमत-खण्डन में प्रमुखतः यह प्रयास करने लगे कि अन्य दर्शन किस प्रकार एकान्तवादी हैं और उनके एकान्तवाद में क्या-क्या व्यावहारिक विप्रतिपत्तियां हैं।

आचार्य सिद्धसेन ने (सन्मति. 1/15-25) यह भी प्रतिपादित किया कि सभी नयात्मक दर्शन मात्र स्वपक्ष का ही समर्थन करें और दूसरे का तिरस्कार करें तो 'मिथ्या' हैं, किन्तु 'सापेक्ष' होकर, दूसरे के मत को भी अपने से जोड़ कर वे चलें तो 'सम्यक्' हो जाएंगे।

आचार्य सिद्धसेन के उक्त प्रतिपादन ने दर्शनों में, विशेषकर जैन व जैनेतर दर्शनों के मध्य आग्रह की दीवार को कमजोर कर दिया जिससे परस्पर एक-दूसरे की मान्यता को गंभीरता से या मध्यस्थता से विचार करने का मार्ग प्रशस्त हुआ। आचार्य हेमचन्द्र ने आचार्य सिद्धसेन के ही अभिमत को आगे बढ़ाते हुए **'न चाप्यनेकान्तमृते नयस्थितिः'** (अयोगव्यव-28) 'अनेकान्तवाद के बिना नयों की स्थिति ही नहीं बनती' - यह कह कर सभी जैनेतर दर्शनों को अनेकान्तवाद की शरण में आने की बाध्यता बताई।

आचार्य सिद्धसेन ने अपनी पूर्व आगमिक परम्परा का सर्वथा अनुकरण न करके अपनी स्वतंत्र बौद्धिक प्रतिभा का भी उपयोग किया। उदाहरणार्थ, मति व श्रुत ज्ञान के पृथक्-पृथक् होने की मान्यता को उन्होंने नकारा और स्मृतिज्ञान की तरह ही श्रुतज्ञान को मतिज्ञान में ही अन्तर्भूत किये जाने की मान्यता का सयुक्तिक समर्थन किया।

निष्कर्षतः आचार्य समन्तभद्र और आचार्य सिद्धसेन दोनों ने नयवाद, अनेकान्तवाद व स्याद्वाद का विशद विवेचन भी किया और अनेकान्त की दृष्टि से दार्शनिक चर्चा का भी सूत्रपात किया।

कालान्तर में, जैन परम्परा में अन्य मतों के निराकरण हेतु प्रमाणशास्त्रीय युक्तियों का भी प्रयोग क्रमशः बढ़ता गया और जैन न्यायशास्त्रीय परम्परा निरन्तर प्रगति की ओर बढ़ती गई। यहां यह ज्ञातव्य है कि प्रारम्भ में जैन आचार्यों ने अपने आगमों (जिनवाणी) को 'अतर्कगोचर' (तर्क से प्रतिपादित या बाधित नहीं होने योग्य) माना था। उनका उद्घोष था– नान्यथावादिनो जिनाः (ज्ञानार्णव, 30/1624)। धवला (पु. 9, सू. 53, श्लोक-91, पृ. 251) में आप्तवचन 'आगम' को पूर्वापरविरोध आदि दोषों से रहित घोषित किया गया (पूर्वापरविरोधादेर्व्यपेतो दोषसंहतेः ...आगमः)। यथार्थवादिता या यथार्थदर्शिता सर्वज्ञ तीर्थंकर का विशिष्ट गुण है (द्र. अयोगव्यवच्छेदिका- का. 2 व 28) जो अन्य में नहीं है। जिनवचन तो उतने ही प्रमाण है; जितना प्रत्यक्ष ज्ञान (कथमार्षस्य प्रामाण्यमिति चेत्, स्वाभाव्यात् प्रत्यक्षस्येव– षट्खण्डागम-I पृ. 316, सू. 1/1/73)। ऐसी स्थिति में जिन-वचनों को तर्क से परखना उन्हें मान्य नहीं था। किन्तु जब जैन आचार्य न्यायशास्त्रीय चर्चा में पूर्ण समर्थ हो गए तो अन्य दार्शनिकों को लक्ष्य कर उन्होंने कहा– हमारा जैन दर्शन तो सौ टका शुद्ध स्वर्ण जैसा है, हमें परीक्षा से डर नहीं है। अन्य दर्शन परीक्षा से डरते क्यों हैं? अन्य दर्शन तो अविचारितरमणीय हैं। हम उनको ग्राह्य तभी मानेंगे, जब वे पूर्वापरविरोध-दोष से स्वयं को रहित सिद्ध करें और अपने मत को युक्तियुक्त प्रमाणित करें–

अनेन अपरदर्शनानि अविचारितरमणीयानि इति आवेदितं मन्तव्यम्।.....पैरैर्हि दोषसंभावनयैव स्वमतविचारणा नाद्रियते। यत उक्तम्–

अस्ति वक्तव्यता काचित् तेनेदं न विचार्यते।
निर्दोषं काञ्चनं चेत्स्यात् परीक्षाया बिभेति किम्॥

अत एव जैना जिनमतस्य निर्दूषणतया परीक्षातो निर्भीका एवमुपदिशन्ति।.....यदेव दर्शनं युक्तितया अवभासते, यत्र पूर्वापरविरोधगन्धोऽपि नेक्ष्यते, तदेव विशारदैः आदरणीयं नापरमिति....।

(षड्दर्शनसमुच्चय टीका, कारिका-44, अनुच्छेद, 38, सांख्यमत)

जैन तार्किकों ने बड़ी दृढ़ता से कहा कि अन्य दर्शनों में परस्पर-विरोध है, जैन दर्शन में नहीं (स्यादवादमंजरी, का.-11, 13, 15 आदि)। अन्य दर्शनों में, पूर्ववर्ती आचार्य ने जो कहा है, उसका परवर्ती शिष्यों द्वारा ही खण्डन कर दिया गया दृष्टिगोचर होता है, ऐसी स्थिति जैन शासन में नहीं (अयोगव्यवच्छेदिका-16)। स्तुति के माध्यम से जैन आचार्यों ने कहा कि जिन-शासन की पराजय की सोचना वैसा ही है, जैसा कि जुगनू के प्रकाश से सूर्य को पराभूत करना (अयोगव्यव.-8)। आ. हेमचन्द्र के शब्दों में जैन प्रमाणवाद कुवादी अन्य दर्शनों के लिए वैसा ही भयप्रद है जैसा कि हिरणों के लिए सिंहनाद (अन्ययोगव्यव-22)। एकान्तवाद-दोष से ग्रस्त सभी जैनेतर दर्शनों को 'अनृत' (असत्य) घोषित किया गया (बृ. स्वयम्भूस्तोत्र, 98, तथा न्यायावतारवार्तिक-56)।

उक्त असत्यता के निराकरण का समाधान एकमात्र स्यात्पदप्रयोग (स्याद्वादनीति) है (आप्तमीमांसा, 112, बृ. स्वयम्भू स्तोत्र-65) –ऐसा कहकर जैन आचार्यों ने जैन प्रमाणवाद की अजेयता का उद्घोष किया।

अन्ततः जैन परम्परा में इतना स्वाभिमान जागृत हो गया कि उन्होंने परमत-निराकरण को जिन-शासन की प्रभावना का अंग प्रतिपादित कर दिया।

ई. 9वीं शती के (आचार्य गुणभद्रकृत) उत्तरपुराण (76/419-20) में तो यहां तक कहा गया है–

निमित्तैरष्टधा प्रोक्तैः तपोभिर्जनरञ्जनैः।
धर्मोपदेशनैरन्यवादि - दर्पातिशातनैः॥

नृपचेतोहरैः श्रव्यैः काव्यैः शब्दार्थसुन्दरैः।
सद्भिः शौर्येण वा कार्यं शासनस्य प्रभावनम्॥

ऐसे जिनशासनप्रभावक के चरण-कमलों को धर्मात्मा लोग अपने मस्तक पर धारण करते हैं; क्योंकि सिद्धान्तज्ञाता, तपस्वी व तार्किक आदि होना उसी शासनप्रभावक के लिए सार्थक है–

स शाब्दः स हि सर्वज्ञः, स सैद्धान्तः स सत्तपाः।
यः शासनसमुद्भासी न चेत् किं तैरनर्थकैः॥

भास्वतेव जगद् येन भासते जैनशासनम्।
तस्य पादाम्बुजद्वन्द्वं ध्रियते मूर्ध्नि धार्मिकैः॥

कण्टकानिव राज्यस्य नेता धर्मस्य कण्टकान्।
सदोद्धरति सोद्योगो यः स लक्ष्मीधरो भवेत्॥

(उत्तरपुराण, 76/423-424, 426)

जैनन्यायशास्त्र की सुदीर्घ परम्परा

आचार्य सिद्धसेन के बाद के आचार्यों में आचार्य अकलंक को जैनन्यायशास्त्र का प्रतिष्ठापक आचार्य होने का गौरव प्राप्त है। प्रत्यक्ष व परोक्ष प्रमाण का जो आगमिक आधार आत्ममात्रसापेक्ष व इन्द्रियादिसापेक्ष होना था, वह अब स्पष्टता व अस्पष्टता हो गया। यहां यह ज्ञातव्य है कि आ. समन्तभद्र ने शास्त्र का लक्षण 'प्रत्यक्ष (आदि) अविरुद्ध' होना (द्र. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 9) बताया था और अन्य दर्शनों के मत को प्रत्यक्ष (आदि) से विरुद्ध घोषित किया था (द्र. आप्तमीमांसा, 6-7)। जैन आगम-परम्परा में तो प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय (इन्द्रियनिरपेक्ष, अवधि, मनःपर्यय व केवलज्ञान) ज्ञान रूप माना जा रहा था। इस आगमिक परम्परा-मान्य प्रत्यक्ष के आलोक में अन्य दर्शनों को प्रत्यक्ष-विरुद्ध सिद्ध करना सम्भव नहीं था, अतः 'प्रत्यक्ष' का

ऐसा स्वरूप प्रस्तुत करना अपेक्षित हो गया, जो जैन आगमिक परम्परा से भी सर्वथा विरुद्ध न हो और लोकप्रचलित 'प्रत्यक्ष' से भी अविरुद्ध हो। अतः आ. अकलंक ने लघीयस्त्रय (का. 3) में विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष बताकर उनके मुख्य व संव्यवहार –ये दो भेद निरूपित किये और विशदता-आधारित प्रत्यक्षता के साथ-साथ सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष की अवधारणा को पूर्णतया सुव्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया जो उत्तरवर्ती आचार्यों के लिए आधारस्तम्भ बना रहा।

इसी तरह 'नित्य' की भी जैन आचार्यों ने अपनी नई परिभाषा दी– 'तद्भावाव्ययो नित्यम्' (तत्त्वार्थसूत्र. 5/31)। यह वस्तु वही है, ऐसी प्रत्यभिज्ञा के आधार पर उस वस्तु के मूल स्वरूप का बने रहना –यह नित्यता है (राजवार्तिक, 5/31/1)। इस परिभाषा के आधार पर वस्तु को कथंचिद् नित्यानित्यात्मक सिद्ध करना जैन आचार्यों के लिए सहज हो गया।

उत्तरवर्ती आचार्यों ने स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान व आगम –इन पांच रूपों में परोक्ष ज्ञान को विभाजित कर न्यायशास्त्रीय विवेचन को अत्यन्त सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया, साथ ही खण्डन-मण्डन की शैली को अपनाते हुए जैनन्यायशास्त्रीय वैशिष्ट्य को भी सुरक्षित रखने का सफल प्रयास किया। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान व तर्क को अन्य दर्शनों में प्रमाण नहीं माना जाता था, किन्तु जैन न्यायशास्त्र में इन्हें पृथक् प्रमाण के रूप में स्थापित किया गया है। अन्य दर्शनों के आक्षेपों का सयुक्तिक निराकरण करने और अन्य दर्शनों की मान्यता पर सयुक्तिक आक्षेप करने में जैन आचार्यों ने अपनी सारी प्रतिभा लगा दी।

आचार्य अकलंक के उत्तरवर्ती आचार्यों में आचार्य विद्यानन्दि, आचार्य हरिभद्र, आचार्य वादीभसिंह, सिद्धर्षि गणी, अनन्तवीर्य, माणिक्यनन्दी, अभयदेव, प्रभाचन्द्र, लघु अनन्तवीर्य, वादिराजसूरि, मलधारी हेमचन्द्र, वादिदेवसूरि, आचार्य हेमचन्द्र (कलिकालसर्वज्ञ), माइल्ल धवल, रत्नप्रभसूरि, लघु समन्तभद्र, मल्लिषेण, गुणरत्नसूरि, धर्मभूषण यति, पं. विमलदास, पं. राजमल्ल, उपाचार्य यशोविजय, पं. चारुकीर्ति पंडिताचार्य, भोज कवि, पं. नरेन्द्रसेन आदि-आदि जैन शास्त्रकारों के नाम प्रमुखतः उल्लेखनीय हैं जिन्होंने जैनन्यायशास्त्र को एक सुदृढ़ व विशाल आधार प्रदान किया है।

उपाचार्य यशोविजय ने जैनन्यायशास्त्र को नव्य न्याय शैली से जोड़ने का महनीय प्रयास किया। इसी क्रम में पं. चारुकीर्ति पंडिताचार्य का नाम भी सादर उल्लेखनीय है जिन्होंने 'प्रमेयरत्नालंकार' (परीक्षामुख पर टीका) जैसी कृति को नव्यन्यायशैली में प्रस्तुत किया।

आधुनिक युग में आचार्य तुलसी, आचार्य महाप्रज्ञ आदि आचार्यों ने जैन न्यायशास्त्रीय परम्परा को निरन्तर प्रवर्तित रखा है।

इसी प्रसंग में हम बीसवीं सदी के उन विद्वानों को भी याद करना चाहते हैं जिन्होंने जैन न्याय को तुलनात्मक अध्ययन के साथ प्रौढ़ता प्रदान करने तथा इसे व्यापक आधार देने में महनीय योगदान किया है, जिनमें पं. महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य, पं. सुखलालजी संघवी (प्रक्षाचक्षु), डॉ. ए.एन. उपाध्ये, डॉ. हीरालाल जैन, पं. दलसुख मालवणिया, डॉ. दरबारीलाल जी कोठिया, पं. कैलाशचन्द जी शास्त्री, डॉ. नथमल टाटिया आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

जैन न्याय पारिभाषिक कोश की उपादेयता

जैन न्यायशास्त्र में विशिष्ट अवधारणा के वाहक अनेकानेक शब्द प्रयुक्त हैं जिन्हें पारिभाषिक शब्द कहा जाता है। उनमें कुछ शब्द तो जैन व जैनेतर दोनों दर्शन-परम्पराओं में समान अर्थों में स्वीकृत हैं, किन्तु अनेक ऐसे शब्द हैं जिनका विशिष्ट अर्थ में प्रयोग जैन परम्परा में हुआ है। इसके अतिरिक्त, यह भी देखा गया है कि उन अवधारणाओं में कालक्रम से परिवर्तन, परिष्करण आदि भी हुआ है, फलस्वरूप परिभाषाएं भी बदली हैं। उदाहरणार्थ 'प्रत्यक्ष' की अवधारणा जैन परम्परा की अपनी पृथक् रही है, किन्तु इसका स्वरूप व पारिभाषिक अर्थ कालक्रमानुसार परिवर्तित या परिष्कृत होता रहा है। इसी तरह, 'प्रमाण' शब्द को लें। 'प्रमा' का साधन 'प्रमाण' होता है –इस अवधारणा को जैन व जैनेतर, सभी परम्पराएं एक स्वर से मानती हैं, किन्तु 'प्रमाण' किसे माना जाए-इसमें मतभेद है। 'हेतु' शब्द जैन आगम 'स्थानांग' (स्था. 4) में 'प्रमाण' अर्थ में प्रयुक्त है, कालान्तर में अन्य दर्शनों के साथ समन्वय की दिशा में बढ़ते हुए उसे अनुमान के साधक अंगों में स्वीकृत कर लिया गया है। इसी तरह हेतु का 'अन्यथानुपपन्नत्व' लक्षण जो जैन परम्परा ने दिया है, वह अकाट्य तो है ही, नवीन व सूक्ष्म चिन्तन को भी लिये हुए है।

उपर्युक्त तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में एक ऐसे 'जैन न्याय पारिभाषिक कोश' की आवश्यकता प्रतीत हुई जिसमें जैन न्यायशास्त्र में प्रयुक्त शब्दों या विशिष्ट अवधारणाओं का स्पष्टीकरण एकत्र उपलब्ध हो, साथ ही जिसमें कालक्रम से हुए परिवर्तनों को भी रेखांकित किया जा सके। उपलब्ध कोश साहित्य से उक्त आवश्यकता की पूर्ति नहीं हो पाती, अतः इसकी उपादेयता को सभी ने समर्थन किया। आचार्य महाप्रज्ञ जी का इस योजना को वरद हस्त एवं अमूल्य मार्गनिर्देशन प्राप्त रहा। वस्तुतः इस योजना की कल्पना उन्हीं की थी। इस कोश की उपादेयता की समृद्धि में वर्तमान आचार्य महाश्रमण जी का अमूल्य मार्गदर्शन प्राप्त होता रहा है, जो अविस्मरणीय है। प्रारम्भ में श्रद्धेय समणी मंगलप्रज्ञा (वर्तमान में साध्वीजी) ने इस योजना को अपने निर्देशन में लिया और 'महादेवलाल सरावगी अनेकान्त शोधपीठ' के तत्त्वावधान में इस कोश के निर्माण की रूपरेखा को गतिशील किया। **जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय के 'जैनविद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन विभाग'** का तथा इस विभाग के समणी-वृन्द तथा डॉ. योगेश जैन का भी इसमें सहयोग प्राप्त रहा है। अनेकान्त शोधपीठ के उपनिदेशक माननीय डॉ. अनिल धर (वर्तमान में कुलसचिव भी) का यथासमय सभी तरह का अमूल्य

सहयोग प्राप्त हुआ, अन्यथा यह कार्य सम्पन्नता को प्राप्त नहीं होता। वर्तमान में आदरणीया **समणी चारित्रप्रज्ञाजी** (वर्तमान कुलपति) का इस योजना को प्रमुख आशीर्वाद प्राप्त रहा है; और उन्होंने इस कोश को प्राथमिकता से सम्पन्न करवाने में अत्यधिक रुचि ली है और सतत मार्गनिर्देशन भी किया है। इसके निर्माण की परम्परा में अनेक विद्वानों से परामर्श भी लिया गया और मौलिक रूपरेखा में यथासम्भव परिवर्तन-परिवर्धन भी किया गया।

विशेषत: इस कोश के समग्र निर्माण एवं सम्पादन आदि में विभाग की सहायक आचार्या डॉ. सुनीता इन्दोरिया का योगदान उल्लेखनीय है। अत: वह साधुवाद की पात्र हैं।

कोश-रचना-स्वरूप-परिचय

1. जैन आगमों में तथा परवर्ती व्याख्याग्रंथों एवं स्वतंत्र न्यायशास्त्रीय ग्रंथों की विशाल परम्परा है, उन सभी का अनुशीलन कर पाना कठिन है। इसलिए विद्वानों से परामर्श कर कुछ ग्रन्थों को विशेष रूप से चयन किया गया इन ग्रन्थों में जैन आचार्यों व नैयायिकों द्वारा जो न्यायशास्त्रीय विवेचना हुई है, उसके आधार पर विशिष्ट शब्दों या अवधारणाओं की कालक्रमागत परिभाषा व उसके स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास इस कोश का प्रमुख उद्देश्य है। न्यायशास्त्र में प्रवेश व अवगाहन हेतु जिनका ज्ञान उपयोगी है या जिनसे जैन परम्परा की मौलिक विशेषता अभिव्यक्त होती है, ऐसे शब्दों का चयन प्रमुखत: किया गया है। कोश-प्रारूप के प्रारम्भ में ही प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों की अकारादि क्रम से सूची भी संलग्न की गई है।
2. जैन न्यायशास्त्र से सम्बद्ध पारिभाषिक शब्दों को अकारादि-क्रम से संयोजित कर, उसका पारिभाषिक स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। उन परिभाषाओं के पौर्वापर्य में काल-क्रम को प्रमुखता दी गई है, ताकि कालक्रम से हुए उनमें परिवर्तन आदि को हृदयंगम किया जा सके।
3. कुछ जैन आचार्यों का काल-निर्धारण प्राय: विवादास्पद रहा है, फिर भी सभी मत-मतान्तरों को दृष्टि में रखकर उन्हें सुनियोजित करने का प्रयास किया गया है। जैन आचार्यों की कालक्रम-निर्धारण सहित एक प्रस्तावित सूची भी इस कोश में संलग्न की गई है।
4. जिन जैन न्याय-ग्रंथों को संदर्भ-स्थल के रूप में प्रयुक्त किया गया है, उनके संक्षिप्त रूप भी रखे गये हैं। उदाहरणार्थ, प्र.मी. यानी प्रमाणमीमांसा, प्र.न.त. यानी प्रमाणनयतत्त्वालोक। समस्त प्रयुक्त ग्रंथों की अकारादि-क्रम से संक्षिप्त नाम-सूची को भी यहां संलग्न किया गया है।
5. 'पारिभाषिक' शब्द को व्यापक परिपेक्ष्य में यहां लिया गया है। परिभाषा से तात्पर्य है- संक्षिप्त स्वरूप का निरूपण। वह नपी-तुली परिभाषा के रूप में भी हो सकता है और उनसे सम्बद्ध स्वतंत्र विचारों के रूप में भी। इसी तरह पारिभाषिक शब्दों के पर्याय व भेद भी परम्परया उसके स्वरूप पर प्रकाश डालते

हैं। अत: विद्वानों का विचार था कि किसी अवधारणा के पारिभाषिक स्वरूप के साथ-साथ पर्याय व भेदों का भी निर्देश संगृहीत होना चाहिए, क्योंकि वे भी उसके स्वरूप का ही विस्तार करते हैं। अत: परिभाषा के साथ-साथ उसके पर्याय व भेदों का भी निर्देश किया गया है। उदाहरणार्थ– 'आगम' के अन्तर्गत आगम की परिभाषाओं के साथ-साथ उसके पर्याय, भेद, आगमाभास –इन सबका भी निर्देश किया गया है, और, उनमें कालक्रमानुरूप पौर्वापर्य भी रखा गया है। इसके अतिरिक्त, विद्वानों के आग्रह पर ऐसे निरूपणों को भी स्थान दिया गया है जो यद्यपि 'परिभाषा' तो नहीं है, किन्तु उनसे पारिभाषिक स्वरूप, लक्षण, वैशिष्ट्य आदि पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

6. कुछ परिभाषाएं परस्पर भावसाम्य रखती हैं, किन्तु उनमें शब्दों का थोड़ा हेरफेर है, उन सभी को यथासम्भव (विशिष्ट आचार्यों की महत्ता को ध्यान में रखकर) स्थान दिया गया है। उनमें प्राचीनतम जो उपलब्ध है– उसे अवश्य रखा गया है।

7. यद्यपि जैन न्याय से सम्बद्ध साहित्य बहुत विशाल है, और सभी का आलोड़न करना अधिक श्रम व समय की अपेक्षा रखता है। अत: कुछ विशिष्ट ग्रन्थों का ही चयन कर यह कोश तैयार किया गया है। वस्तुत: यह कोश एक संक्षिप्त या लघु रूप लिये है, इस विषय में आगे काम अभी चल ही रहा है और भविष्य में इसका एक बृहत् संस्करण लाये जाने की भावना है। भावी संस्करण में अवशिष्ट या छूट गये ग्रंथों एवं सम्बद्ध उद्धरणों के आधार पर अतिरिक्त सामग्री संगृहीत होगी। विद्वानों का ही आग्रह था कि अभी इसके संक्षिप्त रूप को ही प्रकाश में लाया जाय, कालान्तर में इसका बृहद् रूप और साथ ही, यदि कोई त्रुटि रह गई हो तो उसमें संशोधन कर उसका संशोधित रूप भी प्रकाशित किया जाय। तदनुरूप इसे प्रकाशित किया जा रहा है। यदि विद्वानों द्वारा किन्हीं त्रुटियों का निर्देश कराया जाएगा, तो भावी बृहत्संस्करण में उनका संशोधन भी कर दिया जायेगा।

8. संदर्भ-ग्रंथों के चयन में दिगम्बर व श्वेताम्बर –इन दोनों परम्पराओं को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। सन्दर्भों के चयन में भी यह ध्यान रखा गया है कि दोनों परम्पराओं के आचार्यों को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। यदि कहीं एक ही भावधारा वाले परिभाषात्मक सन्दर्भ दोनों परम्पराओं में प्राप्त हैं तो उन दोनों को यथासम्भव स्थान देने का प्रयास किया गया है।

9. आचार्य समन्तभद्र व आचार्य सिद्धसेन –ये दोनों आचार्य जैन न्याय के प्राथमिक आधारशिला रखने वाले रहे हैं। उन्होंने पद्यों में भी भाव व्यक्त किये हैं, और परवर्ती आचार्यों ने उन्हीं में निहित भावों को अन्तर्हित कर परिभाषाएं प्रस्तुत की हैं। अत: दोनों आचार्यों के मूल पद्यात्मक निरूपण को भी यथास्थान महत्त्व दिया गया है।

10. जैन न्याय ग्रंथों में अनेकानेक पृष्ठों में विषयों की विवेचना की गई है, उनके सारभूत कुछ संदर्भों का चयन कर, पारिभाषिक स्वरूप को समझने में सहायक मान कर यत्र-तत्र उन्हें प्रस्तुत किया गया है, किन्तु ऐसा कुछ विशिष्ट स्थलों में ही सम्भव हो सका है। यद्यपि कोश की मूलयोजना में संक्षिप्त परिभाषाएं ही देने का प्रावधान रखा गया था, किन्तु उपयोगिता की दृष्टि से, विद्वानों के परामर्शानुसार मूल नीति को अधिक उदार व व्यापक बनाने का प्रयास किया गया है। यही कारण है कि कुछ स्थलों में लम्बे-लम्बे वाक्यों का पूरा अनुच्छेद ही विवक्षित स्थल पर प्रस्तुत किया गया है, किन्तु यथाशक्ति संक्षेपीकरण का ध्यान भी वहां रखा गया है।

11. परिभाषीकरण स्वरूप को प्रस्तुत करने वाली काल की दृष्टि से प्राथमिक व अन्तिम –दोनों सन्दर्भों को कोश में स्थान मिले –यह भी दृष्टि रही है।

12. **अनेकान्त शोधपीठ** की अनेक योजनाओं में एक योजना के अन्तर्गत इस कोश का निर्माण किया गया है। अतः इसमें अनेकान्तवाद, स्याद्वाद जैसी समन्वयात्मक अवधारणाओं की विशद प्रस्तुति होनी ही चाहिए –इस दृष्टि से कुछ विशिष्ट शीर्षक भी इस कोश में समायोजित किये गये हैं, जैसे– परसमय, स्याद्वादशासन, जैनी नीति, सर्वनयात्मकता आदि।

13. इस प्रारूप में करीब 125 से अधिक महत्त्वपूर्ण जैन ग्रंथों से 950 से अधिक के करीब पारिभाषिक शब्दों का संकलन हो पाया है। यह भी सम्भव है कि किसी/किसी ग्रन्थ के कुछ सन्दर्भ ही लिये गये हों, उनमें छूटे हुए उपयोगी सन्दर्भों को भावी बृहत्संस्करण में समाविष्ट किया जाएगा।

14. इस ग्रन्थ के अन्त में 'परिशिष्ट' भी संयोजित है, जो इस कोश की उपयोगिता को बढ़ाता है।

आशा है, विद्वत्समाज में यह कोश समादृत होगा।

१३-अप्रैल-२०१४ (महावीर जयन्ती)

–प्रो. डॉ. दामोदर शास्त्री

[अध्यक्ष, जैनविद्या एवं तुलनात्मक धर्म-दर्शन विभाग]

जैन न्यायशास्त्र के प्रमुख आचार्य/ग्रन्थ
(कालक्रमविवरण–सहित)

नाम	ग्रन्थ	समय (मत–मतान्तर)
आ. वाचक उमास्वामी/उमास्वाति (ई. 1–2)	तत्त्वार्थसूत्र, तत्त्वार्थाधिगमभाष्य प्रशमरतिप्रकरण	ई. 179–220 ई. 44–85 वि. 3–4 वि. 2–3 शती वि. प्रथम
आ. कुन्दकुन्द (ई. 1–2)	प्रवचनसार, समयसार, नियमसार पंचास्तिकाय, अष्टप्राभृत, रयणसार बारस अणुवेक्खा	ई. 127–179 वि. प्रथम शती ई. प्रथम शती ई. द्वितीय शती ई. 6–7
आ. वट्टकेर (ई. 2री शती अनिर्णीत)	मूलाचार	ई. 2री शती (अनिर्णीत)
आ. समन्तभद्र (ई. 2–3)	आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन, स्वयम्भूस्तोत्र, रत्नकरंडश्रावकाचार	वि. 2री शती वि. 2–3 शती वि. 5वीं शती
आ. सिद्धसेन दिवाकर (ई. 4–5)	न्यायावतार, सन्मतिसूत्र, तत्त्वार्थभाष्य पर टीका द्वात्रिंशिकाएं,	वि. 5वीं शती ई. 5–6 शती कुछ का मत–सन्मतिसूत्र व न्यायावतार के पृथक् पृथक् रचयिता सिद्धसेन हैं। वि. 6–7 (सन्मतिसूत्र) वि. 7–8 (न्यायावतार) ई. 2री शती
आ. मल्लवादी (ई. 5)	द्वादशारनयचक्र	ई. 417 वि. 5वीं शती ई. 4–5 शती

आ. पूज्यपाद (देवनन्दी) (ई. 5)	सर्वार्थसिद्धि	ई. 5 (उत्तरार्द्ध) ई. 5–6 वि. 5–6 वि. 6 (पूर्वार्द्ध) ई. 6
आ. यतिवृषभ (ई. 5–6)	तिलोयपण्णत्ति, कषायप्राभृत	वि. 6ठी शती
आ. भद्रबाहु-II (ई. 4–5)	आवश्यकनिर्युक्ति	वि. 5वीं शती वि. 6ठी शती ई. 5–6
आ. जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (ई. 6–7)	विशेषावश्यक भाष्य	ई. 5–6 वि. 545–650 वि. 650–660 के पूर्व
आ. जिनदासगणि महत्तर (ई. 7–8)	सूत्रकृतांगचूर्णि, अनुयोगद्वार चूर्णि, नन्दीचूर्णि, दशवैकालिक चूर्णि, उत्तराध्ययन चूर्णि, आचारांगचूर्णि आदि	वि. 8वीं शती वि. 650–750 (जिनभद्र के बाद, हरिभद्र के पूर्व)
आ. अकलंक (ई. 7–8)	तत्त्वार्थराजवार्तिक, अष्टशती, लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह, सिद्धिविनिश्चय	ई. 640–680 ई. 720–780 वि. 8–9 शती (835) ई. 7–9 ई. 8–9
आ. हरिभद्र (ई. 8)	अनेकान्तजयपताका, षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्चय, धर्मबिन्दुप्रकरण, षोडशकप्रकरण आदि	ई. 700–770 ई. 480–528 ई. 7–8 ई. 8 वि. 757–827 (8–9)
आ. विद्यानन्द (ई. 8–9)	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री, सत्यशासनपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, आप्तपरीक्षा, पत्र परीक्षा	ई. 775–840 ई. 8–9 (816) वि. 9 (उत्तरार्द्ध) शती
आ. वादीभ सिंह (ई. 8–9)	स्याद्वादसिद्धि	ई. 878–892 वि. 10–11 शती

आ. वीरसेन (ई. 8–9)	धवला, जयधवला	ई. 792–823 वि. 9वीं शती
आ. जिनसेन (ई. 9)	जयधवला, आदिपुराण (महापुराण)	ई. 800–843 वि. 9वीं शती शक सं. 705
आ. सिद्धर्षि गणि (ई. 9–10)	न्यायावतार (सिद्धसेन) पर टीका (वृत्ति)	ई. 9 वि. 10 (962) वि. 10–11वीं शती
आ. शीलांक (वि. 9–10 शती)	सूत्रकृतांग वृत्ति आचारांग–वृत्ति,	वि. 9–10 शती
आ. अनन्तवीर्य (ई. 10)	सिद्धिविनिश्चय (अकलंक) पर वृत्ति	वि. 11वीं शती ई. 950–990
आ. अमृतचन्द्र (ई. 10)	आत्मख्याति (समयसार पर) तत्त्वप्रदीपिका (प्रवचनसार पर) समयसारकलश, पुरुषार्थसिद्धयुपाय, तत्त्वार्थसार	ई. 962–1055 वि. 10 (तृतीय चरण)
आ. रामसेन	तत्त्वानुशासन	ई. 10वीं शती प्रारम्भ
आ. देवसेन (ई. 10)	आलापपद्धति, दर्शनसार	ई. 893–943 वि. 990
आ. माणिक्यनन्दी (ई. 10–11)	परीक्षामुख	ई. 993–1053 ई. 925–1023 वि. 11–12वीं शती वि. 1160 (ई. 1003)
आ. अभयदेव (ई. 11)	वादमहार्णव (सन्मतिसूत्र पर टीका)	ई. 1018–1093 वि. 10–11वीं शती (950–1050)
आ. प्रभाचन्द्र (ई. 10–11)	प्रमेयकमलमार्तण्ड (परीक्षामुख पर) न्यायकुमुदचन्द्र (लघीयस्त्रय पर)	ई. 925–1023 वि. 11वीं शती ई. 980–1065 वि. 1037–1122 वि. 11–12वीं शती

शान्तिसूरि (शान्त्याचार्य) (ई. 11) (पूर्णतल्लगच्छीय)	न्यायावतारवार्तिक पर वृत्ति	वि. 11वीं शती ई. 993–1018 वि. 11–12 शती के मध्य
आ. लघु अनन्तवीर्य (ई. 11–12)	प्रमेयरत्नमाला (परीक्षामुख पर)	वि. 11–12 शती ई. 12 (पूर्वार्द्ध)
आ. वादिराज सूरि (ई. 11)	न्यायविनिश्चयविवरण (वृत्ति) प्रमाणनिर्णय	वि. 11वीं शती वि. 1082 (ई. 1025) ई. 1000–1040
आ. नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती (ई. 11)	गोम्मटसार, द्रव्यसंग्रह	ई. 11 (पूर्वार्द्ध) वि. 11वीं शती (वि. 1031–1136) कुछ विद्वान् द्रव्यसंग्रह को अन्य नेमिचन्द्रकृत मानते हैं. (समय–वि.11–12 शती) या ई. 11 (उत्तरार्द्ध)
स्वा. कार्तिकेय (कुमार) (ई. 11 पूर्वार्द्ध)	स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा	ई. 1008 वि. 10–11 शती कुछ अतिप्राचीन मानते हैं।
पद्मसिंह मुनि (ई. 11)	ज्ञानसार	वि. 1086
आ. मलधारी हेमचन्द्र (ई. 11–12)	विशेषावश्यक भाष्य पर शिष्यहिता टीका (वृत्ति)	वि. 12वीं (वि. 1175)
आ. अभयदेवसूरि (नवांगीटीकाकार) (ई. 12)	स्थानांगसूत्र–वृत्ति आदि	ई. 11–12 वि. 11–12 (वि. 1128) वि. 12वीं
आ. अनन्तकीर्ति (ई. 12)	बृ. सर्वज्ञसिद्धि, लघुसर्वज्ञसिद्धि	वि. 10–11वीं शती
आ. वादिदेवसूरि (ई. 12)	प्रमाणनयतत्त्वालोक, स्याद्वादरत्नाकर (प्रमाण नय तत्त्वालोक पर स्वोपज्ञ व्याख्या)	वि. 12वीं शती ई. 1117–1162 ई. 1086–1169

आ. हेमचन्द्र (कलिकालसर्वज्ञ) (ई. 12)	प्रमाणमीमांसा, अन्ययोगव्यवच्छेदिका, अयोगव्यवच्छेदिका	ई. 1088–1173 वि. 12वीं शती (वि. 1229 में स्वर्गस्थ)
आ. पद्मप्रभ मलधारीदेव (ई. 12)	नियमसार पर तात्पर्यवृत्ति टीका	ई. 1140–1185 वि. 13वीं
आ. वीरनन्दी (ई. 12)	आचारसार	वि. 12–13 शती
आ. मुनिचन्द्र (ई. 12)	उपदेशवृत्ति	वि. 12वीं शती (वि. 1174–1181)
आ. मलयगिरि (ई. 12)	धर्मसंग्रहणी–वृत्ति	वि. 12–13 शती (हेमचन्द्र–समकालीन)
आ. यशोभद्र (ई. 12)	षोडशकप्रकरण पर वृत्ति	वि. 12वीं शती (वि. 1182)
आ. जयसेन उत्तरार्ध (ई. 11–12)	समयसार पर तात्पर्यवृत्ति टीका	वि.12वीं 'शती का वि. 13वीं शती का पूर्वार्द्ध
आ. भावसेन त्रैविद्य (ई. 12–13)	प्रमाप्रमेय, विश्वतत्त्वप्रकाश	ई. 1250–1300
आ. माइल्लधवल उत्तरार्ध (ई. 12–13)	वृ. नयचक्र (द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नयचक्र)	वि.12वीं 'शती का वि. 13वीं शती का पूर्वार्द्ध
आ. रत्नप्रभसूरि (ई. 12–13)	रत्नाकरावतारिका (प्रमाणनयतत्त्वालोक पर)	वि.12वीं 'शती का उत्तरार्ध वि. 13वीं शती का पूर्वार्द्ध
आ. लघु समन्तभद्र (ई. 13)	अष्टसहस्री पर टीका	वि.12वीं 'शती का उत्तरार्ध वि. 13वीं शती का पूर्वार्द्ध
आ. ब्रह्मदेव (ई. 13–14)	वृ. द्रव्यसंग्रह पर टीका परमात्मप्रकाश पर टीका	ई. 1292–1323 वि. 11–12वीं
आ. अभयचन्द्र (ई. 13–14)	लघीयस्त्रय पर वृत्ति	वि. 13–14वीं शती

आ. मल्लिषेण (ई. 14)	स्याद्वादमंजरी (अन्ययोगव्यवच्छेदिका पर टीका)	ई. 13 (ई. 1293)
आ. गुणरत्नसूरि (ई. 15)	षड्दर्शनसमुच्चय पर टीका	ई. 1343–1418 ई. 1400–1475 वि. 15वीं
आ. धर्मभूषण यति (अभिनव) (ई. 14–15)	न्यायदीपिका	ई. 14 वि. 14–15 शती
पं. विमलदास (ई. 15)	सप्तभंगीतरंगिणी	ई. 14–15
आ. शुभचन्द्र (ई. 16)	कार्तिकेयानुप्रेक्षा पर टीका	ई. 1516–1556
पं. राजमल्ल (ई. 16)	पंचाध्यायी, लाटीसंहिता	ई. 1516–1556 वि. 17वीं (1635)
उपा. यशोविजय (ई. 16)	जैन तर्कभाषा, ज्ञानबिन्दु (प्रकरण), नयोपदेश (स्वोपज्ञवृत्ति सहित), अध्यात्मसार, अष्टसहस्री पर टीका (तात्पर्य विवरण), शास्त्रवार्तासमुच्चय टीका (स्याद्वादकल्पलता)	ई. 1638–1688 वि. 18वीं
चारूकीर्ति पंडिताचार्य (ई. 17–18)	प्रमेयरत्नालंकार	
भोज कवि (ई. 18)	द्रव्यानुयोगतर्कणा	वि. 18 (1785–1809)
आ. नरेन्द्रसेन (ई. 18)	प्रमाणप्रमेयकलिका	
आ. श्रुतसागरसूरी (ई. 20)	तत्त्वार्थसूत्र पर श्रुतसागरी टीका	
आ. तुलसी (ई. 20)	भिक्षुन्यायकर्णिका, जैनसिद्धान्तदीपिका	

■■■

जैन न्याय पारिभाषिक कोश

संदर्भ–संकेत–विवरण

सं.	संक्षिप्त नाम	पूर्ण नाम	लेखक	समय	संदर्भ–विवरण
1.	**अध्या.**	अध्यात्मसार	उपा. यशोविजय	ई. 17वीं शती	अधिकार सं./श्लोक सं.
2.	**अनु.सू.**	अनुयोगद्वार सूत्र	आर्यरक्षित	ई. 2 शती	प्रकरण सं./सूत्र सं.
3.	**अनु.चू.**	अनुयोगद्वार चूर्णि	जिनदास महत्तर	ई. 7–8 शती	प्रकरण सं./सूत्र सं.
4.	**अने.ज.प.**	अनेकान्तजयपताका	हरिभद्र	ई. 8 शती	अधिकार सं., पृ.सं.
5.	**अन्ययो.**	अन्ययोगव्यवच्छेदिका	हेमचन्द्र	ई. 12वीं शती	कारिका सं.
6.	**अयोग.**	अयोगव्यवच्छेदिका	हेमचन्द्र	ई. 12वीं शती	श्लोक सं.
7.	**अष्ट.**	अष्टशती	अकलंक	ई. 7–8वीं शती	कारिका सं.
8.	**अष्टस.**	अष्टसहस्री	विद्यानन्द	ई. 8–9वीं शती	कारिका सं., पृ.सं.
9.	**अष्टस.वृ.**	अष्टसहस्री पर तात्पर्यवृत्ति	यशोविजय	ई. 17वीं शती	कारिका सं., पृ.सं.
10.	**आ.सू.**	आचाराङ्गसूत्र			श्रुतस्कन्ध/अध्ययन/ उद्देशक/ सूत्र सं.
11.	**आ.चू.**	आचाराङ्ग चूर्णि	जिनदास महत्तर	ई. 7–8वीं शती	
12.	**आ.नि.**	आवश्यक निर्युक्ति	आ. भद्रबाहु (II)	ई. 4–5वीं शती	गाथा सं.
13.	**आप्त.**	आप्तपरीक्षा	विद्यानन्द	ई. 8–9वीं शती	कारिका सं., पृ.सं.
14.	**आ.प.**	आलाप पद्धति	देवसेन	ई. 10वीं शती	सूत्र सं.

15.	**आ.पु.**	आदिपुराण	जिनसेन	ई. 9वीं शती	पर्व/श्लोक संख्या
16.	**आ.मी.**	आप्तमीमांसा	समन्तभद्र	ई. 2–3 शती	श्लोक सं.
17.	**आ.सा.**	आचार सार	वीरनन्दी	ई. 12वीं शती	अधिकारसं/श्लोक सं
18.	**उत्तर. सू.**	उत्तराध्ययन सूत्र			अध्ययन/गाथा सं.
19.	**कार्ति.**	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	स्वामि कार्तिकेय	ई. 1008	गाथा सं.
20.	**कार्ति.टी.**	कार्तिकेयानुप्रेक्षा पर टीका	शुभचन्द्र	ई. 16वीं शती	गाथा सं.
21.	**गो.सा.जी.**	गोम्मटसार (जीवकाण्ड)	नेमिचन्द्र	ई. 11वीं शती	गाथा सं.
22.	**गो.सा.क.**	गोम्मटसार (कर्मकाण्ड)	नेमिचन्द्र	ई. 11वीं शती	गाथा सं.
23.	**ज.ध.**	जयधवला (कषायपाहुड पर टीका) जिनसेन स्वामी	(यतिवृषभ) वीरसेन स्वामी व	ई. 8–9वीं शती	पुस्तक सं., पृ.सं.
24.	**जीवा.सू.**	जीवाजीवाभिगम सूत्र			प्रतिपत्ति/उद्देशक/ सूत्र सं.
25.	**जै.त.भा.**	जैनतर्कभाषा	यशोविजय	ई. 17वीं शती	परिच्छेद, पृ.सं. प्रमाण = प्र. नय = नय निक्षेप = नि.
26.	**जै.सि.दी.**	जैन सिद्धान्त दीपिका	आ. तुलसी	ई. 20शती	प्रकाश/सूत्र सं.
27.	**ज्ञा.सा.**	ज्ञानसार	पद्मसिंह मुनि		श्लोक सं.
28.	**ज्ञा.सा.वृ.**	ज्ञानसार टीका	उपा. यशोविजय	ई. 17 शती	श्लोक सं.
29.	**ठा.सू.**	स्थानाङ्गसूत्र			स्थान सं./सूत्र सं.
30.	**ठा.सू.वृ.**	स्थानाङ्गसूत्र वृत्ति	अभयदेवसूरि	ई. 12वीं शती	स्थान सं./सूत्र सं.
31.	**त.सू.**	तत्त्वार्थसूत्र	उमास्वामि (उमास्वाति)	ई. 1–2 शती	अध्याय/सूत्र सं.

32.	**तत्त्व.अनु.**	तत्त्वानुशासन	श्री रामसेनाचार्य	ई. 10 शती	श्लोक सं.
33.	**तत्त्व.भा.**	तत्त्वार्थाधिगम भाष्य (स्वोपज्ञ)	उमास्वामि	ई. 1–2 शती	अध्याय/सूत्र सं.
34.	**तत्त्व.भा.वृ.**	तत्त्वार्थभाष्य पर टीका (भाष्यानुसारिणी टीका)	सिद्धसेन	ई. 4–5 शती	अध्याय/सूत्र सं.
35.	**त.सू.वृ.**	तत्त्वार्थसूत्र वृत्ति (श्रुतसागरी)	श्रुतसागरसूरि	ई. 20वीं शती	अध्याय/सूत्र सं.
36.	**तत्त्व. श्लो.**	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	विद्यानन्द	ई. 8–9 शती	अध्याय/सूत्र सं./ श्लोक सं.
37.	**तत्त्वप्र.**	तत्त्वप्रदीपिका टीका (प्रवचनसार पर)	अमृतचन्द्र	ई. 10वीं शती	गाथा सं.
38.	**तत्त्वा.**	तत्त्वार्थसार	अमृतचन्द्र	ई. 10वीं शती	अधिकार सं./श्लोक सं.
39.	**ति. प.**	तिलोयपण्णत्ति	आचार्य यतिवृषभ,	ई. 2शती	अधिकार स./गाथा सं.
40.	**द्रव्य.तर्क.**	द्रव्यानुयोगतर्कणा	भोज कवि	ई. 18वीं शती	अध्याय सं./श्लोक सं.
41.	**दश. नि.हरि.वृ.**	दशवैकालिक निर्युक्ति, हरिभद्रीय वृत्ति	निर्युक्तिकार आ. भद्रबाहु वृत्तिकार हरिभद्र	ई. 4–6शती ई. 8वीं शती	निर्युक्ति गाथा सं.
42.	**द्वा.न.च.**	द्वादशारनयचक्र	मल्लवादी	ई. 4–5शती	अर सं., पृ. सं.
43.	**द्वा.न.च.टी.**	न्यायागमानुसारिणी (टीका)	सिंहसूरि	ई. 5–6 शती	अर सं., पृ. सं.
44.	**ध.**	धवला (टीका) (षट्खण्डागम पर)	वीरसेन स्वामी	ई. 9वीं शती (पूर्वार्द्ध)	पुस्तक सं., पृ. सं.,
45.	**ध.सं.वृ.**	धर्मसंग्रहणी वृत्ति	मलयगिरि	ई. 12वीं शती	
46.	**ध.बि.प्र.**	धर्मबिन्दु प्रकरण	हरिभद्र	ई. 8वीं शती	
47.	**न.र.**	नयरहस्य			
48.	**नन्दी.**	नन्दीसूत्र		ई. 4–5 शती	प्रकरण/सूत्र सं./ गाथा सं.
49.	**न.चू.**	नन्दीसूत्र चूर्णि	जिनदास महत्तर	ई. 7–8 शती	सूत्र सं., पृ. सं.

50.	**नयो.**	नयोपदेश	उपा. यशोविजय	ई. 17वीं शती	श्लोक सं.
51.	**नया.**	नयामृतम्	संपा. आर्यरक्षितसूरि		पर्व सं.
52.	**नि.विं.**	निक्षेपविंशिका			
53.	**नि.सा.**	नियमसार	आ. कुन्दकुन्द	ई. 1–2 शती	गाथा सं.
54.	**नि.सा.ता.वृ.**	नियमसार तात्पर्य वृत्ति	पद्मप्रभमलधारी देव	ई. 12वीं शती	गाथा सं.
55.	**न्या.कु.**	न्यायकुमुदचन्द्र (लघीयस्त्रय पर टीका)	प्रभाचन्द्र	ई. 10–11वीं शती	परिच्छेद सं./का. सं.
56.	**न्या.दी.**	न्यायदीपिका	धर्मभूषण यति	ई. 14–15 शती	प्रकाश सं./अनुच्छेद सं.
57.	**न्यायाव.**	न्यायावतार	सिद्धसेन	ई. 4–5 शती	श्लोक सं.
58.	**न्यायाव. सिद्ध. वृ.**	न्यायावतार पर (सिद्धर्षिकृत वृत्ति)	सिद्धर्षि	ई. 10वीं शती	श्लोक सं.
59.	**न्या.वा.**	न्यायावतार वार्तिक	अज्ञात	ई. 11वीं शती	वार्तिक सं.
60.	**न्या.वा.वृ.**	न्यायावतार वार्तिक वृत्ति	शान्तिसूरी	ई. 11वीं शती	वार्तिक सं.
61.	**न्या.वि.**	न्यायविनिश्चय	अकलंक	ई. 7–8वीं शती	प्रस्ताव/श्लोक सं.
62.	**न्या.वि.वि.**	न्यायविनिश्चय विवरण	वादिराजसूरि	ई. 11वीं शती	प्रस्ताव/श्लोक सं.
63.	**पं.**	पंचाध्यायी	पं. राजमल्ल	ई. 16वीं शती	अध्याय/श्लोक सं.
64.	**पंचा.**	पंचास्तिकाय	आ.कुन्दकुन्द	ई. 1–2शती	गाथा सं.
65.	**पंचा.त.प्र.**	तत्त्व प्रदीपिका टीका	आ. अमृतचन्द	ई. 12वीं	गाथा सं.
66.	**पंचा.ता.वृ.**	तात्पर्यवृत्ति टीका	आ. जयसेन	ई. 13–14वीं	गाथा सं.
67.	**पत्र प.**	पत्रपरीक्षा	विद्यानन्द	ई. 8–9वी शती	कारिका सं., पृ.सं.
68.	**प.मु.**	परीक्षामुख	माणिक्यनन्दि	ई. 10–11 शती	परिच्छेद/सूत्र सं.
69.	**पु.सि.**	पुरुषार्थसिद्धयुपाय	अमृतचन्द्र	ई. 9–10 शती	श्लोक सं.

70.	**प्र.न.त.**	प्रमाणनय–तत्त्वालोक (स्याद्वादरत्नाकर नामक ग्रन्थ पर स्वोपज्ञ टीका)	वादिदेवसूरि	ई. 12वीं शती	परिच्छेद/सूत्र सं.
71.	**प्र.प.**	प्रमाणपरीक्षा	विद्यानन्दी	ई. 8–9वीं शती	अनुच्छेद, पृ.सं.
72.	**प्र.प्र.**	प्रमाप्रमेय	भावसेन त्रैविद्य	ई. 12–13वीं शती	परिच्छेद/अनुच्छेद सं.
73.	**प्र.प्र.क.**	प्रमाणप्रमेय कलिका	नरेन्द्रसेन	ई. 18वीं शती	1 प्रमाणतत्त्व परीक्षा/ अनुच्छेद सं. 2 प्रमेयतत्त्व परीक्षा/ अनुच्छेद सं.
74.	**प्र.क.मा.**	प्रमेयकमलमार्तण्ड	प्रभाचन्द्र	ई. 10–11वीं शती	परिच्छेद सं./सूत्र सं.
75.	**प्र.मी.**	प्रमाणमीमांसा	हेमचन्द्र	ई. 12वीं शती	अध्याय/आह्निक/ सूत्र सं.
76.	**प्र.र.मा.**	प्रमेयरत्नमाला (परीक्षामुख पर टीका)	अनन्तवीर्य (लघु)	ई. 11–12 शती	परिच्छेद/सूत्र सं.
77.	**प्र.रत्ना.**	प्रमेयरत्नालंकार (परीक्षामुख पर)	चारुकीर्ति पंडिताचार्य	ई. 17–18 शती	परिच्छेद सं./सूत्र सं.
78.	**प्रशम.**	प्रशमरतिप्रकरण	आ. उमास्वाति	ई. 1–2शती	श्लोक सं.
79.	**प्रशम टी.**	प्रशमरतिप्रकरण टीका	हरिभद्र	ई. 8वीं शती	श्लोक सं.
80.	**प्र.सं.**	प्रमाण संग्रह	अकलंक देव	ई. 7–8 शती	कारिका सं.
81.	**प्र.सं.वृ.**	प्रमाणसंग्रह पर स्वोपज्ञ वृत्ति	अकलंक देव	ई. 7–8 शती	कारिका सं.
82.	**प्र.सा.** सं.	प्रवचनसार	कुन्दकुन्द	ई. 1–2 शती	अधिकार सं./गाथा
83.	**प्र.सा.तत्त्वप्र.** सं.	प्रवचनसार तत्त्व प्रदीपिका टीका (प्रवचनसार पर)	अमृतचन्द्र	ई. 10वीं शती	अधिकार सं./गाथा
84.	**प्र.सा.ता.वृ.**	प्रवचनसार तात्पर्य वृत्ति टीका	जयसेन	ई. 13–14वीं शती	अधिकार सं./गाथा सं.

85.	**प्र.सू.**	प्रज्ञापना सूत्र			पद सं./सूत्र सं.
86.	**बा.अ.**	बारस अणुवेक्खा	कुन्दकुन्द	ई. 1–2 शती	गाथा सं.
87.	**बृ.द्र.सं.**	बृहद् द्रव्यसंग्रह	नेमिचन्द्र	ई. 11वीं शती	गाथा सं.
88.	**बृ.द्र.सं.वृ.**	बृहद् द्रव्यसंग्रह पर वृत्ति	ब्रह्मदेव	ई. 13–14 शती	गाथा सं.
89.	**बृ.न.च.**	बृहन्नयचक्र	माइल्ल धवल	ई. 12–13वीं शती	गाथा सं.
90.	**भ.आ.**	भगवती आराधना	आ. शिवाचार्य	ई. 1शती	गाथा सं.
91.	**भ.आ.टी.**	भगवाती आराधना (पर विजयोदया टीका)	अपराजित सूरि	ई. 5–8 शती	गाथा सं.
92.	**भ.सू.**	भगवती सूत्र			शतक/उद्देशक/सूत्र सं.
93.	**भि.न्या.**	श्री भिक्षुन्यायकर्णिका	आ. तुलसी	ई. 20वीं शती	विभाग/सूत्र सं.
94.	**मूला.**	मूलाचार	वट्टकेर	ई. 2री शती (अनिर्णीत)	गाथा सं.
95.	**युक्त्य.**	युक्त्यनुशासन	समन्तभद्र	ई. 2–3शती	श्लोक सं.
96.	**यो.बि.**	योगबिन्दु	आ. हरिभद्र	ई. 8वीं शती	श्लोक सं.
97.	**रत्नक.**	रत्नकरण्ड श्रावकाचार	समन्तभद्र	ई. 2–3 शती	श्लोक सं.
98.	**र.करा.**	रत्नाकरावतारिका (प्रमाणनय–तत्त्वालोक पर टीका)	रत्नप्रभसूरि	ई. 12–13वीं शती	परिच्छेद/सूत्र सं.
99.	**रा.वा.**	तत्त्वार्थराजवार्तिक	अकलंकदेव	ई. 7–8वीं शती	अध्याय/सूत्र/वार्तिक सं
100.	**रा.प्र.सू.**	राजप्रश्नीय सूत्र			सूत्र सं.
101.	**लघी.**	लघीयस्त्रय	अकलंकदेव	ई. 7–8 शती	परिच्छेद/कारिका
102.	**लघी.वि.**	लघीयस्त्रय–विवृति	अकलंकदेव (स्वोपज्ञ)	ई. 7–8 शती	परिच्छेद/कारिका

103.	**लघी. अभय.**	वृ.लघीयस्त्रयपर वृत्ति	अभयचन्द्र	ई. 13–14 शती	परिच्छेद कारिका
104.	**ला.सं.**	लाटी संहिता	पं. राजमल्ल	ई. 16वीं शती	सर्ग/श्लोक सं.
105.	**विशे.भा.**	विशेषावश्यक भाष्य	जिनभद्रगणि	ई. 6–7 शती	गाथा सं.
106.	**विशे. भा.,**	विशेषावश्यक भाष्य	जिनभद्र गणि	वि. 12वीं,	गाथा सं.
	शि. हि. वृ.	(शिष्यहिता वृत्ति)	आ. मलधारी हेमचन्द्र	वि. 12वीं,	गाथा सं.
107.	**षट्खं.**	षटखण्डागम	आ. पुष्पदन्त व भूतबली	1–2शती	ई.सूत्र सं.
108.	**षड्. समु.**	षड्दर्शन समुच्चय	हरिभद्र	ई. 8वीं शती	कारिका सं.
109.	**षड्.समु.टी.**	गुणरत्नसूरिकृत टीका	गुणरत्नसूरि	ई. 15वीं शती	कारिकासं/अनुच्छेद सं
110.	**षोड.**	षोडशक प्रकरण	हरिभद्र	ई. 8 शती	प्रकरण सं/श्लोक सं
111.	**षोड. वृ.**	षोडशक प्रकरण वृत्ति	यशोभद्र	ई. 12वीं शती	प्रकरण सं/श्लोक सं
112.	**शा.समु.**	शास्त्रवार्ता समुच्चय	हरिभद्र	ई. 8 शती	स्तबक सं/श्लोक सं
113.	**शा.समु.टी.**	स्याद्वादकल्पलता टीका (शास्त्रवार्ता समुच्चय पर)	यशोविजय	ई. 17वीं शती	स्तबक सं./श्लोक सं.
114	**सत्य.**	सत्यशासन–परीक्षा	विद्यानन्द	ई. 8–9 शती	प्रकरण, पृ.सं.
115.	**सन्मति.**	सन्मतितर्क/प्रकरण	सिद्धसेन	ई. 4–5 शती	काण्ड/गाथा सं.
116.	**सम.सू.**	समवायांग सूत्र			समवाय/सूत्र सं.
117.	**स.भं.त.**	सप्तभंगीतरंगिणी	विमलदास	ई. 15वीं शती	अनुच्छेद सं.
118.	**स.सा.**	समयसार	कुन्दकुन्द	ई. 1–2री शती	गाथा सं.
119.	**स.सा.आ.ख्या.**	समयसार पर आत्मख्याति टीका	अमृतचन्द्र	ई. 10वीं शती	गाथा सं.
120.	**स.सा.ता.वृ.**	समयसार पर तात्पर्य वृत्ति टीका	जयसेन	ई. 13–14वीं शती	गाथा सं.
121.	**स.सि.**	सर्वार्थसिद्धि	पूज्यपाद देवनंदी	ई. 5 शती	अध्याय/सूत्र सं./ अनुच्छेद सं.
122.	**सि.वि.**	सिद्धिविनिश्चय	अकलंक	ई. 7–8 शती	प्रस्ताव/श्लोक सं.

123.	**सि.वि.वृ.**	स्वोपज्ञ वृत्ति (सिद्धिविनिश्चय पर)	अकलंक	ई. 7–8 शती	प्रस्ताव / श्लोक सं.
124.	**सि.वि.टी.**	सिद्धिविनिश्चय पर टीका	अनन्तवीर्य	ई. 10वीं शती	प्रस्ताव / श्लोक सं.
125.	**सूत्र.सू.**	सूत्रकृतांगसूत्र			श्रुतस्कन्ध / अध्ययन / गाथा सं.
126.	**सूत्र.चू.**	सूत्रकृतांगचूर्णि	जिनदासगणि महत्तर	ई. 7–8वीं शती	पृ.सं.
127.	**सूत्र.सू.वृत्ति**	सूत्रकृतांग सूत्र–वृत्ति	आ. शीलांक	वि. 9–10 शती	पत्र सं.
128.	**स्या.मं.**	स्याद्वादमंजरी (अन्ययोगव्यवच्छेदिका पर टीका)	मल्लिषेण	ई. 14वीं शती	कारिका सं.
129.	**स्या.रत्ना.**	स्याद्वादरत्नाकर (प्रमाणनयतत्त्वालोक पर स्वोपज्ञ टीका)	वादिदेवसूरि	ई. 11–12 शती	परिच्छेद सं. / सूत्र सं.
130.	**स्या.र.**	स्याद्वादरहस्य	यशोविजय	ई. 17वीं शती	पृ.सं
131.	**स्या.सि.**	स्याद्वादसिद्धि	वादीभसिंह	ई. 8–9वीं शती	प्रकरण सं. / श्लोक सं.
132.	**स्वयम्भू.**	स्वयम्भू स्तोत्र	समन्तभद्र	ई. 2–3 शती	श्लोक सं.
133	**सिद्ध. द्वा.**	सिद्धसेन–कृत द्वात्रिंशिका	सिद्धसेन	ई. 4–5	द्वात्रिंशिका सं श्लोक सं

■■■

संगृहीत पारिभाषिक शब्दसूची

(अ)

अंश
अंश के प्रकार
अकिंचित्कर हेतु
अकिंचित्कर हेतु के भेद
अक्षपाद दर्शन
अक्षर
अक्षर के भेद
अक्षरश्रुत के भेद
अचक्षुर्दर्शन
अचेतनत्व
अज्ञान (ज्ञान-अभाव)
अज्ञान (मिथ्या-ज्ञान)
अज्ञान के भेद
अज्ञान (मिथ्याज्ञान के भेद)
अज्ञान निग्रहस्थान
अज्ञान मिथ्यात्व
अतिप्रसंग तर्क
अतिव्याप्त
अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष
अत्यन्ताभाव
अत्यन्तायोगव्यवच्छेद
अदर्शन
अद्वैतवादी (वेदान्ती)
अधिक निग्रहस्थान
अधिगम
अधिगम के पर्याय
अधिगम के भेद
अनक्षरश्रुत
अनध्यवसाय
अनध्यवसित हेत्वाभास
अननुभाषण निग्रहस्थान
अनन्तधर्मात्मक (वस्तु)
अनन्यत्व
अनर्पित नय
अनर्पितनयाभास
अनवस्था तर्क (उत्पत्ति दृष्टि से)
अनवस्था तर्क (ज्ञप्ति दृष्टि से)
अनाकार उपयोग
अनाकार उपयोग के भेद
अनादिनित्य पर्यायार्थिक नय
अनित्य
अनित्य अशुद्धपर्यायार्थिक नय
अनित्यता
अनित्य शुद्धपर्यायार्थिक नय
अनित्यसमा जाति
अनित्य स्वभाव
अनिन्द्रिय ज्ञान
अनिन्द्रिय (मन)
अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष
अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष के भेद
अनिःसृत ज्ञान

अनिःसृतप्रत्यय/अनिःसृतावग्रह
अनुग्रह
अनुत्पत्तिसमा जाति
अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय
अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय
अनुपलब्धि (हेतु) के भेद
अनुपलब्धिसमा जाति
अनुपलम्भ
अनुभव
अनुमान
अनुमान के भेद
अनुमान (परार्थानुमान) के अवयव
अनुमानाभास
अनुवाद
अनुवृत्ति
अनेकस्वभाव
अनेकान्त
अनेकान्त (जात्यन्तर)
अनेकान्त की अनेकान्तता
अनेकान्त के भेद
अनेकान्तात्मकता
अनैकान्तिक हेत्वाभास
अनैकान्तिक हेत्वाभास के भेद
अन्त
अन्तर्व्याप्ति
अन्तःकरण
अन्तःकरण के पर्याय
अन्यतरासिद्ध (हेतु)
अन्यतरासिद्धसमा जाति
अन्यत्व
अन्यथानुपपत्ति
अन्ययोगव्यवच्छेद
अन्यापोह
अन्यापोहाभाव (अन्योन्याभाव)
अन्योन्याभाव
अन्वय
अन्वय दृष्टान्त
अन्वयदृष्टान्ताभास
अन्वयदृष्टान्ताभास के भेद
अन्वय द्रव्यार्थिक नय
अन्वयव्यतिरेकी दृष्टान्त
अन्वयव्याप्ति
अन्वयसापेक्ष द्रव्यार्थिक नय
अन्वयी दृष्टान्त
अन्वयी दृष्टान्ताभास के भेद
अपकर्ष
अपकर्षसमा जाति
अपरसंग्रह (नय)
अपरसंग्रहाभास
अपसिद्धान्त निग्रहस्थान
अपाय
अपाय के पर्याय
अपार्थक निग्रहस्थान
अपूर्व
अपूर्वार्थ
अपोहा
अप्रतिपत्ति निग्रहस्थान
अप्रतिभा निग्रहस्थान
अप्रदर्शितव्यतिरेक दृष्टान्ताभास
अप्राप्तकाल निग्रहस्थान
अप्राप्तिसमा जाति
अप्रामाण्य
अप्रामाण्यता
अबाधितविषयत्व
अभव्य स्वभाव
अभाव

अभाव प्रमाण
अभाव के भेद
अभिप्रायविशेष
अभिप्रेत
अभेद स्वभाव
अमूर्त
अमूर्तत्व
अयथार्थ ज्ञान के भेद
अयुतसिद्धत्व
अयुतसिद्धि
अयोगव्यवच्छेद
अर्थ (अभिधेय)
अर्थ (ज्ञेय)
अर्थ (द्रव्य)
अर्थक्रिया
अर्थक्रियाकारिता
अर्थनय
अर्थनय के भेद
अर्थनयाभास
अर्थपर्याय
अर्थपर्याय के भेद
अर्थलिंगज श्रुतज्ञान
अर्थान्तर निग्रहस्थान
अर्थापत्ति
अर्थापत्तिसमा जाति
अर्थावग्रह
अर्थावग्रह के भेद
अर्पित
अर्पित नय
अवग्रह
अवग्रह के पर्याय
अवग्रह के भेद
अवदान
अवधिज्ञान
अवधिज्ञान के भेद
अवधिदर्शन
अवर्ण्यसमा जाति
अवलम्बना
अवस्तु
अवाच्य
अवान्तर सत्ता
अवाय
अवाय के पर्याय
अवाय के भेद
अविज्ञातार्थक निग्रहस्थान
अविनाभाव
अविनाभाव के पर्याय
अविरूद्ध उत्तरचरानुपलब्धि हेतु
अविरूद्धउत्तरचरोपलब्धि हेतु
अविरूद्ध कार्यानुपलब्धि हेतु
अविरूद्ध कार्योपलब्धि हेतु
अविरूद्ध कारणानुपलब्धि हेतु
अविरूद्ध कारणोपलब्धि हेतु
अविरूद्ध पूर्वचरानुपलब्धि हेतु
अविरूद्ध पूर्वचरोपलब्धि हेतु
अविरूद्ध व्यापकानुपलब्धि हेतु
अविरूद्ध सहचरानुपलब्धि हेतु
अविरूद्ध स्वभावानुपलब्धि हेतु
अविशेषसमा जाति
अविसंवाद
अविसंवादी ज्ञान
अवैशद्य
अव्यतिरेक दृष्टान्ताभास
अव्याप्त
अव्युत्पन्न
अशुद्धद्रव्यार्थिक नय

अशुद्धद्रव्यार्थिक नय के भेद
अशुद्धनिश्चय नय
अशुद्धपर्यायार्थिक नय
अशुद्धसद्भूतव्यवहार नय
असत्प्रतिपक्षत्व
असद्भूत व्यवहार नय
असद्भूत व्यवहार नय के भेद
असद्भूत व्यवहार (उपनय)
असद्भूत व्यवहार (उपनय) के भेद
असमर्थ
असम्भवी
असिद्ध
असिद्ध–उभयव्यतिरेक दृष्टान्ताभास
असिद्धसाधनव्यतिरेक दृष्टान्ताभास
असिद्धसाध्यव्यतिरेक दृष्टान्ताभास
असिद्ध हेत्वाभास
असिद्ध हेत्वाभास के भेद
असिद्धादिसमा जाति
अस्तिकायत्व
अस्तित्व
अस्तित्व के भेद
अस्तिस्वभाव
अहेतुसमा जाति

आ

आकार
आगम
आगम (प्रमाण)
आगम (प्रमाण) के पर्याय
आगम के भेद
आगमाभास
आज्ञा के पर्याय
आत्माश्रय तर्क (ज्ञप्ति दृष्टि से)
आत्माश्रय तर्क (उत्पत्ति दृष्टि से)
आप्त
आप्त के भेद
आप्तवचन
आप्ति
आभिनिबोधिक ज्ञान
आभिनिबोधिक ज्ञान के पर्याय
आभिनिबोधिक ज्ञान के भेद
आमुंडा
आम्नाय
आरेका
आरेकान्त
आलोचन

इ

इतरेतराभाव
इतरेतराश्रय तर्क (ज्ञप्ति दृष्टि से)
इतरेतराश्रय तर्क (उत्पत्ति दृष्टि से)
इत्थम्भूत नय
इत्थम्भूत नयाभास
इन्द्रिय
इन्द्रियप्रत्यक्ष
इन्द्रियप्रत्यक्ष के भेद
इन्द्रियसन्निकर्ष
इन्द्रियसन्निकर्ष के भेद
इष्टापादन तर्क दोष

ई

ईहा
ईहा के पर्याय

उ

उत्कर्ष
उत्कर्षसमा जाति
उत्पत्तिसमा जाति
उत्पाद
उत्पाद के भेद
उत्पादव्यय
उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकता
उदाहरण
उदाहरणाभास
उदाहरणाभास के भेद
उद्देश
उपग्रह
उपग्रह के पर्याय
उपचरितअसद्भूतव्यवहार (अध्यात्म)
उपचरित असद्भूतव्यवहार (उपनय)
उपचरित असद्भूतव्यवहार (उपनय) के भेद
उपचरित भाव
उपचरित असद्भूतव्यवहार (अध्यात्म) नय
उपचार
उपचार छल
उपचार श्रुत
उपनय (अनुमान अङ्ग)
उपनय (नय)
उपनय के भेद
उपनयाभास
उपपत्तिसमा जाति
उपमान (प्रमाण)
उपमान (प्रमाण) के भेद
उपयोग
उपयोग (भावेन्द्रिय)
उपयोग के पर्याय
उपयोग के भेद
उपलब्धिसमा जाति
उपादान कारण
उपाधि
उभयधर्मविकल दृष्टान्ताभास
उभयासिद्ध (हेतु)

ऊ

ऊर्ध्वतासामान्य
ऊह, ऊहा

ऋ

ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञान (त्रिविध)
ऋजुमतिमनःपर्यय ज्ञान के भेद
ऋजुसूत्र
ऋजुसूत्र के भेद
ऋजुसूत्र नयाभास

ए

एकत्व
एकत्व प्रत्यभिज्ञान
एकस्वभाव
एकान्त
एकान्त के भेद
एकान्त मिथ्यात्व
एवंभूत
एवंभूत नयाभास
एवकार के भेद

ऐ

ऐतिह्य
ऐतिह्याभास

क

कथंचित् तादात्म्य
करण
करण (परिणाम)
करण (हेतु)
करण (हेतु) के भेद
करण प्रमाण
करण प्रमाण के भेद
कर्म
कल्पना
काणाद दर्शन
कापिल दर्शन
कायत्व
कारण
कारण के पर्याय
कारण के भेद
कारण परमाणु
कार्य
कार्य के भेद
कार्य परमाणु
कार्यसमा जाति
कालव्यतिरेक
कालात्ययापदिष्ट
कुअवधिज्ञान
कुमतिज्ञान
कुश्रुतज्ञान
कृतक
केवलज्ञान
केवलज्ञान के भेद
केवलदर्शन
केवलव्यतिरेकी
केवलान्वयी (हेतु)
कोष्ठ
क्रम
क्रमभाव नियम
क्रिया
क्षणिकवाद

ग

गवेषणा
गुण
गुण के भेद
गुण पर्याय
गुणप्रत्यय (अवधिज्ञान)
गुणप्रत्यय (अवधिज्ञान) के भेद
गोष्ठीवाद

च

चक्रकाश्रय तर्क (ज्ञप्ति दृष्टि से)
चक्रकाश्रय तर्क (उत्पत्ति दृष्टि से)
चक्षुर्दर्शन
चक्षुर्दर्शन उपयोग
चार्वाक दर्शन
चेतनत्व
चेतना
चेतना के पर्याय
चेतना के भेद

छ

छद्मस्थ
छल
छल के भेद

ज

जड़त्व
जय

जल्प
जाति (दूषणाभास)
जाति (दूषणाभास) के भेद
जात्यन्तर (वस्तु)
जात्युत्तर जाति (दूषणाभास)
जात्युत्तर (जाति, दूषणाभास) के भेद
जिगीषु
जैनी नीति

ज्ञ

ज्ञान (निर्दोष)
ज्ञान (आत्मगुण)
ज्ञान (आत्मा)
ज्ञान के भेद
ज्ञान की स्वपरप्रकाशकता
ज्ञानगुण प्रमाण
ज्ञानगुण प्रमाण के भेद

त

तत्त्व
तत्त्व के भेद
तत्त्वज्ञान
तत्त्वनिर्णिनीषु
तत्त्वनिर्णिनीषु के भेद
तत्त्वार्थ
तथागत दर्शन
तर्क
तर्काभास
तर्क के दोष
तर्क के भेद
तात्पर्य
तात्त्विकवाद
तादात्म्य
तादात्म्य सम्बन्ध
तिर्यक्सामान्य
त्रिभङ्गी

द

दर्शन (उपयोग)
दर्शन (अनाकार उपयोग)
दर्शन (ज्ञान की पूर्वावस्था)
दर्शन (आत्मविषयक उपयोग)
दर्शन (अन्तश्चित्प्रकाश/स्वसंवेदन)
दर्शन (उपयोग) के भेद
दुर्नय
दूषण
दूषणाभास
दृष्टान्त
दृष्टान्त के भेद
दृष्टान्ताभास
दृष्टान्ताभास के भेद
देश
देशावधिज्ञान
देशावधिज्ञान के भेद
द्रव्य
द्रव्यत्व
द्रव्य निक्षेप
द्रव्य के पर्याय
द्रव्य प्रमाण
द्रव्यमन
द्रव्यार्थिक नय
द्रव्यार्थिक नय के भेद
द्रव्यार्थिक नयाभास

द्रव्यार्थिक नैगम नय
द्रव्यास्तिक नय
द्रव्यास्तिक नय के भेद

ध

धरणी
धर्मी
धारणा
धारणा के पर्याय
धारणा के भेद
धारावाहिक ज्ञान
ध्रौव्य

न

नय
नय के पर्याय
नय के भेद
नय (अध्यात्म) के भेद
नय प्रमाण
नय वाक्य
नय सप्तभंगी
नयवाद
नयविधि
नयाभास
नयों के फल
नाम निक्षेप
नास्तित्व
नास्तित्व सम्बन्ध
नास्तिस्वभाव
निक्षेप
निक्षेप के भेद
निगमन
निगमाभास
निग्रहस्थान
नित्य
नित्य स्वभाव
नित्य अशुद्धपर्यायार्थिक नय
नित्यता
नित्य शुद्धपर्यायार्थिक नय
नित्यसमा जाति
निदर्शन
निमित्तकारण
निमित्त के पर्याय
निमित्तकारण के भेद
नियतार्थवाद
निरनुयोज्यानुयोग निग्रहस्थान
निरर्थक निग्रहस्थान
निराकार उपयोग
निराकार उपयोग के भेद
निर्णय
निर्देश
निर्वर्तक कारण
निर्विकल्प ज्ञान
निश्चय
निश्चय नय (अध्यात्म)
निश्चय नय के भेद
निश्चयनयाभास
निश्चितविपक्षवृत्ति
निषेधसाधक अविरूद्धानुपलब्धि
नैगम नय
नैगम नय के भेद
नैगमाभास
नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष (अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष) के भेद
न्याय

न्याय (न्याय-चर्चा) के अंग
न्याय दर्शन
न्याय्य
न्यास
न्यून (हीन) निग्रहस्थान

प

पक्ष
पक्ष-धर्म
पक्षधर्मत्व
पक्षाभास
पत्र
पद
पद का अभिधेय (अर्थ)
पदार्थ
पदार्थ–प्ररूपणा
परत्वापरत्व
परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय
परनिमित्तक उत्पाद
परपर्याय
परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय
परमस्वभाव
परमाणु
परमावधिज्ञान
परमावधिज्ञान के भेद
परसंग्रह नय
परसंग्रहाभास
परसमय (अध्यात्म)
परसमय (सिद्धान्त)
पराजय
परार्थनवाद
परार्थ प्रत्यक्ष
परार्थ प्रमाण
परार्थाधिगम
परार्थाधिगम के भेद
परार्थानुमान
परार्थानुमान के भेद
परार्थानुमान के दो अवयव
परार्थानुमान के पांच अवयव
परिणाम
परिणाम (स्वभाव)
परिणाम-अनित्यता
परिणाम के पर्याय
परिणाम के भेद
परिणाम शक्ति
परीक्षा
परोक्ष ज्ञान
परोक्ष प्रमाण
परोक्ष प्रमाण के दो भेद
परोक्ष ज्ञान के पांच या छः भेद
पर्यनुयोज्योपेक्षण निग्रहस्थान
पर्याय
पर्याय के पर्याय
पर्याय के भेद
पर्यायार्थिक नय
पर्यायार्थिक नय के भेद
पर्यायार्थिक नयाभास
पर्यायार्थिकनैगमनय
पर्यायार्थिकनैगम नय
पर्यायास्तिक नय
पर्यायास्तिक नय के भेद
पारतन्त्र्य
पारमार्थिक प्रत्यक्ष
पारमार्थिक प्रत्यक्ष के भेद

पारमार्थिक प्रत्यक्षाभास
पुनरूक्त निग्रहस्थान
पृथक्त्व
प्रकरणसम हेत्वाभास
प्रकरणसमा जाति
प्रकाश
प्रणिधान
प्रणिधान के पर्याय
प्रणिधान के भेद
प्रतिज्ञा
प्रतिज्ञान्तर निग्रहस्थान
प्रतिज्ञाविरोध निग्रहस्थान
प्रतिज्ञासंन्यास निग्रहस्थान
प्रतिज्ञाहानि निग्रहस्थान
प्रतिदृष्टान्तसमा जाति
प्रतिपक्ष
प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान
प्रतिवादी
प्रतिष्ठा
प्रतीति
प्रत्यक्ष (प्रमाण)
प्रत्यक्ष के भेद
प्रत्यक्षाभास
प्रत्यभिज्ञान
प्रत्यभिज्ञानाभास
प्रत्यय
प्रत्यय के पर्याय
प्रत्यामुंडा
प्रत्युत्पन्न
प्रदेश
प्रदेशत्व
प्रध्वंसाभाव
प्रमाण
प्रमाण (नयात्मक)
प्रमाण के भेद
प्रमाण फल
प्रमाणफलाभास
प्रमाण वाक्य
प्रमाणवाक्य (सप्तभङ्गी)
प्रमाणविषयाभास
प्रमाणसंख्याभास
प्रमाण सप्तभङ्गी
प्रमाणांश (नय)
प्रमाणाभास
प्रमाता
प्रमेय (प्रमाण का विषय)
प्रमेयत्व
प्रमेयाभास
प्रवचन
प्रवाद
प्रश्न
प्रश्न के भेद
प्रसंगसमा जाति
प्रागभाव
प्रातिभ (ज्ञान)
प्रातिभवाद
प्राप्तिसमा–अप्राप्तिसमा जाति
प्रामाण्य
प्रामाण्य (स्वतः–परतः)
प्रावचन
प्राश्निक/सभ्य

ब

बहिर्व्याप्ति
बहुज्ञान (अवग्रह)

बहुविधज्ञान
बाधितविषय
बुद्धि
बौद्ध दर्शन
ब्रह्मवाद

भ

भवप्रत्यय (अवधिज्ञान)
भव्यस्वभाव
भाव (गुण-पर्याय)
भाव (पदार्थ)
भाव (परिणाम) के पर्याय
भाव निक्षेप
भावप्रमाण के भेद
भावमन
भाविनैगम नय
भूतचतुष्टयवाद
भूतचैतन्यवाद
भूत नैगम नय
भेदस्वभाव
भेदाभेदावृत्ति

म

मतानुज्ञा निग्रहस्थान
मतिअज्ञान
मतिज्ञान
मतिज्ञान के भेद
मन
मन के पर्याय
मनःपर्ययज्ञान
मनःपर्ययज्ञान के भेद
महासत्ता
मानस प्रत्यक्ष
मार्गणा
मिथःविरोध (तर्क-दोष)
मिथ्या
मिथ्या अनेकान्त
मिथ्या एकान्त
मिथ्याज्ञान
मिथ्यादर्शन (मिथ्यात्व)
मिथ्यादर्शन (मिथ्यात्व) के भेद
मिथ्या नय
मिथ्यार्थ
मिथ्याश्रुत
मिथ्याश्रुत के भेद
मीमांसक
मीमांसा
मुख्य
मुख्य प्रत्यक्ष
मूर्तत्व
मूल शैथिल्य (तर्क-दोष)
मेधा

य

याथात्म्य
युतसिद्धि
योगिप्रत्यक्ष
योग्यता

ल

लक्षण
लक्षण के भेद
लक्षणाभास (तीन लक्षण-दोष)
लब्धि (भावेन्द्रिय)

लब्ध्यक्षर
लिङ्ग
लोकायत/लोकायतिक दर्शन
लोकोत्तर शब्दलिंगजश्रुतज्ञान
लौकिकशब्दलिंगज श्रुतज्ञान

व

वचन
वर्ण
वर्ण्यसमा–अवर्ण्यसमा जाति
वर्तना
वर्तमान नैगम नय
वस्तु
वस्तु के पर्याय
वस्तु के भेद
वस्तुत्व
वाक्छल
वाक्य
वाच्य
वाद
वाद के अंग
वाद के अवयव
वाद के भेद
वादछल के भेद
वाददोष (विशेष)
वाददोष (सामान्य)
वादाभास
वादी
वादित्व
विकल प्रत्यक्ष
विकलादेश
विकल्प
विकल्पसमा जाति
विक्षेप निग्रहस्थान
विजाति असद्भूतव्यवहार नय
विजिगीषुकथा
विज्ञप्ति
विज्ञानव्यक्ति
वितण्डा
वितर्क
विधि–प्रतिषेध
विधिसाधक विरूद्धानुपलब्धि (हेतु) के भेद
विपक्ष
विपक्षव्यावृत्ति
विपरिणाम
विपरीतव्यतिरेक दृष्टान्ताभास
विपरीतान्वय दृष्टान्ताभास
विपर्यय
विपर्यय मिथ्यादर्शन
विपर्यय में अपर्यवसान (तर्क दोष)
विपर्यस्त
विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान
विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान के भेद
विप्रतिपत्ति
विभंगज्ञान
विभज्यवाद
विभाग
विभ्रम
विमोह
विरूद्ध उत्तरचरोपलब्धि (हेतु)
विरूद्धकारणानुपलब्धि (हेतु)
विरूद्धकारणोपलब्धि (हेतु)
विरूद्धकार्यानुपलब्धि (हेतु)
विरूद्धकार्योपलब्धि (हेतु)

विरुद्धधर्मत्वशक्ति
विरूद्धपूर्वचरोपलब्धि (हेतु)
विरूद्धव्यापकानुपलब्धि (हेतु)
विरूद्धव्याप्तोपलब्धि (हेतु)
विरूद्धसहचरानुपलब्धि (हेतु)
विरूद्धसहचरोपलब्धि (हेतु)
विरूद्धस्वभावानुपलब्धि (हेतु)
विरुद्ध हेत्वाभास
विरूद्धानुपलब्धि (हेतु) के भेद
विरूद्धोपलब्धि (हेतु) के भेद
विरोध
विवक्षा
विवर्त
विवाद
विवाद के भेद
विवादवाद
विशदज्ञान
विशेष
विशेष के भेद
विशेषसंग्रह नय
विशेषसंग्रह भेदक व्यवहार नय
विषय
विसंवादन
वीतराग कथा
वृद्धि
वेदांग
वैतण्डिक
वैधर्म्य दृष्टान्त
वैधर्म्य दृष्टान्ताभास के भेद
वैधर्म्यसमा जाति
वैनयिक मिथ्यादर्शन
वैलक्षण्य प्रत्यभिज्ञान
वैशद्य
वैशेषिक दर्शन
व्यञ्जन
व्यञ्जननय
व्यंजनपर्याय
व्यञ्जनावग्रह
व्यतिरेक
व्यतिरेक दृष्टान्त
व्यतिरेक दृष्टान्ताभास के भेद
व्यतिरेक व्याप्ति
व्यतिवृत्ति
व्यभिचार
व्यभिचारी हेत्वाभास
व्यय
व्यवसाय
व्यवसायात्मकता (ज्ञानगत/प्रमाणगत)
व्यवहार
व्यवहार नय
व्यवहार (अध्यात्म) नय
व्यवहार (अध्यात्म) नय के भेद
व्यवहार नयाभास
व्याख्यावाद
व्याप्ति
व्याप्ति के भेद
व्याप्तिज्ञान
व्यावृत्ति

श

शब्द
शब्द के भेद
शब्द-दोष के भेद
शब्दनय

शब्दनय (नय समूह) और उसके भेद
शब्दनयाभास
शब्द प्रमाण
शब्द ब्रह्म
शब्दलिंगज के भेद
शब्दाद्वैतवाद
शब्दार्थसम्बन्ध
शास्त्र (प्रमाण)
शुद्ध द्रव्यार्थिक नय
शुद्धनिश्चय (अध्यात्म) नय
शुद्ध पर्यायार्थिक नय
शुद्ध सद्भूत व्यवहार नय
शून्य
श्रुत (आगम)
श्रुत (आगम) के पर्याय
श्रुतअज्ञान
श्रुतकेवली
श्रुतज्ञान
श्रुतज्ञान के पर्याय
श्रुतज्ञान के भेद
श्रुतज्ञान प्रमाण
श्रुतनिश्रित के भेद
श्रुतप्रमाण
श्रुतविकल्प (नय)
श्रुति

स

संख्या
संग्रह नय
संग्रहनय के भेद
संग्रहनयाभास
संदिग्ध
संदिग्ध उभयधर्म दृष्टान्ताभास
संदिग्ध उभयव्यतिरेक दृष्टान्ताभास
संदिग्धसाधनधर्म दृष्टान्ताभास
संदिग्धसाधनव्यतिरेक दृष्टान्ताभास
संदिग्धसाध्यधर्म दृष्टान्ताभास
संदिग्धसाध्यव्यतिरेक दृष्टान्ताभास
संयोग
संवृतिसत्य
संव्यवहार
संशय
संशय मिथ्यादर्शन
संशयसमा जाति
संसर्ग
संस्कार
संस्थान
सकल प्रत्यक्ष
सकलादेश
सत्
सत् के पर्याय
सत्ता
सत्ता के भेद
सद्भूतव्यवहार नय
सद्भूतव्यवहार (अध्यात्म) नय
सद्भूतव्यवहार (अध्यात्म) नय के भेद
सद्भूतव्यवहार नय (उपनय) के भेद
सद्वाद
सपक्ष
सप्तभङ्गी
सप्तभङ्गी का विशिष्ट प्रकार
सप्तभङ्गी के सात भंग
सप्तभंगी के दो प्रकार
सभापति

सभ्य
समभिरूढ नय
समभिरूढ नयाभास
समय (आगम)
समय (आत्मा)
समय (स्वशुद्धस्वरूपस्थिति)
समय (चारित्र)
समय (पदार्थ)
समय (सिद्धान्त)
समयमूढ़
समवर्तित्व
समवाय (सम्बन्ध)
समारोप
समारोप के भेद
सम्बन्ध
सम्बन्ध के भेद
सम्बन्ध शक्ति
सम्यक् अनेकान्त
सम्यक् एकान्त
सम्यक् ज्ञान (निर्दोष ज्ञान)
सम्यक् ज्ञान (सम्यक्त्व)
सम्यक् नय
सम्यक् वाद
सम्यक् श्रुत
सम्यक् श्रुत के भेद
सर्वनयात्मक (जिनवाणी)
सर्वावधिज्ञान
सर्वावधि ज्ञान के भेद
सविकल्प ज्ञान
सहकारी
सहवृत्ति
सहानवस्थालक्षण विरोध
सांख्य दर्शन
सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष
सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के भेद
सांव्यवहारिक प्रत्यक्षाभास
साकल्य
साकल्य व्याप्ति
साकार उपयोग
साकार उपयोग के भेद
सादिनित्यपर्यायार्थिक नय
सादृश्य
सादृश्य प्रत्यभिज्ञान
सादृश्यास्तित्व
साधन
साधनधर्मविकल दृष्टान्ताभास
साधर्म्य
साधर्म्य दृष्टान्त
साधर्म्य दृष्टान्ताभास के भेद
साधर्म्यसमा जाति
साध्य
साध्यधर्मविकल दृष्टान्ताभास
सान
सापेक्षकारणवाद
सामान्य
सामान्य के भेद
सामान्य छल
सामान्य संग्रह नय
सामान्य संग्रहभेदक व्यवहार नय
सिद्धसाधन
सिद्धान्त
सुनय
सूनृत
स्थापना (निक्षेप)

स्थिति
स्थूल ऋजुसूत्रनय
स्पष्टत्व
स्फोट
स्मरण
स्मृति
स्मृत्याभास (स्मरणाभास)
स्यात्पद
स्याद्वाद
स्याद्वाद शासन
स्याद्वाद (श्रुत)
स्वजातिविजात्यसद्भूत व्यवहार नय
स्वजात्यसद्भूत व्यवहार नय
स्वतः परतः प्रामाण्य
स्वतत्त्व
स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय
स्वनिमित्त उत्पाद
स्वपरचतुष्टय
स्वपरपर्याय
स्वपरप्रकाशकता
स्वपरव्यवसायात्मकता
स्वभाव
स्वभाव के पर्याय
स्वभावपर्याय
स्वभाववाद
स्वरूपास्तित्व
स्वव्यवसाय
स्वसंवेदन प्रत्यक्ष
स्वाधिगम हेतु
स्वार्थप्रमाण
स्वार्थाधिगम
स्वार्थानुमान
स्वार्थानुमान के अंग

■■■

जैन न्याय
पारिभाषिक कोश

अ

अंश

० अंशा धर्मा वा।

(षड्.समु.टी. 55/322)

अंश यानी धर्म। (अंश का अर्थ 'धर्म' है।)

० अंशाः पर्यायाः।

(पं. 1/519)

अंश यानी पर्याय।

अंश के प्रकार

० भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मः।

(युक्त्य. 59)

(भाव की तरह) अभाव भी वस्तु का धर्म होता है।

० यश्चास्य पटादिरूपेण अभावः, सोऽपि घटधर्म एव, तदधीनत्वात् भाववत्, अतोऽसौ स्वपर्याय एव, परेण इत्युपचर्यमानत्वात् परपर्याय इत्युपचर्यते। स्वपरविशेषणायत्तं हि वस्तुस्वरूप-प्रकाशनम् इति।

(रा.वा. 4/42/15)

घट में जो पटादि का 'नास्तित्व' है, वह भी घड़े का ही धर्म है, क्योंकि वह धर्म उस पदार्थ के अधीन होने से भाव के समान उसका एक स्वरूप है, इसलिए वह धर्म उसकी स्वपर्याय है। हां, 'पर' की अपेक्षा विशेष्यमान होने से, उपचारतः 'परपर्याय' कहा जाता है। क्योंकि स्व-परविशेषण के अधीन ही वस्तुस्वरूप का प्रकाशन होता है।

० विधिः सदंशः। प्रतिषेधोऽसदंशः।

(प्र.न.त. 3/56–57)

वस्तु का सत्–अंश है, जिसे विधिरूप कहा जाता है। इसी प्रकार वस्तु का असत्–अंश होता है, जिसे प्रतिषेधरूप (अभावरूप) कहा जाता है।

(द्रष्टव्य : अनेकान्तात्मकता, अभाव, देश, नय, पर्याय, स्वपरचतुष्टय)

अंशग्राही ज्ञान

० अभावांशात् कथंचिदभिन्नं भावांशं परिच्छिन्दता प्रत्यक्षादिना प्रमाणेन अभावांशो गृहीत एव ...।

(प्र.मी. 1/1/12)

चूंकि (वस्तु का) भाव रूप अंश (वस्तु के) अभाव रूप अंश से कथंचिद् अभिन्न है, (इसलिए) प्रत्यक्षादि प्रमाण जब भाव–अंश को जानते हैं तो उसका अभाव–अंश भी उनके द्वारा गृहीत (ज्ञात) हो ही जाता है .....।

(द्रष्टव्य : नय)

अकिंचित्कर हेतु (हेत्वाभास)

० सिद्धेऽकिञ्चित्करो हेतुः स्वयं साध्यव्यपेक्षया।

(प्र.सं. 44)

साध्य की विशेष अपेक्षा से स्वयंसिद्ध होने पर हेतु 'अकिञ्चित्कर' होता है।

० सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुर-किञ्चित्करः।।

सिद्धः श्रावणः शब्दः शब्दत्वात्।।

(प.मु. 6/35–36; प्र.प्र. 1/30)

साध्य के सिद्ध होने पर और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित होने पर प्रयुक्त हेतु 'अकिंचित्कर

हेत्वाभास' कहलाता है। जैसे– 'शब्द श्रावण (श्रवणयोग्य) है, चूंकि वह शब्द है।' यहां 'चूंकि वह शब्द है' यह हेतु 'अकिंचित्कर' है।

० प्रतिवादिप्रसिद्धसाध्ये प्रयुक्तो हेतुरकिञ्चित्करः।

(प्र.प्र. 1/30)

प्रतिवादी के लिये जो साध्य पहले से ही सिद्ध होता है, उसके विषय में प्रयुक्त हेतु 'अकिंचित्कर हेत्वाभास' होता है।

० सिद्धे साध्ये हेतुर्न किञ्चित् करोतीति अकिञ्चित्करः। तैजसः प्रदीपः, उष्णस्पर्शवत्त्वात् पावकवत्।

(प्र.प्र. 1/36)

जहाँ साध्य पहले ही सिद्ध हो, वहाँ हेतु कुछ भी नहीं करता, अतः उसे अकिंचित्कर कहते हैं। जैसे–दीपक तैजस पदार्थ है, क्योंकि वह अग्नि के समान उष्ण स्पर्श से युक्त है।

० अप्रयोजको हेतुरकिञ्चित्करः।

(न्या.दी. 3/63)

जो हेतु साध्य की सिद्धि करने में अप्रयोजक अर्थात् असमर्थ है, उसे 'अकिंचित्कर' हेत्वाभास कहते हैं।

अकिंचित्कर हेतु (हेत्वाभास) के भेद

० स द्विविधः सिद्धसाधनो बाधितविषयश्चेति।

(न्या.दी. 3/63)

अकिंचित्कर हेत्वाभास के दो भेद हैं– सिद्ध–साधन और बाधितविषय।

० अकिञ्चित्करो द्विविधः-सिद्धसाध्यको बाधितसाध्यकश्चेति।

(प्र.रत्ना. 6/35)

अकिंचित्कर हेतु के दो भेद हैं–1. सिद्ध-साध्यक, 2. बाधितसाध्यक।

अक्षपाद दर्शन

० (द्रष्टव्य : न्यायदर्शन)

अक्षर

० न क्खरइ अणुवओगे वि अक्खरं सो य चेयणाभावो।
अविसुद्धनयाण मयं सुद्धनयाण क्खरं चेव।।

(विशे.भा. 455)

अनुपयोग (उपयोग न होने पर भी) जो क्षरित (क्षीण) नहीं होता, वह 'अक्षर' कहलाता है। वह (नैगमादि) अशुद्ध नय की दृष्टि से (ज्ञानपरिणामस्वरूप) चेतनास्वभाव है। किन्तु (ऋजुसूत्र आदि) शुद्ध नयों की दृष्टि में वह ज्ञान 'क्षर' ही है, (अक्षर नहीं है)।

० खरणाभावा अक्खरं केवलणाणं।

(ध. 6, पृ. 21)

जिसका क्षरण (विनाश) न हो, वह 'अक्षर' अर्थात् 'केवलज्ञान' है।

० सुहुमणिगोदलद्धिअपज्जत्तयस्स (जं) जहण्णयं णाणं तं लद्धिअक्खरं णाम। कधं तस्स अक्खरसण्णा ? खरणेण विणा एगसरूवेण अवट्ठाणादो। केवलणा-णमक्खरं, तत्थ वड्ढिहा-णीणमभावादो। दव्वट्ठियणए सुहुमणिगोदणाणं तं चेवे त्ति वा अक्खरं।

(ध. 13, पृ. 262)

सूक्ष्म निगोद लब्धपर्याप्तक के जो जघन्य ज्ञान होता है, उसका नाम 'लब्ध्यक्षर' है। इसकी

अक्षर संज्ञा किस कारण से है ? क्योंकि यह ज्ञान बिना नष्ट हुए एक स्वरूप से अवस्थित रहता है। अथवा केवलज्ञान (ही) अक्षर है, क्योंकि उसमें वृद्धि और हानि नहीं होती। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा चूंकि सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तक का ज्ञान भी वही है, इसलिये भी इस ज्ञान को 'अक्षर' कहते हैं।

अक्षर के भेद

० तं सण्णा-वंजण लद्धिसण्णियं तिविहमक्खरम्।

(विशे.भा. 464)

अक्षर के तीन भेद होते हैं–संज्ञा-अक्षर, व्यञ्जन-अक्षर और लब्धि-अक्षर।

० लद्धिअक्खरं णिवत्तिअक्खरं संठाणक्खरं चेदि तिविहमक्खरं।

(ध. 13 पृ. 264)

- अक्षर के तीन भेद हैं–लब्ध्यक्षर, निर्वृत्त्यक्षर और संस्थानाक्षर।

अक्षर श्रुत के भेद

० अक्खरसुयं तिविहं पण्णत्तं, तं जहा–(1) सण्णक्खरं (2) वंजणक्खरं (3) लद्धिअक्खरं।

(नन्दी. 4/56)

अक्षरश्रुत तीन प्रकार का बताया गया है, जैसे –(1) संज्ञा-अक्षर, (2) व्यञ्जन-अक्षर (3) लब्धि-अक्षर।

अचक्षुर्दर्शन (उपयोग) :

० "दिट्ठस्स व जं सरणं णायव्वं तं अचक्खु त्ती।।". ....दिट्ठस्स शेषेन्द्रियैः प्रतिपन्नस्यार्थस्य जं यस्मात् सरणं अवगमनं णायव्वं ज्ञातव्यं तं तत् अचक्खु त्ति अचक्षुर्दर्शनमिति। सेसिंदियणाणुप्पत्तीदो जो पुव्वमेव सुवसत्तीए अप्पणो विसयम्मि पडिबद्धाए सामण्णेण संवेदो अचक्खुणाणुप्पत्तिणिमित्तो तमचक्खुदंसणमिदि उत्तं होदि।

(ध. 7, पृ. 101)

जो (चक्षु से) अन्य ज्ञानेन्द्रियों का आलम्बन लेकर प्रकाशित होता है या दिखता है, उसे अचक्षुर्दर्शन जानना चाहिए।.....(गाथा का अर्थ इस प्रकार है–) जो देखा गया है अर्थात् जो पदार्थ शेष ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जाना जाता है, क्योंकि उसका जो सरण यानी ज्ञान होता है, उसे अचक्षुर्दर्शन जानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि चक्षु इन्द्रिय को छोड, शेष इन्द्रिय ज्ञान की उत्पत्ति का निमित्तभूत जो सामान्य से संवेद या अनुभव होता है, वह अचक्षुर्दर्शन है (यही उक्त गाथा का परमार्थ है)।

० सोद-घाण-जिब्भा-फासमणेहिंतोसमुप्पज्ज माणणाणकारणसगसंवेयणमचक्खुदंसणं णाम।

(ध. 13, पृ. 355)

श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, स्पर्शन व मन के निमित्त से उत्पन्न होने वाले ज्ञान के कारणभूत स्वसंवेदन का नाम 'अचक्षुर्दर्शन' है।

० रस-फास-गंध-सद्द-दिट्ठसुवाणुभूदत्थविसयसग-सत्तिविसयजीवोवजोगो अचक्खुदंसणं णाम।

(ध. 15, पृ. 9)

रस, स्पर्श, गन्ध, शब्द, दृष्ट, श्रुत व अनुभूत अर्थ को विषय करने वाली अपनी शक्ति विषयक जीव के उपयोग को 'अचक्षुर्दर्शन' कहा जाता है।

० सेसिंदियप्पयासो णायव्वो सो अचक्खु त्ति।

(गो.सा.जी. 484)

सामान्य मात्र के अतिरिक्त शेष इन्द्रियों का जो प्रकाश है, वह 'अचक्षुर्दर्शन' है।

० यत्तदावरणक्षयोपशमाच्चक्षुर्वर्जितेतरचतुरिन्द्रियानिन्द्रियावलम्बनाच्च मूर्तामूर्तद्रव्यं विकलं सामान्येना-वबुध्यते तदचक्षुर्दर्शनम्।

(पंचा.त.प्र. 42)

(आत्मा के) अंतरंग में अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से बहिरंग नेत्र इन्द्रिय के बिना चार इन्द्रियों और द्रव्य के अवलम्बन से किंचित् मूर्तिक द्रव्य व अमूर्तिक द्रव्य जिसके द्वारा देखे जायें, उसका नाम 'अचक्षुर्दर्शन' है।

० स्पर्शनरसनघ्राणश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमत्वात्स्वकीयस्वकीयबहिरङ्गद्रव्येन्द्रियालम्बनाच्च मूर्तसत्तासामान्यं विकल्परहितं परोक्षरूपेणैकदेशेन यत्पश्यति, तदचक्षुर्दर्शनम्।

(बृ.द्र.सं.वृ. 4)

स्पर्शन, रसन, घ्राण, तथा श्रोत्रेन्द्रिय के आवरण के क्षयोपशम से निज-निज बहिरंग द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन से मूर्त्त सत्ता-सामान्य को परोक्षरूप एकदेश से जो विकल्परहित देखता है, वह 'अचक्षुर्दर्शन' है।

अचेतनत्व

० अचेतनस्य भावोऽचेतनत्वमचैतन्यमननुभवनम्।

(आ.प. 102)

अचेतन के भाव को अर्थात् पदार्थों की अनुभूति के न होने को 'अचेतनत्व' कहते हैं।

अज्ञान (ज्ञान अभाव)

० ज्ञानावरणकर्मण उदयात् पदार्थानवबोधो भवति, तदज्ञानमौदयिकम्।

(स.सि. 2/6/265)

ज्ञानावरण कर्म के उदय से पदार्थ के नहीं जानने को 'अज्ञान' कहते हैं। यह औदयिक (भाव) है।

० ज्ञानावरणोदयाद् अज्ञानम्। ज्ञस्वभावस्य आत्मनः तदावरणकर्मोदये सति नावबोधो भवति, तदज्ञानमौदयिकम्, घनसमूहस्थगितदिनकरतेजोऽनभिव्यक्तिवत्।

(रा.वा. 2/6/5)

जिस प्रकार प्रकाशमान सूर्य का तेज सघन मेघों द्वारा तिरोहित हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानावरण के उदय से ज्ञानस्वरूप आत्मा के ज्ञान गुण की अभिव्यक्ति का न होना 'अज्ञान' है।

० अज्ञानम् अज्ञप्तिः, स्वपररूपयोः व्यामोहः।

(प्र.क.मा. 5/1)

अज्ञान यानी अज्ञप्ति, अर्थात् स्वरूप व पररूप के सम्बन्ध में व्यामोह (बने रहना)।

० संसयविमोहविब्भमजुत्तं जं तं खु होई अण्णाणं।
अहव कुसच्छाज्झेयं पावपदं हवदि तं णाणं।।

(बृ.न.च. 306)

संशय, विमोह व विभ्रम से युक्त ज्ञान 'अज्ञान' कहा जाता है। अथवा कुशास्त्रों के अध्ययन से भी जो पापदायक ज्ञान होता है, वह भी 'अज्ञान' कहा जाता है।

० अज्ञानस्य विपर्ययादेः...।

(र.करा. 6/3)

अज्ञान यानी विपर्यय (संशय, अनध्यवसाय) आदि।

० अस्ति यत् पुनरज्ञानमर्थादौदयिकं स्मृतम्।
तदस्ति शून्यतारूपं यथा निश्चेतनं वपुः।।

(पं. 2/1019)

जो अज्ञान भाव है, उसे वास्तव में औदयिक (भाव) जानना चाहिए। वह चेतना से रहित शरीर की तरह शून्यता रूप होता है।

० ज्ञानाभावरूपम् औदयिकमज्ञानम्।

(जै.सि.दी. 2/32)

ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से ज्ञान का न होना 'अज्ञान' है।

अज्ञान (मिथ्या ज्ञान)

० मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानमिति विपर्ययश्च भवत्यज्ञानं चेत्यर्थः। ज्ञानविपर्ययोऽज्ञानमिति। मिथ्यादर्शनपरिग्रहाद्विपरीतग्राहकत्वमेषाम्। तस्मादज्ञानानि भवन्ति। तद्यथा। मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभङ्गज्ञानमिति। अवधिर्विपरीतो विभङ्ग इत्युच्यते।

(तत्त्व.भा.1/32)

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान व अवधि ज्ञान –ये विपर्यय भी हुआ करते हैं अर्थात् ये तीनों अज्ञान रूप भी कहे जाते हैं, क्योंकि जो ज्ञान से विपरीत हैं, उन्हीं को अज्ञान कहते हैं।.....जिन जीवों ने मिथ्यादर्शन को ग्रहण–धारण कर रखा है, उन जीवों के ये तीनों ही ज्ञान पदार्थ को याथात्म्य (यथार्थ) रूप से ग्रहण नहीं करते –विपरीत रूप से ग्रहण करते हैं, अतएव इनको (विपरीत ज्ञान यानी) 'अज्ञान' कहते हैं। इन्हें क्रमशः मति-अज्ञान, श्रुत–अज्ञान, व विभंग ज्ञान कहा जाता है। विपरीत अवधि ज्ञान (अवधि-अज्ञान) को 'विभंग ज्ञान' कहते है।

० सुद्धणया पुण णाणं मिच्छादिट्ठिस्स वेंति अण्णाणं।

(भ.आ. 5)

शुद्धनय दृष्टिवाले ज्ञानी जन मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को 'अज्ञान' कहते हैं।

० सदसदविसेसणाओ भवहेउजदिच्छिओवलम्भाओ।
नाणफलाभावाओ मिच्छदिट्ठिस्स अण्णाणं।।

(विशे.भा. 115)

सत् और असत् का विवेक न होने से, कर्मों के सद्भाव से और ज्ञान के फल का अभाव होने से मिथ्यादृष्टि का ज्ञान 'अज्ञान' होता है।

० अयथार्थश्रद्धानुविद्धावगमोऽज्ञानम्।

(ध. 1, पृ. 365)

अयथार्थ श्रद्धान से अनुविद्ध अवगम (बोध) को 'अज्ञान' कहते हैं।

० यथायथमप्रतिभासितार्थप्रत्ययानुविद्धावगमोऽज्ञानम्।

(ध. 1, पृ. 366)

(न्यूनता आदि दोषों से मुक्त होते हुए भी) यथावस्थित अप्रतिभासित हुए पदार्थ के निमित्त से उत्पन्न हुए तत्सम्बन्धी बोध को 'अज्ञान' कहते हैं।

० मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानमपि मिथ्यादर्शनोदयपरिग्रहाद् अज्ञानं बम्भण्यते।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 520)

मिथ्यादृष्टि को होने वाला ज्ञान मिथ्यादर्शन के उदय के कारण 'अज्ञान' कहा जाता है।

० शुद्धात्मादि–तत्त्वभावविषये विपरीतपरिच्छित्ति–विकारपरिणामो जीवस्य अज्ञानम्।

(स.सा.ता.वृ. 88)

शुद्धात्मा आदि भाव तत्त्वों के विषय में विपरीत ग्रहण रूपी विकारी परिणामों को जीव का 'अज्ञान' कहते हैं।

० मिथ्यात्विनां ज्ञानावरणक्षयोपशमजन्योऽपि बोधो मिथ्यात्वसहचारित्वात् अज्ञानमुच्यते।

(जै.सि.दी.स्वो.व्या. 2/21)

मिथ्यात्वियों का बोध भी ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है, किन्तु मिथ्यात्व-सहवर्ती होने के कारण वह 'अज्ञान' कहलाता है।

(द्रष्टव्य : कुअवधिज्ञान, कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान)

अज्ञान (मिथ्याज्ञान) के भेद

० अज्ञानं त्रिविधं मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभङ्गं चेति।

(रा.वा. 2/5/6)

अज्ञान के तीन प्रकार हैं– मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, विभङ्ग-ज्ञान (कु-अवधिज्ञान)।

० मिथ्यादर्शनोदयापादितकालुष्यमज्ञानं त्रिविधम्।

(रा.वा. 9/7/11)

मिथ्यादर्शन के उदय से उत्पन्न होने वाला ज्ञान तीन प्रकार का (मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, विभंग-ज्ञान –इन तीन भेदों वाला) है।

अज्ञान निग्रहस्थान

० पर्षदा विज्ञातस्यापि वादिवाक्यार्थस्य प्रतिवादिनो यदज्ञानं तदज्ञानं नाम निग्रहस्थानं भवति।

(प्र.मी. 2/1/34)

वादी के द्वारा प्रयुक्त वाक्य का अर्थ सभ्य समझ लें, किन्तु उसका प्रतिवादी की समझ में न आना 'अज्ञान' नामक निग्रहस्थान है।

अज्ञान मिथ्यात्व

० हिताहितपरीक्षाविरहः अज्ञानिकत्वम्।

(स.सि. 8/1/731; रा.वा. 8/1/28)

हित-अहित की परीक्षा से रहित होना –यह 'अज्ञानिक' (अज्ञान-मिथ्यादर्शन) है। {एकान्त, विपरीत, संशय, वैनयिक व अज्ञानिक –इन पांच मिथ्यादर्शनों में से यह एक है।}

० विचारिज्जमाणे जीवाजीवादिपयत्था ण संति णिच्चाणिच्चवियप्पेहिं, तदो सव्वमण्णाणमेव। णाणं णत्थि ति अहिणिवेसो अण्णाणमिच्छत्तं।

(ध. 8, पृ. 20)

नित्यत्व, अनित्यत्व सम्बन्धी विकल्पों से विचार करने पर जीव-अजीव आदि पदार्थ नहीं हैं, इसलिए सब अज्ञान ही है, ज्ञान नहीं है, ऐसे अभिनिवेश को 'अज्ञान मिथ्यात्व' कहा जाता है।

० हिताहितविवेकस्य यत्रात्यन्तमदर्शनम्।
यथा पशुवधो धर्मः, तदज्ञानिकमुच्यते।।

(तत्त्वा. 5/7)

जिस मत में हित व अहित का कुछ भी विचार नहीं है, 'पशुवध धर्म हैं –इस प्रकार अहित में प्रवृत्ति कराने का उपदेश है, वह 'अज्ञानिक मिथ्यात्व' है।
(द्रष्टव्य : मिथ्यादर्शन)

अतिप्रसंग तर्क

० प्रसिद्धव्याप्यव्यापकयोः मध्ये व्याप्याङ्गीकारे व्यापकाङ्गीकारप्रसंजनमतिप्रसंगः।

(प्र.प्र. 1/43)

जो व्याप्य और व्यापक प्रसिद्ध हैं, उनमें व्याप्त को स्वीकार करने पर व्यापक को भी स्वीकार करना पड़ेगा, यह कथन 'अतिप्रसंग' होता है।
(द्रष्टव्यः तर्क के भेद)

अतिव्याप्त (लक्षणदोष)

० लक्ष्यालक्ष्यवृत्त्यतिव्याप्तम्, यथा तस्यैव पशुत्वम्।

(न्या.दी. 1/5; भि.न्या. 1/8)

लक्ष्य और अलक्ष्य में लक्षण के रहने को 'अतिव्याप्त' कहते हैं। जैसे उसी 'गौ' का लक्षण 'पशुत्व' करना।

अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष

० अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं।
पलयं गयं च जाणदि तं णाणमदिंदियं भणियं।।

(प्र.सा. 1/41)

जो ज्ञान प्रदेशरहित (परमाणु आदि) व प्रदेशसहित (पंचास्तिकाय) मूर्त व अमूर्त द्रव्यों को तथा अनागत पर्यायों व अतीत पर्यायों को जानता है, उस ज्ञान को 'अतीन्द्रिय ज्ञान' कहा जाता है।

० अतीन्द्रियप्रत्यक्षं तु द्विविधं विकलप्रत्यक्षं सकलप्रत्यक्षं चेति। विकलप्रत्यक्षमपि द्विविधम्...अवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं चेति। सकलप्रत्यक्षं तु केवलज्ञानम्।

(प्र.प. 91, पृ. 38)

अतीन्द्रियप्रत्यक्ष दो प्रकार का है– विकलप्रत्यक्ष और सकलप्रत्यक्ष। विकलप्रत्यक्ष भी दो प्रकार का है–अवधिज्ञान व मनःपर्ययज्ञान। सकलप्रत्यक्ष तो 'केवलज्ञान' है।

० सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रियमशेषतो मुख्यम्।

(प.मु. 2/11)

सामग्री-विशेष (सम्यग्दर्शनादि) द्वारा (स्वसम्बद्ध) आवरण हट जाने पर (उत्पन्न) पूर्णतया विशद (स्पष्ट) 'अतीन्द्रिय' व 'मुख्य' प्रत्यक्ष होता है।

० अतीन्द्रियं विशुद्धात्ममात्रोत्थम्।

(न्या.कु. 7/76)

मात्र विशुद्ध आत्मा से होने वाला ज्ञान अतीन्द्रिय (प्रत्यक्ष) होता है।
(द्रष्टव्य : केवलज्ञान, नोइन्द्रिय-प्रत्यक्ष, पारमार्थिक प्रत्यक्ष, प्रत्यक्ष, मुख्य प्रत्यक्ष)

अत्यन्ताभाव

० अन्यत्र समवाये न व्यपदिश्येत सर्वथा।

(आ.मी. 11)

यदि अत्यन्ताभाव का लोप किया जाय, तो एक द्रव्य का दूसरे में समवाय-सम्बन्ध (तादात्म्य) स्वीकृत होता है (जो दोषपूर्ण है)।

० कालत्रयाऽपेक्षिणी तादात्म्यपरिणामनिवृत्तिरत्यन्ताभावः।। यथा चेतनाचेतनयोः।।

(प्र.न.त. 3/65–66)

त्रिकाल सम्बन्धी तादात्म्य के अभाव को 'अत्यन्ताभाव' कहते हैं। जैसे–चेतन का अचेतन में एवं अचेतन का चेतन में अत्यन्ताभाव होता है।

० भूतले घटो नास्तीत्यादिप्रतीतिविषयोऽभावोऽत्यन्ताभावः।

(प्र.रत्ना. 2/2)

'भूतल में घट नहीं है' इत्यादि प्रतीति का विषय जो अभाव है, वह 'अत्यन्ताभाव' है।

० सर्वदा तादात्म्यनिवृत्तिरत्यन्तः।

(भि.न्या. 3/33)

तादात्म्य की सर्वथा निवृत्ति का नाम 'अत्यन्ताभाव' है।

अत्यन्तायोगव्यवच्छेद

० क्रियासंगतैवकारोऽत्यन्तायोगव्यवच्छेदबोधकः, यथा नीलं सरोजं भवत्येवेति। अत्यन्तायोगव्यवच्छेदो नाम उद्देश्यतावच्छेदकव्यापकाभावाप्रतियोगित्वम्।

(स.भं.त. 41)

क्रिया से अन्वित होने वाला 'एवकार' अत्यन्तायोगव्यवच्छेदक होता है, जैसे–सरोज नील होता ही है। अत्यन्तायोगव्यवच्छेद से तात्पर्य है–उद्देश्यतावच्छेदक के व्यापक अभाव का प्रतियोगी न होना।

अदर्शन

० (द्रष्टव्य : मिथ्यादर्शन)

अद्वैतवादी (वेदान्ती)

० प्रतिपक्षसव्यपेक्षः सन्मात्रग्राही संग्रहः। ब्रह्मवादः तदाभासः।

(प्र.र.मा. 6/74)

प्रतिपक्ष की अपेक्षा सहित (सापेक्ष कथन सहित) सत्तामात्र सामान्य तत्त्व को ग्रहण करना 'संग्रह नय' है। केवल ब्रह्मरूप ही तत्त्व है–ऐसा (एकान्त निरपेक्ष) ब्रह्मवाद 'संग्रहाभास' है।

० द्रव्यास्तिकनयानुपातिनो.....अद्वैतवादिनः।

(स्या.मं. 14)

अद्वैतवादी (वेदान्तदर्शनानुयायी) द्रव्यास्तिक नय का अनुसरण करते हैं।

० संग्रहाभिप्रायप्रवृत्ताः सर्वेऽपि अद्वैतवादाः।

(स्या.मं. 28)

सभी अद्वैतवादी दर्शन संग्रहनय का अनुसरण करते हैं।

० सत्ताद्वैतं स्वीकुर्वाणः सकलविशेषान्निराचक्षाणः संग्रहाभासः, यथाऽखिलानि अद्वैतवादिदर्शनानि।

(जै.त.भा.नय परि., पृ. 66)

एकमात्र सत्ता को अंगीकार करने वाला और समस्त विशेषों का निषेध करने वाला 'संग्रहनयाभास' है–जैसे समस्त अद्वैतवादी दर्शन। (द्रष्टव्य : परसंग्रहाभास, मिथ्याश्रुत, सर्वनयात्मक)

अधिक निग्रहस्थान

० एकेनैव हेतुनोदाहरणेन वा प्रतिपादितेऽर्थे हेत्वन्तरमुदाहरणान्तरं वा वदतोऽधिकं नाम निग्रहस्थानं भवति।

(प्र.मी. 2/1/34)

एक ही हेतु या एक ही उदाहरण के द्वारा अर्थ का प्रतिपादन हो जाने पर भी दूसरे हेतु या उदाहरण का प्रयोग करना 'अधिक' नामक निग्रहस्थान है।

० द्वयादिहेतुदृष्टान्तमधिकं नाम निग्रहस्थानम्।

(प्र.प्र. 1/82)

दो या अधिक हेतुओं तथा दृष्टान्तों का प्रयोग करना–यह 'अधिक' नाम का निग्रहस्थान है।

अधिगम

० अधिगमः अर्थावबोधः।

(स.सि. 1/3/14)

अधिगम यानी पदार्थ का ज्ञान।

० अधिगमो हि स्वार्थाकारव्यवसायः।

(अष्टस. 36, पृ. 175)

स्व एवं पदार्थ के आकार का निर्णय–इसे 'अधिगम' कहते हैं।

अधिगम के पर्याय

० अधिगमः, अभिगमः, आगमः, निमित्तं, श्रवणं (शब्दः), शिक्षा, उपदेश इत्यनर्थान्तरम्।

(तत्त्व.भा. 1/3)

अधिगम, अभिगम, आगम, निमित्त, श्रवण (शब्द), शिक्षा, उपदेश–ये एकार्थक हैं।

० अधिगमो णाणं पमाणमिदि एगट्ठो।

(ध. 3, पृ. 39)

अधिगम, ज्ञानप्रमाण–ये (दोनों) एकार्थवाची हैं।

अधिगम के भेद

० तत्राधिगमो द्विविधः स्वार्थः परार्थश्चेति।.....स च द्विविधः प्रमाणात्मको नयात्मकश्चेति।

(स.भं.त. 2)

अधिगम दो प्रकार का है–स्वार्थ और परार्थ। और वह अधिगम प्रमाण-रूप तथा नय-रूप इन दो भागों में विभक्त है।

अनक्षरश्रुत

० अणक्खरवरसुयं अणेगविहं पण्णत्तं। तं जहा–ऊससियं नीससियं, निच्छूढं खासियं च छीयं च। निस्सिंघियमणुसारं, अणक्खरं छेलियाईयं।।

(नन्दी. 4/60)

'अनक्षरश्रुत' अनेक प्रकार का बताया गया है, जैसे–उच्छ्वास, निःश्वास, थूकना, खांसना, छींकना, नाक साफ करना (आदि की ध्वनि), सानुनासिक ध्वनि या नाक से उच्चार्यमाण ध्वनि, सीटी बजाना, आदि।

अनध्यवसाय

० इदमेवं चेवेति, णिच्छयाभावो अणज्झवसाओ।

(ध. 7, पृ. 86)

'यह ऐसा है' इस प्रकार के निश्चय का अभाव 'अनध्यवसाय' है।

० अर्द्धचिन्तनमचिन्तनं वा अनध्यवसायः।

(ध. 13, पृ. 340)

अर्धचिन्तन या अचिन्तन का नाम 'अनध्यवसाय' है।

० किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः।।
यथा गच्छतस्तृणस्पर्शज्ञानम्।।

(प्र.न.त. 1/13–14; न्या.दी. 1/9)

'यह क्या है' इस प्रकार के अनिश्चयात्मक ज्ञान को 'अनध्यवसाय' कहते हैं। जैसे–मार्ग में चलते हुए पुरुष को तृणस्पर्शादि के विषय में होने वाला अनिश्चयात्मक ज्ञान।

० विशेषानुल्लेखी अनध्यवसायः।

(प्र.मी. 1/1/6)

विशेष के उल्लेख से रहित ज्ञान 'अनध्यवसाय' है।

० दूरान्धकारादिवशाद् असाधारणधर्मविमर्शरहितः प्रत्ययोऽनिश्चयात्मकत्वादनध्यवसायः।

(प्र.मी. 1/1/6)

दूर होने, अन्धकार होने आदि के कारण असाधारण धर्म के विमर्श से रहित प्रतीति, अनिश्चयात्मक होने से 'अनध्यवसाय' कहलाती है।

० अर्थानामप्रतिपत्तिः अनध्यवसायः।

(प्र.प्र. 1/10)

पदार्थों के ज्ञान के न होने को 'अनध्यवसाय' कहते हैं।

० अस्पृष्टविशिष्टविशेषं किमित्युल्लेखेनोत्पद्यमानं ज्ञानमात्रमनध्यवसायः प्रोच्यते।

(र.करा. 1/13)

अरे! क्या है? इस प्रकार का ज्ञान, जो विशिष्ट स्वरूप को स्पर्श न कर रहा हो, वह 'अनध्यवसाय' है।

० आभासमात्रमनध्यवसायः।

(भि.न्या. 1/14)

वस्तु का आभास मात्र होना 'अनध्यवसाय' है।

अनध्यवसित हेत्वाभास

० अनिश्चितव्याप्तिकः पक्ष एव वर्तमानो हेतुः अनध्यवसितः।

(प्र.प्र. 1/30)

जो हेतु पक्ष में ही हो, किन्तु जिसकी व्याप्ति अनिश्चित हो, वह 'अनध्यवसित हेत्वाभास' होता है।

अननुभाषण निग्रहस्थान

० पर्षदा विदितस्य वादिना त्रिरभिहितस्यापि यदप्रत्युच्चारणं तदननुभाषणं नाम निग्रहस्थानं भवति।

(प्र.मी. 2/1/34)

सभ्य जिसे समझ लें और वादी तीन बार-जिसका उच्चारण कर दे, फिर भी प्रतिवादी उसका प्रत्युच्चारण न कर पाए तो 'अननुभाषण' नामक निग्रहस्थान होता है।

० परिषदा परिज्ञातस्य वादिना त्रिरुपन्यस्तस्याप्रत्युच्चारणम् अननुभाषणं नाम निग्रहस्थानम्।

(प्र.प्र. 1/83)

जिसे सभा ने समझ लिया हो तथा वादी ने तीन बार जिसका उच्चारण किया हो, उसे न दुहरा सकना–यह 'अननुभाषण' नाम का निग्रह स्थान होता है।

अनन्तधर्मात्मक (वस्तु)

० अनन्तास्त्रिकालविषयत्वाद् अपरिमिता ये धर्माः सहभाविनः क्रमभाविनश्च पर्यायाः। त एवात्मा स्वरूपं यस्य तदनन्तधर्मात्मकम्।

(स्या.मं. 22)

त्रिकालविषय होने से जो धर्म अनन्त हैं, वे सहभावी पर्याय (गुणरूप) और क्रमभावी

पर्याय रूप होते हैं। सहभावी और क्रमभावी पर्यायें जिसका स्वरूप होती हैं, वह वस्तु 'अनन्तधर्मात्मक' होती है।
(द्रष्टव्य : अनेकान्तात्मकता)

अनन्यत्व

० अविभत्तमणण्णत्तं।

(पंचा. 45)

अविभक्त (प्रदेश रूप वाला) होना—यह अनन्यता है।

० अविभक्तप्रदेशत्वलक्षणं (द्रव्यगुणानाम्) अनन्यत्वमभ्युपगम्यते।

(पंचा.त.प्र. 45)

(द्रव्य व गुण में परस्पर) अविभक्त प्रदेश रूप होना—इसे अनन्यत्व स्वीकार किया गया है।
(द्रष्टव्य : अन्यत्व, तादात्म्य)

अनर्पित नय

० प्रयोजनाभावात् सतोऽप्यविवक्षा भवति इत्युपसर्जनीभूतमनर्पितमित्युच्यते।

(स.सि. 5/32/588; रा.वा. 5/32/2)

प्रयोजन के अभाव से जिन धर्मों के विद्यमान रहने पर भी विवक्षा नहीं होती, उन्हें 'अनर्पित' (नय) कहते हैं।

० सामान्यग्राहिणश्चानर्पितनयाः।

(जै.त.भा.नय परि., पृ. 63)

सामान्य को ग्रहण करने वाले अनर्पित नय हैं।

अनर्पितनयाभास

० अनर्पितमभिदधदर्पितं प्रतिक्षिपन्ननर्पिताभासः।

(जै.त.भा.नय परि., पृ. 67)

अनर्पित का विधान करने वाला और अर्पित का निषेध करने वाला 'अनर्पित नयाभास' होता है।

अनवस्था तर्क (उत्पत्ति दृष्टि से)

० उत्पादकज्ञापकप्रश्नयोः अपरिनिष्ठा अनवस्था। सस्यं कस्माज्जायते बीजात्, बीजं कस्माज्जायते प्राक्तनसस्यात्, तदपि कुतः प्राक्तनबीजात् इत्यादि उत्पत्तिपक्षे अनवस्था।

(प्र.प्र. 1/43)

उत्पादक अथवा ज्ञान कराने वाले के बारे में प्रश्न समाप्त ही न होना— यह अनवस्था होती है। जैसे—फसल कहाँ से उत्पन्न होती है (तो उत्तर है) बीज से, बीज कहाँ से उत्पन्न होता है (तो उत्तर है) उसके पहले की फसल से, वह (फसल) कहाँ से उत्पन्न हुई थी (तो उत्तर होगा) उसके पहले के बीज से—इस प्रकार उत्पत्ति की दृष्टि से अनवस्था होती है।

अनवस्था तर्क (ज्ञप्ति दृष्टि से)

० ज्ञानं केन ज्ञायते अनुव्यवसायेन, सोऽपि केन ज्ञायते अपरानुव्यवसायेन, सोऽप्यपरेणेति ज्ञप्तिपक्षे अनवस्था।

(प्र.प्र. 1/43)

ज्ञान कैसे जाना जाता है (तो उत्तर है) अनुव्यवसाय से (ज्ञान को जानने वाले ज्ञान से), वह (अनुव्यवसाय) कैसे जाना जाता है (तो उत्तर है) दूसरे अनुव्यवसाय से (ज्ञान को जानने वाले ज्ञान को जानने वाले ज्ञान से) वह (दूसरा अनुव्यवसाय) भी तीसरे (अनुव्यवसाय) से (जाना जाता है)—इस प्रकार ज्ञान की दृष्टि से अनवस्था होती है।

ाकार उपयोग

० अणागारे से दंसणे भवति।

(भ.सू. 18/8/21)

जो अनाकार (सामान्यग्राही) उपयोग होता है, वह 'दर्शन' होता है।

० आकारो-विकल्पः, सह आकारेण साकारः, अनाकारस्तद्विपरीतः, निर्विकल्प इत्यर्थः।

(तत्त्व.भा.वृ. 2/9)

आकार या विकल्प से रहित उपयोग को 'अनाकार' या 'निर्विकल्प' कहते हैं। उसे 'दर्शन' भी कहा जाता है।

० अवियत्तं दंसणं अणायारं।

(सन्मति. 2/11)

अनाकार (उपयोग, यानी) दर्शन अव्यक्त होता है।

० अनाकारं दर्शनम्।

(स.सि. 2/9/273; रा.वा. 2/9/1)

आकार से रहित-सामान्य विषयक उपयोग को 'निराकार उपयोग' या 'दर्शन' कहा जाता है।

० अनाकारः दर्शनोपयोगः।

(प्रशम.टी. 194)

अनाकार उपयोग को दर्शनोपयोग कहते हैं।

० निराकारो दर्शनोपयोगः सामान्यविषयत्वात्।

(तत्त्व.श्लो. 2/9)

दर्शनोपयोग निराकार उपयोग होता है, क्योंकि वह सामान्य को विषय करने वाला होता है।

० अगारो णाम कम्मकत्तारभावो, तेण विणा जा उवलद्धी सो अणागार उवजोगो।

(ध. 11, पृ. 333)

आकार का अर्थ कर्मकर्तृत्व है, उसके विना जो अर्थोपलब्धि होती है, उसे 'अनाकार उपयोग' कहा जाता है।

० को अणागारूवजोगो णाम ? सागारूवजोगादो अण्णो।

(ध. 13, पृ. 207)

'अनाकार उपयोग' क्या है ? साकार उपयोग से भिन्न 'अनाकार उपयोग' है।

० पमाणदो पुधभूदं कम्ममायारो, तं जम्मि णत्थि सो उवजोगो अणायारो णाम, दंसणुवजोगो त्ति भणिदं होदि।

(ज.ध. 1, पृ. 302)

प्रमाण से पृथग्भूत कर्म को 'आकार' कहते हैं। अर्थात् प्रमाण में अपने से भिन्न बहिर्भूत जो विषय प्रतिभासमान होता है, उसे 'आकार' कहते हैं। वह आकार जिस उपयोग में नहीं पाया जाता है, वह उपयोग 'अनाकार' अर्थात् दर्शनोपयोग कहलाता है।

० सायारं, तव्विवरीयमणायारं।

(ज.ध. 1, पृ. 308)

साकार उपयोग से विपरीत 'अनाकार' उपयोग कहलाता है।

० इंदियमणोहिणा वा, अट्ठे अविसेसिदूण जं गहणं।
अंतोमुहुत्तकालं, उवजोगो सो अणायारो।।

(गो.सा.जी. 675)

इन्द्रिय, मन और अवधि के द्वारा अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त पदार्थों की विशेषता किये बिना जो ग्रहण होता है, उसे 'अनाकार उपयोग' कहते हैं।

० सामान्यग्राहित्वाद् दर्शनमनाकारः।

(जै.सि.दी. 2/22)

दर्शन सामान्य धर्मों को जानता है, अतः इसको अनाकार उपयोग कहते हैं।

(द्रष्टव्यः दर्शन उपयोग, निराकार उपयोग)

अनाकार उपयोग के भेद

० अणागारोवओगे णं भंते! कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा! चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा–

1. चक्खुदंसणअणागारोवओगे
2. अचक्खुदंसणअणागारोवओगे
3. ओहिदंसणअणागारोवओगे
4. केवलदंसणअणागारोवओगे।

(प्र.सू. 29/1910)

भगवन्! अनाकारोपयोग कितने प्रकार का कहा गया है ? गौतम! वह चार प्रकार का कहा गया है। यथा–

1. चक्षुर्दर्शन–अनाकारोपयोग।
2. अचक्षुर्दर्शन–अनाकारोपयोग।
3. अवधिदर्शन–अनाकारोपयोग।
4. केवलदर्शन–अनाकारोपयोग।

० चदुदंसणमणगारो सव्वे तल्लक्खणा.....।

(गो.सा.जी. 673)

चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन –ये अनाकार उपयोग के भेद हैं।

अनादिनित्य पर्यायार्थिक नय

० अनादिनित्यपर्यायार्थिको यथा पुद्गलपर्यायो नित्यो मेर्वादिः।

(आ.प. 58)

अनादिनित्य पर्यायार्थिक नय, जैसे मेरू आदि पुद्गल की पर्याय नित्य है।

० अनादिनित्यपर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येत्यनादि-नित्यपर्यायार्थिकः।

(आ.प. 192)

अनादिनित्य पर्याय जिसका प्रयोजन है, वह 'अनादिनित्य पर्यायार्थिक नय' होता है।

अनित्य

० अनित्यो हि प्रतिक्षणविनाशी।

(स्या.मं. 5)

प्रतिक्षण विनष्ट होने वाली वस्तु को 'अनित्य' कहते हैं।

० परिणमनमनित्यम्।

(जै.सि.दी. 9/34)

परिणमन को 'अनित्य' कहते हैं।

(द्रष्टव्य : अनित्यता, अनित्य स्वभाव)

अनित्य अशुद्धपर्यायार्थिक नय

० कर्मोपाधिसापेक्षस्वभावोऽनित्याशुद्धपर्यायार्थिकः यथा संसारिणामुत्पत्तिमरणे स्तः।

(आ.प. 63)

अनित्य-अशुद्ध-पर्यायार्थिक नय का विषय कर्मोपाधिसापेक्ष स्वभाव है, जैसे संसारी जीवों का जन्म तथा मरण होता है।

अनित्यता

० स्वभावभेद एव हि लक्षणमनित्यतायाः।

(स्या.मं. 6)

स्वभाव का भेद हो जाना–यही अनित्यता का लक्षण है।

(द्रष्टव्य : अनित्य, अनित्य स्वभाव)

अनित्यशुद्धपर्यायार्थिक नय

० सत्तागौणत्वेनोत्पादव्ययग्राहकस्वभावोऽनित्य-शुद्धपर्यायार्थिकः, यथा समयं समयं प्रति पर्याया विनाशिनः।

(आ.प. 60)

सत्ता (ध्रौव्य) को गौण करके उत्पाद-व्यय को ग्रहण करने वाला नय 'अनित्यशुद्ध-पर्यायार्थिक' नय है, जैसे– प्रतिसमय पर्याय विनाश को प्राप्त होती है।

अनित्यसमा जाति (दूषणाभास, जात्युत्तर के भेद)

० सर्वभावानित्यत्वोपपादनेन प्रत्यवस्थानमनित्यसमा जातिः। यथा घटेन साधर्म्यमनित्येन शब्द-स्यास्तीति तस्यानित्यत्वं यदि प्रतिपाद्यते, तद् घटेन सर्वपदार्थानामस्त्येव किमपि साधर्म्यमिति तेषामत्यनित्यत्वं स्यात्। अथ पदार्थान्तराणां तथाभावेऽपि नानित्यत्वम्; तर्हि शब्दस्यापि तन्मा भूदिति। अनित्यत्वमात्रापादनपूर्वकविशेषो-द्भावनाच्च विशेषसमातो भिन्नेयं जातिः।

(प्र.मी. 2/1/29)

सर्व भावों की अनित्यता का उपपादन करके हेतु का खण्डन करना 'अनित्यसमा' जाति (दूषणाभास) है। जैसे–यदि अनित्य घट के साथ समानता होने के कारण शब्द को अनित्य कहते हो तो किसी न किसी अंश में सभी पदार्थ घट के समान हैं। अतः सभी पदार्थ अनित्य हो जाने चाहिएं। यदि अनित्य घट के साथ समानता होने पर भी अन्य पदार्थ (आत्मा, आकाश आदि) अनित्य नहीं है तो शब्द भी अनित्य नहीं होना चाहिए।

० एकस्यानित्यत्वे सर्वस्य अनित्यत्वप्रतिपादनम् अनित्यसमा जातिः।

(प्र.प्र. 1/67)

एक वस्तु को अनित्य बतलाने पर सभी को अनित्य कहना, यह 'अनित्यसमा' जाति होती है।

अनित्यस्वभाव

० तस्याप्यनेकपर्यायपरिणामित्वादनित्यस्वभावः।

(आ.प. 109)

उस द्रव्य के अनेक पर्यायरूप में परिणमन-शील होने से 'अनित्यस्वभाव' है।

(द्रष्टव्य : अनित्य, अनित्यता)

अनिन्द्रिय (मन)

० अनिन्द्रियं मनः, अन्तःकरणमित्यनर्थान्तरम्।... ईषदिन्द्रियमनिन्द्रियमिति। यथा अनुदरा कन्या। कथमीषदर्थः? इमानि इन्द्रियाणि प्रतिनियतदेश-विषयाणि कालान्तरावस्थायीनि च। न तथा मनः इन्द्रस्य लिङ्गमपि सत्प्रतिनियतदेशविषयं कालान्तरावस्थायि च।

(स.सि. 1/14/186)

अतिन्द्रिय, मन,, अन्तःकरण –ये एक ही अर्थ के वाचक है।..... चूंकि वह ईषत् इन्द्रिय है, इसलिए इसे 'अनिन्द्रिय' कहा जाता है, जैसे (अल्प उदर वाली को) 'अनुदरा कन्या' कहा जाता है। वह (मन) ईषत् इन्द्रिय किस प्रकार

है? ये इन्द्रियां नियत देश में स्थित पदार्थों को विषय करती हैं और कालान्तर में अवस्थित रहती हैं, किन्तु मन वैसा नहीं है, अर्थात् वह इन्द्र (आत्मा) का लिङ्ग होता हुआ भी न तो वह मात्र प्रतिनियत देश-स्थित पदार्थ को विषय करता है और न ही कालान्तरस्थायी रहता है (अर्थात् मन अनियत देशस्थित पदार्थ को भी विषय कर लेता है और कालान्तर में स्थित नहीं रहता)।

(द्रष्टव्य : अन्तःकरण मन)

अनिन्द्रिय ज्ञान

० अनिन्द्रियनिमित्तं मनोवृत्तिरोघज्ञानं च।

(तत्त्व.भा. 1/14)

मन की प्रवृत्तियों अथवा विशेष विचारों को या समूह रूप ज्ञान को अनिन्द्रियनिमित्तक (मनोजन्य) ज्ञान कहते हैं।

(द्रष्टव्य : सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष)

अनिन्द्रियप्रत्यक्ष

० अनिन्द्रियादेव विशुद्धिसव्यपेक्षादुपजायमान मनिन्द्रियप्रत्यक्षम्।

(प्र.र.मा. 2/5)

(ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के विशिष्ट क्षयोपशम रूप) विशुद्धि की अपेक्षा सहित केवल मन से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को 'अनिन्द्रियप्रत्यक्ष' कहते हैं।

अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष के भेद

० (तत्रेन्द्रियप्रत्यक्षमवग्रहादिधारणापर्यन्ततया चतुर्विधमपिबह्वादिद्वादशभेदमष्टचत्वारिंशत्संख्यं प्रतीन्द्रियं प्रतिपत्तव्यम्।) अनिन्द्रियप्रत्यक्षस्य च उक्तप्रकारेण अष्टचत्वारिंशद्भेदेन.....।

(प्र.र.मा. 2/5)

(जो इन्द्रिय प्रत्यक्ष है, वह अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा के भेद से चार प्रकार का है। वह भी बहु-अबहु, बहुविध-एकविध, क्षिप्र-अक्षिप्र, अनिःसृत-निःसृत, उक्त-अनुक्त, और ध्रुव-अध्रुव –इन बारह विषयों के भेद से अड़तालीस भेद रूप होता है।) इसी प्रकार से अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष के भी अड़तालीस भेद होते हैं (अर्थात् अवग्रह आदि चार x बहु आदि बारह, इनका गुणा करने पर 12 x 4 = 48 भेद होते हैं)।

(द्रष्टव्य : इन्द्रियप्रत्यक्ष)

अनिःसृतज्ञान

० वत्थुस्स पदेसादो वत्थुग्गहणं तु वत्थुदेसं वा। सयलं वा अवलंबिय अणिस्सिदं अण्णवत्थुगई।।

(गो.सा.जी. 312)

किसी वस्तु के एकदेश को देख कर, उसके अविनाभावी अप्रकट अंश को ग्रहण करना अनिःसृत ज्ञान है। अथवा एक वस्तु के एकदेश या समस्त वस्तु को ग्रहण करके अन्य वस्तु को जानना भी 'अनिःसृत ज्ञान' है।

(द्रष्टव्य : अनिःसृतप्रत्यय/अनिसृतावग्रह)

अनिःसृतप्रत्यय/अनिःसृतावग्रह

० सुविशुद्धश्रोत्रादिपरिणामात् साकल्येनानुच्चारितस्य ग्रहणादनिःसृतमवगृह्णाति।

(रा.वा. 1/16/16)

श्रोत्रेन्द्रियावरण व वीर्यान्तराय के क्षयोपशम की विशुद्धि से, वक्ता द्वारा पूरे वाक्य का

उच्चारण न होने पर भी उसका ग्रहण (ज्ञान) कर लेना 'अनिःसृत अवग्रह' होता है।

० अणहिमुहअत्थग्गहणं अणिसियावग्गहो। अहवा .....तेण (उवमाणोवमेयभावेण) विणा गहणं अणिसियावग्गहो।

(ध. 6, पृ. 20)

अनभिमुख अर्थ का ग्रहण करना 'अनिःसृत अवग्रह' है। अथवा उस (उपमान-उपमेय भाव) के बिना ग्रहण करना 'अनिःसृत अवग्रह' है।

० वस्त्वेकदेशमवलम्ब्य साकल्येन वस्तुग्रहणं वस्त्वेकदेशं समस्तवस्तु अवलम्ब्य तत्रासन्निहितवस्त्वन्तरविषयोऽप्यनिःसृतप्रत्ययः।

(ध. 9, पृ. 152)

वस्तु के एकदेश का अवलम्बन करके पूर्ण रूप से वस्तु को ग्रहण करने वाला तथा वस्तु के एकदेश अथवा समस्त वस्तु का अवलम्बन करके वहां अविद्यमान अन्य वस्तु को विषय करने वाला भी 'अनिःसृत प्रत्यय' होता है।

० वस्त्वेकदेशस्य आलम्बनीभूतस्य ग्रहणकाले एकवस्तुप्रतिपत्तिः वस्त्वेकदेशप्रतिपत्तिकाल एव वा दृष्टान्तमुखेन अन्यथा वा अनवलम्बितवस्तुप्रतिपत्तिः अनुसंधानप्रत्ययः प्रत्यभिज्ञानप्रत्ययश्च अनिःसृतप्रत्ययः।

(ध. 13, पृ. 237)

अवलम्बनीभूत वस्तु के एकदेश ग्रहण के समय में ही एक वस्तु का ज्ञान होना, या वस्तु के एकदेश के ज्ञान के समय में ही दृष्टान्तमुखेन या अन्य प्रकार से अनवलम्बित वस्तु का ज्ञान होना, तथा अनुसंधान प्रत्यय और प्रत्यभिज्ञान; यह सब 'अनिःसृतप्रत्यय' है।

अनुग्रह

० स्वपरोपकारः अनुग्रहः।

(स.सि. 7/38/726)

स्वयं अपना और दूसरे का उपकार करना 'अनुग्रह' है।

अनुत्पत्तिसमा जाति (दूषणाभास, जात्युत्तर के भेद)

० अनुत्पत्त्या प्रत्यवस्थानमनुत्पत्तिसमा जातिः। यथा अनुत्पन्ने शब्दाख्ये धर्मिणि कृतकत्वं धर्मः क्व वर्तते? तदेवं हेत्वभावादसिद्धिरनित्यत्वस्येति।

(प्र.मी. 2/1/29)

अनुत्पत्ति दिखाकर खण्डन करना 'अनुत्पत्तिसमा' जाति (दूषणाभास) है। जैसे–जब शब्द धर्मी उत्पन्न नहीं होता, तब कृतकत्व कहाँ रहता है? अर्थात् वह होता ही नहीं। इस प्रकार हेतु का अभाव होने से अनित्यत्व साध्य की सिद्धि नहीं होती।

अनुपचरित असद्भूतव्यवहार (अध्यात्म) नय

० संश्लेषसहितवस्तुसम्बन्धविषयोऽनुपचरितासद्भूतव्यवहारो, यथा जीवस्य शरीरमिति।

(आ.प. 228)

संश्लेष-सहित वस्तु के सम्बन्ध को विषय करने वाला 'अनुपचरित असद्भूतव्यवहार' नय होता है, जैसे 'जीव का शरीर' इत्यादि।

अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय (अध्यात्म नय)

० निरुपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषयोऽनुपचरितसद्भूतव्यवहारो, यथा जीवस्य केवलज्ञानादयो गुणाः।

(आ.प. 225)

उपाधिरहित अर्थात् कर्मजनित विकार से रहित जीव में गुण और गुणी के भेदरूप

विषय को ग्रहण करने वाला 'अनुपचरित सद्भूतव्यवहार' नय होता है। जैसे जीव के केवलज्ञानादि गुण।

अनुपलब्धि (हेतु) के भेद

० अनुपलब्धेरपि द्वैरूप्यं–अविरुद्धानुपलब्धिः विरुद्धानुपलब्धिश्च।

(प्र.न.त. 3/93)

(उपलब्धि की तरह) अनुपलब्धि भी दो प्रकार की है–1.अविरुद्धानुपलब्धि और 2. विरुद्धानुपलब्धि।

अनुपलब्धिसमा जाति (दूषणाभास, जात्युत्तर के भेद)

० अनुपलब्ध्या प्रत्यवस्थानमनुपलब्धिसमा जातिः। यथा तत्रैव प्रयत्नानन्तरीयकत्वहेतावुपन्यस्ते सत्याह जातिवादी न प्रयत्नकार्यः शब्दः प्रागुच्चारणादस्त्येवासावावरणयोगात्तु नोपलभ्यते। आवरणानुपलभ्येऽप्यनुपलम्भान्नास्त्येव शब्द इति चेत्; न। आवरणानुपलम्भेप्यनुपलम्भसद्भावात्। आवरणानुपलब्धेश्चानुपलम्भादभावः। तदभावे चावरणोपलब्धेर्भावो भवति। ततश्च मृदन्तरित-मूलकीलोदकादिवदावरणोपलब्धिकृतमेव शब्दस्य प्रागुच्चारणादग्रहणमिति प्रयत्नकार्यत्वाभावान्नित्यः शब्द इति।

(प्र.मी. 2/1/29)

अनुपलब्धि बतलाकर खण्डन करना 'अनुपलब्धि-समा' जाति (दूषणाभास) है। जैसे–पूर्ववत् प्रयत्नजन्यत्व हेतु का प्रयोग करने पर जातिवादी कहता है–शब्द प्रयत्न का कार्य नहीं है, वह तो उच्चारण करने से पहले भी विद्यमान रहता है, मगर आवरण के कारण उसकी उपलब्धि नहीं होती। कदाचित् कहा जाय कि आवरण की उपलब्धि न होने पर भी शब्द का अनुपलम्भ होता है, इस कारण शब्द (उच्चारण से पहले) नहीं होता, सो ठीक नहीं, क्योंकि आवरण का उपलंभ न होने पर भी शब्द का अनुपलंभ हो सकता है। आवरण की अनुपलब्धि का अनुपलंभ होने से अभाव होता है। उसके अभाव में आवरण की उपलब्धि होती है। अतएव मिट्टी में दबे हुये मूल या कील के समान उच्चारण से पहले शब्द की अनुपलब्धि आवरणोपलब्धिकृत ही है। इस प्रकार शब्द प्रयत्न का कार्य न होने से नित्य है।

० अनुपलब्धेरभावे साध्ये अनुपलब्धेरप्यनुपलम्भेन प्रत्यवस्थानम् अनुपलब्धिसमा जातिः।

(प्र.प्र. 1/66)

किसी वस्तु का अभाव सिद्ध करने के लिये अनुपलब्धि (न पाया जाना) यह हेतु दिये जाने पर अनुपलब्धि की भी अनुपलब्धि है, यह कहकर उत्तर देना 'अनुपलब्धिसमा' जाति होती है।

अनुपलम्भ

० अन्योपलम्भोऽनुपलम्भः।

(प्र.सं.वृ. 4/31)

(किसी एक के अभाव स्वरूप) अन्य की उपलब्धि होना 'अनुपलम्भ' है।

अनुभव

० अनुभवश्च प्रमाणार्पिता प्रतीतिः।

(र.करा. 3/5)

प्रमाण से युक्त प्रतीति को 'अनुभव' कहते हैं।

० इदन्तोल्लेखिज्ञानमनुभवः।

(न्या.दी. 3/56)

'यह'–इस प्रकार का उल्लेख करने वाला ज्ञान 'अनुभव' है।

अनुमान

० साध्याविनाभुनो लिङ्गात्साध्यनिश्चयात्मकं स्मृतम्।

(न्यायाव. 5)

साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाले साधन से साध्य के ज्ञान को 'अनुमान' कहते है।

० लिङ्गात्साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात् लिङ्गिधीरनुमानम्।

(लघी. 3/12)

साध्य के साथ अविनाभाव नियम का पूर्णतया निश्चय–यही हेतु का एकमात्र लक्षण है। उस हेतु से किसी स्थान विशेष में साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं।

० साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम्।

(न्या.वि. 2/170; तत्त्व.श्लो. 1/2/121; प.मु. 3/10; प्र.मी. 1/2/7; प्र.प्र. 1/16; न्या.दी. 3/17; जै.त.भा.प्र.परि., पृ. 34; भि.न्या. 3/8)

साधन के द्वारा साध्य का ज्ञान होना ही 'अनुमान' है।

० साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानं विदुर्बुधाः। प्रधानगुणभावेन विधानप्रतिषेधयोः।।

(तत्त्व.श्लो. 1/13/120)

विद्वानों ने साधन से साध्य के विज्ञान को 'अनुमान प्रमाण' कहा है। वह अनुमान ज्ञान प्रधान रूप से प्रकृत साध्य के विधान करने से और गौण रूप से साध्यभिन्न पदार्थों के निषेध करने में चरितार्थ होता है।

० साध्याऽभावाऽसम्भवनियमनिश्चयलक्षणात् साधनादेव हि शक्याऽभिप्रेताप्रसिद्धत्वलक्षणस्य साध्यस्येव यद्विज्ञानं तदनुमानम्।

(प्र.क.मा. 3/14)

साधन से होने वाले साध्य के ज्ञान को अनुमान प्रमाण कहते हैं। जो साध्य के अभाव में नियम से नहीं होता, ऐसे निश्चित साधन से शक्य, अभिप्रेत एवं असिद्ध लक्षण वाले साध्य का जो ज्ञान होता है, उसे 'अनुमान' कहते हैं।

० जं जाणिज्जइ जीवो इंदिय-वावारकायचिट्ठाहिं। तं अणुमाणं भण्णदि तं पि णयं बहुविहं जाण।।

(कार्ति. 267)

इन्द्रियों के व्यापार और काय की चेष्टाओं से जो जीव को जानता है वह 'अनुमान' ज्ञान है। यह भी नय है। इसके अनेक भेद हैं।

० दृष्टादुपदिष्टाद्वा साधनाद्यत्साध्यस्य विज्ञानंसम्यगर्थनिर्णयात्मकं तदनुमीयतेऽनेनेत्यनुमानं लिङ्गग्रहणसम्बन्धस्मरणयोः पश्चात्परिच्छेदनम्।

(प्र.मी. 1/2/7)

स्वयं देखे हुए या दूसरे के कहे हुए साधन से साध्य का जो सम्यक् अर्थ–निर्णायक ज्ञान होता है, वह 'अनुमान' है। जिससे अनुमिति की जाय, वह 'अनुमान' है। अर्थात् साधन के ग्रहण और अविनाभाव के स्मरण के बाद होने वाला विज्ञान 'अनुमान' है।

० सम्यक्साधनात् साध्यविज्ञानम् अनुमानम्।

(प्र.प्र. 1/16)

योग्य साधन से साध्य का ज्ञान होना—यह अनुमान प्रमाण है।

० तदेवमविनाभावनिश्चयैकलक्षणात्साधनात्-शक्याभिप्रेताप्रसिद्धरूपस्य साध्यस्य ज्ञान-मनुमानम्।

(न्या.दी. 3/22)

इस प्रकार अविनाभाव निश्चय रूप एक लक्षण वाले साधन से शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्धरूप साध्य के ज्ञान को 'अनुमान' कहते हैं।

० अनु पश्चात् लिङ्गसम्बन्धग्रहण-स्मरणा-नन्तरम्, मीयते परिच्छिद्यते देश-काल-स्वभाव-विप्रकृष्टोऽर्थोऽनेन ज्ञानविशेषेण इत्यनुमानम्।

(स्या.मं. 20)

जिसके द्वारा अविनाभाव सम्बन्ध के स्मरणपूर्वक देश, काल और स्वभाव रूप से दूरवर्ती पदार्थों का ज्ञान हो, उसे 'अनुमान' कहते हैं।

० साधनात् साध्यज्ञानमनुमानम्।

(भि.न्या. 3/8)

साधन के द्वारा साध्य का ज्ञान करने को 'अनुमान' कहते हैं।

अनुमान के भेद

० से किं तं अणुमाणे? अणुमाणे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा-पुव्ववं सेसवं दिट्ठसाहम्मयं।।

(अनु.सू. 11/519)

वह अनुमान क्या है? अनुमान तीन प्रकार का होता है। जैसे—पूर्ववत्, शेषवत् एवं दृष्टसाधर्म्यवत्।

० तदनुमानं द्वेधा, स्वार्थपरार्थभेदात्।

(प.मु. 3/48–49; प्र.मी. 1/2/8)

अनुमान के दो भेद हैं—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान।

० अनुमानं द्विप्रकारं-स्वार्थं परार्थं च।

(प्र.न.त. 3/9; न्या.दी. 3/23)

अनुमान दो प्रकार का है—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान।

अनुमान (परार्थानुमान) के अवयव

० पक्षहेतुवचनमवयवद्वयमेव परप्रतिपत्तेरङ्गं, न दृष्टान्तादिवचनम्।

(प्र.न.त. 3/28)

पक्ष का प्रयोग और हेतु का प्रयोग, ये (दो) अवयव ही दूसरों को समझाने के कारण हैं, दृष्टान्त आदि का प्रयोग नहीं।

० एतावान् प्रेक्षप्रयोगः। एतावानेव यदुत तथोप-पत्त्या अन्यथानुपपत्त्या वा युक्तं साधनं प्रतिज्ञा च। प्रेक्षावते प्रतिपाद्याय तदवबोधनार्थः प्रयोगः न त्वधिकः, यथाऽहुः सांख्याः, नापि हीनो यथाहुः सौगताः—विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः।।

(प्र.मी. 2/9)

प्रेक्षावान् प्रतिपाद्य (शिष्य) के लिए इतना ही अनुमान (वाक्य) का प्रयोग अभीष्ट है। तथोपपत्ति व अन्यथानुपपति रूप साधन का तथा प्रतिज्ञा का (इन दो का ही) प्रयोग प्रेक्षावान् (समझदार) द्वारा प्रतिपाद्य (शिष्य) के लिए करणीय है, अधिक नहीं, जैसा कि सांख्य मानते हैं, और इनसे कम भी नहीं, जैसा कि बौद्धों का कथन है कि विद्वानों के लिये अकेले हेतु का ही प्रयोग करना उचित है।

० बोध्यानुरोधात् प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनय-निगमनानि पंचापि।।

(प्र.मी. 2/10)

शिष्य के अनुरोध से (यदि अपेक्षित हो तो) ये पांच अनुमान-अवयवों का भी प्रयोग करणीय है–प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण (दृष्टान्त), उपनय, निगमन।

० पक्षसाध्यहेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनान्यवयवाः षट् प्रसिद्धाः।

(प्र.प्र. 1/16)

अनुमान के छह अवयव हैं–पक्ष, साध्य, हेतु, दृष्टान्त, उपनय तथा निगमन।

अनुमानाभास

० इदमनुमानाभासम्।। तत्रानिष्टादि पक्षाभासः।। अनिष्टो मीमांसकस्यानित्यः शब्दः।। सिद्धः श्रावणः शब्द इति।। बाधितः प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैः।। तत्र प्रत्यक्षबाधितो यथा–अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत्।। अपरिणामी शब्दः कृतकत्वाद् घटवत्। प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वाद धर्मवत्।। शुचि नरशिरः कपालं प्राण्यङ्गत्वाच्छंखशुक्तिवत्।। माता मे वन्ध्या पुरुषसंयोगेऽप्यगर्भत्वात्प्रसिद्धवन्ध्यावत्।।

(प.मु. 6/11–20)

यह अनुमानाभास है, वक्ष्यमाण पक्षाभासादि अनुमानाभास के ही अन्तर्गत हैं। उनमें अनिष्ट, बाधित और सिद्ध को पक्ष कहना पक्षाभास है। जैसे–मीमांसक का कहना कि 'शब्द अनित्य है–'अनिष्ट पक्षाभास' है; क्योंकि उनके मतानुसार शब्द नित्य है। शब्द श्रावण है अर्थात् श्रवणेन्द्रिय से सुना जाता है, यह 'सिद्ध पक्षाभास' है; क्योंकि जब शब्द कान से सुना जाता है, तब सिद्ध वस्तु को साधन करना व्यर्थ ही है। 'बाधित पक्षाभास' प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, लोक और स्ववचनों से बाधित होने के कारण पांच प्रकार का है। उनमें प्रत्यक्षबाधित पक्षाभास का उदाहरण–जैसे अग्नि उष्णता–रहित अर्थात् शीतल है; क्योंकि वह द्रव्य है। जो द्रव्य होता है, वह शीतल होता है, जैसे जल। शब्द अपरिणामी है; क्योंकि वह कृतक है। जो दूसरे के द्वारा किया जाता है, वह अपरिणामी होता है; जैसे घट। धर्म परलोक में दुःख देने वाला है; क्योंकि वह पुरुष के आश्रित है। जो पुरुष के आश्रय से होता है, वह दुःखदायी होता है, जैसे अधर्म। मनुष्य के शिर का कपाल पवित्र है; क्योंकि वह प्राणी का अंग है। जो प्राणी का अंग होता है, वह पवित्र होता है, जैसे शंख–सीप आदिक। मेरी माता वन्ध्या है, क्योंकि पुरुष का संयोग होने पर भी गर्भ नहीं रहता, वह वन्ध्या कहलाती है। यह स्ववचनबाधित पक्षाभास का उदाहरण है, क्योंकि उसका कथन उसी के वचनों से बाधित है।

० पक्षाभासादिसमुत्थं ज्ञानमनुमानाभासमवसेयम्।

(प्र.न.त. 6/37)

पक्ष न होकर पक्ष के समान प्रतीत होने वाले पक्षाभास (अनिष्ट, सिद्ध व प्रत्यक्षादिबाधित साध्य युक्त धर्मी) आदि से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को 'अनुमानाभास' कहते हैं।

० व्याप्तिपक्षधर्मतारहितहेतोः साध्यसाधनम् अनुमानाभासः।

(प्र.प्र. 1/30)

जो व्याप्ति से रहित है तथा पक्ष का धर्म नहीं है, ऐसे हेतु से साध्य को सिद्ध करना यह 'अनुमान का आभास' है।

अनुवाद

० प्रसिद्धस्याचार्यपरम्परागतस्यार्थस्य अनु पश्चाद् वादोऽनुवादः।

(ध. 1, पृ. 202)

आचार्य-परम्परा से आये हुए प्रसिद्ध अर्थ का तदनुसार कथन करना 'अनुवाद' है।

० तथोपदिष्टमेवानुवदनमनुवादः।

(ध. 1, पृ. 351)

जिस प्रकार का उपदेश दिया है, उसी प्रकार के कथन करने को 'अनुवाद' कहते हैं।

अनुवृत्ति

० एकाकारा प्रतीतिरेकशब्दवाच्यता चानुवृत्तिः।

(स्या.मं. 4)

एकाकार और एक नाम से कही जाने वाली प्रतीति को 'अनुवृत्ति' अथवा 'सामान्य' कहते हैं।

(द्रष्टव्य : अन्वय, सामान्य)

अनेकस्वभाव

० एकस्याप्यनेकस्वभावोपलम्भादनेकस्वभावः।

(आ.प. 111)

एक ही द्रव्य के अनेक स्वभावों की उपलब्धि होने के कारण 'अनेकस्वभाव' है।

(द्रष्टव्य : एकस्वभाव)

अनेकान्त

० जेण दुवे एगंता विभज्जमाणा अणेगंतो।

(सन्मति. 1/14)

ये दोनों (मूलनय द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नय) प्रत्येक अर्थात् (पृथक्-पृथक् रूप में) एकान्त हैं, और विभज्यमान (परस्पर-सापेक्ष) होते ही 'अनेकान्त' रूप हो जाते हैं (नयों की परस्पर-सापेक्षता अनेकान्त है)।

० सदसन्नित्यानित्यादिसर्वथैकान्त प्रतिक्षेप-लक्षणोऽनेकान्तः।

(अष्टस. 103, पृ. 286)

सत्-असत्, नित्य-अनित्य आदि रूप सर्वथा एकांत का निराकरण करने वाला यह 'अनेकान्त' है।

० यदेव तत्, तदेव अतत्, यदेवैकं तदेव अनेकम्, यदेव सत्, तदेव असत्, यदेव नित्यं तदेव अनित्यम्—इत्येकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्पर-विरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्तः।।

(स.सा.आ.ख्या. 247)

जो ही वस्तु तत्स्वरूप (जैसा) है, वही वेसी नहीं -अतत्स्वरूप) भी है, जो वस्तु एक है, वही अनेक भी है, जो ही सत् है, वही असत् भी है, जो ही नित्य है, वही अनित्य भी है —इस प्रकार एक ही वस्तु में उस वस्तुत्व के निष्पादक परस्पर-विरोधी धर्म-युगलों का प्रकाशन करना ही अनेकान्त है।

० यदेव तत्तदेवातत्, यदेवैकं तदेवानेकं, यदेव सत्तदेवासत्, यदेव नित्यं तदेवानित्यमित्येक-वस्तुनि वस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरूद्धशक्ति-द्वयप्रकाशनमनेकान्तः।

(स.सा.आ.ख्या./स्याद्वादाधिकार)

जो तत् है वही अतत् है, जो एक है वही

अनेक है, जो सत् है वही असत् है, जो नित्य है वही अनित्य है, इस प्रकार एक वस्तु में वस्तुत्व को उपजाने वाली परस्पर-विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना 'अनेकान्त' है।

० अणेयंतं तस्स समूहो।

(बृ.न.च. 180)

नयों के समूह को 'अनेकान्त' कहते हैं।

० अनेकान्त इति कोऽर्थः इति चेत् एकवस्तुनि वस्तुत्वनिष्पादकअस्तित्वनास्तित्वद्वयादिस्वरूपं परस्पर-विरूद्धसापेक्षशक्तिद्वयं यत्तस्य प्रतिपादने स्यादनेकान्तो भण्यते।

(स.सा.ता.वृ.,स्याद्वादाधिकार)

किसी वस्तु में अस्तित्व व नास्तित्व–ये दोनों धर्म उस वस्तु के वस्तुत्व के निर्धारक होते हैं, इन परस्पर-विरोधी दोनों सापेक्ष शक्तियों का मुख्यता व गौणता की अपेक्षा जो प्रतिपादन है, वह स्यात् शब्द युक्त 'अनेकान्त' कहा जाता है।

० अर्थोऽनेकान्तः। अर्थ इतिलक्ष्यनिर्देशः, अभिधेय इति यावत्। अनेकान्त इति लक्षणकथनम्। अनेके धर्माः सामान्यविशेषपर्यायाः–गुणा यस्येति सिद्धोऽनेकान्तः।

(न्या.दी. 3/76)

'अर्थ' अनेकान्तरूप होता है। 'अर्थ'– यह (अनेकान्त का) लक्ष्य है, अर्थात् धर्म–सामान्य, विशेष, पर्याय, गुण जिसमें पाए जाते हैं, वह अर्थ 'अनेकान्त' है–यह सिद्ध होता है।

० अनेकान्तत्वं नामानेकधर्मात्मकत्वम्।

(स.भं.त. 45)

'अनेकान्त' का अर्थ है–अनेकधर्मात्मकता। इस शब्द का अर्थ है–अनेकधर्मस्वरूप होना है। (द्रष्टव्य : विभज्यवाद)

अनेकान्त (=जात्यन्तर)

० को अणेयंतो णाम। जच्चंतरत्तं।

(ध. 15, पृ. 25)

अनेकान्त किसको कहते हैं? जात्यन्तरभाव को 'अनेकान्त' कहते हैं (अर्थात् अनेक धर्मों के एकरसात्मक मिश्रण से जो जात्यन्तरपना (नया स्वरूप) उत्पन्न होता है, वही 'अनेकान्त' शब्द का वाच्य है)।

० कुक्कुटसर्पनरसिंहादिवत् जात्यन्तरत्वाद् अनेकान्तपक्षस्य।

(स्या.मं. 19)

जिस प्रकार कुक्कुटसर्प में कुक्कुट व सर्प–दोनों से विलक्षण, और नरसिंह में नर और सिंह–दोनों से विलक्षण तीसरा रूप पाया जाता है, उसी प्रकार अनेकान्त पक्ष में विरुद्ध दो धर्मों से विलक्षण वस्तु स्वीकृत है। (द्रष्टव्य : जात्यन्तर)

अनेकान्त की अनेकान्तता

० अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाण-नयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्।।

(स्वयम्भू. 103)

अनेकान्त भी प्रमाण और नय साधनों की अपेक्षा से अनेकान्त स्वरूप है। प्रमाण की दृष्टि से अनेकान्त भी अनेकान्त रूप सिद्ध होता है और विवक्षित नय की अपेक्षा से अनेकान्त एकान्त रूप भी सिद्ध होता है।

० अनेकान्तेऽनेकान्ताभ्युपगमोऽप्यदूषणमेव; प्रमाण-परच्छेद्यस्यानेकधर्माध्यासितवस्तुस्वरूपाने-कान्तस्य नयपरिच्छेद्यैकान्ताविनाभावित्वात्।

(प्र.क.मा. 2/12)

अनेकान्त में भी अनेकान्त मानना होगा– इत्यादि कहना भी हमारे लिये दूषण रूप नहीं है। प्रमाण द्वारा परिच्छेद्य एवं अनेक धर्मों से अध्यासित, ऐसा जो वस्तु-स्वरूप अनेकान्त है, उसका नय द्वारा परिच्छेद्य रूप एकांत के साथ अविनाभावपना होने के कारण अनेकान्त में भी अनेकान्त (अर्थात् सर्वथा अनेकान्त नहीं, अपितु 'स्यात् अनेकान्त') सुघटित ही होता है।

० जं वत्थु अणेयंतं एयंतं तं पि होदि सविपेक्खं। सुय-णाणेण णएहि य णिरवेक्खं दीसदे णेव।।

(कार्ति. 261)

जो वस्तु अनेकान्तरूप है, वही सापेक्ष दृष्टि से एकान्तरूप भी है। वह श्रुतज्ञान की अपेक्षा अनेकान्त रूप है और नयों की अपेक्षा एकान्त रूप है। बिना अपेक्षा के वस्तु का रूप नहीं देखा जा सकता।

अनेकान्त के भेद

० अनेकान्तोऽपि द्विविधः– सम्यगनेकान्तो मिथ्या-नेकान्त इति।

(रा.वा. 1/6/7; स.भं.त. 105)

अनेकान्त भी दो प्रकार का है–सम्यगनेकान्त, मिथ्यानेकान्त।

० अनेकान्तो हि द्वेधाक्रमानेकान्तः, अक्रमानेकान्तश्च।

(प्र.क.मा. 2/12)

अनेकान्त दो प्रकार का है–क्रम अनेकान्त और अक्रम अनेकान्त।

(द्रष्टव्यः मिथ्या अनेकान्त, सम्यक् अनेकान्त)

अनेकान्तात्मकता

० न चैवमनन्तात्मकत्वं वस्तुनो विरुध्यते, प्रत्येक-मुत्पादादीनामनन्तेभ्य उत्पद्यमानविनश्यत् तिष्ठ-द्भ्यः कालत्रयापेक्षेभ्यः अर्थेभ्यो भिद्यमानानां विवक्षितवस्तुनि तत्त्वतः अनन्तभेदोपपत्तेः।

(अष्टस. 60, पृ. 212)

'इस प्रकार से एक वस्तु को त्रयात्मक (अनेकान्तात्मक) मान लेने पर, उसी वस्तु को अनन्तात्मक मानना विरुद्ध है', ऐसा आप नहीं कह सकते हैं। क्योंकि प्रत्येक वस्तु में उत्पादादिकों के उत्पन्न होते हुए, नष्ट होते हुए और स्थित होते हुए त्रैकालिक अनंतरूप होते हैं। उन अनंत अर्थों से भेद को प्राप्त हुए 'उत्पादादिकों के विवक्षित वस्तु में, वास्तव में अनन्त भेद बन जाते हैं।

० अम्यते गम्यते निश्चीयते इत्यन्तो धर्मः, न एकोऽनेकः, अनेकश्चासावन्तश्चानेकान्तः। स आत्मा स्वभावो यस्य वस्तुजातस्य तदने-कान्तात्मकं सदसदाद्यनेक-धर्मात्मक मित्यर्थः।

(र.करा. 3/107)

जिसका ज्ञान या निश्चय किया जाय, वह 'अन्त' है, जो वस्तु के धर्म (विशेष) का वाचक है। जो एक नहीं है अर्थात् अनेक जो अन्त यानी धर्म हैं, वह 'अनेकान्त' है। वह अनेकान्त समस्त वस्तुओं का आत्मा यानी स्वभाव है, अतः 'अनेकान्तात्मक' का अर्थ है–सत्त्व-असत्त्व, आदि अनेक (परस्परविरुद्ध) धर्मों के स्वभाव वाली (वस्तु)।

० सर्वभावानां हि भावाभावात्मकं स्वरूपम्। एकान्तभावात्मकत्वे वस्तुनो वैश्वरूप्यं स्यात्। एकान्ताभावात्मकत्वे च निःस्वभावता स्यात्। तस्मात् स्वरूपेण सत्वात् पररूपेण चासत्वाद् भावाभावात्मकं वस्तु।

(स्या.मं. 14)

समस्त पदार्थ भाव और अभाव रूप होते हैं। पदार्थ को यदि एकान्त रूप से, स्वचतुष्टय की अपेक्षा, अस्ति रूप ही माना जाय और परचतुष्टय की अपेक्षा नास्तिरूप न माना जाये– तो पदार्थ पर-चतुष्टय की अपेक्षा से भी अस्तिरूप हो जाने से अनेकरूप हो जायेगा। यदि उसे एकान्त रूप से अभावात्मक माना जाये–'स्वरूप चतुष्टय' और 'पररूप चतुष्टय' की अपेक्षा से भी नास्ति रूप माना जाये–तो वह स्वभावशून्य हो जायेगा। अत एव प्रत्येक पदार्थ स्वरूप की अपेक्षा स्वरूप और पररूप की अपेक्षा असत् होने के कारण भाव–अभाव रूप होता है।

० न हि वयं येनैव प्रकारेण सत्त्वं, तेनैवासत्त्वम्, येनैव चासत्त्वम्, तेनैव सत्त्वमभ्युपेमः। किन्तु स्वरूपद्रव्यक्षेत्रकालभावैः सत्त्वम्, पररूपद्रव्यक्षेत्र-कालभावैस्तु असत्त्वम्। तदा क्व विरोधावकाशः।

(स्या.मं. 14)

हम (जैन) ऐसा नहीं मानते कि जिस अपेक्षा से वस्तु में सत्त्व (अस्तित्व) है, उसी अपेक्षा से असत्त्व (नास्तित्व) है, जिस अपेक्षा से असत्त्व है, उसी अपेक्षा से सत्त्व है। किन्तु यह मानते हैं कि स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव–इन स्वरूप चतुष्टय की अपेक्षा से सत्त्व है और पर-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव–इन पररूपचतुष्टय की अपेक्षा से असत्त्व है, ऐसी स्थिति में विरोध की बात ही कहां है?

० न हि घटादौ सत्त्वमसत्त्वं परिहृत्य वर्तते, पररूपेणापि सत्त्वप्रसङ्गात्।.....न चासत्त्वं परिहृत्य वर्तते, स्वरूपेणापि असत्त्वप्राप्तेः।

(स्या.मं. 24)

घट आदि में सत्त्व कभी असत्त्व को छोड़ कर नहीं रहता, अन्यथा पररूप (परचतुष्टय) से भी सत्त्व होने की अतिप्रसक्ति (दोषपूर्ण स्थिति) हो जाएगी।.....न ही असत्त्व कभी सत्त्व को छोड़ कर रहता है, अन्यथा स्वरूप (स्वचतुष्टय) से भी असत्त्व होने की अतिप्रसक्ति (अनिष्ट प्रसंग की दोषपूर्ण स्थिति) हो जाएगी।

० अनन्तधर्मकमनेकान्तात्मकमित्यर्थः। अनेकेऽन्ता अंशा धर्मा वात्मा स्वरूपं यस्य तदनेकान्तात्म-कमिति व्युत्पत्तेः।

(षड्.समु.टी. 55/322)

अनन्तधर्मक अर्थात् अनेकान्तात्मक वस्तु के अनेक अन्त अर्थात् धर्म या अंश ही जिसका आत्मा-स्वरूप हो, वह पदार्थ 'अनेकान्तात्मक' कहा जाता है।

० सर्वस्मिन्नपि जीवादिवस्तुनि भावाभावरूपत्व-मेकानेकरूपत्वं नित्यानित्यरूपत्वमित्येवमादि-कमनेकान्तात्मकत्वम्।

(न्या.दी. 3/57)

सभी जीवादि वस्तुओं में जो भाव-अभावरूपता, एक-अनेकरूपता और नित्य-अनित्यरूपता

इत्यादि अनेक धर्म पाये जाते हैं, उसी को 'अनेकान्तात्मकता' कहते हैं।
(द्रष्टव्य : जात्यन्तर)

अनैकान्तिक हेत्वाभास

० तथा च अन्यथा चोपपत्त्या अनैकान्तिकः।

(सि.वि.वृ. 6/32)

जिस हेतु की उपपत्ति अन्यथा अर्थात् विपक्ष रूप से हो, उसे 'अनैकान्तिक हेत्वाभास' कहते हैं।

० विपक्षेऽप्यविरूद्धवृत्तिरनैकान्तिकः।

(प.मु. 6/30)

जिस हेतु की वृत्ति पक्ष एवं विपक्ष दोनों में होती है, उसे अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं।

० योऽन्यथाप्यत्र युक्तोऽनैकान्तिकः स तु। यः पुनरन्यथापि साध्यविपर्ययेणापि युक्तो घटमॉनकः, आदिशब्दात् साध्येनापि, सोऽत्र व्यतिकरे अनैकान्तिकसंज्ञो ज्ञातव्य इति।

(न्यायाव.सिद्ध.वृ. 23)

जो हेतु साध्य तथा साध्य-विपर्यय दोनों से युक्त रहता हुआ घटित होता है, वह 'अनैकान्तिक हेत्वाभास' कहलाता है।

० यस्यान्यथानुपपत्तिः सन्दिह्यते सोऽनैकान्तिकः।

(प्र.न.त. 6/54; जै.त.भा.प्र.परि. पृ. 52)

जिस हेतु की अन्यथानुपपत्ति अर्थात् व्याप्ति संदिग्ध हो, वह 'अनैकान्तिक' कहलाता है।

० नियमस्यासिद्धौ सन्देहे वाऽन्यथाप्युपपद्य मानोऽनैकान्तिकः।

(प्र.मी. 2/1/21)

अविनाभाव नियम की असिद्धि अथवा उसमें सन्देह होने पर साध्य के बिना भी होने वाला हेतु 'अनैकान्तिक हेत्वाभास' कहलाता है।

० पक्षत्रयवृत्तिर्हेतुः अनैकान्तिकः।

(प्र.प्र. 1/30)

जो हेतु तीनों पक्षों (पक्ष, सपक्ष, विपक्ष) में हो व 'अनैकान्तिक हेत्वाभास' होता है।

० विपक्षेऽपि वृत्तिमान् हेतुरनैकान्तिकः।

(प्र.प्र. 1/34)

जो हेतु विपक्ष में भी विद्यमान होता है, उसे 'अनैकान्तिक हेत्वाभास' कहते हैं।

० सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः, यथा—अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् इति।

(न्या.दी. 3/40)

जो हेतु, व्यभिचार सहित (व्यभिचारी) हो—साध्य के अभाव में भी रहता हो, वह 'अनैकान्तिक' हेत्वाभास है। जैसे—शब्द अनित्य है, क्योंकि वह प्रमेय है।

० पक्षसपक्षविपक्षवृत्तिरनैकान्तिकः।

(न्या.दी. 3/62)

जो हेतु पक्ष, सपक्ष और विपक्ष में रहता है वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है।

० अन्यथाऽप्युपपद्यमानोऽनैकान्तिकः।

(भि.न्या. 3/19)

जो हेतु अन्यथा भी उपपद्यमान होता है (साध्य के अतिरिक्त दूसरे साध्य में भी घटित होता है), वह 'अनैकान्तिक हेत्वाभास' है।

अनैकान्तिक हेत्वाभास के भेद

० स द्वेधा निर्णीतविपक्षवृत्तिक; सन्दिग्धविपक्ष-वृत्तिकश्च।

० निर्णीतविपक्षवृत्तिको यथा–नित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्। संदिग्धविपक्षवृत्तिको यथा विवादापन्नः पुरुषः सर्वज्ञो न भवति वक्तृत्वात्।।

(प्र.न.त. 6/55–57)

अनैकान्तिक हेत्वाभास दो प्रकार का है–निर्णीत विपक्षवृत्तिक और सन्दिग्धविपक्ष-वृत्तिक। निर्णीतविपक्षवृत्तिक–जैसे 'शब्द नित्य है, प्रमेय होने से'। संदिग्ध-विपक्षवृत्तिक– जैसे 'विवादापन्न पुरुष सर्वज्ञ नहीं है, वक्ता होने से।'

० स अनैकान्तिकहेत्वाभासः द्विविधः-निश्चित-विपक्ष-वृत्तिकः शङ्कितविपक्षवृत्तिकश्च।

(न्या.दी. 3/40)

वह अनैकान्तिक हेत्वाभास दो प्रकार का है–

1. निश्चितविपक्षवृत्तिक और
2. शङ्कित विपक्षवृत्तिक।

अन्त

० अयमन्तशब्दोऽनेकार्थः। क्वचिदवयवे, यथा वस्त्रान्तः वसनान्तः। क्वचित्सामीप्ये, यथोदकान्तं गतः उदकसमीपे गत इति। क्वचिदवसाने वर्तते, यथा संसारान्तं गतः संसारावसानं गत इति।

(रा.वा. 2/22/1)

'अन्त' शब्द के अनेक अर्थ हैं (1) कहीं तो अवयव के अर्थ में इसका प्रयोग होता है, जैसे वस्त्र के अन्त अर्थात् वस्त्र के अवयव। (2) कहीं समीपता के अर्थ में इसका प्रयोग होता है, जैसे 'उदकान्तं गतः' अर्थात् जल के समीप पहुंचा हुआ। (3) कहीं समाप्ति अर्थ में इसका प्रयोग होता है, जैसे 'संसारान्तं गतः' अर्थात् संसार की समाप्ति को प्राप्त।

० अम्यते गम्यते निश्चीयते इत्यन्तो धर्मः।

(र.करा. 3/107)

जो ज्ञात किया जाता हो, निश्चित किया जाता हो, वह धर्म 'अन्त' है।

० अन्ता धर्माः सामान्यविशेषपर्यायगुणाः।

(न्या.दी. 3/76)

अन्त अर्थात् धर्म –यानी सामान्य, विशेष, पर्याय व गुण।

(द्रष्टव्य : अंश के प्रकार, अनन्तधर्मात्मक, अनेकान्त, अभाव, तत्त्व)

अन्तर्व्याप्ति

(द्रष्टव्य : व्याप्ति)

अन्तःकरण

० गुणदोषविचारस्मरणादिव्यापारे इन्द्रियानपेक्षत्वात् चक्षुरादिवत् बहिरनुपलब्धेश्च अन्तर्गतं करणमन्तः-करणमित्युच्यते।

(स.सि. 1/14/187)

गुण व दोषों के विचार व स्मरण आदि कार्यों में इन्द्रियों की अपेक्षा इसे नहीं होती और चक्षु आदि इन्द्रियों की तरह बाह्य उपलब्धि भी इसकी नहीं होती, अतः 'अन्तर्गत करण' होने से इसे 'अन्तःकरण' कहा जाता है।

(द्रष्टव्य : अनिन्द्रिय)

अन्तःकरण के पर्याय

० अनिन्द्रियं मनः अन्तःकरणम्–इत्यनर्थान्तरम्।

(स.सि. 1/14/186)

अनिन्द्रिय, मन, अन्तःकरण–ये एकार्थवाची हैं।

अन्यतरासिद्ध (हेतु)

० अन्यतरासिद्धो यथा–अचेतनास्तरवः विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणमरणरहितत्वात्।

(प्र.न.त. 6/51)

'वृक्ष अचेतन हैं, क्योंकि वे ज्ञान, इन्द्रिय और आयु की समाप्ति रूप मृत्यु से रहित हैं। यहाँ 'अन्यतरासिद्ध' हेतु प्रयुक्त है।

अन्यतरासिद्धसमा जाति (दूषणाभास)

० एकान्तानेकान्तादिविकल्पेन हेतोः अन्यतरासिद्धत्वापादनम् अन्यतरासिद्धसमा जातिः।

(प्र.प्र. 1/55)

एकान्त, अनेकान्त आदि विकल्पों से हेतु को किसी एक पक्ष के लिये असिद्ध बतलाना यह 'अन्यतरासिद्धसमा' जाति (दूषणाभास) होती है।

अन्यत्व

० अण्णत्तमतब्भावो।

(प्र.सा. 2/14)

प्रदेश-भेद के बिना संज्ञा, संख्या, लक्षणादि से जो गुण-गुणी भेद होता है, वह 'अन्यत्व' है।

० विभत्तमण्णत्तं।

(पंचा. 45)

विभक्त (प्रदेश रूप वाला) होना–'अन्यत्व' होता है।

(द्रष्टव्य : अनन्यत्व)

अन्यथानुपपत्ति

० असति साध्ये हेतोरनुपपत्तिरेवान्यथानुपपत्तिः।

(प्र.न.त. 3/30)

साध्य के अभाव में हेतु का अभाव होना (बताना) 'अन्यथानुपपत्ति' हेतु है।

अन्ययोगव्यवच्छेद :

० विशेष्यसंगतैवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदबोधकः। यथा– पार्थ एव धनुर्धर इति। अन्ययोगव्यवच्छेदोनामविशेष्यभिन्नतादात्म्यादिव्यवच्छेदः।

(स.भं.त. 40)

विशेष्य से अन्वित एवकार अन्ययोगव्यवच्छेद का बोधक होता है। जैसे–पार्थ (अर्जुन) ही धनुर्धर है। अन्ययोगव्यवच्छेद से तात्पर्य है–विशेष्य से भिन्न (पदार्थ) से तादात्म्य आदि का निषेध।

(द्रष्टव्य : अयोगव्यवच्छेद)

अन्यापोह

० स्वभावान्तरात्स्वभावव्यावृत्तिरन्यापोहः।

(अष्ट. 11)

स्वभावान्तर से विवक्षित स्वभाव की भिन्नता को 'अन्यापोह' कहते हैं।

अन्यापोहाभाव (अन्योन्याभाव)

० सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे।

(आ.मी. 11)

यदि अन्यापोह का व्यतिक्रम किया जाय, तो वह प्रवादियों का विवक्षित अपना–अपना इष्ट एक तत्त्व (अनिष्ट तत्त्वों का भी उसमें सद्भाव होने से) अभेद रूप सर्वात्मक ठहरता है (जो दोषपूर्ण स्थिति है)।

अन्योन्याभाव

० घटः पटो न भवतीति प्रतीतिवषयीभूतोऽभावोऽन्योन्याभावः।

(प्र.रत्ना. 2/2)

घड़ा कपड़ा नहीं है–इस प्रतीति का विषय जो अभाव है, वह 'अन्योन्याभाव' है।

० तादात्म्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्त्वमन्योन्याभावलक्षणम्।

(अष्टस.वृ. 11, पृ. 166)

जिस अभाव का प्रतियोगी तादात्म्य से अवच्छिन्न हो, वह 'अन्योन्याभाव' है।

(द्रष्टव्य : इतरेतराभाव)

अन्वय

० अवस्था-देश-कालानां भेदेऽभेदव्यवस्थितिः।
या दृष्टा सोऽन्वयो लोके व्यवहाराय कल्पते।

(न्या.वि. 2/346)

अवस्था, देश और काल के भेद के होते हुये जो कथंचित् तादात्म्य की व्यवस्था देखी जाती है, उसे 'अन्वय' कहते हैं, जो व्यवहार हेतु कल्पित होता है।

० अनुरित्यव्युच्छिन्नप्रवाहरूपेण वर्तते यद्वा।
अयतीत्ययगत्यर्थाद्धातोरन्वर्थतोऽन्वयं द्रव्यम्।।

(पं. 1/142)

'अनु' अर्थात् अविच्छिन्न प्रवाह रूप से सत्ता में रहने वाला, 'अय' अर्थात् जो जाना जाता है, इस प्रकार 'अन्वय' का अर्थ है–द्रव्य।

(द्रष्टव्य : अनुवृत्ति, सामान्य)

अन्वय दृष्टान्त

० साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः।

(प.मु. 3/44)

जहाँ पर साध्य के साथ साधन की व्याप्ति दिखलाई जावे, वह 'अन्वयदृष्टान्त' है।

० साधनसद्भावे साध्यसद्भावो यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः।

(प्र.प्र. 1/20)

जिसमें साधन के होने पर साध्य का होना बतलाया जाय, उसे 'अन्वय दृष्टान्त' कहते हैं।

० अन्वयव्याप्तिप्रदर्शनस्थानमन्वयदृष्टान्तः।

(न्या.दी. 3/32)

अन्वयव्याप्ति के प्रदर्शन का स्थान 'अन्वयदृष्टान्त' होता है।

० साधनसत्तायां यत्रावश्यं साध्यसत्ता प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः।

(षड्.समु.टी. 55/318)

साधन की सत्ता में नियतरूप से अवश्य ही साध्य की सत्ता दिखायी जाय, वह 'अन्वय दृष्टान्त' है।

० साध्याभाववदवृत्तित्वे सति साध्यसामानाधिकरण्यरूपान्वयव्याप्तिविशिष्टं साधनं यादृशवाक्ये बोध्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः।

(प्र.रत्ना. 3/48)

साध्य के अभाव वाले स्थान में न रहते हुए साध्य के अधिकरण में समान रूप से रहना–इस अन्वय व्याप्ति से विशिष्ट साधन को जिस वाक्य में कहा जाता है, वह 'अन्वयदृष्टान्त' है।

अन्वयदृष्टान्ताभास

० रागादिमान् विवक्षितः पुरुषो वक्तृत्वादिष्ट-पुरुषवदित्यनन्वयः।

(प्र.न.त. 6/66)

विवक्षित पुरुष रागादि वाला है, क्योंकि वक्ता है, जैसे कोई इष्ट पुरुष। ऐसा कथन अन्वय दृष्टान्ताभास है।

० विपरीतवचनं तु दृष्टान्ताभास एवेत्ययम-सम्यग्वचनरूपोऽन्वयदृष्टान्ताभासः।..... अदृष्टान्त-वचनं तु अन्वयव्याप्तौ व्यतिरेक-दृष्टान्तवचनम्, व्यतिरेकव्याप्तावन्वय दृष्टान्तवचनं च उदाहरणा-भासौ।

(न्या.दी. 3/68)

विपरीत वचन बोलना दृष्टान्ताभास है, इस तरह यह असम्यक् वचन रूप 'अन्वय दृष्टान्ताभास' है।.....अदृष्टान्त वचन अन्वयव्याप्ति में व्यतिरेक दृष्टान्त कह देना और व्यतिरेक व्याप्ति में अन्वय दृष्टान्त बोलना, यह उदाहरणाभास है। (द्रष्टव्य : उदाहरणाभास)

अन्वयदृष्टान्ताभास के भेद

० दृष्टान्ताभासा अन्वयेऽसिद्धसाध्यसाधनोभयाः। अपौरुषेयः शब्दोऽमूर्त्तत्वादिन्द्रियसुखपरमाणु घटवत्।।

(प.मु. 6/40–41)

अन्वयदृष्टान्ताभास के तीन भेद हैं–असिद्ध साध्य, असिद्ध साधन और असिद्धोभय। इन्हें ही क्रमशः साध्यविकल, साधनविकल और उभयविकल कहते हैं। जैसे–शब्द अपौरुषेय है; क्योंकि वह अमूर्त्त है। जैसे इन्द्रिय, सुख, परमाणु और घट।

० दृष्टान्ताभासा अन्वये साध्यसाधनोभयविकला आश्रयहीनाप्रदर्शितव्याप्तिविपरीतव्याप्तयश्च।

(प्र.प्र. 1/40)

अन्वय-दृष्टान्त के आभास छह प्रकार के हैं– साध्यविकल, साधनविकल, उभयविकल, आश्रय-हीन, अप्रदर्शितव्याप्ति तथा विपरीतव्याप्ति।

अन्वयद्रव्यार्थिक नय

० सामान्यगुणादयोऽन्वयरूपेण द्रव्यं द्रव्यमिति व्यवस्थापयतीति अन्वयद्रव्यार्थिकः।

(आ.प. 187)

जो नय सामान्य गुण, पर्याय, स्वभाव को–यह द्रव्य है, यह द्रव्य है, इस प्रकार अन्वयरूप से द्रव्य की व्यवस्था करता है, वह 'अन्वयद्रव्यार्थिक नय' होता है।

अन्वयव्यतिरेकी (दृष्टान्त)

० सपक्षविपक्षसहितः अन्वयव्यतिरेकी। पर्वतोऽ-ग्निमान् धूमवत्त्वात्, यो यो धूमवान् स सर्वोऽप्यग्निमान् यथा महानसः, यो योऽग्निमान् न भवति स सर्वोऽपि धूमवान् न भवति, यथा ह्रदः।

(प्र.प्र. 1/26)

सपक्ष और विपक्ष दोनों से सहित हेतु 'अन्वयव्यतिरेकी' होता है। जैसे–यह पर्वत अग्नि युक्त है क्योंकि यह धुएं से युक्त है, जो धुएं से युक्त होता है वह सब अग्नि से युक्त होता है, जैसे रसोईघर, जो अग्नि से युक्त नहीं होता वह धुएं से युक्त भी नहीं होता, जैसे सरोवर।

० पंचरूपोपपन्नोऽन्वयव्यतिरेकी। यथा– शब्दोऽनित्यो भवितुमर्हति कृतकत्वात्।

(न्या.दी. 3/42)

जो (प्रतिज्ञा आदि) पांच रूपों से सहित है, वह 'अन्वयव्यतिरेकी' है। जैसे–'शब्द अनित्य है, क्योंकि कृतक है (किया जाता है)।

अन्वयव्याप्ति

० सपक्षे भूयः साधनसद्भावदर्शने साध्यसद्भाव दर्शनेन निश्चिता अन्वयव्याप्तिः।

(प्र.प्र. 1/15)

सपक्ष में बार-बार साधन का अस्तित्व देखने के समय साध्य का भी अस्तित्व देखने से जिसका निश्चय हुआ हो, वह 'अन्वयव्याप्ति' होती है।

अन्वयसापेक्ष द्रव्यार्थिक नय

० अन्वयसापेक्षो द्रव्यार्थिकः यथा गुणपर्यायस्वभावं द्रव्यम्।

(आ.प. 53)

सम्पूर्ण गुण पर्याय और स्वभावों में द्रव्य को अन्वय रूप से ग्रहण करने वाला नय 'अन्वयसापेक्ष द्रव्यार्थिक' नय होता है।

अन्वयीदृष्टान्त

० साध्यव्याप्तसाधननिरूपणमन्वयी।

(भि.न्या. 3/23)

साध्य में व्याप्त साधन का निरूपण करने वाला दृष्टान्त 'अन्वयी दृष्टान्त' कहलाता है।

अन्वयीदृष्टान्ताभास के भेद

० साध्यसाधनोभयविकलाः संदिग्धसाध्यसाधनोभयाः। विपरीतान्वयश्च अन्वयिदृष्टान्ताभासाः।।

(भि.न्या. 3/25)

अन्वयी दृष्टान्ताभास के सात प्रकार हैं–

1. साध्यविकल, 2. साधनविकल,
3. उभयविकल, 4. संदिग्धसाध्य,
5. संदिग्धसाधन, 6. संदिग्धोभय,
7. विपरीतान्वय।

अपकर्ष

० विद्यमानधर्मापनयोऽपकर्षः।

(तत्त्व.श्लो. 1/33/तत्त्वार्थाधिगमभेद 342)

विद्यमान हो रहे धर्म का पक्ष में से अलग कर देना 'अपकर्ष' है।

अपकर्षसमा जाति (दूषणाभास, जात्युत्तर के भेद)

० अपकर्षस्तु घटः कृतकः सन्न श्रावणो दृष्ट एवं शब्दोप्यस्तु। नो चेद् घटवदनित्योऽपि माभूदिति शब्दे श्रावणत्वधर्ममपकर्षतीति।

(प्र.मी. 2/1/29)

अपकर्ष अर्थात् न्यूनता दिखाकर निरास करना। जैसे–घट कृतक होता हुआ अश्रावण (श्रवण-अग्राह्य) है तो इसी प्रकार शब्द भी अश्रावण होना चाहिए। यदि घट के समान अश्रावण नहीं है तो घट के समान अनित्य भी नहीं होना चाहिए। ऐसा कहकर शब्द के श्रावणत्व धर्म का अपकर्ष करता है।

० तदनिष्टधर्मनिवृत्तौ पक्षस्य साध्यधर्मनिवृत्तिः अपकर्षसमा जातिः।

(प्र.प्र. 1/15)

दृष्टान्त से अनिष्ट धर्म के हटाने पर पक्ष से साध्य गुणधर्म हटेगा –ऐसा कहना 'अपकर्ष-समा' जाति (दूषणाभास) है।

(द्रष्टव्य : उत्कर्षसमा जाति)

अपरसंग्रह (नय)

० द्रव्यत्वादीन्यवान्तरसामान्यानि मन्वानस्तद्भेदेषु गजनिमीलिकामवलम्बमानः पुनरपरसंग्रहः। धर्मा-धर्मा-काश-काल-पुद्गल-जीवद्रव्याणामैक्यं द्रव्यादिभेदादित्यादिर्यथा।

(प्र..न.त. 7/19–20; स्या.मं.. 28; जै..त.भा.नय परि., पृ. 60–61)

जो द्रव्यत्व आदि अवान्तर सामान्यों को स्वीकार करता हुआ उनके भेदों की उपेक्षा करता है, उसे 'अपरसंग्रह नय' कहते हैं। ध र्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल, जीव द्रव्य सब एक हैं, क्योंकि सबमें एक द्रव्यत्व विद्यमान है–ऐसा मानना 'अपरसंग्रह नय' है।

(द्रष्टव्य : संग्रहनय के भेद)

अपरसंग्रहाभास

० द्रव्यत्वादिकं प्रतिजानानस्तद्विशेषान् निह्नुवानस्तदाभासः।

(प्र.न.त. 7/21)

द्रव्यत्व आदि अवान्तर सामान्यों के मानने वाले तथा उनके विशेष भेदों का परिहार करने वाले नय को 'अपरसंग्रहाभास' कहते हैं।

० सामान्यविशेषयोः सर्वथा भेदज्ञानमभेदज्ञानं वाऽपरसंग्रहाभासः।

(प्र.रत्ना. 6/74)

सामान्य व विशेष में सर्वथा भेद या सर्वथा अभेद का ज्ञान 'अपरसंग्रहाभास' कहलाता है।

अपसिद्धान्त निग्रहस्थान

० सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात्कथाप्रसङ्गोऽप–सिद्धान्तः नाम निग्रहस्थानं भवति। यः प्रथमं किंचित् सिद्धान्तमभ्युपगम्य कथामुपक्रमते। तत्र च सिषाधयिषितार्थसाधनाय परोपालम्भाय वा सिद्धान्तविरुद्धमभिधत्ते सोऽपसिद्धान्तेन निगृह्यते।

(प्र.मी. 2/1/34)

किसी सिद्धान्त को स्वीकार करके नियमविरुद्ध कथन करना 'अपसिद्धान्त निग्रहस्थान' है। तात्पर्य यह है कि कोई वादी पहले किसी सिद्धान्त को स्वीकार कर लेता है किन्तु अपने इष्ट साध्य को सिद्ध करने के लिये या परपक्ष को दूषित करने के लिये अपने स्वीकृत सिद्धान्त से विरुद्ध भाषण करता है, वह 'अपसिद्धान्त-निग्रहस्थान' से निगृहीत होता है।

० स्वीकृतागमविरुद्धप्रसाधनम् अपसिद्धान्तो नाम निग्रहस्थानम्।

(प्र.प्र. 1/83)

अपने द्वारा मान्य आगम के विरुद्ध तत्त्व को सिद्ध करना–यह 'अपसिद्धान्त' नाम का निग्रहस्थान होता है।

अपाय

० अवगृहीते विषये सम्यगसम्यगिति गुणदोषविचार- णाध्यवसायापनोदः अपायः।

(तत्त्व.भा. 1/15)

अवग्रह (व ईहा) द्वारा गृहीत पदार्थ में यह समीचीन है या असमीचीन–इस तरह गुण-दोषों का विचार करने के लिए जो निश्चय रूप ज्ञान की प्रवृत्ति होती है, उसे 'अपाय' कहते हैं।

(द्रष्टव्य : अवाय)

अपाय के पर्याय

० अपायः, अपगमः, अपनोदः, अपव्याधः, अपेतम्, अपगतम्, अपविद्धम्, अपनुत्तम्– इत्यनर्थान्तरम्।

(तत्त्व.भा. 1/15)

अपाय, अपगम, अपनोद, अपव्याध, अपेत, अपगत, अपविद्ध, अपनुत्त–ये एकार्थक हैं।

अपार्थक निग्रहस्थान

० पूर्वापरासङ्गतपदसमूहप्रयोगादप्रतिष्ठित–वाक्यार्थमपार्थकं नाम निग्रहस्थानं भवति।

(प्र.मी. 2/1/34)

पूर्वापर-असंगत पदों के समूह का प्रयोग करने से वाक्य का अर्थ ही सिद्ध न होना 'अपार्थक निग्रहस्थान' है।

० समुदायार्थापरिज्ञानम् अपार्थकं नाम निग्रहस्थानम्।

(प्र.प्र. 1/79)

(शब्दों के) समूह के अर्थ का ज्ञान न होना–यह 'अपार्थक' नाम का निग्रहस्थान है।

अपूर्व

० गृहीतमपि ध्यामलिताकारतया यन्निर्णेतुं न शक्यते, तदपि वस्तु अपूर्वमिति व्यपदिश्यते।

(प्र.र.मा. 1/5)

किसी ज्ञान के द्वारा विषयरूप से गृहीत भी वस्तु यदि धूमिल आकार हो जाने से निर्णीत न की जा सके तो वह भी 'अपूर्व' नाम से ही कही जायेगी।

अपूर्वार्थ

० अनिश्चितोऽपूर्वार्थः।।

(प.मु. 1/4)

जिस पदार्थ का पहले कभी (किसी सच्चे ज्ञान से) निर्णय नहीं हुआ हो, उसे 'अपूर्वार्थ' कहते हैं।

० यः प्राणान्तरेण संशयादिव्यवच्छेदेनानध्यवसितः सोऽपूर्वार्थः।

(प्र.र.मा. 1/4)

जिस वस्तु का संशयादि के व्यवच्छेद करने वाले किसी अन्य प्रमाण से पहले निश्चय नहीं हुआ है, अर्थात् जो वस्तु किसी यथार्थग्राही प्रमाण से अभी तक जानी नहीं गई है, उसे 'अपूर्वार्थ' कहते हैं।

अपोहा :

० अपोह्यते संशयनिबन्धनविकल्पः अनया इति अपोहा।

(ध. 13, पृ. 242.)

जिसके द्वारा संशय के कारणभूत विकल्प का 'अपोहन' अर्थात् निराकरण किया जाता है, वह 'अपोहा' है।

(द्रष्टव्य : ईहा)

अप्रतिपत्ति निग्रहस्थान

० अप्रतिपत्तिस्तु आरम्भविषये अनारम्भः।

(प्र.मी. 2/34)

जो करना चाहिए उसे न करना अर्थात् विरोधी पक्ष के साधन को दूषित न करना और दिये हुए दोष का उद्धार न करना 'अप्रतिपत्ति' निग्रहस्थान है।

अप्रतिभा निग्रहस्थान

० परपक्षे गृहीतेऽप्यनुभाषितेऽपि तस्मिन्नुत्तराप्रतिपत्तिरप्रतिभा नाम निग्रहस्थानं भवति।

(प्र.मी. 2/1/34)

वादी के पक्ष को समझ लेने पर भी और अनुभाषण करने पर भी उसका उत्तर न सूझना 'अप्रतिभा' नामक निग्रहस्थान' है।

० साधनप्रयोगे दूषणापरिज्ञानं दूषणोद्भावने परिहाराप्रतिपत्तिः अप्रतिभा नाम निग्रहस्थानम्।

(प्र.प्र. 1/83)

(प्रतिपक्षी द्वारा) किसी साधन (हेतु) का प्रयोग किये जाने पर उस में दूषण न सूझना और दूषण देने पर उसका परिहार न कर पाना—यह 'अप्रतिभा' नाम का निग्रहस्थान होता है।

अप्रदर्शितव्यतिरेक दृष्टान्ताभास

० अनित्यः शब्दः कृतकत्वादाकाशवदित्यप्रदर्शित-व्यतिरेकः।

(प्र.न.त. 6/78)

शब्द अनित्य है क्योंकि कृतक है, जैसे आकाश। यहाँ आकाश दृष्टान्त 'अप्रदर्शित-व्यतिरेक दृष्टान्ताभास' है, क्योंकि इस दृष्टान्त में व्यतिरेक व्याप्ति नहीं बताई गई है।

अप्रदर्शितान्वय दृष्टान्ताभास

० अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्, घटवदित्य-प्रदर्शितान्वयः।

(प्र.न.त. 6/67)

शब्द अनित्य है, क्योंकि कृतक है, जैसे घट। यहाँ घट दृष्टान्त 'अप्रदर्शितान्वय दृष्टान्ताभास' है।

अप्राप्तकाल निग्रहस्थान

० प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनय—निगमन—वचनक्रम-मुल्लङ्घ्याविपर्यासेन प्रयुज्यमानमनुमानवा-क्यमप्राप्तकालं नाम निग्रहस्थानं भवति।

(प्र.मी. 2/1/34)

पहले प्रतिज्ञा, फिर हेतु, फिर उदाहण, उपनय और फिर निगमन का प्रयोग अनुमान में किया जाता है। इस क्रम का उल्लंघन करके अवयवों में उलटफेर (क्रमभंग) करके यदि अनुमान का प्रयोग किया जाय तो 'अप्राप्तकाल' निग्रहस्थान होता है।

० अवयवविपर्यासवचनम् अप्राप्तकालं नाम निग्रहस्थानम्।

(प्र.प्र. 1/80)

(अनुमान वाक्य के) अवयवों को उलट-पलट कर कहना—यह 'अप्राप्तकाल' नाम का निग्रहस्थान है।

अप्राप्तिसमा जाति (दूषणाभास, जात्युत्तर के भेद)

० अप्राप्त्या प्रत्यवस्थानम् अप्राप्तिसमा जातिः।

(प्र.प्र. 1/56)

हेतु के (साध्य को) अप्राप्त होने की आपत्ति उपस्थित करना 'अप्राप्तिसमा' (दूषणाभास) जाति है।

(द्रष्टव्यः प्राप्तिसमा)

अप्रामाण्य

० .....अर्थान्यथात्वपरिच्छेदसामर्थ्यलक्षणाप्रामाण्यस्य [अप्रमाण्यस्य लक्षणं ह्यर्थान्यथात्वपरिच्छेद-सामर्थ्यम् .....]

(प्र.क.मा. 1/13)

अर्थ के अन्यथापन के—जैसा कि वह है नहीं, वैसा—जानने के सामर्थ्य का नाम 'अप्रामाण्य' है। [तात्पर्य यह है कि पदार्थ के जानने में जो यथार्थता का अभाव होता है, उसे अप्रामाण्य समझना चाहिए।]

अप्रामाण्यता

० प्रमेयव्यभिचारित्वम्, अप्रामाण्यं प्रत्येयम्।

(र.करा. 1/19)

प्रमेय से व्यभिचरित होना ही 'अप्रामाण्यता' है। (द्रष्टव्य : प्रामाण्य)

अबाधितविषयत्व

० साध्यविपरीतनिश्चायकप्रबलप्रमाणरहितत्व-मबाधितविषयत्वम्।

(न्या.दी. 3/39)

साध्य से विपरीत के निश्चायक प्रबल प्रमाण के अभाव को 'अबाधितविषयत्व' कहते हैं।

अभव्यस्वभाव

० कालत्रयेऽपि परस्वरूपाकारअभवनादभव्यस्वभावः।

(आ.प. 115)

त्रिकाल में भी परस्वरूपाकार (दूसरे द्रव्य रूप) नहीं होना—यह 'अभव्यस्वभाव' है।

अभाव

० भावैकान्ते पदार्थानामभावानामपह्नवात्।
सर्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम्।।

(आ.मी. 9)

यदि पदार्थों के भाव (अस्तित्व) का एकान्त माना जाय (अभाव न माना जाय) तो अभाव पदार्थ का लोप ठहरता है, और इन वस्तु-धर्मों का लोप करने से वस्तु तत्त्व (सर्वथा) अनादि, अनन्त और अस्वरूप हो जाता है, जो आपका अभीष्ट नहीं है।

० भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मः।

(युक्त्य. 59)

(भाव की तरह) अभाव भी वस्तु-धर्म है।

० न ह्यभावो नाम भावादन्यः। अपि तु भावस्यैव रूपान्तरम्।

(भ.आ.टी. 23)

'अभाव' कोई भाव से भिन्न (पदार्थ) नहीं है, अपितु भाव का ही रूपान्तर 'अभाव' है।

० एकरूपोऽभावः। न हि अभावः अभावात्मना भिद्यते। (तद्विसदृशस्तु नानारूपो भावः।)

(रा.वा. 4/42/4)

अभाव एकरूप होता है। उसमें कोई (भाव वस्तु की तरह) भेद नहीं पाया जाता (जबकि उससे विपरीत 'भाव' तो नानारूप होता है)।

० न भावाभावौ वस्तुनः अन्यौ एव।

(अष्टस. 48, पृ. 195)

भाव की तरह अभाव वस्तु से अन्य नहीं है।

० अभावोऽपि च नैवास्ति, प्रभेदो वस्तुनः पृथक्।

(न्या.वा. 16)

वस्तु से पृथक् अभाव भी कोई (नया) प्रभेद नहीं है।

(द्रष्टव्य : अंश के प्रकार, अनेकान्तात्मकता)

अभाव प्रमाण

० अथ प्रमाणपञ्चकाभावः प्रमेयाभावविषयं ज्ञानं जनयन् उपचाराद् अभावप्रमाणमुच्यते, न। अभावस्य अवस्तुतया तज्ज्ञानजनकत्वायोगात्। वस्त्वेव कार्यमुत्पादयति, नावस्तु।

(प्र.क.मा. 2/2)

(शंका—) पांचों प्रमाणों का अभाव रूप जो अभाव है, वह प्रमेयाभाव विषय वाले ज्ञान

को उत्पन्न करता है, अतः उसे उपचार से 'प्रमाण' कहा जाए? (उत्तर–) नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अभाव तो 'अवस्तु' है, इसलिए वह 'ज्ञान' (रूप कार्य) का जनक नहीं हो एकता। वस्तु रूप पदार्थ ही कार्य को उत्पन्न कर सकता है, अवस्तु रूप अर्थ नहीं।

० अपि च प्रमाणपञ्चकनिवृत्तिरूपत्वात् तुच्छः। तत एव अज्ञानरूपः कथं प्रमाणं भवेत्। तस्माद् अभावांशात् कथंचिदभिन्नं भावांशं परिच्छिन्दता प्रत्यक्षादिना प्रमाणेन अभावांशो गृहीत एवेति तदतिरिक्तविषयाभावात् निर्विषयोऽभावः। तथा च न प्रमाणमिति स्थितम्।

(प्र.मी. 1/1/12)

सत्ता को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष आदि पांच प्रमाणों की प्रवृत्ति न होना अभाव प्रमाण है, इस तरह निवृत्तिरूप होने से वह तुच्छ (निःस्वरूप) है। अतः अज्ञान रूप होने से वह प्रमाण कैसे हो सकता है? (वस्तुतः) पदार्थ के अभाव अंश से भाव अंश कथंचित् अभिन्न है, अतः प्रत्यक्ष आदि प्रमाण पदार्थ के अभाव अंश को भी जान लेते हैं, अतः इसके अतिरिक्त ज्ञेय कुछ बचता नहीं है, (भावाभावात्मक वस्तु के अतिरिक्त कोई वस्तु अभाव का विषय नहीं होती) इसलिए अभाव विषयशून्य है, और विषयशून्य होने से अभाव प्रमाण नहीं है।

० यच्च अभावाख्यं प्रमाणम्, तस्य प्रामाण्याभावात् न तत् प्रमाणम्, तद्विषयस्य कस्यचिदपि अभावात्। यस्तु प्रमाणपञ्चकविषयः स विधिरेव, तेनैव प्रमेयत्वस्य व्याप्तत्वात्। सिद्धं प्रमेयत्वेन विधिरेव तत्त्वम्। यत्तु न विधिरूपं तन्न प्रमेयम्, यथा खरविषाणम्।

(प्र.प्र.क. 2/42)

जो अभाव नाम का प्रमाण है, उसकी प्रमाणता (सिद्ध) नहीं है, अतः वह प्रमाण नहीं है, क्योंकि उसका कोई भी विषय नहीं होता। जो पांच (प्रत्यक्षादि) प्रमाणों का विषय होता है, वह विधि रूप ही होता है, वही प्रमेयत्व के साथ व्याप्त (सहसिद्ध) है। प्रमेय रूप से विधिरूप पदार्थ ही तत्त्वयथार्थ-सिद्ध होता है। जो विधिरूप नहीं होता, वह प्रमेय नहीं है, जैसे गधे का सींग।

अभाव के भेद

० चतुःप्रकारश्चाभावो व्यवस्थितः–प्राक्-प्रध्वंस-इतरेतर-अत्यन्ताभावभेदात्।

(प्र.क.मा. 2/2)

अभाव के चार भेद हैं–प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव और अत्यन्ताभाव।

० स चतुर्धा-प्रागभावः, प्रध्वंसाभावः, इतरेतराभावोऽत्यन्ताभावश्च।

(प्र.न.त. 3/58)

वह (अभाव) चार प्रकार का होता है–प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव और अत्यन्ताभाव।

अभिप्राय विशेष

(द्रष्टव्य : नय)

अभिप्रेत

० वाद्यभिमतत्वेनाभिप्रेतम्।

(न्या.दी. 3/20)

जो वादी को सिद्ध करने के लिये अभिमत है, वह 'अभिप्रेत' होता है।

अभेदस्वभाव

० गुणगुण्याद्येकस्वभावादभेदस्वभावः।

(आ.प. 113)

गुण और गुणी का एक स्वभाव होने से 'अभेदस्वभाव' है।

अमूर्त

० जे खलु इंदियगेज्झा विसया जीवेहि होंति ते मुत्ता।

(पंचा. 89)

जो पदार्थ जीवों के इन्द्रियग्राह्य विषय हैं, वे मूर्त होते हैं।

० रूपादिगुणविरहाद् अमूर्ताः।

(स.सि. 5/39/602)

रूप आदि गुण से रहित होने से (पदार्थ) 'अमूर्त' होते हैं।

अमूर्तत्व

० अमूर्तस्य भावोऽमूर्तत्वं रूपादिरहितत्वम्।

(आ.प. 104)

अमूर्त के भाव को अर्थात् स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण से रहितपने को 'अमूर्तत्व' कहते हैं।

अयथार्थ ज्ञान के भेद

० अयथार्थं च विपर्ययसंशयाऽनध्यवसायाः।

(भि.न्या. 1/11)

अयथार्थ ज्ञान के तीन भेद हैं–विपर्यय, संशय और अनध्यवसाय।

अयुतसिद्धत्व

० वैशेषिकशास्त्रे हि प्रसिद्धम्–'अपृथगाश्रय-वृत्तित्वम् अयुतसिद्धत्वम्'।

(आप्त. 44, पृ. 110)

वैशेषिक शास्त्र में प्रसिद्ध है –अपृथक् (रूप से एक) आश्रय में रहना 'अयुतसिद्ध'पना है' (अर्थात् जिन दो पदार्थों) की अभिन्न (यानी एक) आश्रय में वृत्ति, स्थिति होती है, वे 'अयुतसिद्ध' हैं।

अयुतसिद्धि

० .....समवर्तित्वलक्षणसमवायभाजाम् अयुतसिद्धि-रेव, न पृथग्भूतत्वम् इति।

(पंचा.त.प्र. 50)

(अनादि-अनन्त) सहवृत्ति होना –यही 'समवाय' है, ऐसा समवाय जिनमें (जैसे–द्रव्य व गुण में) है, वहां उनकी अयुतसिद्धि ही है, अर्थात् उनका कभी भी पार्थक्य नहीं है।

अयोगव्यवच्छेद

० विशेषणसंगतैवकारोऽयोगव्यवच्छेदबोधकः। यथा –शंखः पाण्डुर एवेति।
अयोगव्यवच्छेदो नामउद्देश्यतावच्छेदकसमा-नाथ-करणाभावाप्रतियोगित्वम्।

(स.भं.त. 39)

विशेषण से अन्वित एवकार अयोगव्यवच्छेदक होता है। जैसे–शंख पाण्डुर (सफेद) ही होता है। अयोगव्यवच्छेद से तात्पर्य है– उद्देश्य-तावच्छेदक के समानाधिकरण अभाव का प्रतियोगी न होना।

(द्रष्टव्य : अन्ययोगव्यवच्छेद)

अर्थ (अभिधेय)

० अर्थः पुनरनेकशब्दसम्बन्धेन अभिधीयमानो वस्तुतया एकोऽभिधेयः।

(पंचा.त.प्र. 2)

'अर्थ' यानी अनेक शब्दों के सम्बन्ध से कहा जाने वाला वस्तुरूप से एक पदार्थ।

० 'ऋ गतौ', अर्यते गम्यते ज्ञायत इत्यर्थः।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 80)

अर्थ शब्द गत्यर्थक 'ऋ' धातु से बना है, जो ज्ञात होता है, वह 'अर्थ' होता है।

० अर्थः शब्दस्याभिधेयम्।

(षोड.वृ. 13/4)

शब्द के वाच्य को 'अर्थ' कहा जाता है।

० अर्थो वाक्यस्य भावार्थः।

(ज्ञा.सा.वृ. 27/5)

वाक्य के वाच्य को 'अर्थ' कहा जाता है।

अर्थ (ज्ञेय)

० अर्थः अर्थक्रियासमर्थः प्रमाणगोचरो भावः द्रव्य-पर्यायात्मकः।

(न्या.कु. 2/7)

अर्थक्रिया-समर्थ, द्रव्य-पर्यायात्मक प्रमाण-दृष्ट भाव (पदार्थ) 'अर्थ' है।

अर्थ (द्रव्य)

० *दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया* भणिया।

(प्र.सा. 1/87)

द्रव्य, गुण और पर्यायों को 'अर्थ' संज्ञा से कहा जाता है। (अर्थात् द्रव्य, गुण, पर्याय–इन तीनों की 'अर्थ' संज्ञा है।)

० प्रतिक्षणं-स्थित्युदयव्ययात्मतत्त्वव्यवस्थं सदिहार्थ-रूपम्।

(युक्त्य. 48)

'अर्थ' का रूप प्रतिक्षण स्थिति, उदय और व्ययरूप तत्त्वव्यवस्था को लिये हुए होता है।

० अनेकपर्यायकलापभाजोऽर्थाः।

(तत्त्व.भा.वृ. 9/6,)

'अर्थ' अनेक पर्यायों के समूह वाला होता है।

० अर्यते इत्यर्थः, निश्चीयते इति यावत्।

(स.सि. 1/2/10)

जिसका निश्चय किया जाता है अर्थात् जो ज्ञान के द्वारा जाना जाता है, उसे 'अर्थ' कहते हैं।

० परापरपर्यायावाप्ति-परिहारस्थितिलक्षणोऽर्थः।

(प्र.सं.वृ. 7/67)

जो एक (नवीन) पर्याय की प्राप्ति (उत्पाद), पूर्व पर्याय का विनाश (व्यय) और स्थिति (ध्रौव्य) से सहित होता है, वह 'अर्थ' (द्रव्य) कहलाता है।

० तद्द्रव्यपर्यायात्मार्थः।

(लघी. 2/7)

'अर्थ' द्रव्यपर्यायात्मक होता है।

० इयर्ति पर्यायान्, अर्यते वा तैः, इत्यर्थो द्रव्यम्।

(रा.वा. 1/17)

जो पर्यायों को प्राप्त करता है या पर्यायों द्वारा प्राप्त किया जाता है, वह 'अर्थ'-'द्रव्य' है।

० अर्यते परिच्छिद्यते गम्यते इत्यर्थो द्वादशाङ्गविषयः।

(ध. 9, पृ. 259)

जो 'अर्यते' अर्थात् जाना जाता हैं, वह द्वादशांग का विषयभूत 'अर्थ' है।

० अर्यते परिच्छिद्यते गम्यते इत्यर्थो नव पदार्थाः।

(ध. 13,पृ. 281)

जो जाना जाता है, वह 'अर्थ' है। यहां अर्थ पद से नौ पदार्थ अभिहित हैं।

० द्रव्याणि च गुणाश्च पर्यायाश्च अभिधेय-भेदेऽप्यभि-धानाभेदेन अर्थाः। तत्र गुणपर्यायान् इयर्ति गुणपर्यायैरर्यन्त इति वा अर्थाः द्रव्याणि। द्रव्याण्याश्रयत्वेनेयर्ति द्रव्यैराश्रयभूतैरर्यन्त इति वा अर्थाः गुणाः। द्रव्याणि क्रमपरिणामेनेयर्ति द्रव्यैः क्रमपरिणामेनार्यन्त इति वा अर्थाः पर्यायाः।

(प्र.सा.तत्त्वप्र. 1/87)

द्रव्य, गुण और पर्याय–इन तीनों के पृथक्–पृथक् अर्थ हैं, किन्तु इन तीनों को अभिन्न रूप से 'अर्थ' कहा जाता है। अर्थ 'द्रव्य' है क्योंकि वह गुण-पर्यायों को प्राप्त करता है अथवा गुण–पर्यायों के द्वारा अपने स्वरूप को प्राप्त होता है। अर्थ गुण भी है, क्योंकि गुण आधारभूत द्रव्य को प्राप्त होता है अथवा द्रव्य के द्वारा प्राप्त किया जाता है। पर्यायों का नाम भी अर्थ है, क्योंकि वे क्रमशः परिणमन करते हुये द्रव्य को प्राप्त होते हैं, अथवा द्रव्य के द्वारा अपने स्वरूप को प्राप्त होते हैं।

(द्रष्टव्य : पदार्थ, प्रमेय)

अर्थक्रिया

० अर्थक्रिया-अर्थस्य ज्ञानस्य अन्यस्य वा क्रिया-करणम्।

(न्या.कु. 2/8)

अर्थ की–ज्ञान या अन्य (पदार्थ) की– क्रिया का होना 'अर्थक्रिया' है।

० अर्थस्य हानोपादानलक्षणस्य क्रिया निष्पत्तिः।

(प्र.मी. 1/1/31)

अर्थ यानी हान व उपादान आदि (त्याग, ग्रहण या उपेक्षा) की क्रिया यानी निष्पत्ति होना 'अर्थक्रिया' है।

० अर्थस्य कार्यस्य क्रिया करणम् निष्पत्तिः।

(लघी.अभय. 2/1)

अर्थ अर्थात् कार्य है, उस कार्य का करना, या उसकी निष्पत्ति, यह वस्तु की अर्थक्रिया है। (क्रियाविशेष को निष्पन्न करना ही अर्थक्रिया है, जो वस्तु का लक्षण है।)

(द्रष्टव्य : वस्तु)

अर्थक्रियाकारिता

० पूर्वाकारपरिहारोत्तराकारस्वीकारावस्थानस्वरूप लक्षणपरिणामेन वस्तूनामर्थक्रियाकारिता।

(स्या.र.पृ. 9)

पूर्व आकार के परित्याग (व्यय), उत्तर आकार के ग्रहण (उत्पाद) और अवस्थान (ध्रौव्य) स्वरूप परिणाम से वस्तुओं की अर्थक्रियाकारिता हुआ करती है।

अर्थनय

० चत्वारोऽर्थनया ह्येते जीवाद्यर्थव्यपाश्रयात्।

(लघी. 6/72)

जीव–अजीव आदि अर्थों का अवलम्बन लेने से ये चार (नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजु-सूत्रनय) 'अर्थनय' हैं।

० अर्थव्यंजनपर्यायैर्विभिन्नलिङ्ग-संख्या-काल-कारक-पुरुषोपग्रह-भेदैरभिन्नं वर्तमानमात्रं वस्त्वध्यवस्यन्तोऽर्थनयाः, न शब्दभेदेनार्थभेद इत्यर्थः।

(ध. 1,पृ. 87)

जो नय अर्थ और व्यंजन पर्यायों के साथ विविध लिंग, संख्या, काल, कारक, पुरुष और उपग्रह के भेद से अभिन्न वर्तमान मात्र वस्तु को विषय किया करते हैं, उन्हें 'अर्थनय' कहते हैं। यहां शब्द–भेद से अर्थ भेद विवक्षित नहीं होता।

० क्रिया-गुणाद्यर्थगतभेदेनार्थभेदनात् संग्रहव्यवहार-र्जुसूत्राः अर्थनयाः।

(ध. 9, पृ. 181)

क्रिया, गुण आदि अर्थगत भेदों के आधार पर अर्थ–भेद होता है, इस आधार पर संग्रह, व्यवहार व ऋजुसूत्र–ये (तीन) 'अर्थनय' हैं।

० वस्तुनः स्वरूपं स्वधर्मभेदेन भिन्दानोऽर्थनयः, अभेदको वा। अभेदरूपेण सर्वं वस्तु इयर्ति एति गच्छति इत्यर्थनयः।

(ज.ध. 1, पृ. 203)

उस वस्तु के स्वरूप में वस्तुगत धर्मों के भेद से भेद करने वाला 'अर्थ नय' होता है। अथवा अभेद रूप से वस्तु को ग्रहण करने वाला 'अर्थनय' है। (इसका यह तात्पर्य है कि जो नय अभेद रूप से समस्त वस्तु को ग्रहण करता है, वह अर्थनय है।)

० एतेषु चत्वारः प्रथमेऽर्थनिरूपणप्रवणत्वादर्थनयाः।

(प्र.न.त. 7/44)

इन सात नयों में पहले (नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र–ये) चार नय पदार्थ का निरूपण करने वाले हैं, इसलिये वे 'अर्थनय' हैं।

० एतेष्वाद्याश्चत्वारः प्राधान्येनार्थगोचरत्वादर्थनयाः।

(जै.त.भा.नय परि., पृ. 68)

इन सात नयों में आदि के चार (नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र) अर्थनय हैं, क्योंकि वे प्रधानरूप से अर्थ (पदार्थ) के संबंध में ही विचार करते हैं।

अर्थनय के भेद

० अत्र चाद्याः चत्वारोऽर्थप्रधानत्वात् अर्थतन्त्रत्वात्।

(तत्त्व.भा.वृ. 1/34)

इन नयों में चार नय (नैगम, संग्रह, व्यवहार व ऋजुसूत्र) अर्थप्रधान होने से 'अर्थनय' हैं।

० एतेषु चत्वारः प्रथमेऽर्थनिरूपणप्रवणत्वादर्थनयाः।।

(प्र.न.त. 7/44)

इन सात नयों में पहले चार (नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र) नय पदार्थ का निरूपण करने वाले हैं, इसलिये वे 'अर्थ नय' हैं।

० तत्र ये केचन अर्थनिरूपणप्रवणाः प्रमात्रभि-प्रायास्ते सर्वेऽपि आद्ये नयचतुष्टये अन्तर्भवन्ति।

(स्या.मं. 28)

सात नयों में जो अर्थ के आधार पर प्रमाता के अभिप्राय को प्रकट करने वाले हैं, वे सभी आदि के चार नयों (नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र) में अन्तर्भूत हैं।

अर्थनयाभास

० अर्थाभिधायी शब्दप्रतिक्षेपी अर्थनयाभासः।

(जै.त.भा.नय परि., पृ. 67)

अर्थ का अभिधान करने वाला और शब्द का निषेध करने वाला दृष्टिकोण 'अर्थनयाभास' है।

अर्थपर्याय

० तत्रार्थपर्यायो भूतत्वभविष्यत्वसंस्पर्शरहितशुद्ध-वर्तमानकालावच्छिन्नं वस्तुस्वरूपम्।

(न्या.दी. 3/77)

भूत और भविष्य के उल्लेख रहित केवल वर्तमानकालीन वस्तु स्वरूप को 'अर्थपर्याय' कहते हैं, अर्थात् वस्तुओं में प्रतिक्षण होने वाली पर्यायों को 'अर्थपर्याय' कहते हैं।

० सूक्ष्मो वर्तमानवर्ती अर्थपरिणामः अर्थपर्यायः।

(जै.सि.दी.स्वो.व्या. 1/44)

जो पर्याय सूक्ष्म होती है अर्थात् जिसके बदल जाने पर भी द्रव्य का आकार नहीं बदलता, अतः वह सर्वसाधारण-बुद्धि-गम्य नहीं होती है और जो केवल वर्तमानवर्ती होती है, उसे 'अर्थ पर्याय' कहते हैं।

अर्थपर्याय के भेद

० अर्थपयार्यास्ते द्वेधा स्वभावविभावपर्यायभेदात्।

(आ.प. 16)

अर्थपर्याय दो प्रकार की हैं–(1) स्वभाव पर्याय, (2) विभावार्थपर्याय।

अर्थलिंगज श्रुतज्ञान

० धूमादिअत्थलिंगजं पुण अणुमाणं णाम।

(ज.ध. 1, पृ. 310)

धूमादिक पदार्थरूप लिंग से जो श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है, वह 'अर्थलिंगज श्रुतज्ञान' है। इसका दूसरा नाम 'अनुमान' भी है।

अर्थान्तर निग्रहस्थान

० प्रकृतादर्थादर्थान्तरं तदनौपयिकमभिदधतोऽर्थान्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति।

(प्र.मी. 2/1/34)

प्रकृत अर्थ से अर्थान्तर का कथन करना, जिसका कि प्रकृत अर्थ की सिद्धि से कोई सम्बन्ध न हो, 'अर्थान्तर निग्रहस्थान' कहलाता है।

० प्रकृतप्रमेयानुपयोगिवचनम् अर्थान्तरं नाम निग्रहस्थानम्।

(प्र.प्र. 1/76)

प्रस्तुत विषय के लिये निरुपयोगी बातें कहना –यह 'अर्थान्तर' नाम का निग्रहस्थान है।

अर्थापत्ति

० प्रत्यक्षादिभिः षड्भिः प्रमाणैः प्रसिद्धो योर्थः, स येन विना नोपपद्यते, तस्यार्थस्य कल्पनमर्थापत्तिः।

(प्र.क.मा. 2/2)

प्रत्यक्षादि छः, प्रमाणों के द्वारा जाना गया अर्थ जिस अदृष्ट पदार्थ के बिना सम्भव नहीं है, उसकी कल्पना जिस प्रमाण से की जाती है, उसका नाम 'अर्थापत्ति' है।

अर्थापत्तिसमा जाति (दूषणाभास,जात्युत्तर के भेद)

० अर्थापत्त्या प्रत्यवस्थानमर्थापत्तिसमा जातिः। यद्यनित्यसाधर्म्यात्कृतकत्वाद् अनित्यः शब्दः, अर्थादापद्यते नित्यसाधर्म्यान्नित्य इति। अस्ति

चास्य नित्येनाकाशादिना साधर्म्यं निरवयवत्व-मित्युद्भावनप्रकारभेद एवायमिति।

(प्र.मी. 2/1/29; प्र.प्र. 1/63)

अर्थापत्ति द्वारा निराकरण करना 'अर्थापत्ति-समा' जाति है। जैसे–यदि अनित्य के समान कृतक होने से शब्द अनित्य है तो इसका अर्थ यह हुआ कि नित्य के समान होने से नित्य है। शब्द की नित्य आकाश से निरवयत्व धर्म के दृष्टि से समानता तो है ही। यहाँ भी उद्भावना की प्रकार में ही भिन्नता है।

अर्थावग्रह

० अत्थस्स ओग्गहो अत्थोग्गहो, सो य वंजणावग्ग-हातो चरमसमयाणंतरं एकसमयं अविसिट्ठिदिंय विषयं गेण्हतो अत्थावग्गहो भवति, चक्खिं-दियस्स मणसो य वंजणाभावे पढ़मं चेव जं अविसिट्ठमत्थग्गहणं कालदो एकसमयं सो -अत्थोग्गहो भाणितव्वो।

(न.चू. 50, पृ. 35)

अर्थ का अवग्रहण 'अर्थावग्रह' होता है, वह व्यंजनावग्रह होने के चरम समय के अनन्तर सामान्य इन्द्रिय-विषयों को ग्रहण करने वाला होता है और इसका काल एक समय होता है। चक्षु व मन इन्द्रिय का व्यंजनावग्रह नहीं होता, इसलिए प्रथमतः ही जो एकसमयवर्ती सामान्य अर्थ का ग्रहण होता है, उसे अर्थावग्रह जानना चाहिए।

० अप्पत्तत्थग्गहणमत्थावग्गहो।

(ध. 6, पृ. 16; ध. 9, पृ. 153)

अप्राप्त अर्थात् अस्पृष्ट अर्थ के ग्रहण करने को 'अर्थावग्रह' कहते हैं।

० स्वरूपनामजातिक्रियागुणद्रव्यकल्पनारहितं सामान्यग्रहणम् अर्थावग्रहः।

(जै.त.भा.प्र.परि., पृ. 10)

स्वरूप, नाम, जाति, क्रिया, गुण और द्रव्य की कल्पना से रहित सामान्य का ग्रहण 'अर्थावग्रह' है।

० अल्पेन्द्रियावयवसन्निकर्षजन्यं व्यक्तार्थ–ग्रहणमर्थावग्रहः।

(प्र.रत्ना. 2/5)

अल्प इन्द्रियावयव-सन्निकर्ष से होने वाला व्यक्त अर्थ-ग्रहण 'अर्थावग्रह' है।

अर्थावग्रह के भेद

० आभिणिबोहियणाणस्स णं छव्विहे अत्थोग्गहे पण्णत्ते, तं जहा–
सोइंदियत्थोग्गहे, चक्खिंदियत्थोग्गहे, घाणिं-दियत्थोग्गहे,
जिब्भिंदियत्थोग्गहे, फासिंदियत्थोग्गहे, णोइंदि-यत्थोग्गहे।

(ठा.सू. 6/98)

आभिनिबोधिक ज्ञान का अर्थावग्रह छह प्रकार का होता है–
1. श्रोत्रेन्द्रिय अर्थावग्रह 2. चक्षुरिन्द्रिय अर्थावग्रह 3. घ्राणेन्द्रिय अर्थावग्रह 4. जिह्वेन्द्रिय अर्थावग्रह 5. स्पर्शनेन्द्रिय अर्थावग्रह 6. नोइन्द्रिय अर्थावग्रह।

० छव्विहे अत्थुग्गहे पण्णत्ते, तं जहा –सोइंदिय-अत्थुग्गहे, चक्खिंदियअत्थुग्गहे, घाणिंदिय-अत्थुग्गहे, जिब्भिंदियअत्थुग्गहे, फासिंदिय-अत्थुग्गहे, नोइंदियअत्थुग्गहे।

(सम.सू. 6/6)

अर्थावग्रह के छः प्रकार हैं–(1) श्रोत्रेन्द्रिय अर्थावग्रह, (2) चक्षुइन्द्रिय अर्थावग्रह, (3) घ्राणेन्द्रिय अर्थावग्रह, (4) रसनेन्द्रिय अर्थावग्रह (5) स्पर्शनेन्द्रिय अर्थावग्रह और (6) नो–इन्द्रिय अर्थावग्रह।

अर्पित

० अर्पितं निदर्शितमुपात्तम्।

(तत्त्व.भा.वृ. 5/31)

अर्पित यानी गृहीत (विवक्षित) या निदर्शित।

० अनेकान्तात्मकस्य वस्तुनः प्रयोजनवशाद्यस्य कस्यचिद्धर्मस्य विवक्षया प्रापितं प्राधान्यमर्पित-मुपनीतमिति यावत्।

(स.सि. 5/32/588)

प्रयोजन के वश अनेकान्तात्मक वस्तु के जिस किसी धर्म को विवक्षावश जो मुख्यता प्राप्त होती है, उसे 'अर्पित' कहते हैं।

० धर्मान्तरविवक्षाप्रापितप्राधान्यमर्पितम्। अनेकान्तात्म-कस्य वस्तुनः प्रयोजनवशात् यस्य कस्यचिद् धर्मस्य विवक्षया प्रापितप्राधान्यम् अर्थरूप-मर्पितमुपनीतमिति यावत्।

(रा.वा. 5/32/1)

प्रयोजनवश अनेकान्तात्मक वस्तु के जिस धर्म की विवक्षा होती है, या विवक्षित जिस धर्म को प्रधानता मिलती है, उसे 'अर्पित' कहते हैं। (द्रष्टव्य : मुख्य)

अर्पित नय

० विशेषग्राहिणोऽर्पितनयाः।.....अर्पितनयमते त्वेकद्वित्र्यादिसमयसिद्धाः स्वसमानसमयसिद्धैरेव तुल्या इति।

(जै.त.भा.नय परि., पृ. 63)

विशेष को ग्रहण करने वाला अर्पित नय होता है। .....अर्पितनय के मत से एक समयसिद्धों, द्विसमयसिद्धों या त्रिसमयसिद्धों का अर्थात् समान समय के सिद्धों का स्वरूप समान नहीं है।

अवग्रह

० तत्राव्यक्तं यथास्वमिन्द्रियैर्विषयाणामालोचनाव–धारणमवग्रहः।

(तत्त्व.भा. 1/15)

अपनी अपनी इन्द्रियों द्वारा यथायोग्य विषयों का अव्यक्त रूप से जो आलोचनात्मक अवधारण-ग्रहण होता है, उसे 'अवग्रह' कहते हैं।

० विषय-विषयिसन्निपातसमयानन्तरमाद्यं ग्रहणम् अवग्रहः।

(स.सि. 1/15/ 190)

विषय और विषयी के सम्बन्ध के बाद होने वाले प्रथम ग्रहण को 'अवग्रह' कहते हैं।

० अत्थाणं उग्गहणं अवग्गहं।

(विशे.भा. 179)

पदार्थों का अवग्रहण (इन्द्रियविषय के रूप में ग्रहण) 'अवग्रह' कहलाता है।

० सामण्णत्थावग्गहणमुग्गहो।

(विशे.भा. 180)

सामान्य अर्थ का अवग्रहण (सन्मात्र पदार्थ, या पदार्थ का सामान्य रूप से अवग्रहण) 'अवग्रह' है।

० विषय-विषयिसन्निपातसमनन्तरमाद्यं ग्रहण-मवग्रहः। विषयविषयिसन्निपाते सति दर्शनं भवति, तदनन्तरमर्थस्य ग्रहणमवग्रहः।

(रा.वा. 1/15/1)

पदार्थ और उसे विषय करने वाली इन्द्रियों का योग्य देश में संयोग होने के अनन्तर उसका सामान्य प्रतिभासरूप 'दर्शन' होता है, उसके अनन्तर वस्तु का जो प्रथम बोध होता है, उसे 'अवग्रह' कहते हैं।

० अक्षार्थयोगजातवस्तुमात्रग्रहणलक्षणात्। जातं यद् वस्तुभेदस्य ग्रहणं तदवग्रहः।

(तत्त्व.श्लो. 1/15/2)

इन्द्रिय व पदार्थ के सम्बन्ध के अनन्तर 'वस्तु' की सत्ता मात्र के ग्रहण होने पर जो वस्तुभेद अर्थात् वस्तु के विशेष का जो ग्रहण है, वह 'अवग्रह' है।

० विषय-विषयिसंपातानन्तरमाद्यं ग्रहणमवग्रहः। विसओ बाहिरो अट्ठो, विसई इंदियाणि, तेसिं दोण्हं पि संपादो णाम णाणजणणजोग्गावत्था, तदणंतरमुप्पण्णं णाणमवग्गहो।

(ध. 6, पृ. 16)

विषय और विषयी के सम्पात (सम्बन्ध) होने के बाद होने वाला प्रथम ग्रहण 'अवग्रह' होता है। विषय से तात्पर्य है—बाह्य पदार्थ, विषयी से तात्पर्य है—इन्द्रिय, इन दोनों ही के सम्पात (सम्बन्ध) होने का अर्थ है—ज्ञान (बोध) के उत्पन्न होने की योग्य स्थिति का होना, इसके अनन्तर होने वाला उत्पन्न ज्ञान 'अवग्रह' है।

० विसय-विसइसंपाय-समणंतरमुप्पण्णणाण मोग्गहो।

(ज.ध. 1, पृ. 303)

विषय और विषयी के संपात अर्थात् योग्य देश में स्थित होने के अनन्तर उत्पन्न हुए ज्ञान को 'अवग्रह' ज्ञान कहते हैं।

० विसयाणं विसईणं संजोगाणंतरं हवे णियमा।

(गो.सा.जी. 308)

विषय (अर्थ) और विषयी (इन्द्रियों) का संयोग (अर्थात् योग्य देश में स्थित होने रूप सम्बन्ध) के होते ही नियम से 'दर्शन' उत्पन्न होता है।

० अन्तर्भूताऽशेषविशेषस्य केनापि रूपेणाऽनिर्देश्यस्य सामान्यस्यार्थस्यैकसामयिकमवग्रहणं सामान्यार्थावग्रहणम्, अथवा सामान्येन सामान्यरूपेण अर्थस्यावग्रहणं सामान्यार्थावग्रहणमवग्रहो वेदितव्यः।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 180)

जो समस्त विशेषों को अपने अन्दर समेटे हुए होता है, तथा किसी भी रूप से जो निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता है, ऐसे सामान्य (सन्मात्र) पदार्थ का एक समय में जो 'सामान्य अर्थावग्रहण' है, उसे अवग्रह जानना चाहिए।

० विषयविषयिसन्निपातानन्तरसमुद्भूतसत्ता-मात्रगोचरदर्शनाज्जातमाद्यम् अवान्तरसामान्या-कारविशिष्टवस्तुग्रहणमवग्रहः।

(प्र.न.त. 2/7)

विषय (पदार्थ) और विषयी (चक्षु आदि) का यथोचित देश में सम्बन्ध होने पर सत्तामात्र को जानने वाला 'दर्शन' उत्पन्न होता है। इसके अनन्तर सबसे पहले होने वाला मनुष्यत्व आदि अवान्तर सामान्य से युक्त वस्तु को जानने वाला ज्ञान 'अवग्रह' कहलाता है।

० अक्षार्थयोगे दर्शनानन्तरमर्थग्रहणमवग्रहः।

(प्र.मी. 1/1/26)

इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध होने पर 'दर्शन' के पश्चात् होने वाला पदार्थ का ग्रहण 'अवग्रह' कहलाता है।

० विषयः सामान्यविशेषात्मकोऽर्थः, विषयी चक्षुरादिः, तयोः समीचीनो भ्रान्त्याद्यजन-कत्वेनाऽनुकूलो निपातो योग्यदेशाद्यवस्थानं तस्मादनन्तरं समुद्भूतमुत्पन्नं यत् सत्तामात्रगोचरं निःशेषविशेष-वैमुख्येन सन्मात्रविषयं दर्शनं निराकारो बोधस्तस्माद् जातमाद्यं सत्त्वसामान्यादवान्तरैः मान्याकारैर्मनुष्यत्वादिभि-र्जातिविशेषैर्विशिष्टस्य वस्तुनो यद् ग्रहणं ज्ञानं तदवग्रहः।

(र.करा. 2/7)

विषय अर्थात् घट आदि पदार्थ और विषयी अर्थात् नेत्रादि जब योग्य देश में मिलते हैं, तब सर्वप्रथम दर्शनोपयोग उत्पन्न होता है। दर्शन महासामान्य अथवा सत्ता को ही जानता है। इसके पश्चात् उपयोग मनुष्यत्वादि अवान्तर सामान्ययुक्त वस्तु को जान लेता है। यह ज्ञान ही 'अवग्रह' है।

० तत्रेन्द्रियार्थसमवधानसमनन्तरसमुत्थसत्ता-लोचनान्तरभावी सत्ताऽवान्तर जातिविशिष्टवस्तु-ग्राही ज्ञानविशेषोऽवग्रहः—यथाऽयं पुरुष इति।

(न्या.दी. 2/11)

इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध होने के बाद उत्पन्न हुए सामान्य अवभास (दर्शन) के अनन्तर होने वाले और अवान्तर सत्ता जाति से युक्त वस्तु को ग्रहण करने वाले ज्ञान-विशेष को अवग्रह कहते हैं। जैसे—'यह पुरुष है'।

० तत्र विषयविषयिसंनिपातानन्तरसमुद्भूतसत्तामात्र-गोचरदर्शनाज्जातमाद्यम् अवान्तर-सामान्याकार-विशिष्टवस्तुग्रहणमवग्रहः।

(षड्.समु.टी. 55/314)

इन्द्रिय और पदार्थ के योग्य देश स्थितिरूप सम्बन्ध होने पर सत्ता मात्र का आलोचन करने वाला दर्शन होता है। इस दर्शन से उत्पन्न होने वाला घटत्व आदि विशेष सत्ता से युक्त घट आदि पदार्थों को विषय करने वाले प्रथम ज्ञान को 'अवग्रह' कहते हैं।

० इन्द्रियार्थयोगे दर्शनानन्तरं सामान्यग्रहणमवग्रहः।

(भि.न्या. 2/8)

इन्द्रिय और पदार्थ का योग होने पर 'दर्शन' के पश्चात् जो सामान्य का ग्रहण होता है, उसे 'अवग्रह' कहते हैं।

अवग्रह के पर्याय

० तस्स णं इमे एगट्ठिया नाणाघोसा नाणावंजणा पंच नामधिज्जा भवंति, तं जहा — 1. ओगेण्हणया 2. उवधारणया 3. सवणया 4. अवलंबणया 5. मेहा।

(नन्दी. 3/43)

उसके (अवग्रह के) नानाघोष ओर नानाव्यंजन वाले पांच पर्यायवाची नाम हैं। जैसे—1. अवग्रहण 2. उपधारण 3. श्रवण 4. अवलम्बन (अवलम्बना) 5. मेधा।

० अवग्रहो ग्रहणमालोचनमवधारणमित्यनर्थान्तरम्।

(तत्त्व.भा. 1/15)

अवग्रह, ग्रहण, आलोचन और अवधारण—ये एक अर्थ के वाचक हैं।

० ओग्गहे योदाणे साणे अवलंबणा मेहा।।
(षट्खं. 5/5/37; ध. 13, पृ. 242)
अवग्रह, अवधान, सान, अवलम्बना और मेधा –ये अवग्रह के पर्याय हैं।
(द्रष्टव्य : वह-वह नाम)

अवग्रह के भेद

० तत्थोग्गहो दुरूवो गहणं जं होइ वंजणत्थाणं।
(विशे.भा. 193)
उन (अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा) में अवग्रह के दो रूप (प्रकार) हैं, क्योंकि उसके ग्रहण योग्य व्यंजन व अर्थ (ये दो विषय) होते हैं।

० व्यञ्जनार्थयोः (अवग्रहः)।
(भि.न्या. 2/9)
अवग्रह के दो भेद हैं–व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह।

अवदान (अवधान)

० अवदीयते खण्ड्यते परिच्छिद्यते अन्येभ्यः अर्थः अनेनेति अवदानम्।
(ध. 13, पृ. 242)
जिसके द्वारा अन्य पदार्थों से अलग करके विवक्षित अर्थ जाना जाता है, वह 'अवदान' है।
(द्रष्टव्य : अवग्रह)

अवधिज्ञान

० अंतिमखंदंताइं परमाणुप्पहुदिमुत्तिदव्वाइं।
जं पच्चक्खं जाणइ तमोहिणाणं ति णायव्वं।।
(ति.प. 4/972)
जो प्रत्यक्ष ज्ञान अन्तिम स्कन्ध पर्यन्त परमाणु आदिक मूर्त द्रव्यों को जानता है, उसे 'अर्वाधज्ञान' जानना चाहिए।

० तेणावहीयए तम्मि वाऽवहाणं तओऽवही सो य मज्जाया।
जं तीए दव्वाइ परोप्परं मुणइ तओऽवहि त्ति।।
(विशे.भा. 82)
जिसके द्वारा या जिसके होने पर अवधान (ठहराव, सीमा) हो, वह अवधि है। जो मर्यादा रूप (अर्थ को वहन करता) है, अतः (चूंकि) जो द्रव्यादि को परस्पर मर्यादा के साथ जानता है, इसलिए उसे 'अवधि' ज्ञान कहा जाता है।

० अवधीयते इति अवधिः, तेण वाऽवधीयते, तम्हि वाऽवधीयते, अवधाणं वा अवधिः, मर्यादेत्यर्थः। ताए परंपरोपणिबंधणातो दव्वादतो अवधीय(यं)ते इति अवधी।
(न.चू. 7, पृ. 13)
अवधान रूप में (मर्यादित रूप में) होना –यह 'अवधि' है। अथवा जिसके द्वारा अवधान किया जाता है, या जिसमें 'अवहित' होता है, या अवधान ही अवधि है, जिसका अर्थ है–मर्यादा। उस मर्यादा के साथ–द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की पारम्परिक मर्यादा के साथ होने वाला 'अवधान' होता है, अतः उसे 'अवधि' (ज्ञान) कहा जाता है।

० अवध्यावृत्तिविध्वंसविशेषादवधीयते।
येन स्वार्थोवधानं वा सोवधिर्नियतस्थितिः।।
(तत्त्व.श्लो. 1/9/5)
अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम रूप विशेष से स्व व अर्थ का जिसके द्वारा मर्यादित रूप में प्रत्यक्ष ज्ञान किया जाता है, वह 'अवधिज्ञान' है।

० परापेक्षां विना ज्ञानं रूपिणां भणितोऽवधिः।।

(तत्त्वा. 1/25)

इन्द्रियादिक पर पदार्थों की अपेक्षा के बिना, रूपी पदार्थों का जो ज्ञान होता है, वह 'अवधिज्ञान' कहा गया है।

० यत्तदावरणक्षयोपशमादेव मूर्तद्रव्यं विकलं विशेषेणावबुध्यते तदवधिज्ञानम्।

(पंचा.त.प्र. 41)

(ज्ञानावरण के क्षयोपशम से) जिस ज्ञान के द्वारा एकदेश प्रत्यक्ष रूप किंचिन्मूर्तिक द्रव्य जाने जाते हैं, उसका नाम 'अवधिज्ञान' है।

० अवहीयदित्ति ओही सीमाणाणेत्ति वण्णियं समये।

(गो.सा.जी. 370)

द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव के द्वारा परिमाण किया जाना 'अवधि' यानी सीमा है, उस सीमाविषयक ज्ञान को सिद्धान्त में 'अवधिज्ञान' कहा जाता है।

० अवशब्दस्याऽव्ययत्वेनाऽनेकार्थत्वादधोऽधो विस्तृतं धीयते परिच्छिद्यते रूपि वस्तु तेन ज्ञानेनेत्यवधिः।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 82)

अव शब्द अव्यय है, जिसके अनेक अर्थ होते हैं। यहां (अवधि शब्द में) ग्राह्य अर्थ है–नीचे नीचे विस्तृत। जिस ज्ञान से 'अव' यानी नीचे नीचे विस्तृत रूप में (रूपी) वस्तु जानी जाती है, वह 'अवधिज्ञान' होता है।

० (अथवा) 'अव' मर्यादया एतावत्क्षेत्रं पश्यन् एतावन्ति द्रव्याणि, एतावन्तं कालं पश्यति इत्यादिपरस्परनियमितक्षेत्रादिलक्षणया धीयते परिच्छेद्यते रूपि वस्तु तेन इत्यवधिः।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 82)

(अथवा) अव = मर्यादित रूप में, जैसे – इतने (सीमित) क्षेत्र में, इतने द्रव्यों को, इतने कालपर्यन्त, इत्यादिरूप में, नियत क्षेत्र आदि रूप में रूपी वस्तु जिसके द्वारा जानी जाती है, वह 'अवधिज्ञान' है।

० (अथवा) अवशब्दस्यार्थद्वयं तथैवाऽवधीयते जीवेन तस्मिन् सति वस्त्वित्यवधिः, अथवाऽवधानमवधिः साक्षादर्थपरिच्छेदनमित्यर्थः, अथवाऽवधीयते तस्माज्जीवेन साक्षाद् वस्त्वित्यवधिः।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 82)

(अथवा) 'अव' (अव्यय) पद के दो अर्थ हैं– मर्यादित व नीचे नीचे विस्तृत। तदनुरूप, जिसके सद्भाव में जीव द्वारा वस्तु जानी जाती है, वह 'अवधि' ज्ञान होता है। अथवा –अवधान अर्थात् साक्षात् अर्थबोध ही 'अवधि' ज्ञान है। अथवा जिसके द्वारा जीव वस्तु को साक्षात् जानता है, वह 'अवधिज्ञान' है।

० अवधिज्ञानावरणविलयविशेषसमुद्भवं भवगुणप्रत्ययं रूपिद्रव्यगोचरमवधिज्ञानम्।

(प्र.न.त. 2/21)

अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला, भवप्रत्यय तथा गुणप्रत्यय, रूपी द्रव्यों को जानने वाला ज्ञान 'अवधिज्ञान' कहलाता है।

० पुद्गलान् संसारिजीवान् अवधीकृत्य जानातीत्यवधिज्ञानम्।

(प्र.प्र. 1/7)

पुद्गल तथा संसारी जीवों को विशिष्ट अवधि (मर्यादा) तक जो जानता है, उसे 'अवधिज्ञान' कहते हैं।

० रूपिद्रव्यगोचरं, रूपिद्रव्याणि पृथिवीपाथःपावक-पवनान्धकारच्छायाप्रभृतीनि, तदालम्बनमवधिज्ञानम्।

(र.करा. 2/21)

रूपी द्रव्यों पदार्थों को जानने वाला अवधि-ज्ञान है। रूपी द्रव्य से तात्पर्य पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, अन्धकार और छाया से है। इनके अवलम्बन से जो ज्ञान होता है, उसे 'अवधि-ज्ञान' कहते हैं।

० स एवात्मा अवधिज्ञानावरणीयक्षयोपशमान्मूर्त्तं वस्तु यदेकदेशप्रत्यक्षेण सविकल्पं जानाति तदवधिज्ञानम्।

(बृ.द्र.सं.वृ. 5)

वह आत्मा अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम से मूर्त्त वस्तु को जो एकदेशप्रत्यक्ष द्वारा सविकल्प जानता है, वह 'अवधिज्ञान' है।

० आत्ममात्रापेक्षं रूपिद्रव्यगोचरमवधिः।

(जै.सि.दी. 2/14)

इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना केवल आत्मा के सहारे जो रूपी द्रव्यों को जानता है, उसे 'अवधिज्ञान' कहते हैं।

० रूपिद्रव्यसाक्षात्करणमवधिः।

(भि.न्या. 2/5)

रूपी द्रव्य का साक्षात् करने वाला ज्ञान 'अवधिज्ञान' है।

अवधिज्ञान के भेद

० छव्विहे ओहिणाणे पणणत्ते, तं जहा– आणुगामिए, अणाणुगामिए, वड्ढमाणए, हायमाणए, पडिवाती, अपडिवाती।

(ठा.सू. 6/99)

अवधिज्ञान के छह प्रकार हैं–

(1) आनुगामिक, (2) अनानुगामिक,
(3) वर्धमान, (4) हीयमान,
(5) प्रतिपाती (6) अप्रतिपाती।

० कतिविहा णं भंते! ओही पण्णत्ता ? गोयमा! दुविहा ओही पण्णत्ता। तं जहा–भवपच्चइया य खओवसमिया य।

(प्र.सू. 33/1982)

भगवन्! अवधिज्ञान कितने प्रकार का कहा गया है? गौतम। अवधिज्ञान दो प्रकार का कहा गया है। यथा–भवप्रत्यधिक और क्षायोपशमिक।

० पुनरपरेऽवधेस्त्रयो भेदाः–देशावधिः परमावधिः सर्वावधिश्चेति।

(रा.वा. 1/22/4)

देशावधि, परमावधि, और सर्वावधि के भेद से अवधिज्ञान तीन प्रकार का है।

० भवगुणपच्चयविहियं जमोहिणाणेत्ति णं बेंति।

(गो.सा.जी. 370)

भवप्रत्यय व गुणप्रत्यय–ये अवधिज्ञान के दो भेद हैं।

अवधिदर्शन

० "परमाणुआदियाइं अंतिमखंधं ति मुत्तदव्वाइं। तं ओहिदंसणं पुण जं पस्सदि ताणि पच्चक्खं।।"

.....परमाणुआदियाइं परमाण्वादिकानि अंतिमखंधं ति आ पश्चिमस्कन्धादिति मुत्तिदव्वाइं मूर्तिद्रव्याणि जं यस्मात् पस्सदि पश्यति जानीते ताणि तानि पच्चक्खं साक्षात् तं तत् ओहिदंसणं अवधि-दर्शनमिति द्रष्टव्यम्। परमाणुमादिं कादूण जाव पच्छिमखंधो णाणुप्पत्तिणिमित्तो तं ओहिदंसणमिदि घेत्तव्वं, अण्णहा णाण–दंसणाणं भेदाभावादो।

(ध. 7, पृ. 100–102)

परमाणु से लेकर अन्तिम स्कन्ध तक जितने मूर्त द्रव्य हैं, उन्हें जो प्रत्यक्ष देखता है, वह अवधिदर्शन है।.....(इसका तात्पर्य यह है कि) परमाणु से लेकर अन्तिम स्कन्ध पर्यन्त जो पुद्गल द्रव्य स्थित हैं, उनके प्रत्यक्ष ज्ञान से पूर्व ही जो अवधिज्ञान की उत्पत्ति में निमित्तभूत स्वशक्ति विषयक उपयोग है, वही अवधिदर्शन है –ऐसा ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा ज्ञान व दर्शन में भेद ही नहीं रहेगा।

० यत्तदावरणक्षयोपशमादेव मूर्तद्रव्यं विकलं सामान्येनावबुध्यते तदवधिदर्शनम्।

(पंचा.त.प्र. 42)

जो अवधि दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से किंचिन्मूर्तिक द्रव्यों को प्रत्यक्ष देखे, वह 'अवधिदर्शन' है।

० परमाणु आदियाइं अंतिमखंधंति मुत्तिदव्वाइं। तं ओहिदंसण पुण जं पस्सइ ताइ पच्चक्खं।।

(गो.सा.जी. 485)

परमाणु से लेकर महास्कन्ध पर्यन्त सब मूर्तिक द्रव्यों को जो प्रत्यक्ष देखता है, वह 'अवधिदर्शन' है।

० स एवात्मा यदवधिदर्शनावरणक्षयोपशमान्मूर्त्त-वस्तुगतसत्तासामान्यं निर्विकल्परूपेणै एकदेश-प्रत्यक्षेण यत्पश्यति तदवधिदर्शनम्।

(बृ.द्र.सं.वृ. 4)

वही आत्मा जो अवधिदर्शनावरण के क्षयोपशम से मूर्त्तवस्तु में प्राप्त सत्ता सामान्य को एकदेशप्रत्यक्ष से विकल्परहित देखता है, वह 'अवधिदर्शन' है।

अवर्ण्यसमा जाति (दूषणाभास,जात्युत्तर के भेद)

० दृष्टान्तवत् साध्यस्याप्यहेतुसाध्यत्वं स्यादित्युक्ते अवर्ण्यसमा जातिः।

(प्र.प्र. 1/52)

जिस प्रकार दृष्टान्त हेतु से सिद्ध नहीं किया जाता, उसी प्रकार साध्य को भी हेतु के बिना ही सिद्ध मानना चाहिए, ऐसा कहना 'अवर्ण्यसमा' जाति है।

(द्रष्टव्यः वर्ण्यसमा)

अवलम्बना

० अवलम्बते इन्द्रियादीनि स्वोत्पत्तये इत्यवग्रहः अवलम्बना।

(ध. 13, पृ. 242)

अपनी उत्पत्ति के लिए इन्द्रियादि का अवलम्बन लेता है, 'अवग्रह' को 'अवलम्बना' कहते हैं।

(द्रष्टव्य : अवग्रह)

अवस्तु

० अवक्तव्यचतुष्कोटिविकल्पोऽपि न कथ्यताम्। असर्वान्तमवस्तु स्यादविशेष्यविशेषणम्।।

(आ.मी. 46)

चतुष्कोटिविकल्प अवक्तव्य है' यह भी नहीं कहना चाहिए। जो सर्वविकल्पातीत है, वह असर्वान्त है, और जो असर्वान्त है, वह 'अवस्तु' है, क्योंकि उसके विशेष्य-विशेषण भाव नहीं बनता।

० अवस्तु अन्यतमं भवेत्।

(आ.मी. 105)

जो 'केवल ज्ञान' या स्याद्वाद का विषय नहीं बनता, वह 'अवस्तु' है।
(द्रष्टव्य : वस्तु)

अवाच्य

० वागविषयमवाच्यम्।

(जै.सि.दी. 9/36)

जो न कहा जा सके उसे 'अवाच्य' कहते हैं।

अवान्तर सत्ता

० प्रतिनियतवस्तुवर्तिनी स्वरूपास्तित्वसूचिका अवान्तरसत्ता।.....एकस्य वस्तुनः स्वरूपसत्ता नान्यस्य वस्तुनः स्वरूपसत्ता भवतिइत्य-नेकत्वमेकस्याः।

(पंचा.त.प्र. 8)

प्रत्येक वस्तु में रहने वाली स्वरूप-अस्तित्व को सूचित करने वाली सत्ता 'अवान्तर सत्ता' होती है।.....एक वस्तु की स्वरूपसत्ता (अवान्तर सत्ता) अन्य वस्तु की स्वरूप सत्ता नहीं है (अर्थात् भिन्न है), इसलिए वह एक होने पर भी 'अनेक' है।

० अपि चावान्तरसत्ता सद्द्रव्यं सन् गुणश्च पर्यायः। संश्चोत्पादध्वंसौ सदिति ध्रौव्यं किलेति विस्तारः।।

(पं. 1/266)

द्रव्य है, गुण है, पर्याय है, उत्पाद है, व्यय है, ध्रौव्य है –इस प्रकार जितना भी विस्तार है, वह 'अवान्तर सत्ता' कहलाता है।
(द्रष्टव्य : महासत्ता)

अवाय

० विशेषनिर्ज्ञानाद्याथात्म्यावगमनमवायः।

(स.सि. 1/15/190)

विशेष के निर्णय द्वारा जो यथार्थ ज्ञान होता है, उसे 'अवाय' कहते हैं।

० ववसायं च अवायं।

(विशे.भा. 179)

निर्णय 'अवाय' है।

० तस्सावगमोऽवाओ।

(विशे.भा. 180)

उसी (ईहित पदार्थ) का (निश्चयात्मक) अवगम 'अवाय' है।

० महुराइगुणत्तणओ, संखस्सेव त्ति जं न सिंगस्स।
विण्णाणं सोऽवाओ, अणुगम-वइरेगभावाओ।।

(विशे.भा. 290)

मधुरता आदि गुणों के कारण, यह शंख का ही शब्द है, शृंगी वाद्य का नहीं– इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक निश्चय के आधार पर जो विशेष ज्ञान होता है, वह 'अपाय' (अवाय) है।

० सव्वहा ईहाए अवणयणं कातुं अवधारणा वधारितत्थस्स अवधारयतो अवातो त्ति भण्णई।

(न.चू. 52, पृ. 36)

ईहा के द्वारा सर्वथा अवनयन (निर्णय) की ओर बढ़ते हुए (सन्देह का) अवनयन करने के लिए जो निर्णय के साथ अवधारित (निर्णीत) पदार्थ की अवधारणा होती है, वह 'अवाय' कही जाती है।

० भाषादिविशेषनिर्ज्ञानात्तस्य याथात्म्येनाव-गमनमवायः।.....किमयम् अपाय उत अवाय इति। उभयथा न दोषः। अन्यतरवचने अन्य-तरस्य अर्थगृहीतत्वात्। यथा 'न दाक्षिणात्योऽयम्' इत्यपायं त्यागं करोति, तदा 'औदीच्यः' इत्य-वायोऽधिगमोऽर्थगृहीतः। यदा च 'औदीच्यः' इत्यवायं करोति, तदा 'न दाक्षिणात्योऽयम्' इत्यपायोऽर्थगृहीतः।

(रा.वा. 1/15/3, 13)

भाषा आदि विशेष के ज्ञान से (वस्तु को) यथार्थ रूप में जानना–इसका नाम 'अवाय' है।

.....इसे अपाय कहें या अवाय? (उत्तर) दोनों ही कहना ठीक है। क्योंकि एक के कथन में दूसरे का ग्रहण स्वतः हो जाता है। जैसे जब 'यह दक्षिणवासी नहीं है'–ऐसा अपाय या त्याग करता है, तब 'यह उत्तरवासी है'–यह अवाय या निश्चय ही हो जाता है। इसी तरह, 'यह उत्तरवासी है' यह अवाय या निश्चय हो जाने पर 'यह दक्षिणवासी नहीं है' यह अपाय या त्याग हो ही जाता है।

० अवायो निश्चयः।

(लघी. 1/5)

अवाय ज्ञान से तात्पर्य 'निश्चय ज्ञान' से है।

० ईहितविशेषनिर्णयोऽवायः।

(लघी.वि. 1/5; प्र.न.त. 2/9; प्र.मी. 1/1/28)

ईहा के द्वारा जाने गये पदार्थ का विशेष रूप से निर्णय करना 'अवाय' है।

० तस्यैव (ईहागृहीतार्थस्यैव) निर्णयोऽवायः।

(तत्त्व.श्लो. 1/15/4)

आकांक्षा ज्ञान (ईहा) द्वारा जाने गये उसी अर्थ का दृढ़ निर्णय कर लेना 'अवायज्ञान' होता है।

० भवितव्यताप्रत्ययरूपा ईहितविशेषनिश्चयोऽवायः।

(प्र.प. 95, पृ. 39)

ईहा द्वारा गृहीत पदार्थ के विषय में 'यह ऐसा होना चाहिए'–इस प्रकार उसके विशेष का निश्चय 'अवाय' है।

० ईहितस्यार्थस्य संदेहापोहनमवायः।

(ध. 6, पृ. 17)

ईहा से जाने गये पदार्थ के विषय में संदेह का दूर हो जाना 'अवाय' है।

० अवाओ पुण ईहाणंतरकालभावी उप्पण्ण-संदेहाभावरूवो, तेण ण दोण्हमेयत्तं।

(ध. 6, पृ. 18)

ईहा के अनन्तर काल में उत्पन्न होने वाले संदेह के अभावरूप 'अवाय' ज्ञान होता है, इसलिये अवग्रह और अवाय इन दोनों ज्ञानों में एकता नहीं है।

० ईहितस्यार्थस्य विशेषविज्ञानात् याथात्म्याव-गमनमवायः।

(ध. 9, पृ. 144)

ईहा से गृहीत पदार्थ का भाषा आदि विशेषों के ज्ञान से जो यथार्थ स्वरूप से ज्ञान होता है, वह 'अवाय' है।

० स्वगतलिंगविज्ञानात् संशयनिराकरणद्वारेणोत्पन्न-निर्णयोऽवायः। यथा उत्पतनपक्षविक्षेपादिभिर्बलाका-पंक्तिरेवेयं न पताकेति, वचनश्रवणतो दाक्षिणात्य एवायं नोदीच्य इति वा।

(ध. 13, पृ. 218)

स्वगत लिंग का ठीक तरह से ज्ञान हो जाने के कारण संशय ज्ञान के निराकरण द्वारा उत्पन्न हुआ निर्णयात्मक ज्ञान 'अवाय' है। यथा—ऊपर उड़ना व पंखों को हिलाना-डुलाना आदि चिन्हों के द्वारा यह जान लेना कि यह बलाकापंक्ति ही है, पताका नहीं है। या वचनों के सुनने से ऐसा जान लेना कि यह पुरुष दाक्षिणात्य ही है, उदीच्य नहीं है; यह 'अवाय' ज्ञान है।

० अवेयते निश्चीयते मीमांसितोऽर्थोऽनेनेत्यवायः।

(ध. 13, पृ. 243)

जिसके द्वारा मीमांसित अर्थ 'अवेयते' अर्थात् निश्चित किया जाता है, वह 'अवाय' है।

० ईहादो उवरिमं णाणं विचारफलप्पयमवाओ।

(ज.ध. 1, पृ. 307)

ईहा के अनन्तर ईहारूप विचार के फलस्वरूप जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे 'अवाय' कहते हैं।

० ईहणकरणेण जदा सुणिण्णओ होदि सो अवाओ दु।

(गो.सा.जी. 308)

ईहा के द्वारा जो निश्चित ज्ञान होता है, उसे 'अवाय' कहते हैं।

० तस्यैवेहयेहितस्य वस्तुनस्तदनन्तरमवगमन-मवगमः स्थाणुरेखाऽयमित्यादिरूपो निश्चयोऽवा-योऽपायो वेति।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 180)

ईहा से ईहित (विचारित) पदार्थ का अवगमन या निर्णय होना जैसे यह वृक्ष ही है—इत्यादि रूप निश्चय हो जाना—यह 'अवाय' या 'अपाय' है।

० ईहितार्थे निर्णयः अवायः।

(प्र.प्र. 1/6)

ईहा से जाने हुए पदार्थ के बारे में निश्चय होना, यह 'अवाय' ज्ञान है।

० ईहितस्येहया विषयीकृतस्य विशेषस्य कर्णाटलाटा-देर्निर्णयो याथात्म्येनाऽवधारणमवायः।

(र.करा. 2/9)

ईहा द्वारा निर्णीत विषय में यह कर्णाटक का या 'लाट' देशीय होना चाहिए, इस प्रकार के निर्णय रूप ज्ञान को 'अवाय' ज्ञान कहते हैं।

० भाषादिविशेषनिर्ज्ञानाद्याथात्म्यावगमनमवायः।

(न्या.दी. 2/11)

भाषा, वेष और भूषा आदि विशेष को जानकर यथार्थता का निश्चय कराना 'अवाय' है।

० तदनन्तरं तदीहितविशेषनिर्णयोऽवायः।

(समु.टी. 55/314)

ईहा के द्वारा सम्भावित विशेष का यथार्थ निर्णय 'अवाय' कहलाता है।

० अमुक एवेत्यवायः।।

(भि.न्या. 2/12)

'अमुक ही है' ऐसे निर्णयात्मक ज्ञान को 'अवाय' कहते हैं।

अवाय के पर्याय

० तस्स णं इमे इगट्ठिया नाणाघोसा नाणावंजणा पंच नामधिज्जा भवंति। तं जहा–1. आवट्टणया, 2. पच्चावट्टणिया, 3. अवाए, 4. बुद्धी, 4. विण्णाणे।

(नन्दी. 3/47)

उस (अवाय) के नानाघोष और नाना व्यंजन वाले पांच पर्यायवाची नाम हैं–1. आवर्तनता, 2. प्रत्यावर्तनता, 3. अवाय (अपाय), 4. बुद्धि और 5. विज्ञान।

० अवायो, ववसायो, बुद्धी, विण्णाणि, आउंडी, पच्चाउंडी।

(षट्खं. 5,5,39; ध. 13, पृ. 243)

व्यवसाय, बुद्धि, विज्ञानी, आमुंडा और प्रत्यामुंडा– ये अवाय के पर्यायवाची नाम हैं।

० ववसायं च अवायं।

(आ.नि. 3; विशे.भा. 178)

व्यवसाय और अवाय –ये दोनों पर्यायवाची हैं।

० किमयम्-अपायः उत अवायः इति। उभयथा न दोषः। अन्यतरवचने अन्यतरस्य अर्थगृहीतत्वात्।

(रा.वा. 1/5/13)

अवाय नाम उचित है या अपाय? (उत्तर) दोनों ही निर्दोष हैं। एक के कथन से दूसरे का ग्रहण स्वतः हो जाता है।

० अवायः अपायो वा।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 180)

अवाय या अपाय (एकार्थक हैं)।

अवाय के भेद

० अवाए छव्विहे पण्णत्ते। तं–जहा,

1. सोइंदियअवाए, 2. चक्खिंदयअवाए,
3. घाणिंदियअवाए, 4. जिब्भिंदियअवाए,
5. फासिंदियअवाए, 6. नोइंदियअवाए।

(नन्दी. 3/46)

अवाय छह प्रकार का है। जैसे–श्रोत्रेन्द्रिय अवाय, चक्षुरिन्द्रिय अवाय, घ्राणेन्द्रिय अवाय, रसनेन्द्रिय अवाय, स्पर्शेन्द्रिय अवाय, नोइन्द्रिय अवाय।

अविज्ञातार्थक निग्रहस्थान

० यत् साधनवाक्यं दूषणवाक्यं वा त्रिरभिहितमपि परिषत्प्रतिवादिभ्यां बोद्धुं न शक्यते तत् अविज्ञातार्थं नाम निग्रहस्थानं भवति।

(प्र.मी. 2/1/34)

जो साधन वाक्य या दूषणवाक्य तीन बार बोलने पर परिषद् और प्रतिवादी की समझ में न आवे, वह 'अविज्ञातार्थक' नामक निग्रहस्थान कहलाता है।

० वादिना त्रिरुपन्यस्तमपि परिषत्-प्रतिवादिभिः अविज्ञायमानम् अविज्ञातार्थकम् नाम निग्रहस्थानं वादिनः।

(प्र.प्र. 1/78)

वादी के तीन बार कहने पर भी जिसको सभा तथा प्रतिवादी न समझ सकें, उसे वादी के लिये 'अविज्ञातार्थक' नाम का निग्रहस्थान है।

अविनाभाव

० सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः।। सहचारिणोः व्याप्य-व्यापकयोश्च सहभावः।। पूर्वोतरचारिणोः कार्य-कारणयोश्च क्रमभावः।। (तर्कात्तन्निर्णयः।।)

(प.मु. 3/12–14)

साध्य व साधन के एक साथ एक समय होने के नियम को 'सहभावनियम अविनाभाव' कहते हैं और काल के भेद से साध्य व साधन के क्रम का जो नियम है, उसे 'क्रमभाव नियम' कहते हैं।। सदा साथ रहने वालों, तथा व्याप्य व व्यापक में जो अविनाभाव सम्बन्ध होता है, उसे सहभाव नियम 'अविनाभाव सम्बन्ध' कहा जाता है।। पूर्वचर व उत्तरचर में, तथा कार्य व कारण में जो अविनाभाव सम्बन्ध होता है, वह क्रमभावनियम 'अविनाभाव सम्बन्ध' कहा जाता है।। (उस अविनाभाव सम्बन्ध रूप व्याप्ति का निर्णय 'तर्क' (ऊह) से होता है।)

० सहक्रमभाविनोः
सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः।

(प्र.मी. 1/2/10)

सहभावियों का सहभावनियम और क्रमभावियों का क्रमभावनियम 'अविनाभाव' कहलाता है।

अविनाभाव के पर्याय

० व्याप्ति-सम्बन्धप्रतिबन्धादयः अस्य पर्यायाः।

(भि.न्या. 3/11)

व्याप्ति, सम्बन्ध, प्रतिबन्ध आदि अविनाभाव के पर्यायवाची नाम हैं।

अविरुद्धउत्तरचरानुपलब्धि (हेतु)

० उत्तरचरानुपलब्धिर्यथा नोदगमत् पूर्वभद्रपदा मुहूर्त्तात्पूर्वं, उत्तरभद्रपदोद्गमानवलोकनात्।।

(प्र.न.त. 3/101)

एक मुहूर्त्त पहले पूर्वभद्रपदा का उदय नहीं हुआ, क्योंकि अभी उत्तरभद्रपदा का उदय नहीं है। अतः यहाँ 'अविरुद्ध उत्तरचरानुपलब्धि' है।

अविरुद्ध उत्तरचरोपलब्धि (हेतु)

० उदगुर्मुहूर्त्तात्पूर्वं पूर्वफल्गुन्यः, उत्तरफल्गुनीनामुद्ग-मोपलब्धेः, इति उत्तरचरस्य।।

(प्र.न.त. 3/81)

एक मुहूर्त्त पहले पूर्वफल्गुनी का उदय हो चुका है, क्योंकि अब उत्तरफल्गुनी का उदय है, यह 'अविरुद्ध उत्तरचरोपलब्धि' (हेतु का उदाहरण) है।

अविरुद्ध कार्यानुपलब्धि (हेतु)

० कार्यानुपलब्धिर्यथा– नास्त्यत्राप्रतिहतशक्तिकं बीजमङ्कुरानवलोकनात्।

(प्र.न.त. 3/98)

अप्रतिहत शक्ति वाला बीज नहीं है, क्योंकि अंकुर नहीं दिखाई देता। अविरुद्ध कार्य अंकुर की अनुपलब्धि होने से यह 'अविरुद्ध कार्यानुपलब्धि' (हेतु का उदाहरण) है।

अविरुद्ध कार्योपलब्धि (हेतु)

० अस्त्यत्र गिरिनिकुंजे धनञ्जयो, धूमसमुप-लम्भात्, इति कार्यस्य।।

(प्र.न.त. 3/78)

इस गिरिनिकुंज में अग्नि है, क्योंकि धूम है–यह 'अविरुद्ध कार्योपलब्धि' (हेतु का उदाहरण) है।

अविरुद्धकारणानुपलब्धि (हेतु)

० कारणानुपलब्धिर्यथा न सन्त्यस्य प्रशमप्रभृतयो भावास्तत्त्वार्थश्रद्धानाभावात्।

(प्र.न.त. 3/99)

इस पुरुष में प्रशम, (संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य) आदि भाव नहीं हैं, क्योंकि तत्त्वार्थश्रद्धान का अभाव है—यह कारणानुपलब्धि (हेतु का उदाहरण) है।

अविरुद्धकारणोपलब्धि (हेतु)

० भविष्यति वर्ष, तथाविधवारिवाहविलोकनात्, इति कारणस्य।।

(प्र.न.त. 3/79)

वर्षा होगी, क्योंकि विशिष्ट (वर्षा के अनुकूल) मेघ दिखाई देते हैं; यह 'अविरुद्ध कारणोपलब्धि' (हेतु का उदाहरण) है।

अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धि (हेतु)

० पूर्वचरानुपलब्धिर्यथा—नोद्गमिष्यति मुहूर्त्तान्ते स्वातिनक्षत्रं, चित्रोदयादर्शनात्।

(प्र.न.त. 3/100)

एक मुहूर्त्त के पश्चात् स्वाति नक्षत्र का उदय नहीं होगा, क्योंकि अभी चित्रा नक्षत्र का उदय नहीं है। यहाँ स्वाति का उदय प्रतिषेध्य है, उससे अविरुद्ध पूर्वचर चित्रा नक्षत्र के उदय की अनुपलब्धि होने से —यह 'अविरुद्ध पूर्वचरानुपलब्धि' (हेतु का उदाहरण) है।

अविरुद्धपूर्वचरोपलब्धि (हेतु)

० उदेष्यति मुहूर्त्तान्ते तिष्यतारकाः पुनर्वसूदयात्, इति पूर्वचरस्य।

(प्र.न.त. 3/80)

एक मुहूर्त्त के पश्चात् पुष्य नक्षत्र का उदय होगा, क्योंकि इस समय पुनर्वसु नक्षत्र का उदय है; यह 'अविरुद्धपूर्वचरोपलब्धि' (हेतु का उदाहरण) है।

अविरुद्धव्यापकानुपलब्धि (हेतु)

० विरुद्धव्यापकानुपलब्धिर्यथा-नास्त्यत्र प्रदेशे पनसः पादपानुपलब्धेः।

(प्र.न.त. 3/97)

इस जगह पनस नहीं है, क्योंकि वृक्ष नहीं है। अतः यह 'अविरुद्ध व्यापकानुपलब्धि' (हेतु का उदाहरण) है।

अविरुद्धसहचरानुपलब्धि (हेतु)

० सहचरानुपलब्धिर्यथा, नास्त्यस्य सम्यग्ज्ञानं, सम्यग्दर्शनानुपलब्धेः।।

(प्र.न.त. 3/102)

इस पुरुष में सम्यग्ज्ञान नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन की अनुपलब्धि है। अनुपलब्धि होने से यह 'अविरुद्ध सहचरानुपलब्धि' का उदाहरण (हेतु का उदाहरण) है।

अविरुद्धस्वभावानुपलब्धि (हेतु)

० स्वभावानुपलब्धिर्यथा-नास्त्यत्र भूतले कुम्भः, उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य तत्स्वभावस्यानुपलम्भात्।।

(प्र.न.त. 3/96)

इस भूतल पर कुम्भ नहीं है, क्योंकि वह उपलब्ध होने योग्य होने पर भी उपलब्ध नहीं हो रहा है—यह 'अविरुद्ध स्वभावानुपलब्धि' (हेतु का उदाहरण) है।

अविशेषसमा जाति (दूषणाभास, जात्युत्तर के भेद)

० अविशेषापादनेन प्रत्यवस्थानमविशेषसमा जातिः। यथा यदि शब्दघटयोरेको धर्मः कृतकत्व-मिष्यते तर्हि समानधर्मयोगात्तयोरविशेषे तद्वदेव सर्वपदार्थानामविशेषः प्रसज्ज्यत इति।

(प्र.मी. 2/1/29)

विशेषता का अभाव कहकर खण्डन करना। जैसे–यदि शब्द और घट का एक ही धर्म कृतकत्व मानते हो तो समान धर्म होने से दोनों में कोई विशेषता नहीं होगी और जैसे इन दोनों में कोई विशेषता नहीं है, वैसे सभी पदार्थों में विशेषता का अभाव हो जायेगा।

० एतद्धर्माविशेषेण प्रतिकूलप्रसंगः अविशेषसमा जातिः।

(प्र.प्र. 1/64)

उसी गुणधर्म की समानता बतलाकर विरोध का प्रसंग व्यक्त करना यह 'अविशेषसमा' जाति है।

अविसंवाद

० तत्त्वप्रतिपादनम् अविसंवादः।

(अष्टस. 78, पृ. 236)

अविसंवाद यानी तत्त्व–प्रतिपादन।

अविसंवादी ज्ञान

० (द्रष्टव्य : प्रमाण)

अवैशद्यम्

० अस्मात् (वैशद्यात्) परम् अन्यथाभूतं यद् विशेषाऽप्रतिभासनं तद् बुद्धेः अवैशद्यम्।

(न्या.कु. 1/4)

विशदता से विपरीत जो विशेष का प्रतिभासन नहीं करती, वह अविशदता है।

अव्यतिरेक दृष्टान्ताभास

० न वीतरागः कश्चित् विवक्षितः पुरुषो वक्तृत्वात्, यः, पुनर्वीतरागो न स वक्ता, यथोपलखण्ड इत्यव्यतिरेकः।।

(प्र.न.त. 6/77)

कोई विवक्षित पुरुष वीतराग नहीं है क्योंकि वह वक्ता है; जो वीतराग होता है वह वक्ता नहीं होता, जैसे 'पत्थर का टुकड़ा'–यह दृष्टान्त 'अव्यतिरेक दृष्टान्ताभास' है।

अव्याप्त (लक्षणदोष)

० तत्र लक्ष्यैकदेशवृत्त्यव्याप्तम्, यथा गोः शाबलेयत्वम्।

(न्या.दी. 1/5)

लक्ष्य के एकदेश में ही लक्षण के रहने को 'अव्याप्त' (लक्षणाभास या लक्षण-दोष) कहते हैं। जैसे गाय का शाबलेयत्व (लक्षण)। (द्रष्टव्य : लक्षणाभास)

० लक्ष्यैकदेशवृत्तिरव्याप्तः।

(भि.न्या. 1/7)

जो लक्षण लक्ष्य के एकदेश में मिलता है, वह 'अव्याप्त लक्षणाभास' है।

अव्युत्पन्न

० अव्युत्पन्नं तु नामजातिसंख्यादिविशेषाप-रिज्ञानेनानिनिर्णीतविषयानर्ध्यवसायग्राह्यम्।

(प्र.र.मा. 3/17)

नाम, जाति, संख्या आदि का विशेष परिज्ञान

न होने से अनिर्णीत विषय वाले अनध्यवसाय ज्ञान से ग्राह्य पदार्थ को 'अव्युत्पन्न' कहते हैं।

अशुद्धद्रव्यार्थिक नय

० शेषद्वय्याद्यनन्तविकल्पसंग्रहप्रस्तारावलम्बनः पर्याय-कलङ्काङ्कितताया अशुद्धद्रव्यार्थिकः व्यवहारनयः।

(ध. 9, पृ. 171)

शेष दो आदि अनन्त विकल्प रूप संग्रह प्रस्तार का अवलम्बन करने वाला व्यवहार नय पर्याय रूप कलंक से युक्त होने से 'अशुद्धद्रव्यार्थिक' नय है।

० कर्मोपाधिसापेक्षाऽशुद्धद्रव्यार्थिको यथा क्रोधादिकर्मजभाव आत्मा।

(आ.प. 50)

कर्मोपाधि की अपेक्षा सहित अशुद्ध जीव द्रव्य अशुद्धद्रव्यार्थिकनय का विषय है, जैसे कर्मजनित क्रोधादिभावरूप आत्मा है।

० उत्पादव्ययसापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिकः यथैकस्मिन् समये द्रव्यमुत्पादव्ययध्रौव्यात्मकम्।

(आ.प. 51)

उत्पाद व व्यय की अपेक्षा सहित द्रव्य अशुद्ध-द्रव्यार्थिक नय का विषय है, जैसे–एक ही समय में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक द्रव्य है।

० भेदकल्पनासापेक्षाऽशुद्धद्रव्यार्थिकः यथात्मनो दर्शनज्ञानादयो गुणाः।

(आ.प. 52)

भेदकल्पनासापेक्ष द्रव्य अशुद्ध-द्रव्यार्थिक नय का विषय है, यथा आत्मा के ज्ञान-दर्शनादि गुण।

० अशुद्धद्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति अशुद्धद्रव्यार्थिकः।

(आ.प. 186)

अशुद्धद्रव्य जिसका प्रयोजन है, वह 'अशुद्ध-द्रव्यार्थिक नय' है।

अशुद्धद्रव्यार्थिक नय के भेद

० कर्मोपाधिसापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिको यथा क्रोधादि-कर्मजभाव आत्मा। (50)

उत्पाददव्ययसापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिको यथैकस्मिन् समये द्रव्यमुत्पादव्ययध्रौव्यात्मकम्। (51)

भेदकल्पनासापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिको यथात्मनो दर्शनज्ञानादयो गुणाः। (52)

(आ.प. 50–52)

कर्मोपाधि की अपेक्षा सहित अशुद्ध जीव द्रव्य 'अशुद्ध द्रव्यार्थिक' नय का विषय है, जैसे–कर्मजनित क्रोधादिभावरूप आत्मा है। (50)

उत्पाद-व्यय की अपेक्षा सहित द्रव्य 'अशुद्ध द्रव्यार्थिक' नय का विषय है, जैसे–एक ही समय में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक द्रव्य है। (51)

भेदकल्पनासापेक्ष द्रव्य अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय है, जैसे, आत्मा के ज्ञान-दर्शनादि गुण हैं। (52)

अशुद्धनिश्चय नय (अध्यात्म नय)

० सोपाधिकविषयोऽशुद्धनिश्चयो यथा मति-ज्ञानादयो जीव इति।

(आ.प. 219)

जो नय कर्मजनित विकार सहित गुण और गुणी को अभेद रूप से ग्रहण करता है वह 'अशुद्धनिश्चय नय' होता है, जैसे –मतिज्ञानादि स्वरूप जीव है।

अशुद्ध पर्यायार्थिक नय

० अशुद्धपर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येत्यशुद्धपर्यायार्थिकः।

(आ.प. 195)

अशुद्धपर्याय जिसका प्रयोजन है, वह 'अशुद्ध पर्यायार्थिक नय' होता है।

अशुद्धसद्भूतव्यवहार नय

० अशुद्धसद्भूतव्यवहारो यथाऽशुद्धगुणाशुद्ध गुणिनोरशुद्धपर्यायाशुद्धपर्यायिणोर्भेदकथनम्।

(आ.प. 83)

अशुद्धगुण और अशुद्ध गुणी में तथा अशुद्धपर्याय और अशुद्ध पर्यायी में जो नय भेद का कथन करता है, वह 'अशुद्धसद्भूत-व्यवहार' नय है।

असत्प्रतिपक्षत्व (हेतु लक्षण)

० तादृशसमबलप्रमाणशून्यत्वमसत्प्रतिपक्षत्वम्।

(न्या.दी. 3/39)

साध्य के अभाव का निश्चय कराने वाले समान बलयुक्त अन्य प्रमाण के अभाव को 'असत्प्रतिपक्षत्व' (हेतु-लक्षण) कहते हैं।

असद्भूतव्यवहार नय (अध्यात्म)

० *भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहारः।*

(आ.प. 222)

भिन्न वस्तुओं को विषय करने वाला असद्भूत-व्यवहार नय होता है।

असद्भूतव्यवहार नय (अध्यात्म) के भेद

० असद्भूतव्यवहारो द्विविधः, उपचरितानुपचरितभेदात्।

(आ.प. 226)

उपचरित और अनुपचरित के भेद से 'असद्भूत-व्यवहार' नय भी दो प्रकार का होता है।

असद्भूतव्यवहार (उपनय)

० भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहारः।।
असद्भूतव्यवहारो द्विविधः उपचरितानुपचरितभेदात्।।

(आ.प. 222–226)

भिन्न वस्तुओं को विषय करने वाला 'असद्भूतव्यवहार नय' है। उपचरित और अनुपचरित के भेद से असद्भूतव्यवहार नय भी दो प्रकार का कहा गया है।

० असद्भूतव्यवहारो द्रव्यादेरुपचारतः।
परपरिणतिश्लेषजन्यो भेदो (नयात्मकः)।।

(द्रव्य.तर्क. 7/4)

द्रव्यादि के उपचार से परवस्तु के परिणमन के संसर्ग से उत्पन्न नय असद्भूत व्यवहार है।

असद्भूतव्यवहार (उपनय) के भेद

० असद्भूतव्यवहारस्त्रेधा।

(आ.प. 84)

असद्भूत व्यवहार नय के तीन प्रकार हैं–
[1. स्वजात्यसद्भूतव्यवहारनय,
2. विजात्यसद्भूतव्यवहारनय,
3. स्वजातिविजातिअसद्भूतव्यवहार नय।]

० असद्भूतव्यवहारः ..... नवात्मकः।।
द्रव्ये द्रव्योपचारो हि यथा पुद्गलजीवयोः।
गुणे गुणोपचारश्च भावद्रव्याख्यलेश्ययोः।।
पर्याये किल पर्यायोपचारश्च यथा भवेत्।
स्कन्धा यथात्मद्रव्यस्य गजवाजिमुखाः समे।।
द्रव्ये गुणोपचारश्च गौरोऽहमिति द्रव्यके।
पर्यायस्योपचारश्च ह्यहं देहीति निर्णयः।।
गुणे द्रव्योपचारश्च पर्यायेऽपि तथैव च।

गौर आत्मा देहमात्मा दृष्टान्तौ हि क्रमात्तयोः।।
गुणे पर्यायचारश्च मतिज्ञानं यथा तनुः।
पर्याये गुणचारोऽपि शरीरं मतिरिष्यते।।

(द्रव्य.तर्क. 7/4–9)

असद्भूत व्यवहार (नय) को नौ (9) प्रकार का कहा गया है–पुद्गल में जीव का जो व्यवहार है; वह द्रव्य में द्रव्य का उपचार है; भावलेश्या में जो द्रव्यलेश्या का कथन है; वह गुण में गुण का उपचार है।

पर्याय में पर्याय का उपचार करना–यह असद्भूतव्यवहार का तृतीय भेद है; जैसे यह कहना कि आत्मद्रव्यपर्याय के तुल्य गज तथा अश्व आदि पर्यायस्कंध होते हैं। और 'मैं गौर हूं' यह कहना आत्मद्रव्य में गुण का उपचार है, तथा 'मैं देही हूँ' यह कहना आत्मद्रव्य में पर्याय का उपचार है।

गुण में द्रव्य का उपचार –यह छठा, और पर्याय में गुण का उपचार –यह सातवां असद्भूतव्यवहार उपनय का भेद है। "आत्मा गौर है" यह षष्ठ नय भेद का दृष्टान्त है और 'देह आत्मा है', यह सप्तम भेद का दृष्टान्त है।

गुण में पर्याय का उपचार है–जैसे 'मतिज्ञान शरीर है', तथा पर्याय में गुण का उपचार है, जैसे–'शरीर मतिज्ञान है।'

असमर्थ

० न तर्हि सामर्थ्यम्, अपरसहकारिसापेक्षवृत्तित्वात्। सापेक्षमसमर्थम्–इति न्यायात्।

(स्या.मं 5)

वहां उसकी असमर्थता ही सिद्ध होती है, क्योंकि वह दूसरों के सहयोग की अपेक्षा रखता है। 'जो सापेक्ष है (दूसरों के सहयोग की अपेक्षा रखता है), वह असमर्थ है'–यह न्याय (सिद्धान्त) है।

असम्भवी (लक्षणदोष)

० बाधितलक्ष्यवृत्त्यसम्भवि, यथा नरस्य विषाणित्वम्।

(न्या.दी. 1/5)

जिसकी लक्ष्य में वृत्ति बाधित हो अर्थात् जो लक्ष्य में बिल्कुल ही न रहे, वह असम्भवि (लक्षणाभास, लक्षणदोष) होता है। जैसे मनुष्य का लक्षण सींग। सींग किसी भी मनुष्य में नहीं पाया जाता।

० लक्ष्यमात्रावृत्तिरसंभवी।

(भि.न्या. 1/9)

जो लक्षण अपने लक्ष्य में अंशतः भी नहीं मिलता वह, 'असंभवी लक्षणाभास' (लक्षणदोष) होता है।

असिद्ध

० संशयादिव्यवच्छेदेन हि प्रतिन्नमर्थस्वरूपं सिद्धमुच्यते, तद्विपरीतमसिद्धम्।

(प्र.क.मा. 3/20)

संशय आदि का निराकरण कर जिसका स्वरूप स्वीकृत हो, ऐसा पदार्थ 'सिद्ध' कहा जाता है, उससे विपरीत 'असिद्ध' होता है।

असिद्ध–उभयव्यतिरेक दृष्टान्ताभास

० नित्यानित्यः शब्दः सत्त्वात्, यस्तु न नित्यानित्यः स न संस्तद्यथा स्तम्भः इत्यसिद्धोभयव्यतिरेकः स्तम्भान्नित्यानित्यत्वस्य सत्त्वस्य चाव्यावृत्तेः।

(प्र.न.त. 6/73)

शब्द नित्य-अनित्य रूप है क्योंकि सत् है, जो नित्य-अनित्य नहीं होता, वह सत् नहीं होता, जैसे स्तम्भ। यहाँ स्तम्भ दृष्टान्त 'असिद्ध-उभयव्यतिरेक दृष्टान्ताभास' है, क्योंकि स्तम्भ में नित्यानित्यता (साध्य) और सत्त्व (साधन) दोनों का अभाव नहीं है अर्थात् स्तम्भ नित्यानित्य भी है और सत् भी है।

असिद्धसाधनव्यतिरेक दृष्टान्ताभास

० निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं प्रमाणत्वात्, यत्तु सविकल्पकं न तत्प्रमाणं यथा लैंगिकमित्यसिद्धसाधनव्यतिरेको लैंगिकात् प्रमाणत्वस्यानिवृत्तेः।।

(प्र.न.त. 6/72)

प्रत्यक्ष निर्विकल्पक (अनिश्चयात्मक) है, क्योंकि वह प्रमाण है। जो निर्विकल्पक नहीं होता, वह प्रमाण नहीं होता, जैसे अनुमान। यहाँ 'अनुमान' दृष्टान्त 'असिद्धसाधनव्यतिरेक दृष्टान्ताभास' है क्योंकि उसमें 'प्रमाणत्व' हेतु का अभाव नहीं है—अर्थात् अनुमान प्रमाण है।

असिद्धसाध्यव्यतिरेक दृष्टान्ताभास

० तेषु भ्रान्तमनुमानं प्रमाणत्वात्, यत्पुनर्भ्रान्तं न भवति न तत् प्रमाणम्, यथा स्वप्नज्ञानमिति-असिद्धसाध्य व्यतिरेकः, स्वप्नज्ञानाद् भ्रान्तत्व-स्यानिवृत्तिः।

(प्र.न.त. 6/71)

अनुमान भ्रान्त है क्योंकि वह प्रमाण है, जो भ्रान्त नहीं होता वह प्रमाण भी नहीं होता, जैसे स्वप्नज्ञान। यहाँ 'स्वप्नज्ञान' यह उदाहरण 'असिद्धसाध्य व्यतिरेक दृष्टान्ताभास' है, क्योंकि स्वप्नज्ञान में भ्रान्तता (साध्य) का अभाव नहीं है।

सिद्ध हेत्वाभास

० असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः।

(प.मु. 6/22)

जिस हेतु की सत्ता का अभाव हो, अथवा जिसका निश्चय न हो, उसे 'असिद्ध हेत्वाभास' कहते हैं।

० यस्यान्यथानुपपत्तिः प्रमाणेन न प्रतीयते सोऽसिद्धः।।

(प्र.न.त. 6/48)

जिसकी व्याप्ति प्रमाण से निश्चित न हो, उसे 'असिद्ध हेत्वाभास' कहते हैं।

० नासन्ननिश्चितसत्त्वो वाऽन्यथानुपपन्न इति सत्त्वस्यासिद्धौ सन्देहे वाऽसिद्धः।

(प्र.मी. 2/1/17)

असत् और अनिश्चितसत्त्व हेतु अन्यथानुपपन्न नहीं होता, अतएव सत्ता की असिद्धि या सत्ता के सन्देह में वह 'असिद्ध हेत्वाभास' कहलाता है।

० अनिश्चितपक्षवृत्तिः हेतुरसिद्धः।

(प्र.प्र. 1/30)

जिस हेतु का पक्ष में अस्तित्व निश्चित नहीं हो, वह 'असिद्ध' होता है।

० अनिश्चितपक्षवृत्तिरसिद्धः, यथा—अनित्यः शब्द-श्चाक्षुषत्वात्।

(न्या.दी. 3/40)

पक्ष में जिसका रहना अनिश्चित हो, वह 'असिद्ध' हेत्वाभास है। जैसे—'शब्द अनित्य (नाशवान्) है, चाक्षुष होने से।

० तत्रानिश्चयपथप्राप्तोऽसिद्धः।

(न्या.दी. 3/60)

जिसकी साध्य के साथ व्याप्ति अनिश्चित है, वह 'असिद्ध' हेत्वाभास है।

० तत्राप्रतीयमानस्वरूपो हेतुरसिद्धः।

(जै.त.भा.प्र.परि., पृ. 50)

जिस हेतु का स्वरूप अप्रतीत हो, सिद्ध न हो, वह 'असिद्ध हेत्वाभास' कहलाता है।

० अप्रतीयमानस्वरूपोऽसिद्धः।

(भि.न्या. 3/17)

जिस हेतु का स्वरूप प्रतीत नहीं होता, उसे 'असिद्ध हेत्वाभास' कहा जाता है।

असिद्ध हेत्वाभास के भेद

० वादिप्रतिवाद्युभयभेदाच्च तद्भेदाः।।

(प्र.मी. 2/1/18, 49)

वादी, प्रतिवादी और उभय के भेद से असिद्ध हेत्वाभास भी तीन प्रकार का हो जाता है।

० तत्रासिद्धभेदाः। पक्षेऽविद्यमानो हेतुः स्वरूपासिद्धः, अनित्यः शब्दः चाक्षुषत्वात् प्रदीपवत्। भिन्नाधिकरणे प्रयुक्तो हेतुः व्यधिकरणासिद्धः, पर्वतोऽग्निमान्, महानसस्य धूमवत्त्वात् मठवत्। पक्षैकदेशे वर्तमानो हेतुः भागासिद्धः, अनित्यः शब्दः प्रयत्नजन्यत्वात् पटवत्। पक्षेऽविद्यमानविशेष्यो हेतुः विशेष्यासिद्धः, अनित्यः शब्दः सामान्यवत्त्वे सति चाक्षुषत्वात्। पक्षेऽविद्यमानविशेषणो हेतुः विशेषासिद्धः, अनित्यः शब्दः चाक्षुषत्वे सति सामान्यवत्त्वात्। पक्षे अज्ञातो हेतुः अज्ञातासिद्धः, रागादिरहितः कपिलः उत्पन्नतत्त्वज्ञानत्वात्। संदिग्धासिद्धश्चायमेव। पक्षे संदिग्धविशेष्यो हेतुः संदिग्धविशेष्यासिद्धः, कपिलो रागादिमान् पुरुषत्वे सति अनुत्पन्नतत्त्वज्ञानत्वात्। पक्षे संदिग्धविशेषणो हेतुः संदिग्धविशेषणासिद्धः, कपिलो रागादिमान् अनुत्पन्नतत्त्वज्ञानत्वे सति पुरुषत्वात्। निरर्थविशेष्यवान् हेतुः व्यर्थविशेष्यासिद्धः, अनित्यः शब्दः कृतकत्वे सति सामान्यवत्त्वात्। निष्प्रयोजनविशेषणवान् हेतुः व्यर्थविशेषणासिद्धः, अनित्यः शब्दः सामान्यवत्त्वे सति कृतकत्वात्। प्रमाणेनासिद्धे पक्षे प्रयुक्तो हेतु आश्रयासिद्धः, अस्ति प्रधानं विश्वपरिणामित्वात्।

(प्र.प्र. 1/31)

असिद्ध हेत्वाभास के (17) प्रकार हैं–

जो हेतु पक्ष में विद्यमान न हो वह 'स्वरूपासिद्ध' होता है, जैसे–शब्द अनित्य है क्योंकि वह चाक्षुष है प्रदीप की तरह। (पक्ष से) भिन्न स्थान में प्रयुक्त हेतु 'व्यधिकरणासिद्ध' होता है, जैसे–पर्वत अग्नि से युक्त है क्योंकि रसोईघर धुएं से युक्त है, जैसे मठ। पक्ष के एक हिस्से में जो विद्यमान हो (सर्वत्र न हो), उस हेतु को भागासिद्ध कहते हैं, यथा शब्द अनित्य है क्योंकि वह प्रयत्न से उत्पन्न होता है, जैसे वस्त्र। जिसका विशेष्य पक्ष में विद्यमान न हो वह हेतु 'विशेष्यासिद्ध' होता है, जैसे शब्द अनित्य है, क्योंकि वह सामान्ययुक्त होते हुए चाक्षुष होता है। जिस हेतु का विशेषण पक्ष में विद्यमान न हो, वह विशेषणासिद्ध होता है, यथा शब्द अनित्य है, क्योंकि वह चाक्षुष होते हुए सामान्ययुक्त है। पक्ष में जिस हेतु के अस्तित्व का ज्ञान न होता हो, वह 'अज्ञातासिद्ध' होता है, जैसे कपिल राग आदि

से रहित है, क्योंकि उन्हें तत्त्व ज्ञान उत्पन्न हुआ है। इसी को 'संदिग्धासिद्ध' भी कहते हैं। जिसका अस्तित्व विशेष्य में है या नहीं–इसमें संदेह हो वह हेतु 'संदिग्ध विशेष्यासिद्ध' होता है। जैसे–कपिल राग आदि से युक्त है क्योंकि पुरुष होते हुए उसे तत्त्वज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है। जिसके विशेषण का अस्तित्वं पक्ष में संदिग्ध हो, वह हेतु 'संदिग्धविशेषणासिद्ध' होता है। यथा–कपिल राग आदि से युक्त है क्योंकि तत्त्वज्ञान उत्पन्न न होते हुए वह पुरुष है। जिस हेतु में विशेष्य निरर्थक हो वह 'व्यर्थ विशेष्यासिद्ध' होता है, जैसे शब्द अनित्य है, क्योंकि वह कृतक होते हुए सामान्य से युक्त है। जिस हेतु का विशेषण निरुपयोगी हो वह 'व्यर्थविशेषणासिद्ध' होता है। जैसे शब्द अनित्य है, क्योंकि वह सामान्य युक्त होते हुए कृतक है। जो पक्ष प्रमाण से सिद्ध न हुआ हो, उसके विषय में प्रयुक्त हेतु 'आश्रयासिद्ध' होता है। जैसे–प्रधान (प्रकृति) का अस्तित्व है, क्योंकि यह विश्व उसी का परिणाम है (विकसित स्वरूप है)।

० स द्विविध उभयासिद्धोऽन्यतरासिद्धश्च।
उभयासिद्धो यथा–परिणामी शब्दः चाक्षुषत्वात्।।
अन्यतरासिद्धो यथा अचेतनास्तरवः, विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणमरणरहितत्वात्।।

(प्र.प्र. 6/49–51)

असिद्ध हेत्वाभास दो प्रकार का है–उभयासिद्ध और अन्यतरासिद्ध। 'शब्द परिणामी है, क्योंकि चाक्षुष है', यहाँ चाक्षुषत्व हेतु उभयासिद्ध है। 'वृक्ष अचेतन है, क्योंकि वे ज्ञान, इन्द्रिय और आयु की समाप्ति रूप मृत्यु से रहित हैं', यहाँ अन्यतरासिद्ध हेतु है।

असिद्धादिसमा जाति (दूषणाभास, जात्युत्तर के भेद)

० हेतोःसाध्यसद्भावाभावोभयधर्मविकल्पनया असिद्धविरुद्धानैकान्तिकतापादनम् असिद्धादिसमा जातिः।

(प्र.प्र. 1/54)

हेतु साध्य में है, अथवा उसका अभाव है, अथवा दोनों हैं–इस प्रकार विकल्प करके हेतु को असिद्ध, विरुद्ध अथवा अनैकान्तिक बतलाना–यह 'असिद्धादिसमा' जाति होती है।

अस्तिकायत्व

० द्व्यादिप्रदेशलक्षणत्वमस्ति अस्तिकायत्वम्।

(पंचा.त.प्र. 102)

दो आदि प्रदेशों वाला होना–यह 'अस्तिकाय' का लक्षण है।

(द्रष्टव्य : कायत्व)

अस्तित्व

० अस्तित्वं भावानां मौलो धर्मः सत्तारूपत्वम्।

(तत्त्व.भा.वृ. 2/7)

अस्तित्व–यह पदार्थों का सत्ता रूप मौलिक धर्म है।

० तत्र हि द्रव्यस्य स्वभावोऽस्तित्वसामान्यम्।

(प्र.सा.तत्त्वप्र. 2/3)

द्रव्य का स्वभाव है–अस्तित्वसामान्य।

० अस्तित्वं हि किल द्रव्यस्य स्वभावः।

(प्र.सा.तत्त्वप्र. 2/4)

अस्तित्व तो द्रव्य का स्वभाव ही है।

० अस्तित्वं हि तावद् उत्पाद-व्ययध्रौव्यैक्यात्मिका वृत्तिः।

(प्र.सा.तत्त्वप्र. 2/52)

(प्रत्येक पदार्थ का) उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य –इन तीनों के ऐक्य (समुदित) रूप से रहना ही 'अस्तित्व' होता है।

० अस्तित्वं हि सत्ता नाम, सतो भावः सत्त्वम्।

(पंचा.त.प्र. 8)

'अस्तित्व' को सत्ता कहते हैं, जो 'सत्' (वस्तु) का ही भाव रूप है।

० अस्तीत्येतस्य भावोऽस्तित्वं सद्रूपत्वम्।

(आ.प. 94)

'अस्ति' इसके भाव को अर्थात् सत्रूपपने को 'अस्तित्व' कहते हैं।

(द्रष्टव्य : वस्तु, सत्ता, सादृश्यास्तित्व, स्वरूपास्तित्व, स्वभाव)

अस्तित्व के भेद

० अस्तित्वं हि वक्ष्यति द्विविधम्–स्वरूपास्तित्वं सादृश्यास्तित्वं चेति।

(प्र.सा.तत्त्वप्र. 2/3)

अस्तित्व के दो भेद हैं–स्वरूपास्तित्व और सादृश्यास्तित्व।

अस्तिस्वभाव

० स्वभावलाभादच्युतत्वादस्तिस्वभावः।

(आ.प. 106)

जिस द्रव्य को जो स्वभाव प्राप्त है, उससे कभी भी च्युत नहीं होना 'अस्तिस्वभाव' है।

० अस्तिस्वभाव आम्नातः स्वद्रव्यादिग्रहे नये।

(द्रव्य.तर्क. 13/1)

अपने द्रव्य, क्षेत्र आदि को ग्रहण करने वाले 'द्रव्यार्थिक नय' के मत में द्रव्यों का अस्तिस्वभाव कहा गया है।

अहेतुसमा जाति (दूषणाभास, जात्युत्तर के भेद)

० त्रैकाल्यानुपपत्त्या हेतोः प्रत्यवस्थानमहेतुसमा जातिः। यथा हेतुः साधनम्। तत् साध्यात्पूर्वं पश्चात् सह वा भवेत्? यदि पूर्वम्; असति साध्ये तत् कस्य साधनम्? अथ पश्चात्साधनम्; पूर्वं तर्हि साध्यम्, तस्मिंश्च पूर्वसिद्धे किं साधनेन? अथ युगपत्साध्यसाधने; तर्हि तयोः सव्येतरगोविषाणयोरिव साध्यसाधनभाव एव न भवेदिति।

(प्र.मी. 2/1/29)

हेतु को त्रैकालिक अनुपपत्ति (असंगति) प्रदर्शित करके खण्डन करना। यथा–हेतु का तात्पर्य साधन है। वह साधन साध्य से पहले होगा, पश्चात् होगा अथवा साथ-साथ होगा? यदि पहले होगा तो साध्य के अभाव में वह किसका साधन होगा? (जब साध्य ही नहीं तो साधन कैसा?) अगर साधन पश्चात् होता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि साध्य, साधन से पहले ही विद्यमान है तो साधन की आवश्यकता ही क्या है? कदाचित् साध्य और साधन का साथ-साथ होना माना जाय तो गाय के दाहिने और बांये सींगों के समान साथ-साथ होने वाले दो पदार्थों में साध्य-साधन भाव कैसे हो सकता है?

० त्रिकालेऽपि साधनासंभवेन प्रत्यवस्थानम् अहेतुसमा जातिः।

(प्र.प्र. 1/62)

तीनों कालों में (हेतु से साध्य को) सिद्ध करना असंभव है, यह कहकर (अनुमान का) विरोध करना यह 'अहेतुसमा' जाति है।

आ

आकार

० आकारो विकल्पः।

(रा.वा. 1/12/1)

आकार अर्थात् विकल्प (ज्ञान में भेद रूप प्रतिभास)।

० पमाणदो पुधभूदं कम्ममायारो।

(ज.ध. 1, पृ. 302)

प्रमाण से पृथग्भूत कर्म को 'आकार' कहते हैं। [अर्थात् प्रमाण में (या ज्ञान में) अपने से भिन्न बहिर्भूत जो विषय प्रतिभासमान होता है, उसे 'आकार' कहते हैं।]

० आयारो कम्मकारयं सयलत्थसत्थादो पुध काऊण बुद्धिगोयरमुवणीयं।

(ज.ध. 1, पृ. 308)

सकल पदार्थों के समुदाय से अलग होकर बुद्धि के विषय भाव को प्राप्त हुआ कर्मकारण 'आकार' कहलाता है।

० भेदग्रहणमाकारः प्रतिकर्मव्यवस्था.....।

(आ.पु. 24/102)

घट पट आदि की व्यवस्था लिये हुए किसी वस्तु के भेदग्रहण करने को 'आकार' कहते हैं।

० आकारोऽर्थविकल्पः स्यात्।

(ला.सं. 3/46)

स्वपर पदार्थों में विकल्प रूप जो उपयोग होता है, वह 'आकार' होता है।

(द्रष्टव्य : अनाकार उपयोग, ज्ञान, दर्शन, साकार उपयोग)

आगम

० तस्स मुहग्गदवयणं पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं। आगममिदि परिकहियं (तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था)।।

(नि.सा. 8)

उन आप्त पुरुष (तीर्थंकर) के मुख से निकले हुए जो वचन है, वे पूर्वापर-दोषों से रहित हैं, शुद्ध हैं, उन्हें ही 'आगम' कहा गया (उसी आगम द्वारा कहे गये अर्थ 'तत्त्वार्थ' कहलाते हैं)।

० आगमः सर्वज्ञेन निरस्तरागद्वेषेण प्रणीतः उपेयोपाय- तत्त्वस्य ख्यापकः।

(भ.आ.टी. 23)

रागद्वेष से रहित सर्वज्ञ के द्वारा कहा गया और उपाय व उपेय का ज्ञान कराने वाला 'आगम' होता है।

० सर्वज्ञवचनमागमवचनम्।

(षोड़. 5/11)

सर्वज्ञ की वाणी ही आगम वचन है।

० तत्राज्ञेत्यागमः सूक्ष्मविषयः प्रणिगद्यते। दृश्यानुमेयवर्ज्ये हि श्रद्धेयांशे गतिः श्रुतेः।।

(आ.पु. 21/135)

उन (ध्यान के विषयभूत पदार्थों) में से अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ को विषय करने वाला जो 'आगम' है, उसे 'आज्ञा' कहते हैं क्योंकि और अनुमान के विषय से रहित केवल श्रद्धान करने योग्य पदार्थ में एक आगम की ही गति होती है।

० ताप-च्छेद-कषैः शुद्धं वचनं त्वागमं विदुः।

तापो ह्याप्तप्रणीतत्वमाप्तो रागादिसंक्षयात्।।
कषः पूर्वापराघातच्छेदो मानसमन्वयः।
(न्या.वा. 54–55)

ताप, छेद व कष से शुद्ध वचन को 'आगम' कहते हैं। ताप का अर्थ है–आप्तप्रणीत होना और आप्तता रागादि के क्षय से प्राप्त होती है। पूर्वापर-संगति की कसौटी पर कसना–'कष' है और प्रमाण से युक्त होना 'छेद' है।

० स च स्मर्यमाणः शब्द आगमः।
(र.करा. 4/4)

स्मृति रूप से प्राप्त जो (आप्त कथित) शब्द है, वह 'आगम' है।

० तत्रागमो यथासूत्रादाप्तवाक्यं प्रकीर्तितम्।
पूर्वापराविरूद्धं यत्प्रत्यक्षाद्यैरबाधितम्।।
(ला.सं. 5/157)

जो सूत्रानुरूप आप्तवाक्य होते हैं, उन्हें ही 'आगम' कहा गया है। वह आगम पूर्वापर-विरोध से रहित होता है, और प्रत्यक्षादिक प्रमाणों से अबाधित होता है।

आगम (प्रमाण)

० दृष्टेष्टाव्याहताद् वाक्यात् परार्थाभिधायिनः।
तत्त्वग्राहितयोत्पन्नं मानं शाब्दं प्रकीर्तितम्।।
(न्यायाव. 8)

प्रमाण से निश्चित, अर्थ से अबाधित, तथा विशिष्ट अर्थ के अभिधायक वाक्य से तत्त्वग्राही रूप से जो उत्पन्न होता है, वह शाब्द (आगम) प्रमाण कहा जाता है।

० आगमो ह्याप्तवचनम्।
(ध. 3, पृ. 12)

आप्त का वचन 'आगम' कहा जाता है।

० आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः।
(प.मु. 3/99; न्या.दी. 3/73)

आप्त पुरुष के वचन आदि से होने वाले पदार्थ-ज्ञान को 'आगम' कहा जाता है।

० शब्दो हि प्रमाणकारणकार्यत्वाद् उपचारत एव प्रमाणव्यपदेशमर्हति।
(प्र.क.मा. 3/99)

(आप्त के) शब्द तो आगम (अर्थ ज्ञान) रूपी कारण का कार्य है, इसलिए वह उपचार से 'प्रमाण' कहा जाता है।

० शाब्दं प्रमाणमागम उच्यते।
(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 1552)

शाब्द प्रमाण को ही आगम प्रमाण कहा जाता है।

० आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः।।
उपचारादाप्तवचनं च।।
(प्र.न.त. 4/1–2; जै.त.भा.प्र.परि., पृ. 53)

आप्त के वचन से होने वाले पदार्थ-ज्ञान को 'आगम' कहा जाता है। उपचार से आप्त-वचन भी 'आगम' कहा जाता है।

० आप्तवचनादिजनितपदार्थज्ञानम् आगमः।
(प्र.प्र. 1/123)

आप्त के वचन आदि से उत्पन्न हुए पदार्थों के ज्ञान को 'आगम' कहते हैं।

० आप्तः, तद्वचनाज्जातमर्थज्ञानमागमः। आगम्यन्ते मर्यादयाऽवबुध्यन्तेऽर्था अनेनेत्यागमः।

(र.करा. 4/1)

आप्त के वचनों से होने वाला अर्थज्ञान 'आगम' (प्रमाण) होता है। (अथवा) जिसके माध्यम से मर्यादित रीति से (पदार्थों का) ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वह 'आगम' है।

० आप्तवचनाज्जातमर्थज्ञानमागमः, उपचारादाप्तवचनं च।

(षड्.समु.टी. 55/320)

आप्त के वचनों से होने वाले पदार्थ के ज्ञान को 'आगम' कहते है। उपचार से आप्त के वचनों को भी 'आगम' कहते हैं।

० आप्तवचनादर्थज्ञानमागमः।

(जै.सि.दी. 9/15)

आप्त वचन से जो अर्थ-ज्ञान होता है, उसे 'आगम' कहते हैं।

० तदाप्तवचनाज्जातमागमः।

(भि.न्या. 4/2)

आप्त वचन से होने वाला श्रुत ज्ञान 'आगम' कहलाता है।

(द्रष्टव्य : ऐतिह्य, शब्द, शास्त्र, श्रुतज्ञान)

आगम (प्रमाण) के पर्याय

० आगमो सिद्धंतो पवयणमिदि एयट्ठो।

(ध. 1, पृ. 21–22)

आगम, सिद्धान्त, प्रवचन–ये एकार्थक हैं।

० आगमो गंथो सुदणाणं सिद्धंतो पवयणमिदि एगट्ठो।

(ध. 3, पृ. 12)

आगम, ग्रन्थ, श्रुतज्ञान, सिद्धान्त, प्रवचन ये एकार्थक है।

० श्रुतिः सूनृतमाज्ञाप्तवचो वेदांगमागमः।
आम्नायश्चेति पर्यायैः सोऽधिगम्यो मनीषिभिः।।

(आ.पु. 21/136)

श्रुति, सूनृत, आज्ञा, आप्तवचन, वेदांग, आगम और आम्नाय इन पर्यायवाचक शब्दों से बुद्धिमान् पुरुष उस 'आगम' को जानते हैं।

आगम के भेद

० से किं तं आगमे? आगमे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा–लोइए, लोगुत्तरिए य।

(अनु.सू. 11/547)

वह आगम क्या है? आगम के दो प्रकार बताये गये हैं। वे हैं–लौकिक व लोकोत्तरिक।

० (अहवा) आगमे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा–सुत्तागमे, अत्थागमे, तदुभयागमे।

(अनु.सू. 11/550)

(अथवा) आगम के तीन प्रकार बताये गये हैं। वे हैं–सूत्रागम, अर्थागम, तदुभयागम।

० अहवा आगमे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा–अत्तागमे, अणंतरागमे परंपरागमे। तित्थगराणं अत्थस्स अत्तागमे। गणहराणं सुत्तस्स अत्तागमे, अत्थस्स अणंतरागमे। गणहरसीसाणं सुत्तस्स अणंतरागमे, अत्थस्स परंपरागमे। तेण परं सुत्तस्स वि अत्थस्स वि नो अत्तागमे, नो अणंतरागमे, परंपरागमे।

(अनु.सू. 11/551)

(अथवा) आगम के तीन प्रकार बताये गये

हैं। जैसे–आत्मागम, अनन्तरागम, परम्परागम। तीर्थंकरों के अर्थ आत्मागम हैं। गणधरों के सूत्र आत्मागम हैं और अर्थ अनन्तरागम हैं। गणधर शिष्यों के सूत्र अनन्तरागम हैं और अर्थ परम्परागम हैं। उसके बाद, सूत्र और अर्थ दोनों ही आत्मागम नहीं हैं, अनन्तरागम भी नहीं है, परम्परागम हैं।

आगमाभास

० रागद्वेषमोहाक्रान्तवचनाज्जातमागमाभासम्।। यथा नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्ति धावध्वं माणवकाः।। अङ्गुल्यग्रे हस्तिशतयूथमस्ति इति च।। विसंवादात्।।

(प.मु. 6/51–54)

रागी, द्वेषी और अज्ञानी मनुष्य के वचनों से उत्पन्न हुए आगम को आगमाभास कहते हैं। जैसे कि–"हे बालकों! दौडो, नदी के किनारे लड्डुओं के ढेर लगे हैं, यह वचन रागोक्त होने से आगमाभास है। अंगुलि के अग्रभाग पर हाथियों के सौ समुदाय रहते हैं। यह अनाप्त का वचन होने से आगमाभास है। विवादग्रस्त होने के कारण पूर्वोक्त वचन आगमाभास है, क्योंकि आगम प्रमाण का अङ्ग है और प्रमाण का अविसंवादी होना आवश्यक है।

० अनाप्तवचनप्रभवं ज्ञानमागमाभासम्।।

(प्र.न.त. 6/83)

अनाप्त पुरुष के वचन से उत्पन्न होने वाला ज्ञान 'आगमाभास' है।

० अनाप्तवचनादिजनितमिथ्याज्ञानमागमाभासः।

(प्र.प्र. 1/124)

अनाप्त के वाक्य आदि से उत्पन्न मिथ्या ज्ञान को 'आगमाभास' कहते हैं।

आज्ञा के पर्याय

० आणा सिद्धांतो आगमो इदि एयट्ठो।

(ध. 14 पृ. 326)

आज्ञा, सिद्धान्त, आगम–ये एकार्थक हैं।

(द्रष्टव्य : आगम)

आत्माश्रय तर्क (ज्ञप्ति दृष्टि से)

० स्वस्य स्वयमेव ज्ञापक इत्युक्ते ज्ञप्तिपक्षे आत्माश्रयः।

(प्र.प्र. 1/43)

अपना ज्ञान स्वयं कराता है–यह कहने पर ज्ञान की दृष्टि से 'आत्माश्रय तर्क' होता है।

आत्माश्रय तर्क (उत्पत्ति दृष्टि से)

० स्वस्य स्वयमेवोत्पादक इत्युक्ते उत्पत्तिपक्षे आत्माश्रयः। माया कुतः उत्पद्यते स्वतएवेत्यादि।

(प्र.प्र. 1/43)

(कोई पदार्थ) अपनी उत्पत्ति स्वयं करता है ऐसा कहने पर उत्पत्ति की दृष्टि से आत्माश्रय होता है; जैसे माया कहां से उत्पन्न होती है (यह पूछने पर कहना कि) स्वयं ही उत्पन्न होती है।

(द्रष्टव्यः तर्क के भेद)

आप्त

० यो यत्र अविसंवादकः, स तत्र आप्तः (ततः परोऽनाप्तः)।

(अष्टस. 78, पृ. 236)

जो जहां अविसंवादक है, वह वहां आप्त है (इससे भिन्न अनाप्त है)।

० अभिधेयं वस्तु यथावस्थितं यो जानीते, यथाज्ञानं चाभिधत्ते स आप्तः।।

(प्र.न.त. 4/4)

कही जाने वाली वस्तु को जो ठीक-ठीक जानता हो, और जैसी जानता हो वैसी ही कहता हो, वह 'आप्त' है।

० यो यत्राभिज्ञत्वे सत्यवञ्चकः स तत्राप्तः।

(प्र.प्र. 1/123)

जो जिस विषय को जानता हो तथा अवंचक हो, वह उस विषय के लिये 'आप्त' होता है।

० आप्ती रागादिदोषक्षयः सा विद्यते यस्येत्यर्श-आदित्वादिति आप्तः।

(र.करा. 4/4)

'आप्ति' यानी राग आदि दोषों का क्षय, वह जिसके हो, वह 'आप्त' कहलाता है, यहां व्याकरण-नियमानुसार 'अर्श' आदि गण' में पठित मान कर 'अत्' प्रत्यय हुआ है।

० आप्तः प्रत्यक्षप्रमितसकलार्थत्वे सति परम-हितोपदेशकः।

(न्या.दी. 3/74)

जो प्रत्यक्षज्ञान से समस्त पदार्थों का ज्ञाता (सर्वज्ञ) है और परहितोपदेशी है वह 'आप्त' है।

० अभिधेयं वस्तु यथावस्थितं यो जानीते यथाज्ञानं चाभिधत्ते, स आप्तो जनकतीर्थकरादिः।

(षड्.समु.टी. 55/320)

जो व्यक्ति जिस वस्तु का कथन करता है उसे अविसंवादी यथार्थ रूप से जानता हो तथा जिस प्रकार उसे जाना है ठीक, उसी प्रकार उसका कथन करता हो, उसे 'आप्त' कहते है। जैसे माता-पिता या तीर्थंकर आदि।

० यथार्थविद् यथार्थवादी चाप्तः।

(भि.न्या. 4/3)

वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला और ज्ञान के अनुरूप ही उसका प्रतिपादन करने वाला 'आप्त' कहलाता है।

आप्त के भेद

० स च द्वेधा-लौकिको लोकोत्तरश्च।।
लौकिको जनकादिः, लोकोत्तरस्तु तीर्थंकरादिः।।

(प्र.न.त. 4/6-7)

आप्त दो प्रकार के होते हैं–लौकिक आप्त और लोकोत्तर आप्त। पिता आदि लौकिक आप्त हैं और तीर्थंकर आदि लोकोत्तर आप्त हैं।

आप्तवचन

० (द्रष्टव्य : आगम)

आप्ति

(द्रष्टव्य : आप्त)

आभिनिबोधिक ज्ञान

० अत्थाभिमुहो नियओ, बोहो जो सो मओ अभिनिबोहो।

(विशे.भा. 80)

अर्थाभिमुख होते हुए जो नियत (संशयादि रहित) बोध है, वह 'अभिनिबोध' है। वही अभिनिबोधिक ज्ञान है।

० तं तेण तओ तम्मि व सो वाऽभिणिबुज्झए तओ वा तं।

(विशे.भा. 81)

उसको, उसके द्वारा, उससे (अनन्तर), उसके होने से या उसके होने पर (आत्मा) जानता है या (आत्मा द्वारा) वस्तु जानी जाती है–इस कारण से वह 'आभिनिबोधिक' ज्ञान (कहा जाता) है।

० अत्थाभिमुहो णियतो बोधो अभिनिबोधः, स एव स्वार्थिकप्रत्ययोपादानादाभिनिबोधिकम्। अहवा अभिनिबोधे भवं, तेण निव्वत्तं, तम्मतं तप्पयोयणं वाभिणिबोधिकं। अहवा आता तदभिनिबुज्झए, तेण वाभिणिबुज्झते, तम्हा वा(ऽभिणि)बुज्झते, तम्हिं वाभिनिबुज्झए इत्ततो आभिनिबोधिकः। स एवाभिणिबोधिकोपयोगतोऽनन्यत्वादाभिनिबोधिकम्।

(न.चू. 7, पृ. 13)

अर्थ (इन्द्रिय-विषय) की अभिमुखता (उचित देश में स्थिति) में नियत रूप से, निर्णायक रूप से होने वाला ज्ञान 'अभिनिबोध' है, वही स्वार्थिक प्रत्यय 'क' के साथ 'आभिनिबोधिक' कहा जाता है अर्थात् अभिनिबोध व आभिनिबोधिक दोनों समानार्थक हैं। अथवा आत्मा जिसे या जिसके द्वारा या जिसके होने पर या जिसमें अभिनिबोध करता है, अतः वही आभिनिबोधिक है। वही (आत्मा) उक्त आभिनिबोधिक उपयोग से अनन्य (अभिन्न) है, इसलिए वह (आत्मा ही) आभिनिबोधिक है। (तात्पर्य यह है कि जिस अवग्रहादि ज्ञान को अर्थाभिमुख होकर नियत रूप से जानता है, वह ज्ञान आभिनिबोधिक है। जिस क्षयोपशम से घटादि वस्तुओं का बोध होता है, वह क्षयोपशम अभिनिबोध है। चूंकि आत्मा व ज्ञान तथा आत्मा व क्षयोपशम दोनों अभिन्न हैं, इसलिए आत्मा भी आभिनिबोधिक है। आत्मा का जो ज्ञान है, उसका आश्रय भी आत्मा है, इस दृष्टि से भी आत्मा आभिनिबोधिक है।)

० आत्मा ह्यनन्तसर्वात्मप्रदेशव्यापिविशुद्ध- ज्ञान-सामान्यात्मा। स खल्वनादिज्ञानावरणकर्म्मच्छन्न-प्रदेशः सन्, यत्तदावरणक्षयोपशमादिन्द्रिया निन्द्रियावलम्बाच्च मूर्तामूर्तद्रव्यं विकलं विशेषेणाऽवबुध्यते तदभिनिबोधिकज्ञानम्।

(पंचा.त.प्र. 41)

आत्मा तो अनन्त समस्त आत्म-प्रदेशों में व्याप्त विशुद्ध ज्ञान-सामान्य रूप है। वह अनादि ज्ञाना-वरण कर्म से आवृत प्रदेशों वाला है, अतः, उक्त कर्म के क्षयोपशम के अनुरूप इन्द्रिय व अनिन्द्रिय (मन) के अवलम्बन से मूर्त व अमूर्त द्रव्य को विशेष रूप से, विकलरूप में जो जानता है, वह आभिनिबोधिक ज्ञान है।

० अर्थाभिमुखे नियते बोधे भवमाभिनिबोधिकम्, तेन वा निर्वृत्तं तन्मयं वा, तत्प्रयोजनं वाभिनिबोधकम्, तच्च तज्ज्ञानं चाभिनिबोधिकज्ञानम्।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 80)

अर्थाभिमुख नियत बोध 'अभिनिबोध' में होने वाले ज्ञान को आभिनिबोधिक कहा जाता है, या अभिनिबोध से निर्मित या तन्मय या अभिनिबोध रूप प्रयोजन वाला 'आभिनिबोधिक' कहलाता है, वैसे ज्ञान को 'आभिनिबोधिक' ज्ञान कहा जाता है।

० आभिमुख्येन निश्चितत्वेनाऽवबुध्यते संवेदयते आत्मा तदित्यभिनिबोधोऽवग्रहादिज्ञानं, स एवाऽभिनिबोधिकम्।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 81)

अभिमुखता व निश्चयात्मकता के साथ आत्मा जिसका संवेदन करता है–उस अवग्रह आदि ज्ञान को 'अभिनिबोध' और उसे ही 'आभिनिबोधिक' (रूप में, पूर्व गाथा द्वारा) कहा गया है।

० आत्मा तेन प्रस्तुतज्ञानेन, तदावरणक्षयोपशमेन वा करणभूतेन घटादि वस्त्वभिनिबुध्यते, तस्माद् वा प्रकृतज्ञानात्, क्षयोपशमाद्वाऽभिनिबुध्यते, तस्मिन् वाऽधिकृतज्ञाने, क्षयोपशमे वा सत्यभिनिबुध्यतेऽवगच्छतीत्यभिनिबोधो ज्ञानं क्षयोपशमो वा।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 81)

(अथवा) आभिनिबोधिक रूप प्रस्तुत ज्ञान से या तदावरण-सम्बन्धी क्षयोपशम रूपी करण (साधन) द्वारा या उस (आभिनिबोधिक ज्ञान या तत्सम्बन्धी क्षयोपशम) के अव्यवहित (अनन्तरवर्ती), या उसके होने पर आत्मा घट आदि वस्तु को जानता है, वह ज्ञान या तत्सम्बन्धी क्षयोपशम (भी) 'अभिनिबोध' है।

० ज्ञानस्यात्माश्रयत्वात्, क्षयोपशमस्य च ज्ञानकारणत्वादुपचारतोऽत्रापि पक्षे आभिनिबोधिकशब्दोज्ञाने वर्तते, ततश्चाभिनिबोधिकं च तज्ज्ञानं चाभिनिबोधिकज्ञानम्

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 81)

चूंकि आत्मा ज्ञान का आश्रय है और क्षयोपशम भी ज्ञान का कारण है, इसलिए उपचार से ज्ञान को भी आभिनिबोधिक पद से कहा जाता है, फलस्वरूप, (समानाधिकरणता के कारण) आभिनिबोधिक जो ज्ञान उसे 'आभिनिबोधिक' ज्ञान कहा जाता है।

० आभिनिबोधकबोधो विषयविषयिसन्निकर्षजस्तस्मात्।

(पं. 1/700)

आभिनिबोधिक ज्ञान विषय व विषयी के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है।

(द्रष्टव्य : मतिज्ञान)

आभिनिबोधिक ज्ञान के पर्याय

० ईहा अपोह वीमंसा मग्गणा य गवेसणा।
सन्ना सई मई पन्ना सव्वं आभिणिबोहियं।।

(नन्दी, 3/54, गा. 6)

आभिनिबोधिक ज्ञान के पर्याय हैं–ईहा, अपोह, विमर्शना, गवेषणा, संज्ञा, स्मृति, मति, प्रज्ञा–ये सब आभिनिबोधिक ज्ञान के पर्यायवाची हैं।

० मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।।

(त.सू. 1/13; जै.सि.दी. 2/7)

मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता और अभिनिबोध–ये एक ही अर्थ के वाचक हैं।

आभिनिबोधिक ज्ञान के भेद

० से किं तं आभिणिबोहियनाणे?
आभिणिबोहियनाणे चतुव्विहे पण्णत्ते, तं जहा-उग्गहो, ईहा, अवाओ, धारणा।

(भ.सू. 8/2/23)

वह आभिनिबोधिक ज्ञान कितने प्रकार का कहा गया है? आभिनिबोधिक ज्ञान चार प्रकार का कहा गया है–जैसे–अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा।

० से किं तं आभिणिबोहियनाणं? आभिबोहियनाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा–सुयनिस्सियं च असुदनिस्सियं च।

(नन्दी. 3/37, 39)

वह आभिनिबोधिक ज्ञान किस प्रकार का है?

वह आभिनिबोधिक ज्ञान दो प्रकार का है। जैसे–श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित।.....वह श्रुतनिश्रित किस प्रकार का है? श्रुतनिश्रित चार प्रकार का है। जैसे–अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा। (द्रष्टव्य : मतिज्ञान)

आमुंडा

० आमुंड्यते संकोच्यते वितर्कितोऽर्थः अनयेति आमुंडा।

(ध. 13, पृ. 243)

जिसके द्वारा वितर्कित अर्थ 'आमुंड्यते' अर्थात् संकोचित किया जाता है, वह 'आमुंडा' है। (द्रष्टव्यः अवाय)

आम्नाय

० (द्रष्टव्य : आगम)

आरेका

० आरेका संशयः।

(प्र.क.मा. 6/74)

आरेका यानी संशय।

आरेकान्त

० आरेका संशयः, सा अन्ते यस्य इति आरेकान्तः प्रमेयः।

(प्र.क.मा. 6/74)

आरेका यानी संशय, वह जिसके अन्त में हो, वह आरेकान्त यानी प्रमेय पदार्थ है। (प्रमा से संशयनिवृत्ति पूर्वक प्रमेय प्रतिभासित होता है।)

आलोचन

० (द्रष्टव्य : अवग्रह)

इ

इतरेतराभाव

० स्वरूपान्तरात् स्वरूपव्यावृत्तिरितरेतराभावः। तथा स्तम्भस्वभावात् कुम्भस्वभावव्यावृत्तिः।।

(प्र.न.त. 3/63–64)

एक पर्याय का दूसरी पर्याय में न पाया जाना–यह 'इतरेतराभाव' (अन्योन्याभाव) है।। जैसे–स्तम्भ (खम्भे) का घड़े में न पाया जाना और घड़े का खम्भे में न पाया जाना–यह 'इतरेतराभाव' है।

० परस्परापोह इतरेतरः।

(भि.न्या. 3/32)

परस्पर-एक में दूसरे के अभाव का नाम 'इतरेतराभाव' है।
(द्रष्टव्य : अन्योन्याभाव)

इतरेतराश्रय तर्क (ज्ञप्ति दृष्टि से)

० द्वयोः परस्परं ज्ञापकत्वे ज्ञप्तिपक्षे इतरेतराश्रयः।

(प्र.प्र. 1/43)

दो पदार्थ एक दूसरे का ज्ञान कराते हैं, यह कहने पर ज्ञान की दृष्टि से 'इतरेतराश्रय तर्क' होता है।

इतरेतराश्रय तर्क (उत्पत्ति दृष्टि से)

० द्वयोः परस्परमुत्पादकत्वे उत्पत्तिपक्षे इतरेतराश्रयः। माया कुतः उत्पद्यते अविद्यातः, अविद्या कुतः उत्पद्यते मायातः इत्यादि।

(प्र.प्र. 1/43)

दो पदार्थ एक दूसरे के उत्पादक हैं –ऐसा कहने पर उत्पत्ति की दृष्टि से 'इतरेतराश्रय तर्क' होता है। जैसे–माया कहाँ से उत्पन्न

होती है, अविद्या से, अविद्या कहाँ से उत्पन्न होती है, माया से।
(द्रष्टव्यः आत्माश्रय तर्क, तर्क)

इत्थम्भूत नय

० इत्थम्भूतः क्रियाश्रयः।

(लघी. 5/44)

जो विवक्षित क्रिया की प्रधानता से अर्थ को भेद रूप ग्रहण करता है, वह इत्थम्भूत (एवंभूतनय) है।

० क्रियाश्रयेण भेदप्ररूपणमित्थम्भावः।

(प्र.र.मा. 6/74)

क्रिया के आश्रय से भेद का निरूपण करना इत्थम्भाव (अर्थात् एवंभूतनय) है।

० तत्तत्क्रियापरिणतिक्षण एव शब्दवाच्यत्वविषयकं ज्ञानमित्थम्भूतनयः।

(प्र.रत्ना. 6/74)

उस-उस क्रिया की परिणति के क्षण में ही उस शब्द की वाच्यता को विषय करने वाला ज्ञान (अभिप्राय) 'इत्थंभूतनय' होता है।

० इत्थमेवं विवक्षितक्रियापरिणामप्रकारेण भूतं परिणतमर्थमभिप्रैतीतीत्थम्भूतनय इति व्युत्पत्तेः।

(प्र.रत्ना. 6/74)

'इत्थं' अर्थात् विवक्षित क्रिया-परिणति के अनुरूप परिणत होने वाले 'भूत' अर्थात् 'अर्थ' को जो अभिप्रेत मानता है—यह 'इत्थंभूत' का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है।
[इत्थम्भूत का पर्याय 'एवम्भूत' नय है।]

इत्थम्भूत नयाभास

० क्रियानिरपेक्षत्वेन क्रियावाचिशब्देषु काल्पनिको व्यवहार इत्थंभूतनयाभास इति।

(प्र.रत्ना. 6/74)

क्रियानिरपेक्ष होने से क्रियावाची शब्दों में क्रिया के काल्पनिक व्यवहार होने को 'इत्थंभूत नयाभास' कहते हैं।

इन्द्रिय

० इन्द्रस्यात्मनोऽर्थोपलब्धिलिङ्गमिन्द्रियम्। इन्द्र आत्मा, तस्य कर्ममलीमसस्य स्वयमर्थान् ग्रहीतुमसमर्थस्याऽर्थोपलम्भने यल्लिङ्गं तदिन्द्रियमित्युच्यते।

(रा.वा. 1/14/1)

इन्द्र अर्थात् आत्मा। कर्ममलीमस आत्मा सावरण होने से स्वयं पदार्थों के ग्रहण में असमर्थ होता है। उस आत्मा के अर्थोपलब्धि में लिंग अर्थात् द्वार या कारण इन्द्रियाँ होती हैं।

० इन्द्रस्यात्मनो लिङ्गमिन्द्रियम्। उपभोक्तुरात्मनोऽनिवृत्तकर्मबन्धस्यापि परमेश्वरत्वशक्तियोगाद् इन्द्रव्यपदेशमर्हतः स्वयमर्थान् ग्रहीतुमसमर्थस्योपयोगोपकरणं लिङ्गमिन्द्रियमित्युच्यते।

(रा.वा. 2/15/1)

इन्द्र यानी आत्मा की लिङ्ग अर्थात् अर्थग्रहण में कारण इन्द्रिय है। कर्मपरतन्त्र होने पर भी आत्मा अनन्तज्ञानादियुक्त होने से परमेश्वरत्व की धारक होने के कारण 'इन्द्र' कहलाती है। वह स्वयं अर्थों के ग्रहण में असमर्थ है, अतः उसके उपयोग (चैतन्य-व्यापार) में सहायक उपकरण लिङ्गभूत होने से इन्हें 'इन्द्रिय' कहा जाता है।

० इन्द्रेण कर्मणा सृष्टमिति वा। अथवा स्वकृत-कर्मविपाकवशादात्मा देवेन्द्रादिषु तिर्यगादिषु चेष्टानिष्टमनुभवतीति कर्मैव तत्रेन्द्रः तेन सृष्ट-मिन्द्रियमित्याख्यायते।

(रा.वा. 2/15/2)

अथवा इन्द्र अर्थात् कर्म द्वारा सृष्ट-रचित 'इन्द्रिय' होती हैं। अथवा अपने किये कर्मों के विपाक के कारण आत्मा या तो देवेन्द्र आदि रूपों में, या तिर्यञ्च आदि में इष्ट या अनिष्ट (सुख व दुःख) का अनुभव करती है, इसलिए 'कर्म' ही 'इन्द्र' है, उसके द्वारा सृष्ट-रचित इन्द्रिय कही जाती हैं।

० कार्यं हि लोके कारणमनुवर्तमानं दृष्टं यथा घटाकारपरिणतं विज्ञानं घट इति, तथेन्द्रिय-निमित्त उपयोगोऽपि इन्द्रियमिति व्यपदिश्यते।

(रा.वा. 2/18/3)

लोक में कारण की भी कार्य में अनुवृत्ति देखी जाती है, जैसे घटाकारपरिणत ज्ञान को 'घट' कह देते हैं। इसी प्रकार उपयोग को भी इन्द्रिय के निमित्त से 'इन्द्रिय' कह देते हैं।

० इन्द्रेण कर्मणा स्पृष्टमिन्द्रियं स्पर्शनादीन्द्रिय-नामकर्मोदयनिमित्तत्वात्। इन्द्रस्यात्मनो लिंग-मिन्द्रियम् इति वा कर्ममलीमसस्यात्मनः स्वयम-र्थानुपलब्धुमसमर्थस्य हि यदर्थोपलब्धौ लिङ्गं निमित्तं तदिन्द्रियमिति भाष्यते।

(तत्त्व.श्लो. 2/15)

'इन्द्र यानी (पौद्गलिक) कर्म द्वारा जो रची जाय, वह इन्द्रिय है, क्योंकि स्पर्शन आदि इन्द्रियनामकर्म के उदय को निमित्त पाकर उनकी उत्पत्ति होती है। (अथवा) इन्द्र यानी आत्मा, उसका चिन्ह (ज्ञापक हेतु) है, इसलिए 'इन्द्रिय' संज्ञा है। अथवा कर्म-मलिन आत्मा स्वयं पदार्थों को ग्रहण करने में असमर्थ होता है, उसको पदार्थों के ग्रहण में जो लिङ्ग यानी निमित्त हो, उसे 'इन्द्रिय' कहा जाता है।

० प्रत्यक्षनिरतानीन्द्रियाणि। अक्षाणीन्द्रियाणि। अक्षमक्षं प्रति वर्तत इति प्रत्यक्षं विषयोऽक्षजो बोधो वा। तत्र निरतानि व्यापृतानि इन्द्रियाणि। शब्दस्पर्शरसरूपगन्धज्ञानावरणकर्मणां क्षयोपशमाद् द्रव्येन्द्रियनिबन्धनादिन्द्रियाणीति यावत्।..... सङ्करव्यतिकराभ्यां व्यापृतिनिराकरणाय स्वविषयनिरतानीन्द्रियाणि इति वा वक्तव्यम्।. ....अथवा स्ववृत्तिरतानीन्द्रियाणि। संशयविपर्यय-निर्णयादौ वर्तनं वृत्तिः, तस्यां स्ववृत्तौ रता-नीन्द्रियाणि।.....अथवा स्वार्थनिरतानीन्द्रियाणि।. ....अथवा इन्दनादाधिपत्यादिन्द्रियाणि।

(ध. 1, पृ. 136–138)

जो प्रत्यक्ष में व्यापार करती हैं, उन्हें 'इन्द्रियाँ' कहते हैं। अक्ष इन्द्रिय को कहते हैं, और जो अक्ष-अक्ष के प्रति अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय के प्रति रहता है उसे 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। वह प्रत्यक्ष इन्द्रियों का विषय अथवा इन्द्रियजन्य ज्ञानरूप सिद्ध होता है, उस इन्द्रिय-विषय अथवा इन्द्रिय- ज्ञानरूप प्रत्यक्ष में जो व्यापार करती हैं, उन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं। द्रव्येन्द्रियों के निमित्तरूप ऐसे शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध नामक ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से इन्द्रियाँ होती हैं। अथवा, अपनी-अपनी वृत्ति में जो रत हैं, उन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं। संशय और विपर्ययज्ञान से निर्णय आदि के करने में जो प्रवृत्ति होती है उसे

वृत्ति कहते हैं। उस अपनी–अपनी वृत्ति में जो रत हैं, उन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं। अथवा अपने-अपने विषय का स्वतन्त्र आधिपत्य करने से इन्द्रियाँ कहलाती हैं।

० इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियम्। उपभोक्तुरात्मनोऽनिवृत्त-कर्मसम्बन्धस्य परमेश्वरशक्तियोगादिन्द्रव्य पदेश-मर्हतः स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्योप योगोपकरणं लिङ्गमिति कथ्यते।

(ध. 1, पृ. 263)

इन्द्र अर्थात् आत्मा के लिंग को 'इन्द्रिय' कहते हैं। जिसके कर्मों का सम्बन्ध दूर नहीं हुआ है, जो परमेश्वररूप शक्ति के सम्बन्ध से इन्द्र संज्ञा को धारण करता है, परन्तु जो स्वतः पदार्थों को ग्रहण करने में असमर्थ है, ऐसे उपभोक्ता आत्मा के उपयोग के उपकरण को 'लिंग' कहते हैं।

० स्वविषयनिरतानीन्द्रियाणि, स्वार्थनिरतानीन्द्रिया-णीत्यर्थः। अथवा, इन्द्र आत्मा, इन्द्रस्य लिङ्ग-मिन्द्रियम्।

(ध. 7, पृ. 6)

जो अपने विषय में निरत हों, वे इन्द्रियाँ हैं, अर्थात् अपने–अपने विषयरूप पदार्थों में रमण करने वाली इन्द्रियाँ कहलाती हैं। अथवा इन्द्र आत्मा को कहते हैं, और इन्द्रों के लिङ्ग का नाम इन्द्रिय है।

० इंदस्स लिंगमिंदियं। इंदो जीवो, तस्स लिंगं जाणावयं सूचयं जं तमिंदियमिदि वुत्तं होदि।

(ध. 7, पृ. 61)

इन्द्र के चिन्ह को इन्द्रिय कहते हैं। इन्द्र जीव है, उसका जो चिन्ह अर्थात् ज्ञापक या सूचक है, वह 'इन्द्रिय' है।

० प्रतिनियतार्थग्रहणमिन्द्रियम्।

(जै.सि.दी. 2/24)

जिनके द्वारा अपने-अपने शब्द आदि नियत विषयों का ज्ञान होता है, उन्हें 'इन्द्रिय' कहते हैं।

इन्द्रियप्रत्यक्ष

० पुग्गलेहिं संठाणणिव्वत्तिरूवं दव्विंदियं, सोइंदियमा-दिइंदियाणं सव्वात्मप्पदेसेहिं स्वावरणक्खतोवसमातो जा लद्धी तं भाविंदियं, तस्स पच्चक्खं ति इंदिय-पच्चक्खं। .....भाविंदियोवयारपच्चक्खत्तणतो एतं पच्चक्खं, परमत्थओ पुण चिंतमाणं एतं परोक्खं। कम्हा ? जम्हा परा दव्विंदिया, भाविंदियस्स व तदायत्तप्पणतो।

(न.चू. 10, पृ. 14)

पुद्गलों द्वारा (इन्द्रिय-विशेष का) जो संस्थान (आकार) व निर्वृत्ति (आकार-निर्माण) होती है, वह द्रव्येन्द्रिय है। श्रोत्रादि इन्द्रियों की सर्वात्म-प्रदेशों से होने वाली तथा निज आवरण-क्षयोपशम से प्राप्त होने वाली जो लब्धि (ज्ञान-शक्ति) होती है, वह भावेन्द्रिय है। इनसे जो प्रत्यक्ष होता है, वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष है।.....भावेन्द्रिय द्वारा होने वाला ज्ञान औपचारिक प्रत्यक्ष होने से 'प्रत्यक्ष' है, किन्तु परमार्थ दृष्टि से विचार करें तो, वह परोक्ष है। क्यों ? इसलिए कि द्रव्येन्द्रिय 'पर' है और भावेन्द्रिय भी द्रव्येन्द्रिय के अधीन (उन

पर आश्रित होकर कार्यकारी) है।

० हिताहितापि्तिनिर्युक्तिक्षममिन्द्रियनिर्मितम्। यद्देशतोऽर्थज्ञानं तदिन्द्रियाध्यक्षमुच्यते।।

(न्या.वि. 1/3)

जो हित की प्राप्ति और अहित की निवृत्ति में सक्षम है, इन्द्रियों द्वारा निर्मित (प्रादुर्भूत) है और पदार्थ का आंशिक (स्पष्टता लिये हुए) ज्ञान है, वह 'इन्द्रियप्रत्यक्ष' कहा जाता है।

० तत्रेन्द्रियप्रत्यक्षं सांव्यवहारिकम्, देशतो विशदत्वात्।

(प्र.प. 91, पृ. 38)

इन्द्रियप्रत्यक्ष को ही सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा जाता है। एकदेश रूप से विशद होने से उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है।

० इन्द्रियप्रत्यक्षं देशतो विशदमविसंवादकं प्रतिपत्तव्यम्।

(प्र.प. 95, पृ. 40)

आंशिक विशद (स्पष्ट) व अविसंवादी ज्ञान को इन्द्रिय प्रत्यक्ष जानना चाहए।

० इन्द्रियप्राधान्यादनिन्द्रियबलाधानादुपजातमिन्द्रिय-प्रत्यक्षम्।

(प्र.र.मा. 2/5)

इन्द्रियों की प्रधानता से और मन की सहायता से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को इन्द्रियप्रत्यक्ष कहते हैं।

० आत्मावधानेनाव्यग्रमनसा सहकृतात् निर्दुष्टेन्द्रियात् जातम् इन्द्रियप्रत्यक्षम्।

(प्र.प्र. 1/4)

आत्मा का अवधान होने पर तथा मन व्यग्र न हो उस समय–इन दोनों की सहकारिता से निर्दोष इन्द्रिय से प्राप्त होने वाला ज्ञान 'इन्द्रिय-प्रत्यक्ष' है।

(द्रष्टव्य : प्रत्यक्ष, सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष)

इन्द्रियप्रत्यक्ष के भेद

० से किं तं इंदियपच्चक्खं? इंदियपच्चक्खं पंचविहं पण्णत्तं, तं जहा–सोइंदियपच्चक्खं, चक्खिंदिय-पच्चक्खं, घाणिंदियपच्चक्खं जिब्भिंदियपच्चक्खं फासिंदियपच्चक्खं। सेत्तं इंदियपच्चक्खं।

(नन्दी. 2/5; अनु.सू. 11/517)

वह इन्द्रियप्रत्यक्ष किस प्रकार का है? इन्द्रियप्रत्यक्ष पांच प्रकार का है–श्रोत्रेन्द्रियप्रत्यक्ष, चक्षुरिन्द्रियप्रत्यक्ष, घ्राणेन्द्रियप्रत्यक्ष, जिह्वेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, स्पर्शेन्द्रियप्रत्यक्ष। यह सब इन्द्रियप्रत्यक्ष के अन्तर्गत हैं।

० तत्रेन्द्रियप्रत्यक्षमवग्रहादिधारणापर्यन्तं तथा चतुर्विधमपि बह्वादिद्वादशभेदमष्टचत्वारिंशत्स ङ्ख्यं प्रतीन्द्रियं प्रतिपत्तव्यम्।

(प्र.र.मा. 2/5)

इनमें से जो इन्द्रियप्रत्यक्ष है; वह अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के भेद से चार प्रकार है। उसे भी बहु–अबहु, बहुविध-एकविध, क्षिप्र-अक्षिप्र, अनिःसृत-निःसृत,उक्त-अनुक्त और ध्रुव-अध्रुव इन बारह विषयों के भेद से अड़तालीस भेद वाला, प्रत्येक इन्द्रिय से होने वाला इन्द्रियप्रत्यक्ष जानना चाहिए। अतः पांचों इन्द्रियप्रत्यक्ष के (4X12X5 =240) दो सौ चालीस भेद हो जाते हैं।

इन्द्रियसन्निकर्ष (प्रमाण)

० न वै सन्निकर्षादेरज्ञानस्य प्रामाण्यमुपपन्नं, तस्यार्थान्तरस्येव स्वार्थव्यवसितौ साधकतमत्वानुपपत्तेः।। न खल्वस्य स्वनिर्णीतौ करणत्वम्, स्तम्भादेरिव अचेतनत्वात्।
नाप्यर्थनिश्चितौ स्वनिश्चितौ अकरणस्य कुम्भादेरिव तत्राप्यकरणात्।।

(प्र.न.त. 1/4–5)

इन्द्रिय-सन्निकर्ष आदि अज्ञानरूप हैं उनकी प्रमाणता उचित नहीं है, क्योंकि वे दूसरे (घट आदि) पदार्थों की तरह स्व व पर का निश्चय करने में साधकतम नहीं है। चूंकि इन्द्रिय-सन्निकर्ष आदि स्वनिर्णय में भी करण (साधकतम) नहीं है, क्योंकि वे अचेतन हैं, जैसे स्तम्भ (खंभे) आदि। इसलिए वे घड़े आदि की तरह अर्थ के निर्णय में भी करण (साधकतम) नहीं होते।

० कथं हि अज्ञानरूपाः सन्निकर्षादयः अर्थपरिच्छित्तौ साधकतमा भवन्ति? व्यभिचारात्। सत्यपि इन्द्रियार्थसन्निकर्षे अर्थोपलब्धेरभावात्।

(प्र.मी. 1/1/29)

अज्ञान रूप इन्द्रिय-सन्निकर्ष आदि अर्थज्ञप्ति में साधकतम कैसे हो सकते हैं? उनमें व्याभिचार दोष पाया जाता है, क्योंकि इन्द्रिय व पदार्थ का सन्निकर्ष होने पर भी पदार्थ की उपलब्धि नहीं होती।

० इन्द्रियं चक्षुरादि मनःपर्यन्तम्, तस्यार्थः परिच्छेद्यः इन्द्रियार्थः, इन्द्रियविषयभूतोऽर्थो रूपादिः.....तेन सन्निकर्षः प्रत्यासत्तिः इन्द्रियस्य प्राप्तिः सम्बन्ध इति यावत्।

(षड्.समु.टी. 19)

'इन्द्रिय' यानी चक्षु से लेकर मन तक (पांच ज्ञानेन्द्रिय व मन) 'अर्थ' यानी उन इन्द्रियों का विषयभूत पदार्थ।.....अर्थ के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष यानी प्राप्ति, समीपता अर्थात् सम्बन्ध होना।

० न सन्निकर्षः अर्थप्रमितौ साधकतमः, स्वप्रमितौ असाधकतमत्वात्, घटवत्। न हि अचेतनोऽर्थः स्वप्रमितौ करणम्, तद्वत्। तस्मान्न सन्निकर्षः प्रमाणमन्यत्र उपचारात्, प्रदीपादिवत्। यथा प्रदीपादीनां करणत्वमुपचारात्, तथा सन्निकर्षस्यापि।

(प्र.प्र.क. 1/13)

इन्द्रिय-सन्निकर्ष अर्थ-प्रमिति में साधकतम नहीं है, क्योंकि वह स्व-प्रमिति में साधकतम नहीं हे, घड़े की तरह। जैसे कोई भी अचेतन पदार्थ स्वप्रमिति में साधकतम (करण) नहीं होता। इसलिए उपचार को छोड़कर वह प्रमाण नहीं है। जिस प्रकार प्रदीप आदि ज्ञान में उपचारतः करण (साधकतम) हैं, उसी तरह इन्द्रिय- सन्निकर्ष भी (उपचारतः ही प्रमाण है)।

इन्द्रियसन्निकर्ष के भेद (नैयायिक)

० स चैवं प्रसिद्धस्वरूपः सन्निकर्षः षट्प्रकारो भवति-संयोगः, संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवायः, सम्बद्धविशेषणीभावश्चेति। तत्र चक्षुषो द्रव्येण संयोगः, तत्समवेतैः, गुणकर्मसामान्यैः संयुक्तसमवायः, गुणकर्मसमवेतैः सामान्यैः संयुक्तसमवेत-समवायः, श्रोत्रस्य शब्देन समवायः, शब्दत्वेन समवेतसमवायः, घटाद्यभावेन समवायेन च सम्बद्धविशेषणीभाव इति।

(न्या.कु. 1/3)

वह प्रसिद्ध (इन्द्रिय–) सन्निकर्ष छः प्रकार का है– संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेत-समवाय, समवाय, समवेतसमवाय, और सम्बद्ध-विशेषणीभाव। इनमें चक्षु का द्रव्य के साथ जो सन्निकर्ष होता है, वह 'संयोग' सन्निकर्ष है। द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले गुण, कर्म व सामान्य के साथ 'संयुक्त समवाय' सन्निकर्ष होता है। गुण व कर्म में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले सामान्य के साथ सन्निकर्ष 'संयुक्तसमवेत समवाय' होता है। श्रोत्र का शब्द के साथ 'समवाय' सन्निकर्ष होता है। घटादि अभाव के साथ तथा समवाय के साथ सन्निकर्ष 'सम्बद्ध विशेषणीभाव' सन्निकर्ष होता है।

० स च षोढा–

(1) इन्द्रियेण सार्धं द्रव्यस्य संयोग एव।

(2) रूपादिगुणानां संयुक्तसमवाय एव, द्रव्ये समवेतत्वात्।

(3) रूपत्वादिषु गुणसमवेतेषु संयुक्तसमवेत-समवाय एव।

(4) शब्दे समवाय एव, आकाशस्य श्रोत्रत्वेन व्यवस्थितत्वात्, शब्दस्य च तद्गुणत्वेन तत्र समवेतत्वात्।

(5) शब्दत्वे समवेतसमवाय एव, शब्दे समवेतत्वात्।

(6) समवाय-अभावयोः विशेषणविशेष्यभाव एव। उक्तरूपपञ्चविधसम्बन्धसम्बद्धेषु वस्तुषु समवायघटादि दृश्याभावयोर्विशेषणत्वं विशेष्यत्वं वा भवतीत्यर्थः। तद्यथा –तन्तवः पटसमवायवन्तः, तन्तुषु पटसमवाय इति। घटशून्यं भूतलमिह भूतले घटो नास्ति, इति षोढा सन्निकर्षः।

(षड्.समु.टी. 19/17)

यह सन्निकर्ष छह प्रकार का है–

(1) संयोग-चक्षुरादि इन्द्रियों का द्रव्य के साथ 'संयोग सन्निकर्ष' होता है, अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय तेजो-द्रव्य रूप है, रसनेन्द्रिय जलद्रव्यरूप, घ्राणेन्द्रिय पार्थिव तथा स्पर्शनेन्द्रिय वायुद्रव्यरूप है। इन द्रव्यरूप इन्द्रियों का द्रव्य के साथ संयोग सम्बन्ध होता है।

(2) संयुक्तसमवाय-द्रव्य में रहने वाले रूपादिगुणों के साथ 'संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष' होता है। क्योंकि चक्षु से संयुक्त द्रव्य में रूपादिगुण समवेत है–समवाय सम्बन्ध से रहते हैं।

(3) संयुक्तसमवेतसमवाय-रूपादि में समवाय से रहने वाले रूपत्वादि के साथ 'संयुक्त-समवेतसमवाय सन्निकर्ष' है। अर्थात् चक्षुसंयुक्त द्रव्य में रूपादि समवेत हैं तथा उनमें रूपत्वादि का समवाय पाया जाता है।

(4) समवाय-श्रोत्र के द्वारा शब्द का साक्षात्कार करने में 'समवाय सन्निकर्ष' होता है। कर्णशष्कुली में रहने वाले आकाश द्रव्य को श्रोत्र कहते हैं। शब्द आकाश का गुण है। अतः श्रोत्र अर्थात् आकाश द्रव्य का शब्द नामक गुण से समवाय सम्बन्ध होता है।

(5) समवेतसमवाय-शब्दत्व के साथ श्रोत्र का 'समवेतसमवाय सन्निकर्ष' होता है। आकाश में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले शब्द में शब्द में शब्दत्व का समवाय होता है।

(6) विशेषण-विशेष्यभाव-समवाय और अभाव

का प्रत्यक्ष करने के लिए विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध होता है। ऊपर कहे गये पांच पकार के सम्बन्ध जिन पदार्थों में पाये जाते हैं, उनसे समवाय तथा घटादि दृश्य पदार्थों के अभाव का विवक्षानुसार विशेषणरूप से या विशेष्य-रूप से सम्बन्ध रहता है। जैसे 'तन्तु' पटसमवाय–वाले हैं, यहां समवाय की विशेषण रूप से तथा 'तन्तु में पट का समवाय है' यहां समवाय की विशेष्य रूप से प्रतीति होती है। इसी तरह 'भूतल घट से रहित है' यहां अभाव विशेषण रूप से तथा 'इस भूतल में घट नहीं है' यहां अभाव विशेष रूप से अनुभव में आता है। इस प्रकार छह प्रकार का सन्निकर्ष है।

इष्टापादन (तर्कदोष)

० आपाद्यानिष्टधर्मः परस्येष्टश्चेत् इष्टापादनम्।

(प्र.प्र. 1/44)

सिद्ध किया जाने वाला अनिष्ट गुण यदि प्रतिपक्षी को इष्ट ही हो तो वह 'इष्टापादन' नाम का तीसरा दोष होता है।

(द्रष्टव्यः तर्क-दोष)

ई

ईहा

० अवगृहीते विषयार्थैकदेशात् शेषानुगमनं निश्चयविशेषजिज्ञासा ईहा।

(तत्त्व.भा. 1/15)

अवग्रह के द्वारा जिस पदार्थ के एकदेश का ग्रहण कर लिया गया है, उसी के शेष अंश को भी जानने के लिए जो प्रवृत्ति होती है, अर्थात् उस पदार्थ को विशेष रूप से निश्चय करने के लिए जो विशेष जिज्ञासा या चेष्टा होती है, उसी को 'ईहा' कहते हैं।

० अवग्रहगृहीतेऽर्थे तद्विशेषाकाङ्क्षणमीहा।

(स.सि. 1/15/190; रा.वा. 1/15/2)

अवग्रह से जाने गये पदार्थ के विशेष जानने की इच्छा को 'ईहा' कहते हैं।

० तह वियालणं ईहं।

(विशे.भा. 179)

ज्ञात पदार्थ के विशेषों की विचारणा 'ईहा' है।

० भेयमग्गणमहेहा।

(विशे.भा. 180)

(उसी के) भेदों (विशेषों) की मार्गणा (अन्वेषणा) 'ईहा' है।

० इय सामण्णग्गहणाणंतरमीहा सदत्थवीमांसा। किमिदं सद्दोऽसद्दो? को होज्ज व संख-संगाणं ?

(विशे.भा. 289)

इस (पूर्वोक्त) रीति से सामान्य ग्रहण के बाद, सद् (विद्यमान) अर्थ की मीमांसा (प्रारम्भ) होती है–(जैसे) क्या यह शब्द है या (उससे भिन्न) अशब्द है ? अथवा (शब्द है तो) क्या यह शङ्ख का है या शृंगी वाद्य का ?

० तद्गृहीतार्थसामान्ये यद्विशेषस्य कांक्षणम्। निश्चयाभिमुखं सेहा संशीतेर्भिन्नलक्षणा।।

(तत्त्व.श्लो. 1/15/3)

उस अवग्रह से गृहीत किये हुए अर्थसामान्य

में विशेष अंशों के निश्चय करने हेतु होने वाला आकांक्षा रूप जो ज्ञान है, उसे 'ईहा' कहते हैं। वह ईहा संशय से भिन्न लक्षण वाली होती है (अर्थात् संशयात्मक नहीं होती)।

० तद्गृहीतवस्तुविशेषाकांक्षणमीहा।

(प्र.प. 95, पृ. 39)

अवग्रह द्वारा गृहीत वस्तु के विशेष ज्ञान की आकांक्षा 'ईहा' है।

० ईहितस्यार्थस्य निश्चयोऽवायः।

(ध. 1, पृ. 356)

ईहा के द्वारा जाने गये पदार्थ के निश्चयरूप ज्ञान को 'अवाय' कहते हैं।

० जो अवग्गहेण गहिदो अत्थो, तस्स विसेसाकंक्ख-णमीहा। जधा कं पि दट्ठूण किमेसो भव्वो अभव्वो त्ति विसेसपरिक्खा सा ईहा।

(ध. 6, पृ. 17)

अवग्रह द्वारा जो पदार्थ ग्रहण किया गया है, उसकी विशेष जिज्ञासा को 'ईहा' कहते हैं। जैसे किसी पुरुष को देखकर क्या यह भव्य है अथवा क्या यह अभव्य है, इस प्रकार की विशेष परीक्षा करने को 'ईहाज्ञान' कहते हैं।

० अवगृहीतार्थविशेषाकांक्षणमीहा।।

(ध. 9, पृ. 36; प्र.न.त. 2/8)

अवग्रह से जाने हुये पदार्थ में विशेष जानने की इच्छा 'ईहा' है।

० पुरुष इत्यवग्रहीते भाषावयोरूपादिविशेषैराकांक्षणमीहा।

(ध. 9, पृ. 144)

'पुरुष' इस प्रकार अवग्रह द्वारा गृहीत अर्थ में भाषा, आयु और रूपादि विशेषों से होने वाली आकांक्षा का नाम 'ईहा' है।

० पुरुषमवगृह्य किमयं दाक्षिणात्य उत उदीच्य इत्येवमादिविशेषाप्रतिपत्तौ संशयानस्योत्तरकालं विशेषोपलिप्सां प्रति वर्तनमीहा।

(ध. 9, पृ. 146)

अवग्रह से पुरुष को ग्रहण करके, क्या यह दक्षिण का रहने वाला है या उत्तर का, इत्यादि विशेष ज्ञान के बिना संशय को प्राप्त हुए व्यक्ति के उत्तर काल में विशेष जिज्ञासा के प्रति जो प्रयत्न होता है, उसका नाम 'ईहा' है।

० अवगृहीते तद्विशेषाकांक्षणमीहा।..... का ईहा नाम ? संशयादूर्ध्वमवायादधस्तात् मध्यावस्थायां वर्तमानः विमर्शात्मकः प्रत्ययः हेत्ववष्टम्भबलेन समुत्पद्यमानः ईहेति भण्यते।

(ध. 13, पृ. 217; प्र.मी. 1/1/27)

अवग्रह से ज्ञात वस्तु को विशेष रूप से जानने की इच्छा 'ईहा' है।..... ईहा क्या है? संशय होने के बाद तथा 'अवाय' से पहले मध्यवर्ती अवस्था में होने वाला जो विमर्शात्मक प्रत्यय (प्रतीति) होता है, जो हेतु के आधार के बल से उत्पन्न होता है, वह 'ईहा' कहा जाता है।

० उत्पन्नसंशयविनाशाय ईहते चेष्टते अनया बुद्धया इति ईहा।

(ध. 13, पृ. 242)

जिस बुद्धि के द्वारा उत्पन्न हुए संशय का नाश करने के लिये 'ईहते' अर्थात् चेष्टा की जाती है, वह 'ईहा' है।

० का ईहा ? ओग्गहणाणग्गहिए अत्थे विण्णाणाउ-पमाण-देस-भासादिविसेसाकंखणमीहा। ओग्गहादो उवरिमअवायादो हेट्ठा जं णाणं विचारप्पयं समुप्पण्णसंदेहछिंदणसहावमीहात्ति भणिदं होदि।

(ज.ध. 1, पृ. 307)

ईहा किसे कहते हैं ? अवग्रह ज्ञान के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थ में विज्ञान, आयु, प्रमाण, देश और भाषा आदि रूप विशेष के जानने की इच्छा को 'ईहा ज्ञान' कहते हैं। अवग्रह ज्ञान के पश्चात् और अवाय ज्ञान के पहले जो विचारात्मक ज्ञान होता है, जिसका स्वभाव अवग्रह ज्ञान में उत्पन्न हुए संदेह को दूर करना है, वह 'ईहा ज्ञान' होता है।

० पुनः अवग्रहोत्तरकालम्, अवग्रहेण विषयीकृतः, अवग्रहीकृतः, अवान्तरमनुष्यत्वादिजातिविशेषः, तस्य विशेषः कर्णाटलाटादिभेदः, तस्य आकांक्षणं भवितव्यताप्रत्ययरूपतया ग्रहणाभिमुख्यम्, ईहा भवति।

(न्या.कु. 1/6)

अवग्रह के उत्तरकाल में, अवग्रह द्वारा विषयभूत अर्थात् अवग्रहीकृत जो मनुष्यत्व आदि अवान्तर जातिविशेष होता है, उसका भी जो विशेष (भेद) कर्णाटकवासी, लाटदेशी आदिपना, उसकी आकांक्षा करना अर्थात् उसके होने की प्रतीति (निश्चय) रूप में ग्रहण करने की ओर जो चेष्टा है, वह 'ईहा' होती है।

० अवगहणाणं गहिदे विसेसकंखा हवे ईहा।

(गो.सा.जी. 308)

अवग्रह ज्ञान के अनन्तर अवगृहीत वस्तु के विषय में 'विशेष' की आकांक्षा रूप ज्ञान जो होता है, वह 'ईहा' कहा जाता है।

० भेदमार्गणम्–भेदा वस्तुनो धर्मास्तेषां मार्गणमन्वेषणं विचारणं प्रायः काकनिलयनादयः स्थाणुधर्मा अत्र वीक्ष्यन्ते, न तु शिरःकण्डूयनादयः पुरुषधर्मा इत्येवं वस्तुधर्मविचारणमीहेत्यर्थः।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 180)

अवग्रह के भेदों की मार्गणा 'ईहा' होती है। (तात्पर्य है–) भेद यानी वस्तुगत धर्म, उनकी जो मार्गणा यानी अन्वेषणा, विचारणा होती है, वह ईहा है, जैसे–कौए के घोंसले आदि वृक्षगत धर्म प्रायः यहां (दृष्टिगोचर) हैं, सिर खुजाना आदि पुरुषगत धर्म यहां (दृष्टिगोचर) नहीं हैं, इस प्रकार वस्तुविषयक धर्मों की विचारणा 'ईहा' है।

० अवगृहीतस्य शब्दादेरर्थस्य किमयं शब्दः शाङ्खः शाङ्गो वा इति संशये सति माधुर्यादयः शाङ्ख-धर्मा एवोपलभ्यन्ते, न कार्कश्यादयः शाङ्ग-धर्माः इत्यन्वयव्यतिरेकरूपविशेषपर्यालोचनरूपा मतेश्चेष्टेहा।

(प्र.मी. 1/1/27)

अवग्रह से गृहीत शब्दादि पदार्थ के विषय में 'क्या यह शंख का शब्द है या धनुष का', ऐसा संशय होने पर, यहां माधुर्य आदि शंख–शब्द के धर्म ही उपलब्ध हैं, और कर्कशता आदि धनुष शब्द के धर्म उपलब्ध नहीं है–इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक रूप 'विशेष' सम्बन्धी पर्यालोचना रूपी जो बुद्धि की चेष्टा होती है, वह 'ईहा' है।

० अवग्रहगृहीतार्थे विशेषप्रतिपत्तिः ईहा।

(प्र.प्र. 1/6)

अवग्रह से जाने हुए पदार्थ के विषय में विशेष विचार को 'ईहा' कहते हैं।

० अवगृहीतोऽवग्रहेण विषयीकृतो योऽर्थोऽवान्तर-मनुष्यत्वादिजातिविशेष-लक्षणस्तस्य विशेषः कर्णाट-लाटादिभेदस्तस्याकांक्षणं भवितव्यताप्रत्ययरूपतया ग्रहणाभिमुख्यमीहेत्यभिधीयते।

(र.करा. 2/8)

अवग्रह के द्वारा ग्रहीत विषय 'मनुष्य' आदि में जाति आदि विशेष जानने की इच्छा से 'यह लाट देशीय है या अन्यदेशीय' इस प्रकार विशेष को जानने की इच्छा होना 'ईहा' ज्ञान कहलाता है।

० अवग्रहगृहीतार्थसमुद्भूतसंशयनिरासाय यतनमीहा।

(न्या.दी. 2/11)

अवग्रह से जाने हुये अर्थ में उत्पन्न संशय को दूर करने के लिये ज्ञाता का जो अभिलाषात्मक प्रयत्न होता है उसे 'ईहा' कहते हैं।

० पुनरवगृहीतविषयसंशयानन्तरं तद्विशेषाकाङ्क्षणमीहा।

(षड्.समु.टी. 55/314)

अवग्रह के द्वारा जाने गये पदार्थ में उत्पन्न होने वाले संशय के बाद विशेष निर्णय के लिये होने वाला 'यह ऐसा होना चाहिए' ऐसी भवितव्यता प्रत्यय 'ईहा' कहा जाता है।

० अवगृहीत-विशेषाकांक्षणमीहा, व्यतिरेकधर्मनिरा-करणपरोऽन्वयधर्मघटनप्रवृत्तो बोध इति यावत्।

(जै.त.भा.प्र.परि., पृ. 14)

अवग्रह से गृहीत वस्तु के विशेष को जानने की आकांक्षा 'ईहा' है, अर्थात् जो व्यतिरेक धर्म के निराकरण में तत्पर हो और अन्वय धर्म को घटित करने में प्रवृत्त हो, वह 'ईहा' कहलाती है।

० अमुकेन भाव्यमिति प्रत्यय ईहा।

(भि.न्या. 2/11)

'अमुक होना चाहिए' इस प्रकार के प्रत्यय (प्रतीति) को 'ईहा' कहते हैं।

ईहा के पर्याय

० तीसे णं इमे एगट्ठिया नाणाघोसा नाणावंजणा पंच नामधिज्जा भवंति, तं जहा– 1. आभोगणया, 2. मग्गणया, 3. गवेसणया, 4. चिंता, 5. वीमंसा।

(नन्दी. 3/45)

उस (ईहा) के नानाघोष और नानाव्यंजन वाले पांच पर्यायवाची नाम हैं। जैसे–1. आभोग, 2. मार्गणा 3. गवेषणा 4. चिंता 5. विमर्श।

० ईहा, ऊहा, तर्कः, परीक्षा, विचारणा, जिज्ञासा इत्यनर्थान्तरम्।

(तत्त्व.भा. 1/15)

ईहा, ऊहा, तर्क, परीक्षा, विचारणा, जिज्ञासा –ये एकार्थक हैं।

उ

उत्कर्ष :

० अविद्यमानधर्मव्यापक उत्कर्षः।

(तत्त्व.श्लो. 1/33/तत्त्वार्थाधिगमभेद 342)

पक्ष में अविद्यमान हो रहे धर्म को पक्ष में व्याप्त करने का प्रसंग देना 'उत्कर्ष' है।

उत्कर्षसमा, जाति (दूषणाभास, जात्युत्तर के भेद)

० उत्कर्षापकर्षाभ्यां प्रत्यवस्थानमुत्कर्षापकर्षसमे जाती। तत्रैव प्रयोगे दृष्टान्तधर्मं कंचित् साध्य-धर्मिण्यापादयन्नुत्कर्षसमां जातिं प्रयुङ्क्ते-यदि घटवत् कृतकत्वादनित्यः शब्दो घटवदेव मूर्तोऽपि भवतु। न चेन्मूर्तो घटवदनित्योऽपि मा भूदिति शब्दे धर्मान्तरोत्कर्षमापादयति।

(प्र.मी. 2/1/29)

उत्कर्ष (अधिकता) दिखलाकर हेतु का निराकरण करना उत्कर्षसमा जाति है। पहले वाले प्रयोग में ही दृष्टान्त (सपक्ष) के किसी धर्म को पक्ष में आपादन करने वाला उत्कर्षसमाजाति का प्रयोग करता है। यथा–यदि घट के समान कृतक होने से शब्द अनित्य है तो घट के समान मूर्त्त भी होना चाहिए। ऐसा कहकर शब्द में एक-दूसरे धर्म (मूर्त्तत्व) की अधिकता का आपादन करता है।

० दृष्टान्ते दृष्टस्यानिष्टधर्मस्य दार्ष्टान्ते योजनमुत्कर्ष-समा जातिः।

(प्र.प्र. 1/51)

दृष्टान्त में कोई अनिष्ट धर्म (साध्य के प्रतिकूल गुण) देखा गया हो तो उसे दार्ष्टान्त में (साध्य में) जोड़ देना यह 'उत्कर्षसमा' जाति होती है।

उत्पत्तिसमा जाति (दूषणाभास)

० कारणविघटनया कार्यानुत्पत्तिप्रत्यवस्थानम् उत्पत्तिसमा जातिः।

(प्र.प्र. 1/59)

कारण के विघटन द्वारा यह आपत्ति उपस्थित करना कि कार्य की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती–यह 'उत्पत्तिसमा' जाति (दूषणाभास) होती है।

उत्पाद

० द्रव्यनयाभिप्रायेणाकारान्तराविर्भावमात्रमुत्पाद औपचारिकः, परमार्थतो न किञ्चिदुत्पद्यते सतत-मवस्थितद्रव्यांशमात्रत्वात्।

(तत्त्व.भा.वृ. 5/29)

द्रव्य नय की दृष्टि से अन्य आकार का आविर्भाव होना रूप जो उत्पाद है, वह औपचारिक है, परमार्थ दृष्टि से तो कोई (नई) वस्तु उत्पन्न नहीं होती है, क्योंकि द्रव्य-अंश रूप में वह सर्वदा विद्यमान रहती है।

० चेतनस्याचेतनस्य वा द्रव्यस्य स्वां जातिमजहत उभयनिमित्तवशाद्भावान्तरावाप्तिरूत्पादनमुत्पादः।

(स.सि. 5/30/584)

बाह्य और अभ्यन्तर निमित्त के वश जो चेतन व अचेतन द्रव्य अपनी जाति को न छोड़ता हुआ अवस्थान्तर को–पूर्व अवस्था को छोड़कर नवीन अवस्था को–प्राप्त होता है, उसका नाम 'उत्पाद' है।

० उत्पादादीनामानन्त्यम् अनन्तकाले एकस्मिंश्च काले।

(रा.वा. 4/42/10)

अनन्त काल एवं एककाल–दोनों में ही (द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की अपेक्षा से) अनन्त प्रकार के उत्पाद आदि होते हैं।

० स्वजात्यपरित्यागेन भावान्तरावाप्तिरुत्पादः। चेतनस्य अचेतनस्य वा द्रव्यस्य स्वजातिमजहतः

भावान्तरावाप्तिरुत्पादनमुत्पाद इत्युच्यते मृत्पिण्डस्य घटपर्यायवत्।

(रा.वा. 5/30/1)

अपनी जाति का परित्याग न करते हुए अन्य परिणाम को प्राप्त होना 'उत्पाद' है। चेतन या अचेतन द्रव्य का अपनी जाति (मूल स्वरूप) को न छोड़ते हुए अन्य परिणामों को प्राप्त होना उत्पादन या 'उत्पाद' कहलाता है, जैसे मृत्-पिण्ड का घट-पर्याय प्राप्त करना।

० आविब्भावो उप्पादो।

(ध. 15, पृ. 19)

आविर्भाव को 'उत्पाद' कहते हैं।

० अभूत्वा भाव उत्पादः।

(आ.पु. 24/110)

पहले न होकर (बाद में) होना—यह उत्पाद है।

० प्रागसत आत्मलाभ उत्पादः।

(सि.वि.टी. 3/15, पृ. 202)

पहले असद्भूत (वस्तु) का आत्मलाभ (आविर्भाव)—यह उत्पाद है।

० द्रव्यस्य स्यात्समुत्पादश्चेतनस्येतरस्य च।
भावान्तरपरिप्राप्तिर्निजां जातिमनुज्झतः।।

(तत्त्वा. 3/6)

अपनी जाति को नहीं छोड़ते हुए चेतन तथा अचेतन द्रव्य को जो अन्य पर्याय की प्राप्ति होती है, वह 'उत्पाद' कहलाता है।

० एकजात्यविरोधिनि क्रमभुवां भावानां सन्ताने पूर्वभावविनाशः समुच्छेद उत्तरभावप्रादुर्भावश्च समुत्पादः।

(पंचा.त.प्र. 10)

एक वस्तु में अविरोधी जो क्रमवर्ती पर्याय हैं, उनमें पूर्व भावों का विनाश होता है, उसे समुच्छेद (व्यय) कहते हैं, और अगले भावों का जो प्रादुर्भाव है, उसे 'उत्पाद' कहते हैं।

० तत्रोत्पादोऽवस्था प्रत्यग्रं परिणतस्य तस्य सतः।
सदसद्भावनिबद्धं तदतद्भावत्ववन्नयादेशात्।

(पं. 1/201)

परिणमन करने वाले सत् (द्रव्य) की जो नवीन अवस्था होती है, वह 'उत्पाद' कहलाती है, क्योंकि द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा तत् व अतत् भाव के समान वस्तु सत् व असत् रूप से निबद्ध होती है। (द्रष्टव्य : अनन्तधर्मात्मक, द्रव्य, परनिमित्तक उत्पाद, वस्तु, व्यय)

उत्पाद के भेद

० द्विविध उत्पादः, स्वनिमित्तः, परप्रत्ययश्च।

(स.सि. 5/7/539)

उत्पाद के दो प्रकार हैं—स्वनिमित्तक और परनिमित्तक।

उत्पादव्यय

० ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो।
उप्पादो वि य भंगों ण विणा धोव्वेण अत्थेण।।

(प्र.सा. 2/8)

व्यय रहित उत्पाद नहीं होता तथा उत्पाद रहित व्यय नहीं होता, और उत्पाद तथा व्यय —ये दोनों भी नित्य स्थिर रूप पदार्थ के बिना नहीं होते।

० जो हि भवो सो विलओ संभवविलय त्ति ते णाणा।

(प्र.सा. 2/27)

जो वस्तु उत्पत्ति रूप है, वही विलय (व्यय) रूप है, इसलिए उत्पाद व व्यय–ये दोनों नाना (भेद लिए हुए, भिन्न-भिन्न) हैं।

० उत्पत्ती व विणासो दव्वस्स य णत्थि।

(पंचा. 11)

गुणपज्जएसु भावा उप्पादवए पकुव्वंति।

(पंचा. 15)

द्रव्य की उत्पत्ति या उसका विनाश (व्यय) नहीं होता। (11)

भाव (यानी सत् रूप पदार्थ) गुण-पर्याय में उत्पाद व व्यय करते हैं (अर्थात् पदार्थ तो ध्रुव रहता है, उसके ही परिणामी गुणों के पर्यायों में विनाश व उत्पत्ति की प्रक्रिया प्रवर्तमान रहती है)। (15)

० न खलु सर्गः संहारमन्तरेण, न संहारो वा सर्गमन्तरेण, न सृष्टिसंहारौ स्थितिमन्तरेण, न स्थितिः सर्गसंहारमन्तरेण।

य एव हि सर्गः स एव संहारः, य एव संहारः, स एव सर्गः, यावेव सर्गसंहारौ सैव स्थितिः, यैव स्थितिस्तावेव सर्गसंहाराविति।

(प्र.सा.तत्त्वप्र. 2/8)

सर्ग (उत्पाद) संहार (व्यय) के बिना नहीं होता, न ही संहार संर्ग के बिना होता है, और न ही सृष्टि व संहार स्थिति के बिना होते हैं, और न ही स्थिति सर्ग व संहार के बिना होती है। इस तरह जो सर्ग (उत्पाद) है, वहीं संहार (व्यय) है, जो संहार (व्यय) है, वही सर्ग (उत्पाद) है। जो सर्ग व संहार (उत्पाद व व्यय) है, वही रूप 'स्थिति' (ध्रौव्य) है, जो स्थिति (ध्रौव्य) है, वही –सर्ग व संहार (उत्पाद व व्यय) है।

० येन स्वरूपेण उत्पादः, तत् तथोत्पादैकलक्षणमेव, येन स्वरूपेण उच्छेदः, तत् तथोच्छेदैकलक्षणमेव।

(पंचा.त.प्र. 8)

जिस स्वरूप से (वस्तु के गुण-पर्याय में) उत्पाद होता है, उस स्वरूप से वह मात्र उत्पाद लक्षण वाला ही है, और जिस स्वरूप से उच्छेद (व्यय) होता है, उस स्वरूप से वह मात्र उच्छेद (व्यय) लक्षण वाला ही है (अर्थात् उत्पाद व व्यय–इन दोनों में स्वरूप-भेद समझना चाहिए)।

० पर्यायाणामिह किल भङ्गोत्पादद्वयस्य वा व्याप्तिः।

(पं. 1/101)

भङ्ग (व्यय) व उत्पाद–इन दोनों के साथ पर्यायों की नियमतः व्याप्ति है।

० वस्तु यथा परिणामि, तथैव परिणामिनो गुणाश्चापि।

तस्मादुत्पादव्ययद्वयमपि भवति हि गुणानां तु।।

(पं. 1/112)

जिस प्रकार वस्तु परिणमनशील है, उसी प्रकार गुण भी परिणमनशील हैं, इसलिए गुणों में उत्पाद व व्यय दोनों होते हैं।

० एवं चैकस्य सतो व्युत्पादादित्रयश्च तत्रांशाः।

(पं. 1/224)

केवलमंशानामिह नाप्युत्पादो व्ययोऽपि न ध्रौव्यम्।
नाप्यंशिनस्त्रयं स्यात् किमुतांशेनांशिनो हि तत् त्रितयम्।।

(पं. 1/228)

एक सत् पदार्थ के ही उत्पाद, व्यय, एवं ध्रौव्य –ये तीन अंश हैं। (224)

केवल अंशों का न उत्पाद होता है, न व्यय होता है और न ध्रौव्य होता है। इसी तरह अंशी का भी न तो उत्पाद होता है, न व्यय होता है ओर न ध्रौव्य ही। अपितु 'अंशी' (वस्तु) का अंश रूप से उत्पाद होता है, व्यय होता है और ध्रौव्य होता है। (228)

० उत्पादव्ययययोरपि भवति यदात्मा स्वयं सदेवेति।
तस्मादेतद् द्वयमपि वस्तु सदेवेति नान्यदस्ति सतः।।

(पं. 1/246)

उत्पाद व व्यय–इन दोनों का आत्मा (स्वरूप) स्वयं 'सत्' रूप ही है, अतः ये दोनों सद्रूप हैं, सत् से भिन्न नहीं हैं।

उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकता

(द्रष्टव्य : अनेकान्तात्मकता)

उदाहरण

० दृष्टान्तवचनमुदाहरणम्।

(प्र.मी. 2/1/13)

दृष्टान्त के कथन को 'उदाहरण' कहते हैं।

० व्याप्तिपूर्वकदृष्टान्तवचनमुदाहरणम्, यथा–यो यो धूमवानसावसावग्निमान्।

(न्या.दी. 3/32)

व्याप्ति को दिखलाते हुए दृष्टान्त को कहने को 'उदाहरण' कहते हैं। जैसे –जो जो ध ूम वाला है, वह वह अग्नि वाला है।

० उदाहरणं च सम्यग्दृष्टान्तवचनम्।

(न्या.दी. 3/64)

यथार्थ दृष्टान्त के कहने को 'उदाहरण' कहते हैं।

उदाहरणाभास

० उदाहरणलक्षणरहित उदाहरणवदवभासमान उदाहरणाभासः।

(न्या.दी. 3/66)

जो उदाहरण के लक्षण से रहित है, किन्तु उदाहरण जैसा प्रतीत होता है, वह 'उदाहरणाभास' है।

(द्रष्टव्य : अन्वयदृष्टान्ताभास)

उदाहरणाभास के भेद

० उदाहरणलक्षणराहित्यं द्वेधा सम्भवति, दृष्टान्त-स्यासम्यग्वचनेनादृष्टान्तस्य सम्यग्वचनेन वा। तत्राद्यं यथा, यो योऽग्निमान् स स धूमवान्, यथा महानस इति, यत्र यत्र धूमो नास्ति तत्र तत्राऽग्निर्नास्ति, यथा महाह्रद इति च व्याप्यव्यापकयोर्वैपरीत्येन कथनम्।

(न्या.दी. 3/66)

उदाहरण के लक्षण की रहितता दो तरह से होती है–1. दृष्टान्त का सम्यक् वचन न होना और 2. जो दृष्टान्त नहीं है, उसका सम्यक् वचन होना। उनमें पहले का उदाहरण इस प्रकार है–'जो जो अग्निवाला होता है, वह धूमवाला होता है, जैसे रसोई घर। जहाँ जहाँ धूम नहीं है, वहाँ वहाँ अग्नि नहीं है, जैसे तालाब।' इस तरह व्याप्य और व्यापक का विपरीत कथन करना दृष्टान्त का असम्यग्वचन है।

उद्देश

० नामधेयमात्रकीर्त्तनमुद्देशः।

(प्र.मी. 1/1/1)

वस्तु के नाम का कथन मात्र करना 'उद्देश' कहा जाता है।

० विवेक्तव्यनाममात्रकथनमुद्देशः।

(न्या.दी. 1/2)

विवेचनीय वस्तु के केवल नामोल्लेख करने को 'उद्देश' कहते हैं।

० नाममात्रेण वस्तुकथनमुद्देशः।

(प्र.रत्ना. 1/1 उत्थानिका)

केवल नाम-कथन द्वारा वस्तु का कथन 'उद्देश' कहलाता है।

उपग्रह

० उपग्रहोऽनुग्रहः। द्रव्याणां शक्त्यन्तराविर्भावे कारणभावोऽनुग्रहः उपग्रह इत्याख्यायते।

(रा.वा. 5/17/3)

उप्रग्रह अर्थात् अनुग्रह। द्रव्यों की शक्त्यन्तर (अन्य शक्ति) के आविर्भाव में कारण होना—यह अनुग्रह या उपग्रह कहा जाता है।

उपग्रह के पर्याय

० उपग्रहः, निमित्तम्, अपेक्षा, कारणम्, हेतुः इत्यनर्थान्तरम्।

(तत्त्व.भा. 5/17)

उपग्रह, निमित्त, अपेक्षा, कारण, हेतु—ये एकार्थक हैं।

उपचरित असद्भूतव्यवहार (अध्यात्म) नय

० तत्र संश्लेषरहितवस्तुसम्बन्धविषय उपचरितासद्भूत- व्यवहारो यथा देवदत्तस्य धनमिति।

(आ.प. 227)

संश्लेष-सम्बन्ध रहित, ऐसी भिन्न वस्तुओं का परस्पर में सम्बन्ध ग्रहण करना 'उपचरित-असद्भूतव्यवहार' नय का विषय है। जैसे—देवदत्त का धन।

उपचरितअसद्भूतव्यवहार (उपनय)

० यश्चैकेनोपचारेणोपचारो हि विधीयते।
स स्यादुपचरिताद्यसद्भूतव्यवहारकः।।

(द्रव्य.तर्क. 7/13)

एक उपचार के द्वारा दूसरे उपचार का जो विधान किया जाता है; वह 'उपचरित असद्भूतव्यवहार' (उपनय) कहा जाता है।

उपचरितअसद्भूतव्यवहार (उपनय) के भेद

० उपचरितासद्भूतव्यवहारस्त्रेधा।।
स्वजात्युपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा पुत्रदारादि मम।।
विजात्युपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा वस्त्राभरणहेमरत्नादि मम।।
स्वजातिविजात्युपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा देशराज्यदुर्गादि मम।।

(आ.प. 88–91)

उपचरित असद्भूतव्यवहार उपनय तीन प्रकार का है—पुत्र, स्त्री आदि मेरे हैं—ऐसा कहना स्वजात्युपचरितासद्भूत-व्यवहार नय का विषय है।

वस्त्र, आभूषण, स्वर्ण, रत्नादि मेरे हैं, ऐसा कहना 'विजात्युपचरित असद्भूतव्यवहार' उपनय है।

'देश, राज्य, दुर्ग आदि मेरे हैं' यह 'स्वजाति-विजात्युपचरित असद्भूतव्यवहार' उपनय का विषय है।

उपचरित भाव

० एकत्र निश्चितो भावः परत्र चोपचर्यते। उपचरितभावः सः.....।।

(द्रव्य.तर्क. 12/10)

एकत्र निश्चित भाव का अन्यत्र जो उपचार (आरोप) किया जाता है, उसे 'उपचरित' भाव कहते हैं।

उपचरित सद्भूतव्यवहार (अध्यात्म) नय

० तत्र सोपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषयः उपचरितसद्भूत-व्यवहारो, यथा जीवस्य मतिज्ञानादयो गुणाः।

(आ.प. 224)

उनमें से, कर्मजनित विकार सहित गुण और गुणी के भेद को विषय करने वाला उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय होता है। जैसे–जीव के मतिज्ञानादिक गुण।

उपचार

० सति मुख्ये लोके उपचारः दृश्यते। यथा सति सिंहे विशिष्टतिर्यग्गतिपञ्चेन्द्रियजातिनखदंष्ट्रा-सटाटोपभासुरकपिलनयनतारकाद्यवयवविशिष्टे, अन्यत्र क्रौर्यशौर्यादिगुणसाधर्म्यात् सिंहोपचारः क्रियते।

(रा.वा. 1/12/14)

मुख्य वस्तु (स्वतंत्ररूप से प्रसिद्ध) हो तो ही लोके उपचार देखा जाता है। जैसे–विशिष्ट तिर्यंच गति वाला, पञ्चेन्द्रिय जाति का तथा नख, दाढ, सटा (अयाल) चमकीले पीले नयनतारे आदि अवयवों वाला कोई सिंह प्रसिद्ध है, तभी अन्यत्र (सैनिक आदि में) सिंह का उपचार किया जाता है।

० उपचारः व्यवहारः शब्दनिबन्धनः। स च शब्दो निमित्तमाश्रित्य प्रतीतः।

(प्रशम.टी. 202)

शाब्दिक व्यवहार को 'उपचार' कहा जाता है, जो किसी निमित्त का आश्रय लेकर किया जाता है।

० उपचारोऽपि च प्रायो लोके यन्मुख्यपूर्वकः।

(यो.बि.15)

लोक में उपचार जो होता है, वह मुख्यपूर्वक (मुख्य के होने पर ही) होता है।

० उपचारश्च निमित्तं विना न प्रवर्तते।

(प्र.क.मा. 1/7, पृ. 112)

निमित्त (प्रयोजन) के बिना उपचार की प्रवृत्ति नहीं होती।

० उपचारो हि मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते च प्रवर्तते।

(प्र.र.मा. 3/52)

मुख्य का अभाव होने पर, तथा किसी प्रयोजन और निमित्त के होने पर 'उपचार' की प्रवृत्ति होती है।

० उपचारस्यापि किञ्चित्साधर्म्यद्वारेण मुख्यार्थ-स्पर्शित्वात्।

(स्या.मं. 5)

उपचार भी किसी न किसी साधर्म्य से मुख्य अर्थ को द्योतित करने वाला होता है।

(द्रष्टव्य : पर्यायार्थिक नय)

उपचारछल

० धर्माध्यारोपनिर्देशे सत्यर्थप्रतिषेधनम्। उपचारछलं मञ्चाः क्रोशन्तीत्यादिगोचरम्।। अत्राभिधानस्य यथार्थे प्रयोगस्तस्याध्यारोप्यो विकल्पः, अन्यत्र दृष्टस्य अन्यत्र प्रयोगः, मंचाः क्रोशन्ति गायन्तीत्यादौ शब्दप्रयोगवत्। स्थानेषु हि मञ्चेषु स्थानिनां पुरुषाणां धर्ममाक्रोष्टित्वादिकं समारोप्य जनैस्तथा प्रयोगः क्रियते, गौणशब्दार्थ-श्रयणात् सामान्यादिष्वस्तीति शब्दप्रयोगवत्। तस्य धर्माध्यारोपनिर्देशे सत्यर्थस्य प्रतिषेधनम्, न मंचाः क्रोशन्ति, मंचस्थाः पुरुषाः क्रोशन्तीति। तदिदमुपचारछलं प्रत्येयम्।
धर्मविकल्पनिर्देशे अर्थसद्भावप्रतिषेध उपचार-छलम् इति वचनात्।

(तत्त्व.श्लो. 1/33/299)

धर्म के विकल्प यानी अध्यारोप का सामान्य रूप से कथन करने पर, अर्थ के सद्भाव का प्रतिषेध कर देना 'उपचार छल' कहा जाता है।
शब्द का धर्म यथार्थ प्रयोग करना होता है। उसका विकल्प करना–अर्थात् अन्यत्र देखे गये का दूसरे अन्य स्थानों पर प्रयोग करना–यह 'आरोप' है। उस (आरोप) का निर्देश करने पर अर्थ के सद्भाव का निषेध कर देना उपचार छल है। जैसे कि मचान (मंच) चिल्ला रहे हैं, गा रहे हैं–इत्यादि शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं। यहां स्थान का आरोप कर व्यवहारी लोगों द्वारा उस प्रकार के शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं, जिस प्रकार 'सामान्य' आदि शब्दों में गौण रूप से 'अस्ति' शब्द का प्रयोग किया जाता है, उसी तरह। (वादी द्वारा) उसके धर्म का अध्यारोप कथन करने पर (पुनः प्रतिवादी द्वारा शब्द के प्रधान अर्थ का आश्रयण कर) उस अर्थ का निषेध करना कि मचान नहीं चिल्ला रहे हैं, मंचस्थ व्यक्ति चिल्ला रहे हैं। तो यह 'उपचार छल' कहा जाता है। क्योंकि धर्म के विकल्प का कथन करने पर अर्थ के सद्भाव का प्रतिषेध करना 'उपचार छल' होता है–ऐसा [न्यायदर्शन का 1/2/14 सूत्र रूप] वचन है।
धर्म के अध्यारोप का (उपचार का) निर्देश करने पर सत्य अर्थ के सद्भाव का निषेध करना –इसे 'उपचार छल' कहते हैं। जैसे 'मंचाः क्रोशन्ति' (मंच चिल्लाते हैं) ऐसा कहने पर उसका निषेध करते हुये कहना कि 'न मंचाः क्रोशन्ति, किन्तु मंचस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति' (मंच नहीं चिल्लाते हैं, किन्तु मंच पर बैठे पुरुष चिल्ला रहे हैं)– यह उपचार छल है।

० औपचारिके प्रयोगे मुख्यप्रतिषेधेन प्रत्यवस्थानम् उपचारछलम्। यथा मंचाः क्रोशन्तीत्युक्ते, परः प्रत्यवतिष्ठते कथमचेतनाः मंचाः क्रोशन्ति, मंचस्थाः पुरुषाः क्रोशन्तीति।।

(प्र.मी. 2/1/29; स्या.मं. 10)

उपचार अर्थ में मुख्य अर्थ का निषेध करके वक्ता के वचनों का निषेध करना, 'उपचार छल' है। जैसे कोई कहे कि मंच चिल्लाते हैं, तो छलवादी उत्तर देता है कि कहीं मंच जैसे अचेतन पदार्थ भी चिल्ला सकते हैं? (नहीं चिल्ला सकते हैं), अतएव कहना चाहिए कि मंच पर बैठे हुए आदमी चिल्लाते हैं।

० उपचारेण वक्त्रा यदभिधेयनिरूपणे।
प्रधानत्वनिषेधे तदुपचारच्छलं भवेत्।।

(प्र.प्र. 1/48)

वक्ता द्वारा विषय का वर्णन उपचार से किये जाने पर प्रधान अर्थ के निषेध पर जोर देना–यह 'उपचार छल' कहलाता है।

उपचार श्रुत

० श्रुतं पुनः श्रुतज्ञानसमधिगम्यं वस्तु उच्यते, विषये विषयिण उपचारात्।

(तत्त्व.श्लो. 2/1)

श्रुत का (उपचार से) अर्थ है– श्रुतज्ञान से सम्यक् ज्ञेय पदार्थ, क्योंकि यहां विषय में विषयी का उपचार किया गया है।

(द्रष्टव्य : श्रुत)

उपनय (अनुमान अङ्ग)

० हेतोरुपसंहार उपनयः।

(प.मु. 3/46)

हेतु के उपसंहार को 'उपनय' कहते हैं।

० हेतोः पक्षधर्मतयोपसंहार उपनयः।

(प्र.र.मा. 3/46)

हेतु का पक्ष-धर्म रूप से उपसंहार करना अर्थात् 'उसी प्रकार यह धूमवाला है', इस प्रकार से हेतु का दुहराना 'उपनय' है।

० हेतोः साध्यधर्मिण्युपसंहरणमुपनयः। यथा–धूमश्चात्र प्रदेशे।

(प्र.न.त. 3/49–50; र.करा. 3/49)

पक्ष में हेतु का उपसंहार करना (दुहराना) 'उपनय' है। जैसे–इस जगह भी धूम है।

० धर्मिणि साधनस्योपसंहार उपनयः। दृष्टान्तधर्मिणि विसृतस्य साधनधर्मस्य साध्य-धर्मिणि यः उपसंहारः, सः उपनयः।

(प्र.मी. 2/1/14; भि.न्या. 3/27)

पक्ष में साधन को दुहराना 'उपनय' है। सपक्ष में फैले हुये साधन का पक्ष में उपसंहार करना 'उपनय' कहलाता है।

० पक्षधर्मत्वप्रदर्शनार्थं हेतोरूपस्कारः उपनयः।

(प्र.प्र. 1/21)

हेतु पक्ष का धर्म है–यह बतलाने के लिये हेतु को उपस्कृत (प्रस्तुत) करना–यह 'उपनय' है।

० दृष्टान्तापेक्षया पक्षे हेतोरूपसंहारवचनमुपनयः तथा चायं धूमवानिति।

(न्या.दी. 3/32)

दृष्टान्त की अपेक्षा लेकर पक्ष में हेतु के दोहराने को 'उपनय' कहते हैं, जैसे– 'इसीलिए यह पर्वत धूमवाला है'।

० साधनवत्तया पक्षस्य दृष्टान्तसाम्यकथनमुपनयः।

(न्या.दी. 3/72)

साधनवान् रूप से दृष्टान्त के साथ पक्ष के साम्य का कथन करना 'उपनय' है।

उपनय (नय)

० नयानां समीपा उपनयाः।

(आ.प. 43)

जो नयों के समीप (सदृश) हों, वे 'उपनय' कहलाते हैं।

उपनय के भेद

० सद्भूतव्यवहारः असद्भूतव्यवहारः उपचरिता-सद्भूतव्यवहारश्च इति उपनयाः त्रेधा।।

(आ.प. 44)

सद्भूतव्यवहार, असद्भूतव्यवहार और उपचरित- असद्भूतव्यवहार–ये उपनय के तीन भेद हैं।

उपनयाभास

० उक्तलक्षणोल्लंघनेनोपनयनिगमनयोर्वचने तदाभासौ। यथा परिणामी शब्दः कृतकत्वात्, यः कृतकः स परिणामी यथा कुम्भः, इत्यत्र परिणामी च शब्दः कृतकश्च कुम्भ इति च।

(प्र.न.त. 6/80–81)

उपनय और निगमन का पहले जो लक्षण कहा गया है उसका उल्लंघन करके उपनय उपनयाभास हो जाते हैं। जैसे–शब्द परिणामी है, क्योंकि कृतक है, जो कृतक होता है, वह परिणामी होता है जैसे कुम्भ, यहां 'शब्द परिणामी है' या 'कुम्भ कृतक है' इस प्रकार कहना 'उपनयाभास' है।

० इह साध्यधर्मं साध्यधर्मिणि साधनधर्मं वा दृष्टान्तधर्मिणि उपसंहरत उपनयाभासः।

(र.करा. 6/81)

साध्यधर्म का साध्यधर्मी में अथवा साधन धर्म का दृष्टान्तधर्मी में उपसंहार करने को 'उपनयाभास' कहते हैं।

उपपत्तिसमा जाति (दूषणाभास, जात्युत्तर के भेद)

० उपपत्त्या प्रत्यवस्थानमुपपत्तिसमा जातिः। यथा यदि कृतकत्वोपपत्त्या शब्दस्यानित्यत्वम्, निरवयवत्वोपपत्त्या नित्यत्वमपि कस्मान्न भवति? पक्षद्वयोपपत्त्याऽनध्यवसायपर्यवसानत्वं विवक्षितमित्युद्भावनप्रकारभेद एवायम्।

(प्र.मी. 2/1/29)

उपपत्ति के द्वारा निराकरण करना 'उपपत्तिसमा' जाति है। जैसे–यदि कृतकत्व की उपपत्ति से शब्द अनित्य है तो निरवयवत्व की उपपत्ति से नित्य क्यों नहीं है। यहाँ नित्यता और अनित्यता दोनों पक्षों की उपपत्ति होने से अध्यवसाय (अनिश्चय) में पर्यवसान होना विवक्षित है। इस प्रकार उद्भावना के प्रकार में ही भेद समझना चाहिए।

० उभयत्रैकहेतूपपत्त्या प्रत्यवस्थानम् उपपत्तिसमा जातिः।

(प्र.प्र. 1/65)

दोनों पक्षों में एक ही हेतु की उपपत्ति बतलाकर उत्तर देना–यह 'उपपत्तिसमा' जाति (दूषणाभास) होती है।

उपमान (प्रमाण)

० उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात्साध्यसाधनम्।

(लघी. 3/19; न्या.वि. 3/85)

प्रसिद्ध अर्थ के साधर्म्य (समानता) से साध्य के सिद्ध करने को 'उपमान' कहते हैं।

० प्रसिद्धेन गवादिना, प्रसिद्धं वा यत्साधर्म्यं तस्मात्, साध्यस्य संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानस्य, साधनं प्रमातृ-प्रमेयाभ्यामन्यः कारणकलापः उपमानं प्रमाणम्।

(सि.वि.टी. 3/7)

प्रसिद्ध गौ आदि द्वारा, अथवा प्रसिद्ध साधर्म्य के द्वारा साध्य अर्थात् संज्ञा-संज्ञी के सम्बन्ध के ज्ञान का साधन अर्थात् प्रमातृ व प्रमेय से भिन्न जो कारण-समूह है, वह 'उपमान' प्रमाण है।

उपमान (प्रमाण) के भेद

० से किं तं ओवम्मे? ओवम्मे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा–साहम्मोवणीए य वेहम्मोवणीए य।

(अनु.सू. 11/539)

वह उपमान क्या है? उपमान दो प्रकार का होता है–साधर्म्योपनीत तथा वैधर्म्योपनीत।

उपयोग

० सामान्यं खलु लक्षणमुपयोगो भवति सर्वजीवानाम्।

(प्रशम. 194)

सब जीवों का सामान्य लक्षण 'उपयोग' ही है।

० उवओगो.....जीवस्स सव्वकालं अणण्णभूदं वियाणीहि।।

(पंचा. 40)

उपयोग सर्वदा जीव से अनन्यभूत रहता है।

० उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः।

(स.सि. 2/8/271)

जो अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के निमित्तों से होता है और चैतन्य का अन्वयी (अर्थात् चैतन्य को छोडकर अन्यत्र नहीं रहता), वह परिणाम 'उपयोग' कहलाता है।

० बाह्याभ्यन्तरहेतुद्वयसन्निधाने यथासम्भवमुपलब्धुश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः।

(रा.वा. 2/18/1)

(दो प्रकार के) बाह्य तथा (दो प्रकार के) आभ्यन्तर हेतुओं का यथासंभव सन्निधान होने पर आत्मा के चैतन्यान्वयी परिणमन को 'उपयोग' कहते हैं।

० तत्र क्षयोद्भवो भावः क्षयोपशमजश्च यः। तद्व्यक्तिव्यापि सामान्यमुपयोगः.....।।

(तत्त्व.श्लो. 2/8/1)

क्षायिक या क्षायोपशमिक जो आत्मव्यापी सामान्य भाव है, वह 'उपयोग' है।

० अर्थग्रहणव्यापार उपयोगः।

(प्र.प. 46, पृ. 22)

पदार्थ को ग्रहण करने हेतु आत्मा का व्यापार 'उपयोग' है।

० तदुक्तनिमित्तं (ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषरूपां लब्धिं) प्रतीत्योत्पद्यमानः आत्मनः परिणामः उपयोग इत्यपदिश्यते।

(ध. 1, पृ. 238)

पूर्वोक्त निमित्त (ज्ञानावरणक्षयोपशम विशेष लब्धि) के आलम्बन से उत्पन्न होने वाले आत्मा के परिणाम को 'उपयोग' कहते हैं।

० स्व-परग्रहणपरिणामः उपयोगः।

(ध. 2 पृ. 416)

स्व एवं पर को ग्रहण करने वाले परिणाम–विशेष को उपयोग कहते हैं।

० आत्मनः परिणामो यः उपयोगः स कथ्यते।

(तत्त्वा. 2/46)

आत्मा का जो परिणाम है, उसे 'उपयोग' कहते हैं।

० आत्मनश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः।

(पंचा.त.प्र. 40)

चेतनायुक्त जो आत्मा का परिणाम है, वह 'उपयोग' है।

० उपयोगस्तु रूपादिविषयग्रहणव्यापारः।

(प्र.क.मा. 2/5)

रूप आदि विषय के ग्रहण में किया जाने वाला आत्म–व्यापार 'उपयोग' है।

० वत्थुणिमित्तं भावो, जादो जीवस्स जो दु उवजोगो।

(गो.सा.जी. 672)

वस्तु को ग्रहण करने के लिये जीव का जो भाव या परिणाम होता है, उसे 'उपयोग' कहते हैं।

० चेतना-व्यापारः –उपयोगः।

(जै.सि.दी. 2/3)

चेतना के व्यापार को 'उपयोग' कहते है।

उपयोग (भावेन्द्रिय)

० यत्संनिधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्तिं प्रति व्याप्रियते तन्निमित्त आत्मनः परिणाम उपयोगः।

(स.सि. 2/18/296)

जिसके संसर्ग से आत्मा द्रव्येन्द्रिय की रचना करने के लिए उद्यत होता है, तन्निमित्तक आत्मा का परिणाम 'उपयोग' है, (जिसे भावेन्द्रिय कहते हैं)।

उपयोग के पर्याय

० उपयोगः प्रणिधानमायोगस्तद्भावः परिणाम इत्यर्थः।

(तत्त्व.भा. 2/19)

उपयोग का अर्थ है–प्रणिधान, आयोग, अर्थात् आत्मा का परिणाम।

० प्रणिधानम् उपयोगः परिणामः इत्यनर्थान्तरम्।

(रा.वा. 1/1/1)

प्रणिधान, उपयोग और परिणाम–ये सब एकार्थवाची हैं।

(द्रष्टव्य : परिणाम)

उपयोग के भेद

० कतिविहे णं भंते! उवओगे पण्णत्ते ?
गोयमा! दुविहे उवओगे पन्नत्ते। तं जहा– सागारोवओगे य अणागारोवओगे य।

(प्र.सू. 29/1908)

भगवन्! 'उपयोग' कितने प्रकार का कहा गया है ? गौतम! वह दो प्रकार का कहा गया है, यथा–'साकारोपयोग' और 'अनाकारोपयोग'।

० साकारोऽनाकारश्च सोऽष्टभेदश्चतुर्धा तु।

(प्रशम. 194)

उपयोग के दो भेद हैं–साकार व अनाकार। साकार उपयोग के आठ भेद हैं (मति ज्ञान, श्रुत ज्ञान, अवधि ज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान, केवल ज्ञान, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान व विभङ्ग ज्ञान)। अनाकार उपयोग के चार भेद हैं (चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन व केवलदर्शन)।

० .....उवओगो णाण–दसणं होई।

(नि.सा. 10)

उपयोग ज्ञान व दर्शन रूप–(इन दो भेदों वाला) है।

० (अप्पा उवओगप्पा) उवओगो णाणदंसणं भणिदो।

सो वि सुहो असुहो वा उवओगो अप्पणो हवदि।।
(प्र.सा. 2/63)
(आत्मा उपयोगस्वरूपी है।) उपयोग ज्ञान व दर्शन–इन (दो) रूपों वाला कहा गया है। वह उपयोग भी शुभ व अशुभ रूप से (दो प्रकार का) होता है।

० उवओगो खलु दुविहो णाणेण य दंसणेण संजुत्तो।
(पंचा. 40)
ज्ञान व दर्शन–इन भेदों वाला उपयोग दो प्रकार का है।

० स उपयोगो द्विविधः ज्ञानोपयोगो दर्शनोपयोगश्चेति।
(स.सि. 2/9/273;पंचा.त.प्र. 40)
वह उपयोग दो प्रकार का है –ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग।

० स उपयोगो द्विविधस्तावत्, साकारो....., निराकारः.....।
(तत्त्व.श्लो. 2/9)
वह उपयोग दो प्रकार का है–साकार व निराकार।

० द्वेधा तस्योपयोगः स्याज्ज्ञानदर्शनभेदतः।
(आ.पु. 24/100)
उपयोग ज्ञान और दर्शन के भेद से दो प्रकार का है।

० साकारश्च निराकारो भवति द्विविधश्च सः।
साकारं हि भवेज्ज्ञानं निराकारं तु दर्शनम्।।
(तत्त्वा. 2/10)
वह उपयोग साकार व निराकार के भेद से दो प्रकार का है। उसमें ज्ञान साकार है और दर्शन निराकार।

० अथायमुपयोगो द्वेधा –विशिष्यते शुद्धाशुद्धत्वेन।
(प्र.सा.तत्त्वप्र. 2/63)
उपयोग दो प्रकार का होता है–शुद्ध व अशुद्ध।

० सो दुविहो णायव्वो सायारो चेव अणायारो।
(गो.सा.जी. 672)
उस (उपयोग) के दो भेद हैं– साकार उपयोग और निराकार उपयोग।

० साकारोऽनाकारश्च।
(जै.सि.दी. 2/4)
(उपयोग के दो प्रकार हैं) साकार उपयोग और अनाकार उपयोग।
(द्रष्टव्य : अनाकार उपयोग, ज्ञान, दर्शन, साकार उपयोग)

उपलब्धिसमा जाति (दूषणाभास, जात्युत्तर के भेद)

० उपलब्ध्या प्रत्यवस्थानमनुपलब्धिसमा जातिः। यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिति प्रयुक्ते प्रत्यवतिष्ठते न खलु प्रयत्नानन्तरीयकत्वमनित्यत्वे साधनम्; साधनं हि तदुच्यते येन विना न साध्यमुपलभ्यते। उपलभ्यते च प्रयत्नानन्तरीयकत्वेन विनाऽपि विद्युदादावनित्यत्वम्। शब्देऽपि क्वचिद्वायु वेगभज्यमानवनस्पत्यादिजन्ये तथैवेति।
(प्र.मी. 2/1/29)
उपलब्धि के द्वारा निराकरण करना–यह

अनुपलब्धि समा जाति (दूषणाभास) होती है, जैसे–शब्द अनित्य है, क्योंकि वह प्रयत्नजन्य है, ऐसा वादी के कहने पर जातिवादी कहता है–प्रयत्नजन्यता अनित्यवत्त्व सिद्ध करने में साधन नहीं है। साधन वही कहलाता है जिसके बिना साध्य की उपलब्धि न हो सके, मगर विद्युत् आदि में अनित्यता तो प्रयत्नजन्यता के बिना भी उपलब्ध होती है। इसी प्रकार वायु के वेग से टूटने वाली वनस्पति आदि से उत्पन्न शब्द में भी वह प्रयत्नजन्यता के बिना ही पाई जाती है।

० सपक्षे हेतुरहितसाध्योपलब्ध्या प्रत्यवस्थानम् उपलब्धिसमा जातिः।

(प्र.प्र. 1/66)

सपक्ष में जहाँ साध्य पाया जाता है किन्तु हेतु नहीं पाया जाता–ऐसा उदाहरण देकर आक्षेप उपस्थित करना –यह 'उपलब्धिसमा' जाति (दूषणाभास) होती है।

उपादान कारण

० कारणमेव कार्यतया परिणमद् उपादानम्।

(भि.न्या. 3/37)

जो कारण ही कार्य रूप में परिणत होता है, उसे 'उपादान कारण' कहते हैं।

(द्रष्टव्य : कारण के भेद)

उपाधि

० साधनाव्यापकः साध्येन समव्याप्तिश्च खलु उपाधिरभिधीयते।

(स्या.मं. 12)

साधन के साथ अव्याप्ति और साध्य के साथ समव्याप्ति होने को 'उपाधि' कहा जाता है।

० उपाधयः अवच्छेदका अंशप्रकाराः।

(स्या.मं. 24)

उपाधि यानी (वस्तु के) अवच्छेदक विविध अंश (अस्तित्व, नास्तित्व आदि)।

उभयधर्मविकल दृष्टान्ताभास

० तत्रापौरुषेयः शब्दः, अमूर्तत्वात्.....कलशवदित्युभयधर्मविकलः।।

(प्र.न.त. 6/60–62)

(शब्द अपौरुषेय है, क्योंकि अमूर्त है) कलश की तरह–इस पूर्वोक्त अनुमान में कलश का उदाहरण देना 'उभयविकल' दृष्टान्त में साध्य व हेतु दोनों के होने से (उभयधर्मविकल दृष्टान्ताभास का उदाहरण) है।

उभयासिद्ध (हेतु)

० उभयासिद्धो यथा–परिणामी शब्दः चाक्षुषत्वात्।।

(प्र.न.त. 6/50)

'शब्द परिणामी है, क्योंकि चाक्षुष है', यहाँ चाक्षुषत्व हेतु (वादी या प्रतिवादी दोनों के लिए असिद्ध होने से 'उभयासिद्ध' है।

ऊ

ऊर्ध्वतासामान्य

० परापरविवर्तव्यापि द्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु।

(प.मु. 4/5)

पूर्वापरकालभावी पर्यायों में व्याप्त रहने वाले द्रव्य को 'ऊर्ध्वता सामान्य' कहते हैं। जैसे–उत्तरोत्तर होने वाली स्थास, कोश व कुशूल आदि पर्यायों में सामान्य रूप से अवस्थित रहने वाला मृद् (मिट्टी) द्रव्य।

० पूर्वापरपरिणामसाधारणं द्रव्यमूर्ध्वतासामान्यं कटक-कंकणाद्यनुगामिकाञ्चनवत्।

(प्र.न.त. 5/5)

पूर्व पर्याय और उत्तर पर्याय में समान रूप से रहने वाला द्रव्य 'ऊर्ध्वतासामान्य' कहलाता है; जैसे–कड़े, कंकण आदि पर्यायों में समान रूप से रहने वाला सुवर्ण द्रव्य 'ऊर्ध्वतासामान्य' है।

० पूर्वोत्तरविवर्त्तवर्त्त्यन्वयप्रत्ययसमधिगम्यमूर्ध्वता-सामान्यमिति।

(प्र.मी. 1/1/30)

पूर्व पर्याय के नष्ट हो जाने और उत्तर पर्याय के उत्पन्न हो जाने पर भी जिसके कारण उस वस्तु में एकाकार प्रतीति होती है, अर्थात् पर्यायों के पलटते रहने पर भी उनमें जो नित्य अंश ज्यो का त्यों बना रहता है, वह 'ऊर्ध्वतासामान्य' कहलाता है।

० द्रवति तांस्तान्पपर्यायान्गच्छतीति व्युत्पत्त्या त्रिकालानुयायी यो वस्त्वंशस्तदूर्ध्वतासामान्यम् इति अभिधीयते।

(स्या.रत्ना. 5/5; र.करा. 5/5)

जो उन-उन पर्यायों को प्राप्त करता है–वह 'द्रव्य' है–इस व्युत्पत्ति के अनुरूप जो वस्तु का अंश त्रैकालिक रूप में वस्तु में अनुगत हो, वह 'ऊर्ध्वतासामान्य' कहलाता है।

० ऊर्ध्वतासामान्यं च परापरविवर्तव्यापि मृत्स्नादि-द्रव्यम्।

(र.करा. 3/5)

(घड़ा बनने के प्रारम्भ से लेकर घड़ा बनने तक प्रकट होने वाली विविध पर्यायों में) पूर्ववर्ती व उत्तरवर्ती पर्यायों में व्याप्त मिट्टी आदि 'द्रव्य' को 'ऊर्ध्वतासामान्य' कहते हैं।

० ऊर्ध्वमुल्लेखिनाऽनुगताकारप्रत्ययेन परिच्छिद्य-मानमूर्द्ध्वतासामान्यं चेति।

(र.करा. 5/3)

ऊर्ध्व (यानी एक ही वस्तु के क्रमागत पर्यायों में विद्यमान) अनुगत (सदृश) आकार की स्पष्ट प्रतीति से जो ज्ञेय होता है, वह 'ऊर्ध्वता-सामान्य' है।

० नानाकालेष्वेकव्यक्तिगतोऽन्वय ऊर्ध्वतासामान्यं भण्यते। तत्र दृष्टान्तः यथा–य एव केवल-ज्ञानोत्पत्तिलक्षणे मुक्तात्मा द्वितीयादिक्षणेष्वपि स एवेतिप्रतीतिः।

(प्र.सा.ता.वृ. 2/1)

नाना समयों में एक व्यक्ति में जो 'अनुगत (एकाकर) प्रतीति' होती है, उसे ऊर्ध्वता-सामान्य कहते हैं। यहां दृष्टान्त है–'केवलज्ञान' की उत्पति के समय जो मुक्त आत्मा है, उसी की 2–3 आदि क्षणों में भी 'वही है' यह प्रतीति होती है।

० ऊर्ध्वतादिसामान्यम्, पूर्वापरगुणोदयम्।
पिण्डस्थादिकसंस्थानानुगता मृद् यथा स्थिता।।

(द्रव्य.तर्क. 2/4)

गुण-पर्यायों के उदय का कारण, तथा पूर्वोत्तर पर्यायों की त्रिकाल दशा में पिण्ड, कुसूल आदि अनेक आकारों में जो एक अनुगत रूप से स्थित है, उसको 'ऊर्ध्वतासामान्य' कहते हैं।
(द्रष्टव्य : द्रव्य)

ऊह, ऊहा

० अवगृहीतार्थस्यानधिगतविशेषः ऊह्यते तर्क्यते अनया इति ऊहा।

(ध. 13, पृ.242)

अवग्रह से गृहीत पदार्थ का जो विशेष अंश नहीं जाना गया है, उसका विचार करने को 'ऊहा' कहा जाता है।

० उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः।। इदमस्मिन् सत्येव भवत्यसति तु न भवत्येवेति च।।

(प.मु. 3/7–8)

उपलम्भ (अन्वय) और अनुपलम्भ (व्यतिरेक) के निमित्त से होने वाले 'यह (धूम) इसके (अग्नि के) होने पर होता है और उसके न होने पर नहीं होता–इस प्रकार के 'व्याप्ति ज्ञान' को 'ऊह' या 'ऊहा' कहते हैं।

० उपलम्भानुपलम्भसम्भवं त्रिकालीकलितसाध्य-साधन-सम्बन्धाद्यालम्बनमिदमस्मिन् सत्येव भवती-त्याद्याकारं संवेदनमूहाऽपरनामा तर्कः।

(प्र.न.त., 3/7)

उपलम्भ और अनुपलम्भ से होने वाले तथा त्रैकालिक साध्य-साधन के सम्बन्ध पर आश्रित 'यह इसके होने पर ही होता है' इत्यादि आकार वाले ज्ञान को 'तर्क' कहते हैं। 'ऊह' उसका दूसरा नाम है।

० उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानम् ऊहः।

(प्र.मी. 1/2/5)

उपलम्भ और अनुपलम्भ के निमित्त से होने वाला मतिज्ञान 'ऊह' (तर्क) कहलाता है।

० अनेनेदं भवतीति विना न भवतीत्यादि याथात्म्य-ज्ञानम् ऊहापोहः।

(प्र.प्र. 1/14)

इससे यह होता है, इसके बिना यह नहीं होता इस तरह के वास्तविक ज्ञान को 'ऊहापोह' कहते हैं।

(द्रष्टव्य : तर्क)

ऋ

ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञान (त्रिविध)

० आद्य ऋजुमतिमनःपर्ययस्त्रेधा। कुतः? ऋजुमनो-वाक्कायविषयभेदात्-ऋजुमनस्कृतार्थज्ञः ऋजु-वाक्कृतार्थज्ञः ऋजुकायकृतार्थज्ञश्चेति। तद्यथा, मनसाऽर्थं व्यक्तं संचित्य वाचं वा धर्मादियुक्ताम-संकीर्णामुच्चार्य कायप्रयोगं चोभयलोकफल-निष्पादनार्थम् अंगोपांगप्रत्यंगनिपातनाकुंचन-प्रसारणादिलक्षणं कृत्वा पुनरनन्तरे समये कालान्तरे वा तमेवार्थं चिन्तितमुक्तं कृतं वा विस्मृतत्वान्न शक्नोति चिन्तयितुम् तमेवंविधमर्थं ऋजुमतिमनःपर्ययः पृष्टोऽपृष्टो वा जानाति 'अयमसावर्थोऽनेन विधिना त्वया चिन्तित उक्तः कृतो वा' इति। कथमयमर्थो लभ्यते ? आगम-विरोधात्। आगमे ह्युक्तम्–"मनसा मनः परिच्छिद्य परेषां संज्ञादीन् जानाति" (महाबन्ध पृ. 24) इति। मनसा आत्मनेत्यर्थः। परमनः समन्ता-द्विदित्वा परिच्छिद्य मनसा चिन्तितस्य सचेतने-तरस्याऽर्थस्य मनस्यवस्थानात् मनोव्यपदेशः मंचस्थानां पुरुषाणां मंचव्यपदेशवत्। तमात्मना आत्माऽवबुध्य आत्मनः परेषां च चिन्ताजीवित-मरणसुखदुःखलाभालाभादीन् विजानाति। "व्यक्तमनसां जीवानामर्थं जानाति नाऽव्यक्त-मनसाम्" (महाबन्ध)। व्यक्तः स्फुटीकृ-

तोऽर्थश्चिन्तया सुनिर्वर्तितो यैस्ते जीवा व्यक्तमनसस्तैरर्थं चिन्तितं ऋजुमतिर्जानाति नेतरैः कालतो जघन्येन जीवाना-मात्मनश्च द्वित्राणि, उत्कर्षेण सप्ताष्टानि भवग्रहणानि गत्यागत्यादिभिः प्ररूपयति। क्षेत्रतो जघन्येन गव्यूति-पृथक्त्वस्याभ्यन्तरं न बहिः।

(रा.वा. 1/23/7)

ऋजुमनस्कृतार्थज्ञ ऋजुवाक्कृतार्थज्ञ और ऋजुकायकृतार्थज्ञ, इस प्रकार ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान तीन प्रकार का है। जैसे, किसी ने किसी समय सरल मन से किसी पदार्थ का स्पष्ट विचार किया, स्पष्ट वाणी से कोई विचार व्यक्त किया और शरीर से इसी प्रकार की स्पष्ट क्रिया की, कालान्तर में उसे भूल गया, फिर यदि ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञानी से पूछा जाये कि –'इसने अमुक सयम में क्या सोचा था, क्या कहा था या क्या किया था ?' या न भी पूछा जाय तो भी वह स्पष्ट रूपसे सभी बातों को प्रत्यक्ष जानकर बता देगा। महाबन्ध शास्त्र में बताया है कि 'मनसा मनः परिच्छिद्य परेषां संज्ञादीन् जानाति' अर्थात् मन से –आत्मा से दूसरे के मन को जानकर उसकी संज्ञा, चिन्ता, जीवित, मरण, दुःख, लाभालाभ को जान लेता है। जैसे मंच पर बैठे हुए लोगों को उपचार से 'मंच' कहते हैं; उसी तरह मन में विचारे गये चेतन या अचेतन मन द्वारा चिन्तित अर्थों को भी 'मन' कहते हैं। यह स्पष्ट और सरल मन वाले लोगों की बात को जानता है, कुटिल मन वालों की बात को नहीं। काल से जघन्य रूप से अपने या अन्य जीवों के दो–तीन भव और उत्कृष्ट रूपसे सात–आठ भवों को गति–आगति (अर्थात् जिस भव को छोडा और जिसे ग्रहण किया) उनकी दो गिनती करके जानता है। क्षेत्र से जघन्य गव्यूति-पृथक्त्व के भीतर और उत्कृष्ट योजनपृथक्त्व के भीतर जानता है।

० तियकालविसयरूवीं चिंतंतं वट्टमाणजीवेण।
उजुमदिणाणं जाणदि.....।।

(गो.सा.जी. 441)

त्रिकालवर्ती पुद्गल द्रव्य का वर्तमान जीव के द्वारा चिन्तन किया गया हो, तो उसे 'ऋजुमतिमनःपर्यय' जानता है।

० पडिवादी पुण पढमा.....।
सुद्धो पढमो बोहो.....।।

(गो.सा.जी. 447)

प्रथम (ऋजुमति) मनःपर्यय प्रतिपाती है अर्थात् प्राप्त होकर छूट जाने वाला होता है, तथा शुद्ध (अतिशय शुद्धि से उत्पन्न होने वाला) होता है।

० परमणसिट्ठियमट्ठं ईहामदिणा उजुट्ठियं लहिय।
पच्छा पच्चक्खेण य उजुमदिणा जाणदे णियमा।।

(गो.सा.जी. 448)

दूसरे के मन में सरलता रूप से विचार किया गया जो अर्थ स्थित है, उसे पहले ईहा मतिज्ञान के द्वारा प्राप्त करके पीछे 'ऋजुमतिज्ञान' से मनःपर्ययज्ञानी नियम से प्रत्यक्ष जानता है।

ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान के भेद

० .....उजुमदी तिविहा।
उजुमणवयणे काये गदत्थविषयत्ति णियमेण।।
(गो.सा.जी. 439)

ऋजुमतिमनःपर्यय ज्ञान तीन प्रकार का है– (1) सरल मन के द्वारा चिन्तित मनोगत अर्थ को जानने वाला, (2) सरल वचन के द्वारा कहे गये मनोगत अर्थ को जानने वाला, और (3) सरल काय से किये गये मनोगत अर्थ को जानने वाला।

ऋजुसूत्र (नय)

० पज्जुप्पण्णग्गाही उज्जुसुओ नयविही मुणेयव्वो।
(अनु.सू. 13/7/5(3); विशे.भा. 2184)

ऋजुसूत्र नय प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) का ग्रहण करता है।

० सतां साम्प्रतानामर्थानामभिधानपरिज्ञानमृजुसूत्रः।
(तत्त्व.भा. 1/35)

जो वर्तमानकालवर्ती घटादिक पर्याय रूप पदार्थों का ग्रहण व कथन करता है, उसे 'ऋजुसूत्र नय' कहते हैं।

० ऋजुं प्रगुणं सूत्रयति तन्त्रयतीति ऋजुसूत्रः, पूर्वापरांस्त्रिकालविषयानतिशय्य वर्तमानकाल-विषयानादत्ते, अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेन व्यवहाराभावात्। तच्च वर्तमानं समयमात्रम्। तद्विषयपर्यायमात्रग्राह्यमृजुसूत्रः।
(स.सि. 1/33/245)

तीनों कालों के पूर्वापर विषयों को छोड़कर जो केवल वर्तमान काल के विषय को ग्रहण करता है, उसे 'ऋजुसूत्रनय' कहते हैं। अतीत पदार्थों के नष्ट हो जाने से तथा अनागत पदार्थों के उत्पन्न न होने से ये दोनों ही व्यवहार के योग्य नहीं है, इसीलिए यह नय वर्तमान एक समय मात्र को विषय करता है।

० उज्जं रूजुं सुयं नाणमुज्जुसुयमस्स सोऽयमुज्जु-सुओ।
सुत्तयइ वा जमुज्जुं वत्थुं तेणुज्जुसुत्तो त्ति।।
(विशे.भा. 2222)

ऋजु अर्थात् सरल, वक्रतारहित, श्रुत अर्थात् ज्ञान, अतः जिसका अवक्र श्रुत हो, वह ऋजुसूत्र (ऋजुश्रुत) नय है। अथवा जो वस्तु को अवक्र (सरल, ऋजु) रूप से जानता है, वह ऋजुसूत्र है।

० सूत्रपातवदृजुत्वात् ऋजुसूत्रः। यथा ऋजुः सूत्रपातस्तया ऋजु प्रगुणं सूत्रयति ऋजुसूत्रः पूर्वांस्त्रिकालविषयानतिशय्य वर्तमानकालविष-यमादत्ते, अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेन व्यवहाराभावात्, समयमात्रमस्य निर्दिधिक्षितम्।
(रा.वा. 1/33/7)

सूत्रपात की तरह सरल होने के कारण इसकी 'ऋजुसूत्र' संज्ञा है। जिस प्रकार सरल सूत डाला (पिरोया) जाता है, उसी तरह ऋजुसूत्र नय (अ)पूर्व त्रैकालिक विषय को छोड़कर एकसमयवर्ती वर्तमान पर्याय को विषय करता है। अतीत और अनागत (भविष्य) चूंकि विनष्ट और अनुत्पन्न होते हैं, अतः उनसे व्यवहार नहीं हो सकता। (अतः) इसका विषय एक क्षणवर्ती वर्तमान पर्याय होता है।

० ऋजुसूत्रस्य पर्यायः प्रधानम्।
(लघी. 5/43)

ऋजुसूत्र के लिए पर्याय की प्रधानता होती है।

० भेदं प्राधान्यतोऽन्विच्छन् ऋजुसूत्रनयो मतः।
(लघी. 6/71)
प्रधान रूप से पर्याय को मानने (विषय करने) वाला ऋजुसूत्र नय कहा गया है।

० ऋजुसूत्रं क्षणध्वंसि वस्तु सत्सूत्रयेदृजु।
प्राधान्येन गुणीभावाद् द्रव्यस्यानर्पणात् सतः।।
(तत्त्व.श्लो. 1/33/61)
(त्रिकालान्वयी) सत् द्रव्य की विवक्षा नहीं कर उसे गौण बनाते हुए जो ऋजु रूप में (अर्थात सरल रूप में) प्रतिक्षण नष्ट होने वाली वस्तु के सद्भूत रूप को प्रधानता देते हुए सम्यक् सूत्रण (बोध) कराता है, वह 'ऋजुसूत्र' नय है।

० अपूर्वास्त्रिकालविषयानतिशय्य वर्तमानकाल विषय-मादत्ते यः स ऋजुसूत्रः।
(ध. 9, पृ. 172)
जो तीन काल विषयक अपूर्व पर्यायों को छोड़कर वर्तमान काल विषयक पर्यायों को ग्रहण करता है, वह 'ऋजुसूत्र' नय है।

० ऋजु प्रगुणं सूत्रयति सूचयतीति ऋजुसूत्रः।
(ज.ध. 1, पृ. 203)
ऋजु-प्रगुण अर्थात् एक समयवर्ती पर्याय को जो सूत्रित करता है अर्थात् सूचित करता है, वह 'ऋजुसूत्र' नय होता है।

० ऋजुसूत्रः स विज्ञेयो येन पर्यायमात्रकम्।
वर्तमानैकसमयविषयं परिगृह्यते।।
(तत्त्वा. 1/47)
जिसके द्वारा वर्तमान एक समय की पर्याय ग्रहण की जाए, उसे 'ऋजुसूत्र' नय कहते हैं।

० ऋजु प्राञ्जलं सूत्रयतीति ऋजुसूत्रः।
(आ.प. 199)
जो नय ऋजु अर्थात् अक्र, सरल को सूत्रित अर्थात् ग्रहण करता है, वह 'ऋजुसूत्र नय' है।

० ऋजु प्राञ्जलं वर्तमानक्षणमात्रं सूत्रयतीति ऋजुसूत्रः।
(प्र.क.मा. 6/74)
ऋजु, स्पष्टरूप वर्तमानमात्र क्षणवर्ती पर्याय को जानने वाला 'ऋजुसूत्र' नय है।

० जो वट्टमाणकाले अत्थपज्जायपरिणदं अत्थं।
संतं साहदि सव्वं तं वि णयं उज्जुयं जाण।।
(कार्ति. 274)
वर्तमान काल में अर्थपर्याय रूप परिणत अर्थ को जो सत् रूप साधता है, वह 'ऋजुसूत्र' नय है।

० यत् सांप्रतमुत्पन्नं वर्तमानकालीनं वस्तु, यच्च यस्य प्रत्येकमात्मीयं तदेतदुभयस्वरूपं वस्तु प्रत्युत्पन्न-मुच्यते। तदेवासौ नयः ऋजुः प्रतिपद्यते। तदेव वर्तमानमात्मीयं च वस्तु तस्यर्जुसूत्रनयस्यास्ति।
(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 2223)
जो तत्काल उत्पन्न एवं वर्तमान काल स्थित वस्तु है, और जो भी जिसका आत्मीय (निजी) रूप है, इन दोनों स्वरूप वाली वस्तु को 'प्रत्युत्पन्न' कहा जाता है। उसी वस्तु को यह ऋजु (सूत्र) नय विषय करता है। वही वर्तमान व आत्मीय वस्तु उस ऋजुसूत्र नय की (विषय) होती है।

० ऋजु वर्तमानक्षणस्थायि पर्यायमात्रं प्राधान्यतः सूत्रयन्नभिप्रायः ऋजुसूत्रः।
(स्या.मं. 28)

वर्तमान क्षण की पर्याय मात्र की प्रधानता से वस्तु का कथन करना ऋजुसूत्र नय का अभिप्रेत होता है।

० वर्तमानपर्यायग्राही ऋजुसूत्रः।

(भि.न्या. 5/10)

वर्तमान पर्यायग्राही नय को 'ऋजुसूत्र' नय कहा जाता है।

ऋजुसूत्र (नय) के भेद

० उजुसुदो दुविहो सुद्धो असुद्धो चेति। तत्थ सुद्धो विसईकयअत्थपज्जाओ पडिक्खणं विवट्टमाणासेसत्थो अप्पणो विषयादो ओसारिद-सारिच्छतब्भावलक्खणसामण्णो। तत्थ जो सो असुद्धो उजुसुदणओ सो चक्खुपासियवेंजण-पज्जयविसओ।

(ध. 9, पृ. 244)

ऋजुसूत्रनय शुद्ध और अशुद्ध के भेद से दो प्रकार का है। अर्थपर्याय को विषय करने वाला शुद्ध ऋजुसूत्र नय है। वह प्रत्येक क्षण में परिणमन करने वाले समस्त पदार्थों को विषय करता हुआ अपने विषय से 'सादृश्य सामान्य' व 'तद्भावरूप सामान्य' को दूर रखता है। जो अशुद्ध ऋजुसूत्रनय है, वह चक्षु इन्द्रिय की विषयभूत व्यंजनपर्यायों को विषय करने वाला होता है।

० ऋजुसूत्रोऽपि द्विविधः। (74)
सूक्ष्मर्जुसूत्रो यथा एकसमयावस्थायी पर्यायः। (73)
स्थूलर्जुसूत्रो यथा मनुष्यादिपर्यायास्तदायुः-प्रमाणकालं तिष्ठन्ति। (75)

(आ.प. 73–75)

ऋजुसूत्र नय दो प्रकार का है– सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय और स्थूल ऋजुसूत्रनय।(73) जो नय एक समयवर्ती पर्याय को विषय करता है, वह 'सूक्ष्मऋजुसूत्र नय' है। (74) जो नय अनेक समयवर्ती स्थूलपर्याय को विषय करता है, वह 'स्थूलऋजुसूत्र नय' है। जैसे 'मनुष्यादि पर्यायें अपनी–अपनी आयु–प्रमाण काल तक रहती हैं। (75)

ऋजुसूत्रनयाभास

० क्षणिकैकान्तनयस्तदाभासः।

(प्र.र.मा. 6/74)

क्षणिक एकान्त रूप तत्त्व को मानना 'ऋजुसूत्र-नयाभास' है।

० सर्वथा द्रव्यापलापी तदाभासः। यथा तथागत-मतम्।

(स्या.मं. 28)

द्रव्य के सर्वथा निषेध करने को 'ऋजुसूत्र-नयाभास' कहते हैं। जैसे–बौद्धमत।

ए

एकत्व

० (द्रष्टव्य : पर्याय)

एकत्वप्रत्यभिज्ञान

० (द्रष्टव्य : प्रत्यभिज्ञान)

एकस्वभाव

० स्वभावानामेकाधारत्वादेकस्वभावः।

(आ.प. 110)

सम्पूर्ण स्वभावों का एक आधार होने से 'एकस्वभाव' है।
(द्रष्टव्य : अनेक स्वभाव)

एकान्त

० एयंतो एयणओ।

(बृ.न.च. 180)

एक (अन्यनिरपेक्ष) नय को 'एकान्त' कहते हैं।
(द्रष्टव्य : दुर्नय)

एकान्त के भेद

० सम्यगेकान्तो मिथ्यैकान्त इति।

(रा.वा. 1/6/7; स.भं.त. 105)

एकान्त के दो भेद कहे गये हैं–सम्यक् एकान्त व मिथ्या एकान्त।
(द्रष्टव्य : मिथ्या एकान्त, सम्यक् एकान्त)

एकान्त मिथ्यात्व

० तत्र इदमेव, इत्थमेव इति धर्मिधर्मयोरभिनिवेशः एकान्तः।

(स.सि. 8/1/731, रा.वा. 8/1/28)

यही है, इसी प्रकार का है, इस प्रकार धर्म और धर्मी में एकान्त रूप अभिप्राय रखना 'एकान्त मिथ्यात्व' है।

० तत्थ अत्थि चेव, णत्थि चेव, एगमेव, अणेगमेव, सावयवं चेव, णिरवयवं चेव, णिच्चमेव, अणिच्चमेव, इच्चाओं एयंताहिणिवेसो एयंतमिच्छत्तं।।

(ध. 8, पृ. 20)

सत् ही है, असत् ही है, एक ही है, अनेक ही है, सावयव ही है, निरवयव ही है, नित्य ही है, अनित्य ही है, इत्यादि एकान्त अभिनिवेश को 'एकान्तमिथ्यात्व' कहते हैं।

एकान्त मिथ्यादर्शन

० तत्र इदमेव इत्थमेवेति धर्मिधर्मयोरभिनिवेश एकान्तः। "पुरुष एवेदं सर्वम्" इति वा, नित्य एव वा, अनित्य एवेति।

(स.सि. 8/1/731)

यही है, इसी प्रकार का है, इस प्रकार धर्म और धर्मी में एकान्त रूप अभिप्राय रखना 'एकान्त मिथ्यादर्शन' है, जैसे 'यह सब जगत् परब्रह्मरूप ही है' या 'सब पदार्थ अनित्य ही हैं या नित्य ही हैं।'

० तथैकान्तमिथ्यात्वं नाम वस्तुनो जीवादेर्नित्यत्वमेव स्वभावो न चानित्यत्वादिकम्।

(भ.आ.टी. 23)

जीवादि वस्तु का स्वभाव 'नित्यता' ही है, अनित्यता आदि नहीं –ऐसा मानना 'एकान्तमिथ्यात्व' कहा जाता है।
(द्रष्टव्य : मिथ्यादर्शन)

एवंभूत (नय)

० वंजण-अत्थ-तदुभयं एवंभूओ विसेसेइ।

(अनु.सू. 13/715(4))

एवम्भूत नय शब्द व अर्थ–दोनों को विशेषित करता है।

० व्यंजनार्थयोरेवम्भूत इति।

(तत्त्व.भा. 1/35)

व्यंजन (वाचकशब्द) और अर्थ (अभिधेयरूप पदार्थ)–इन दोनों का यथार्थ संघटन करने वाले अध्यवसाय को 'एवंभूत नय' कहते हैं।

० येनात्मना भूतस्तेनैवाध्यवसाययतीति एवम्भूतः। स्वाभिप्रेतं क्रियापरिणतिक्षणे एव स शब्दो युक्तो नान्यथेति। यदैवेन्दति तदैवेन्द्रो नाभिषेचको न पूजक इति। यदैव गच्छति तदैव गौः, न शयित इति।

(स.सि. 1/33/248)

जो वस्तु जिस पर्याय को प्राप्त हुई है, उसी रूप निश्चय कराने वाले नय को 'एवंभूत नय' कहते हैं। (आशय यह है कि) जिस शब्द का जो वाच्य है, उस रूप क्रिया के परिणमन के समय ही उस शब्द का प्रयोग करना युक्त है, अन्य समयों में नहीं। जैसे–जिस समय इन्दन अर्थात् ऐश्वर्य से युक्त हो, उस समय ही इन्द्र है, अभिषेक या पूजा करने वाला नहीं। जब गमन करती हो, तभी गाय है, बैठी या सोती हुई नहीं।

० वंजण-अत्थ-तदुभए एवंभूओ विसेसेइ।

(विशे.भा. 2185)

एवम्भूत नय व्यंजन (पर्याय) और अर्थ (पर्याय)–इन दोनों को विषय करता है।

० एवं जह सद्दत्थो संतो भूओ तदन्नहाऽभूओ। तेणेवंभूयनओ सद्दत्थपरो विसेसेणं।।

(विशे.भा. 2251)

जिस शब्द का जो (व्युत्पत्तिपरक) अर्थ है, उसी रूप में स्थित पदार्थ सत् है, अन्यथा वह असत् है, ऐसी मान्यता रखने के कारण (शब्द व समभिरूढ़ नय की अपेक्षा अधिकतया) विशेष रूप से शब्दार्थ को प्रमुखता देने वाला एवम्भूत नय होता है।

० शब्दो येनात्मनाभूतस्तेनैवाध्यवसाययेत्। यो नयो मुनयो मान्यास्तमेवंभूतमभ्यधुः।।

(तत्त्वा. 1/50)

शब्द जिस रूप में प्रचलित है, उसका उसी रूप में जो नय निश्चय कराता है, उसे मान्य मुनियों ने 'एवम्भूत' नय कहा है।

० एवमित्थंविवक्षितक्रियापरिणामप्रकारेण भूतं परिणतमर्थं योऽभिप्रैति, स एवम्भूतो नयः।

(प्र.क.मा. 6/74)

किसी विवक्षित क्रिया-परिणाम के द्वारा भूत यानी परिणत हुए अर्थ को जो विषय करे, अर्थात् क्रिया का आश्रय लेकर भेद स्थापित करे, वह 'एवंभूतनय' है।

० क्रियाश्रयः एवम्भूतः।

(न्या.कु. 6/72)

वर्तमान क्रिया से सम्बद्ध पदार्थ ही जिस नय में ग्राह्य है, उसे 'एवंभूत नय' कहते हैं।

० जेण सहावेण जदा, परिणदरूवम्मि तम्मयत्तादो। तप्परिणामं साहदि, जो वि णओ सो हु परमत्थो।।

(कार्ति. 277)

वस्तु जिस समय जिस स्वभाव रूप परिणत होती है, उस समय वह उसी स्वभावमय होती है, अतः उसी परिणामरूप वस्तु को ग्रहण करने वाला नय 'एवंभूत नय' है। यह नय परमार्थ रूप है।

० अर्थं शब्देन नैयत्ये स्थापयति। एवमुभयं विशेषयति। शब्दमर्थेन, अर्थस्तु शब्देन नैयत्ये स्थापयति–इत्यर्थः।....यदा योषिन्मस्त कारूढ-श्चेष्टावानर्थो घटशब्देनोच्यते तदा स घटक्षणोऽर्थः, स च

तद्वाचको घटशब्दः, अन्यदा तु वस्त्वन्तरस्येव तच्चेष्टाऽभावाद् अघटत्वम्, घटध्वनेश्चावाचकत्व-मिति। एवमुभयविशेषकः एवम्भूतनयः।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 2252)

एवम्भूत नय अर्थ व शब्द को नियत रूप में स्थापित करता है.....इस प्रकार वह दोनों को विशेषित (नियत) करता है। तात्पर्य है कि यह नय शब्द को अर्थ के साथ, और अर्थ को शब्द के साथ नियत रूप में स्थापित करता है।.....जब किसी महिला के मस्तक पर रखा हुआ (जलधारण की) चेष्टा से युक्त पदार्थ 'घट' शब्द का वाच्य माना गया है, तब वही घट का अर्थ है, और उसी अर्थ का वाचक 'घट' शब्द है (कुम्भादि नहीं)। किसी समय अन्य वस्तुओं की तरह घड़ा जलधारण की चेष्टा से रहित हो तो वह घड़ा नहीं कहलाएगा, और उसकी उस चेष्टारहित स्थिति का वाचक भी 'घट' शब्द नहीं होगा। इस प्रकार उभयविशेषक के रूप में एवम्भूत नय होता है।

० शब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाऽऽविष्टमर्थं वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छन् एवम्भूतः।
यथा–इन्दनमनुभवन्निन्द्रः शकनक्रियापरिणतः शक्रः, पूर्दारणप्रवृत्तः पुरन्दर इत्युच्यते।।

(प्र.न.त. 7/40–41)

शब्द की प्रवृत्ति की निमित्त रूप क्रिया से युक्त पदार्थ को उस शब्द का वाच्य मानने वाला नय 'एवंभूत नय' है। जैसे–इन्दन (ऐश्वर्य भोग) रूप क्रिया के होने पर ही 'इन्द्र' कहा जा सकता है, शकन (सामर्थ्य) रूप क्रिया के होने पर ही 'शक्र' कहा जा सकता है और पूर्दारण (शत्रु-नगर का नाश) रूप क्रिया के होने पर ही 'पुरन्दर' कहा जा सकता है।

० जं जं करेइ कम्मं देही मणवयणकायचेट्ठादो।
तं तं खु णामजुत्तो एवंभूदो हवे स णओ।।

(बृ.न.च. 215)

प्राणी मन, वचन और काय की चेष्टा से जो-जो क्रिया करता है, उस-उस नाम से युक्त होता है–यह एवंभूतनय का मन्तव्य जानना चाहिए।

० शब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाविष्टमर्थं वाच्यत्वेन अभ्युपगच्छन्नेवम्भूतः।

(जै.त.भा.नय परि., पृ. 62)

शब्दों की प्रवृत्ति की निमित्तरूप क्रिया से युक्त पदार्थ को ही शब्दों का वाच्य स्वीकार करने वाला अभिप्राय 'एवंभूतनय' कहलाता है।

० क्रियापरिणतार्थं चेदेवम्भूतो नयो वदेत्।

(द्रव्य.तर्क. 6/6)

क्रिया के परिणाम काल में जो अर्थ हो, उसी को कथन करने वाला 'एवंभूतनय' होता है।

० क्रियापरिणतमर्थं तच्छब्दवाच्यं स्वीकुर्वन्नेवंभूतः।

(भि.न्या. 5/13)

क्रिया परिणति के अनुरूप ही शब्द-प्रयोग को स्वीकार करने वाले नय को 'एवंभूत नय' कहा जाता है।

(द्रष्टव्य : इत्थम्भूत नय)

एवंभूत नयाभास

० क्रियानिरपेक्षत्वेन क्रियावाचकेषु काल्पनिको व्यवहारस्तदाभास इति।

(प्र.र.मा. 6/74)

क्रिया की अपेक्षा से रहित होकर क्रिया-वाचक शब्दों में काल्पनिक व्यवहार मानना एवंभूतनया-भास है।

० क्रियाऽनाविष्टं वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपंस्तु तदाभासः। यथा–विशिष्टचेष्टाशून्यं घटाख्यं वस्तु न घटशब्दवाच्यम्, घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूत-क्रियाशून्यत्वात्, पटवदित्यादिः।।

(प्र.न.त. 7/42–43; जै.त.भा.नय परि., पृ. 66–67)

क्रिया से रहित वस्तु को उस शब्द का वाच्य मानने का निषेध करने वाला अभिप्राय 'एवंभूत नयाभास' है।

जैसे–यह मानना कि विशेष प्रकार की अर्थात् जल भरने की चेष्टा से रहित घट नामक वस्तु, घट शब्द का वाच्य नहीं है, क्योंकि वह घट शब्द की प्रवृत्ति की कारण रूप क्रिया से रहित है, जैसे पट आदि।

एवकार के भेद

० अयं चैवकारस्त्रिविधः, अयोगव्यवच्छेदबोधकः, अन्ययोगव्यवच्छेदबोधकः, अत्यन्तायोग व्यवच्छेद-बोधकश्च इति।

(स.भं.त. 38)

यह अवधारणवाचक 'एवकार' तीन प्रकार का होता है। एक 'अयोगव्यवच्छेदबोधक' अर्थात् सम्बन्ध के न होने का व्यावर्त्तक, दूसरा 'अन्य-योगव्यवच्छेदबोधक' अर्थात् दूसरे के सम्बन्ध की निवृत्ति का बोधक, और तीसरा अत्यन्ता-योगव्यवच्छेदक अर्थात् अत्यन्त सम्बन्ध की व्यावृत्ति का बोधक।

ऐ

ऐतिह्य

० ऐतिह्यस्य च 'इत्याह स भगवान् ऋषभः' इति परंपरीण-पुरुषागमाद् गृह्यते इति श्रुतेऽन्तर्भावः।

(रा.वा. 1/20/15)

'भगवान् ऋषभ ने यह कहा' इत्यादि प्राचीन परम्परागत तथ्य ऐतिह्य प्रमाण है। इसका श्रुतज्ञान में अन्तर्भाव हो जाता है।

० ऐतिह्यं त्वनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारम्पर्यम्, एवमूचुर्वृद्धा यथा 'इह वटे यक्षः प्रतिवसति' इति।

(षड्.समु.टी. 55/309)

जिनके कहने वाले का कुछ भी पता न हो, ऐसे परम्परा से चले आये प्रवाद-जनश्रुतियाँ ऐतिह्य हैं। जैसे–बूढ़े पुराने लोग कहते थे कि 'इस वट वृक्ष में एक यक्ष रहता है।'

० इह वृक्षे यक्षस्तिष्ठतीत्यादिवाक्यजन्यज्ञान-मैतिह्यम्।

(प्र.रत्ना. 2/2)

इस वृक्ष पर यक्ष का निवास है–इत्यादि वाक्यों से होने वाला ज्ञान 'ऐतिह्य' है।

(द्रष्टव्य : आगम)

ऐतिह्याभास

० तच्च यथार्थं चेदागमः, नो चेत्तदाभासः।

(प्र.रत्ना. 2/2)

वह (ऐतिह्य) यथार्थ हो तो आगम प्रमाण है, अन्यथा प्रमाणाभास है।

क

कथंचित् तादात्म्य

० कथंचिद् भेदाभेदौ हि कथंचित् तादात्म्यम्।...तस्य वस्तुन आत्मानौ तदात्मानौ, तयोर्भावः तादात्म्यं भेदाभेदस्वभावत्वम्। कथंचित् इति विशेषणेन सर्वथा भेदाभेदयोः परस्परनिरपेक्षयोः प्रतिक्षेपात्।

(आप्त. 35, पृ. 89)

कथंचित् भेद–अभेद ही कथंचित् तादात्म्य (या समवाय) है।.....वस्तु के जो दो स्वरूप हैं–भेद व अभेद, इन दोनों को ही 'तादात्म्य' कहते हैं अर्थात् वस्तु के भेदाभेद स्वभाव को 'तादात्म्य' कहते हैं। कथंचित् इस विशेषण के कारण, परस्पर-निरपेक्ष (सर्वथा) भेद या अभेद का निराकरण हो जाता है।

(द्रष्टव्य : समवाय)

करण

० क्रियन्ते रूपादिगोचरा विज्ञप्तय एभिरिति करणानि इन्द्रियाण्युच्यन्ते क्वचित् करणशब्देन।

(भ.आ.टी. 20)

चूंकि इनके द्वारा रूपादि पदार्थों को ग्रहण करने वाले ज्ञान किये जाते हैं, इसलिए 'इन्द्रियों को' 'करण' कहते हैं।

करण (परिणाम)

० करणाः परिणामाः।

(ध. 1, पृ. 181)

करण शब्द का अर्थ 'परिणाम' है।

करण (हेतु)

० साधकतमं हि करणम्, अव्यवहितफलं च तदिष्यते।

(प्र.मी. 1/1/8)

करण साधकतम (हेतु) होता है और उसके होने पर कार्य की उत्पत्ति में व्यवधान नहीं होता।

करण (हेतु) के भेद

० करणं द्विविधं ज्ञेयं बाह्यमाभ्यन्तरं बुधैः।
यथा लुनाति दात्रेण मेरूं गच्छति चेतसा।।

(स्या.मं. 8 उद्धृत)

बाह्य और अन्तरंग के भेद से 'करण' दो प्रकार का है। जैसे–वह कुठार से काटता है, यहाँ कुठार बाह्य करण है; और वह 'मन से मेरू पर्वत पर पहुँचता है', यहाँ मन अन्तरंग करण है।

करण प्रमाण

० प्रकर्षेण संशयविपर्यासानध्यवसायव्यवच्छेदेन मीयते निश्चीयते वस्तुतत्त्वं येन तत् प्रमाणमिति करणव्युत्पत्त्या सम्यक्ज्ञानसाधनं प्रमाणम्।

(प्र.प्र. 1/2)

उत्तम रीति से अर्थात् संशय, विपर्यास तथा अनिश्चय को दूर करके जो वस्तु तत्त्व का निश्चय करता है वह प्रमाण है–इस करण व्युत्पत्ति के अनुसार सम्यक् ज्ञान का साधन (करण) प्रमाण कहलाता है।

करण प्रमाण के भेद

० करणप्रमाणम् द्रव्यक्षेत्रकालभेदेन त्रिविधम्।

(प्र.प्र. 1/125)

करण प्रमाण के तीन भेद कहे हैं–द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण तथा कालप्रमाण।

कर्म

० (द्रष्टव्य : क्रिया)

कल्पना

० कल्पना हि जातिद्रव्यगुणक्रियापरिभाषाकृतो वाग्-बुद्धिविकल्पः।

(रा.वा. 1/12/11)

जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया, परिभाषा के सम्बन्ध में तदाश्रित वाचिक व बौद्धिक विकल्प 'कल्पना' होती है।

० अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्राध्यारोपः कल्पना।

(न्या.कु. 1/2)

अन्यत्र प्रसिद्ध धर्म का अन्यत्र अध्यारोप 'कल्पना' है।

कायत्व

० बहुप्रदेशप्रचयत्वलक्षणं कायत्वम्।

(पंचा.त.प्र. 102)

कायत्व (कायपना) का अर्थ है—बहुत प्रदेशों का प्रचय रूप होना।

(द्रष्टव्य : अस्तिकायत्व)

काणाद दर्शन

० (द्रष्टव्य : वैशेषिक दर्शन)

कापिल दर्शन

० (द्रष्टव्य : सांख्य दर्शन)

कारण

० साधनं कारणम्।

(रा.वा. 1/7; तत्त्व.श्लो. 1/7/13)

जो (कार्य में) साधन होता है, वह 'कारण' कहलाता है।

० उप्पज्जमाणं सव्वं हि कज्जं कारणादो चेव उप्पज्जदि, कारणेण विणा कज्जुप्पत्तिविरोहादो।

(ध. 6, पृ. 421)

कारण वह है, जिसके बिना कार्य की उत्पत्ति का विरोध है। उत्पन्न होने वाला सभी कार्य किसी न किसी कारण से ही उत्पन्न होता है।

० कार्यनिष्पत्त्यपेक्षं कारणम्।

(भि.न्या. 3/35)

कार्य की निष्पत्ति में जो अपेक्षित होता है, उसे 'कारण' कहते हैं।

कारण के पर्याय

० प्रत्ययः कारणं निमित्तम्—इत्यनर्थान्तरम्।

(स.सि. 1/21/213)

प्रत्यय, कारण, निमित्त—ये पर्यायवाची शब्द हैं।

कारण के भेद

० कारणं हि त्रिविधमुच्यते, यथा घटस्य मृत्परिणामि-कारणम्, दण्डादयो ग्राहकाश्च निमित्तकारणम्, कुम्भकारो निर्वर्तकं कारणम्।

(षड्.समु.टी. 49/167)

कारण तीन प्रकार के होते हैं—1. परिणामि-कारण, 2. निमित्तकारण, 3. निर्वर्तककारण। जो कारण स्वयं कार्य रूप से परिणमन करे, कार्य के आकार में बदल जाय, वह 'परिणामी कारण' है, जैसे के घड़े के निर्माण में मिट्टी। 'निमित्त कारण' वे हैं, जो स्वयं कार्य रूप से परिणत तो न हों, परन्तु कर्त्ता के लिए कार्य की उत्पत्ति में सहायक हों, जैसे घड़े की उत्पत्ति में दण्ड, चक्र आदि। कार्य का कर्त्ता 'निर्वर्तक कारण' होता है, जैसे कि घड़े की उत्पत्ति में कुम्हार।

० उपादाननिमित्तभेदात् द्वयम्।

(भि.न्या. 3/36)

कारण के दो भेद हैं–उपादान और निमित्त। (द्रष्टव्य : निमित्त कारण)

कारण परमाणु

० (द्रष्टव्यः परमाणु)

कार्य

० तद्व्यापारानन्तरं भावि कार्यम्।

(भि.न्या. 3/39)

उपादान और निमित्त–इन दोनों कारणों की प्रवृत्ति के अनन्तर जो निष्पन्न होता है, उसे 'कार्य' कहते हैं।

कार्य के भेद

० सकर्तृकाकर्तृकम्।

(भि.न्या. 3/40)

कार्य के दो भेद हैं–सकर्तृक और अकर्तृक।

कार्य परमाणु

० (द्रष्टव्य : परमाणु)

कार्यसमा जाति (दूषणाभास, जात्युत्तर के भेद)

० प्रयत्नकार्यनानात्वोपन्यासेन प्रत्यवस्थानम् कार्यसमा जातिः। यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नान्तरीयकत्वादित्युक्ते जातिवाद्याहप्रयत्नस्य द्वैरूप्यं दृष्टम् किञ्चिदसदेव तेन जन्यते यथा घटादि, किञ्चित्सदेवावरणव्युदासादिनाऽभिव्यज्यते, यथा मृदन्तरित मूलकीलादि, एवं प्रयत्नकार्यनानात्वादेष प्रयत्नेन शब्दो व्यज्यते जन्यते वेति संशय इति।

(प्र.मी. 2/1/29)

प्रयत्न के कार्यों का नानापन कहकर हेतु का खण्डन करना 'कार्यसमा' जाति (दूषणाभास) है। यथा शब्द अनित्य है, क्योंकि प्रयत्नजन्य है, इस प्रकार वादी के कहने पर जातिवादी कहता है–प्रयत्न के दो रूप दिखाई देते हैं। प्रथम यह कि प्रयत्न किसी असत् पदार्थ को उत्पन्न करता है, जैसे घट को। दूसरा रूप यह है कि प्रयत्न द्वारा आवरण हट जाने से सत् पदार्थ प्रकट हो जाता है, जैसे मिट्टी से दबे हुए मूल, कील आदि। इस प्रकार जब प्रयत्न के कार्य नाना हैं तो संशय उत्पन्न होता है कि प्रयत्न के द्वारा शब्द व्यक्त किया जाता है अथवा उत्पन्न किया जाता है।

० कार्यत्वादिहेतूनां संदिग्धासिद्धत्वापादनं कार्यसमा जातिः।

(प्र.प्र. 1/68)

कार्यत्व इत्यादि हेतुओं को संदिग्धासिद्ध बतलाना–यह 'कार्यसमा' जाति होती है।

कालव्यतिरेक

० अपि चैकस्मिन् समये यकाऽप्यवस्था भवेन्न साऽप्यन्या।
भवति च साऽपि तदन्या द्वितीयसमयेऽपि कालव्यतिरेकः।।

(पं. 1/149)

एक समय में जो भी अवस्था होती है, वह वही है, दूसरी नहीं हो सकती। और वही दूसरे समय में अन्य होती है–पहली नहीं हो सकती, यही 'कालव्यतिरेक' है।

कालात्ययापदिष्ट (हेतु)

० पक्षे साध्यस्य बाधा प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैः।

(प्र.प्र. 1/38)

प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम या स्वचन से जिसका साध्य बाधित हो, उस हेतु को 'कालात्ययापदिष्ट' हेत्वाभास कहते हैं।

० बाधितविषयः कालात्ययापदिष्टः। यथा–'अग्निरनुष्णः पदार्थत्वात्'। अत्र हि पदार्थत्वं हेतुः स्वविषये उष्णत्वे उष्णत्वग्राहकेण प्रत्यक्षेण बाधिते प्रवर्त्तमानोऽबाधितविषयत्वाभावात्कालात्ययापदिष्टः।

(न्या.दी. 3/40)

जिस हेतु का विषय 'साध्य' प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित हो, उसे 'कालात्ययापदिष्ट' कहते हैं। जैसे–'अग्नि ठण्डी है, क्योंकि वह पदार्थ है', यहाँ 'पदार्थत्व' हेतु अपने विषय 'ठण्डापन' में, जो कि अग्नि की गर्मी को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष से बाधित है, प्रयुक्त है। अतः अबाधितविषयता न होने के कारण 'पदार्थत्व' हेतु कालात्ययापदिष्ट है।

कुअवधिज्ञान

० (द्रष्टव्य : विभङ्गज्ञान, अज्ञान (मिथ्याज्ञान))

कुमतिज्ञान

० मिथ्यादर्शनोदयसहचरितमाभिनिबोधिकज्ञानमेव कुमतिज्ञानम्।

(पंचा.त.प्र. 41)

मिथ्यादर्शन सहित जो मतिज्ञान है, वह 'कुमतिज्ञान' कहलाता है।

(द्रष्टव्य : अज्ञान)

कुश्रुतज्ञान

० मिथ्यादर्शनोदयसहचरितं श्रुतज्ञानमेव कुश्रुतज्ञानम्।

(पंचा.त.प्र. 41)

मिथ्यादर्शन सहित जो श्रुतज्ञान है, वह 'कुश्रुतज्ञान' है।

(द्रष्टव्य : अज्ञान)

कृतक

० स्वोत्पत्तावपेक्षितव्यापारो हि भावः कृतक उच्यते।

(प्र.र.मा 3/61)

जो पदार्थ अपनी उत्पत्ति में अन्य के व्यापार की अपेक्षा रखता है, वह 'कृतक' कहलाता है।

केवलज्ञान

० असवत्तसयलभावं लोयालोएसु तिमिरपरिचत्तं।
केवलमखंडभेदं केवलणाणं भणंति जिणा।

(ति.प. 4/974)

जो ज्ञान असपत्न अर्थात् प्रतिपक्षी से रहित होकर सम्पूर्ण पदार्थों को विषय करता है, लोक एवं अलोक के विषय में अज्ञान रूप तिमिर से रहित है, केवल (अर्थात् इन्द्रियादिक की सहायता से विहीन) है, और अखण्ड है, उसे जिन भगवान् 'केवलज्ञान' कहते हैं।

० केवलं सकलज्ञेयग्राहि समस्तज्ञानावरणक्षयप्रभवम्।

(तत्त्व.भा.वृ. 2/4)

सकल प्रमेय पदार्थों का ग्राहक एवं समस्त ज्ञानावरण कर्म के क्षय से उत्पन्न ज्ञान 'केवलज्ञान' है।

० सयलमणावरणमणंतमक्खयं केवलं (जम्हा)।

(सन्मति. 2/17)

वह केवलज्ञान सकल, निरावरण, अनन्त व अक्षय होता है।

० बाह्येनाभ्यन्तरेण च तपसा यदर्थमर्थिनः मार्गं केवन्ते सेवन्ते तत्केवलम्, असहायमिति वा।

(स.सि. 1/9/164)

अर्थी जन जिसके लिये बाह्य और आभ्यन्तर तप के द्वारा मार्ग का सेवन करते हैं, वह केवलज्ञान कहलाता है।

० केवलमेगं सुद्धं सगलमसाहारणं अणंतं च।

(विशे.भा. 84)

एक, शुद्ध, परिपूर्ण, असाधारण और अनन्त (जो) ज्ञान (है, वह) 'केवलज्ञान' (कहा जाता) है।

० बाह्याभ्यन्तरक्रियाविशेषान् यदर्थं केवन्ते तत्केवलम्। तपःक्रियाविशेषान् वाङ्मानसकाया-श्रयान् बाह्यानाभ्यन्तरांश्च यदर्थमर्थिनः केवन्ते सेवन्ते तत्केवलम्।

(रा.वा. 1/9/6)

जिसके लिए बाह्य व आभ्यन्तर विशेष क्रियाओं का सेवन (आचरण) किया जाता है, वह 'केवलज्ञान' है। जिसके लिए वाणी, मन व शरीर से बाह्य व आभ्यन्तर तपश्चरण-सम्बन्धी विशेष क्रियाएं की जाती हैं, वह 'केवलज्ञान' है।

० सकलज्ञानावरणपरिक्षयविजृम्भितं केवलज्ञानं युगपत्सर्वार्थविषयम्।

(अष्ट. 101)

केवलज्ञान समस्त ज्ञानावरण के क्षय होने से समुद्भूत होता है, जो युगपत् समस्त पदार्थों को विषय करता है।

० क्षायोपशमिकज्ञानासहायं केवलं मतम्।
यदर्थमर्थिनो मार्गं केवन्ते वा तदिष्यते।।

(तत्त्व.श्लो. 1/9/8)

यह 'केवल ज्ञान' अन्य चार क्षायोपशमिक ज्ञानों की सहायता के बिना होता है। अथवा स्वात्मोपलब्धि के इच्छुक जीव जिसे पाने के लिए मोक्षमार्ग का सेवन करते हैं, वह 'केवलज्ञान' माना गया है।

० केवलं सकलज्ञेयव्यापि स्पष्टं प्रसाधितम्।
प्रत्यक्षमक्रमं तस्य निबन्धो विषयेष्विह।।
बोध्यो द्रव्येषु सर्वेषु पर्यायेषु च तत्त्वतः।
प्रक्षीणावरणस्यैव तदाविर्भावनिश्चयात्।।

(तत्त्व.श्लो. 1/29/1–2)

'केवल' ज्ञान समस्त ज्ञेय पदार्थों में प्रत्यक्ष (विशुद्ध) रूप से व्याप्त होता है– यह स्पष्टतया सुनिश्चित हो चुका है। वह क्रम से पदार्थों में प्रवृत्त नहीं होता (अर्थात् युगपत् प्रवृत्त होता है)। उसके विषयों को नियत करने हेतु यहां सूत्र में ('सर्वद्रव्यपर्याय' रूप से) कहा गया है। सम्पूर्ण द्रव्यों और सम्पूर्ण पर्यायों में 'केवल ज्ञान' का विषय समझना चाहिए। जिसके ज्ञानावरण का क्षय हो जाता है, उसी के 'केवल ज्ञान' का आविर्भाव होता है।

० केवलणाणं णाम, सव्वदव्वाणि तीदाणागय-वट्टमाणाणि सपज्जयाणि पच्चक्खं जाणदि।

(ध. 1, पृ. 96)

जो अतीत, अनागत और वर्तमान पर्यायों सहित संपूर्ण द्रव्यों को प्रत्यक्ष जानता है, उसे 'केवलज्ञान' कहते हैं।

० केवलमसहायमिन्द्रियालोकमनस्कारनिरपेक्षम्।
(ध. 1, पृ. 192)
जिसमें इन्द्रिय, आलोक और मन की अपेक्षा नहीं होती है, उसे केवल अथवा असहाय ज्ञान कहते हैं।

० साक्षात्त्रिकालगोचराशेषपदार्थपरिच्छेदकं केवलज्ञानम्।
(ध. 1, पृ. 360)
त्रिकाल के विषयभूत समस्त पदार्थों को साक्षात् जानने वाले ज्ञान को 'केवलज्ञान' कहते हैं।

० अनन्तत्रिकालगोचरबाह्येऽर्थे प्रवृत्तं केवलज्ञानम्।
(ध. 1, पृ. 387)
त्रिकालगोचर अनन्त बाह्य पदार्थों में प्रवृत्ति करने वाला 'केवलज्ञान' होता है।

० केवलमसहायमिंदियालोयणिरवेक्खं तिकालगोयराणंतपज्जायसमवेदाणंतवत्थुपरिच्छेदयमसंकुडियमसपत्तं केवलणाणं।
(ध. 6, पृ. 29)
केवल असहाय को कहते हैं। जो ज्ञान असहाय अर्थात् इन्द्रिय और आलोक की अपेक्षा से रहित है, त्रिकालगोचर है, अनन्त पर्यायों से समवेत अनन्त वस्तुओं को जानने वाला है, असंकुचित अर्थात् सर्वव्यापक है, और असपत्न अर्थात् प्रतिपक्षी-रहित है, उसे 'केवल ज्ञान' कहते हैं।

० परावभासः केवलज्ञानम्।
(ध. 6, पृ. 34)
पर–प्रतिभास को 'केवलज्ञान' कहते हैं।

० किं केवलणाणं ? बज्झत्थअसेसत्थावगमो।
(ध. 10, पृ. 319)
केवलज्ञान किसे कहते हैं ? बाह्यार्थ अशेष पदार्थों के परिज्ञान को 'केवलज्ञान' कहते हैं।

० अप्पट्ठसण्णिहाणमेत्तेणुप्पज्जमाणं तिकालगोयरासेसदव्वपज्जयविसयं करण क्कम-व्ववहाणादीदं सयलपभेएण अलद्धत्थाहं पच्चक्खं विणासविवज्जिय केवलणाणं णाम।
(ध. 13, पृ. 213)
जो मात्र आत्मा के संविधान से उत्पन्न होता है, जो त्रिकालगोचर समस्त द्रव्य और पर्यायों को विषय करता है; जो करण, क्रम और व्यवधान से रहित है; सकल प्रमेयों के द्वारा जिसकी थाह नहीं पाई जा सकती, जो प्रत्यक्ष है और विनाश रहित है, वह ही 'केवलज्ञान' है।

० केवलमसहायं इन्द्रियालोकमनस्कारनिरपेक्षत्वात्।
(ज.ध. 1, पृ. 19)
असहाय ज्ञान को 'केवलज्ञान' कहते हैं, क्योंकि वह इन्द्रिय, प्रकाश और मनस्कार अर्थात् मनोव्यापार की अपेक्षा से रहित होता है।

० आत्मार्थव्यतिरिक्तसहायनिरपेक्षत्वाद्वा केवलमसहायम्। केवलं च तज्ज्ञानं च केवलज्ञानम्।
(ज.ध. 1, पृ. 20)
केवलज्ञान आत्मा और अर्थ से अतिरिक्त किसी इन्द्रियादिक सहायक की अपेक्षा से रहित है, इसलिए भी वह केवल अर्थात् असहाय है। इस प्रकार केवल अर्थात् जो असहाय ज्ञान है, उसे 'केवलज्ञान' समझना चाहिए।

० घाइचउक्कक्खएण लद्धप्पसरूवविसईकयति-कालगोयरासेसदव्वपज्जयकरणकमववहाणाईयं खइयसम्मत्ताणंतसुहविरियविरइ केवलदंसणा-विणाभावी केवलणाणं णाम।

(ज.ध. 1, पृ. 39)

चारों घातिया कर्मों के क्षय से जिसने आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लिया है अर्थात् जो ज्ञान उत्पन्न हुआ है, जिसने त्रिकाल के विषयभूत समस्त द्रव्य और पर्यायों को विषय किया है; जो इन्द्रिय, क्रम तथा व्यवधान से रहित है और जो क्षायिक सम्यक्त्व, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य, अनन्तविरति तथा केवलदर्शन का अविनाभावी है, वह केवलज्ञान है।

० असहायं स्वरूपोत्थं निरावरणमक्रमम्।
घातिकर्मक्षयोत्पन्नं केवलं सर्वभावगम्।।

(तत्त्वा. 1/30–31)

जो किसी बाह्य पदार्थ की सहायता से रहित हो, आत्मस्वरूप से उत्पन्न हो, आवरण से रहित हो, क्रमरहित हो, घातिकर्मों के क्षय से उत्पन्न हुआ हो तथा समस्त पदार्थों को जानने वाला हो, उसे 'केवलज्ञान' कहते हैं।

० यत्सकलावरणात्यन्तक्षये केवल एव मूर्तामूर्तद्रव्यं सकलं विशेषेणावबुध्यते तत्स्वाभाविकं केवलज्ञानम्।

(पंचा.त.प्र. 41)

सर्वथा प्रकार से ज्ञानावरण कर्म के क्षय होने से जिस ज्ञान के द्वारा समस्त मूर्तिक अमूर्तिक द्रव्य, गुण, पर्यायसहित प्रत्यक्ष जाने जायें, उसका नाम 'केवलज्ञान' है।

० संपुण्णं तु समग्गं केवलमसवत्त सव्वभावगयं।
लोयालोय वितिमिरं केवलणाणं मुणेदव्वं।।

(गो.सा.जी. 460)

सम्पूर्ण, समग्र, केवल, असपत्न (प्रतिपक्षी ज्ञान रहित), और लोक व अलोक एवं समस्त पदार्थों को जानने वाला 'केवलज्ञान' होता है–ऐसा जानें।

० सकलं तु सामग्रीविशेषतः समुद्भूतं समस्तावरणक्षयापेक्षं, निखिलद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारि-स्वरूपं केवलज्ञानम्।

(प्र.न.त. 2/23)

(सम्यग्दर्शन आदि अन्तरंग सामग्री और तपश्चर्या आदि बाह्य विशेष) सामग्री से समस्त घाती कर्मों का क्षय होने पर उत्पन्न होने वाला तथा समस्त द्रव्यों व समस्त पर्यायों को प्रत्यक्ष करने वाला केवलज्ञान (सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष) कहलाता है।

० सामग्री सम्यग्दर्शनादिलक्षणाऽन्तरङ्गा। बहिरङ्गा तु जिनकालिकमनुष्यभवादिलक्षणा। ततः सामग्री-विशेषात् प्रकर्षप्राप्तसामग्रीतः समुद्भूतो यः समस्तावरणक्षयः सकलघातिसंघात-विघातस्तदपेक्षं सकलवस्तुप्रकाशस्वभावंकेवलज्ञानम्।

(र.करा. 2/23)

सम्यग्दर्शनादि अन्तरङ्ग सामग्री है तथा तीर्थंकर के काल में मनुष्यभव में उत्पन्न होना बहिरङ्ग सामग्री है। इन्हीं प्रकर्ष–प्राप्त सामग्री-विशेष के कारण समस्त आवरण का क्षय अर्थात् समस्त घाती कर्मों का नाश होता है, उसकी अपेक्षा रखकर होने वाला 'केवलज्ञान' है, जो समस्त वस्तुओं को जान लेने के स्वभाव वाला होता है।

० तथैवनिजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणलक्षणैकाग्रध्यानेन केवलज्ञानावरणादिघाति चतुष्टयक्षये सति यत्समुत्पद्यते तदेव समस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावग्राहकं सर्वप्रकारोपादेयभूतं केवलज्ञानमिति।

(बृ.द्र.सं.वृ. 5)

अपना शुद्ध जो आत्मद्रव्य है, उसका भली प्रकार श्रद्धान करना, जानना, और आचरण करना, इन रूप जो एकाग्र ध्यान, उससे केवलज्ञानावरणादि चार घाती कर्मों का नाश होने पर जो उत्पन्न होता है, वह एक समय में समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, तथा भाव को ग्रहण करने वाला और सब प्रकार से उपादेयभूत (ग्रहण करने योग्य) 'केवलज्ञान' है।

० पूर्वं छद्मस्थावस्थायां भावितस्य निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानस्य फलभूतं युगपल्लोकालोकसमस्तवस्तुगतविशेषपरिच्छेदकं केवलज्ञानम्।

(बृ.द्र.सं.वृ. 14)

पूर्वकाल में छद्मस्थ अवस्था में भावनागोचर किये हुए विकारहित स्वानुभवरूप ज्ञान का फलभूत एक ही समय में लोक तथा अलोक के सम्पूर्ण पदार्थों में प्राप्त हुये विशेषों को जानने वाला ज्ञान 'केवलज्ञान' है।

० सकलप्रत्यक्षस्य केवलज्ञानलक्षणस्य सकलद्रव्यपर्यायसाक्षात्करणं स्वरूपम्।

(स.भं.त. 67)

सम्पूर्ण द्रव्य, तथा सम्पूर्ण पयार्यों को साक्षात्कार करना, यह सकल प्रत्यक्षरूप 'केवलज्ञान' का स्वरूप है।

० निखिलद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारि केवलम्।।

(जै.सि.दी. 2/19)

समस्त द्रव्य और पर्यायों का जो साक्षात्कार करता है, उसे 'केवलज्ञान' कहते हैं।

० तच्च चेतनस्य निरावरणस्वरूपं केवलम्।

(भि.न्या. 2/3)

वह प्रत्यक्ष ज्ञान है—आत्मा का निरावरण स्वरूप 'केवलज्ञान'।

(द्रष्टव्य : केवलदर्शन, पारमार्थिकप्रत्यक्ष, मुख्य प्रत्यक्ष)

केवलज्ञान के भेद

० केवलणाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—भवत्थकेवल-णाणे चेव, सिद्धकेवलणाणे चेव।

(ठा.सू. 2/1/88)

केवलज्ञान दो प्रकार का है—भवस्थ केवलज्ञान-संसारी जीवों का केवलज्ञान। (सिद्धकेवलज्ञान-मुक्त जीवों का केवलज्ञान।)

केवलदर्शन

० तह दंसणं पि जुज्जइ नियआवरणक्खए संते।

(सन्मति. 2/5)

अपने (केवलदर्शन के) आवरण का क्षय होने पर 'केवलदर्शन' का होना युक्तियुक्त है।

० दर्शनमपि केवलाख्यमशेषदर्शनावरणीयक्षय समुद्भूतमुपात्तम्।

(तत्त्व.भा.वृ. 2/4)

समस्त दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से उत्पन्न 'केवलदर्शन' होता है।

० स्वात्मनि त्रिकालगोचरे प्रवृत्तं केवलदर्शनम्।

(ध. 1, पृ. 387)

त्रिकालगोचर स्वात्मा में प्रवृत्ति करने वाला उपयोग 'केवलदर्शन' होता है।

० स्वावभासः केवलदर्शनम्।

(ध. 6, पृ. 34)

स्व-प्रतिभास को 'केवलदर्शन' कहते हैं।

० किं केवलदंसणं? तिकालविसयअणंतपज्जय-सहिदसगसरूवसंवेयणं।

(ध. 10, पृ. 319)

केवलदर्शन किसे कहते हैं ? तीनों काल विषयक अनन्त पर्यायों सहित आत्मस्वरूप के संवेदन को 'केवलदर्शन' कहते हैं।

० केवलणाणुप्पत्तिकारणसगसंवेयणं केवलदंसणं णाम।

(ध. 13, पृ. 355)

केवलज्ञान की उत्पत्ति के कारणभूत स्वसंवेदन का नाम 'केवलदर्शन' है।

० यत्सकलावरणात्यन्तक्षये केवल एव मूर्तामूर्तद्रव्यं सकलं सामान्येनावबुध्यते तत्स्वाभाविकं केवलदर्शनमिति स्वरूपाभिधानम्।

(पंचा.त.प्र. 42)

जिसके द्वारा सर्वथा प्रकार से दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से समस्त मूर्तिक व अमूर्तिक पदार्थों को प्रत्यक्ष देखा जाय, उसे 'केवलदर्शन' कहते हैं।

० बहुविहबहुप्पयारा उज्जोवा परिमियम्मि खेत्तम्मि।
लोगालोगवितिमिरो जो केवलदंसणुज्जोओ।।

(गो.सा.जी. 486)

तीव्र, मन्द, मध्यम आदि के भेद से अनेक प्रकार के चन्द्र, सूर्य, रत्न आदि सम्बन्धी उद्योत परिमित क्षेत्र को ही प्रकाशित करने वाले हैं। उन प्रकाशों की उपमा जिसे नहीं दी जा सकती, ऐसा जो लोक-अलोक दोनों को प्रकाशित करता है, वह 'केवलदर्शन' रूप उद्योत है।

० यत्पुनः सहजशुद्धसदानन्दैकरूपपरमात्मतत्त्व-संवित्तिप्राप्तिबलेन केवलदर्शनावरणक्षये सति मूर्ता-मूर्तसमस्तवस्तुगतसत्तासामान्यं विकल्परहितं सकलप्रत्यक्षरूपेणैकसमये पश्यति तदुपादेयभूतं क्षायिकं केवलदर्शनं ज्ञातव्यमिति।

(बृ.द्र.सं.वृ. 4)

जो सहज शुद्ध चिदानन्दरूप एक स्वरूप का धारक परमात्मा है, उसके तत्त्वज्ञान के बल से केवलदर्शनावरण के क्षय होने पर मूर्त्त–अमूर्त्त समस्त वस्तुओं में प्राप्त सत्तासामान्य को सकल प्रत्यक्ष रूप से एक समय में विकल्परहित देखता है, उसको दर्शनावरणकर्म के क्षय से उत्पन्न और ग्रहण करने योग्य 'केवलदर्शन' जानना चाहिए।

० निर्विकल्पस्वशुद्धात्मसत्तावलोकनरूपं यत्पूर्वं दर्शनं भावितं तस्यैव फलभूतं युगपल्लोकालोक-समस्तवस्तुगतसामान्यग्राहकं केवलदर्शनम्।

(बृ.द्र.सं.वृ. 14)

सम्पूर्णविकल्पों से शून्य निजशुद्ध आत्मा की सत्ता का अवलोकन (दर्शन) रूप जो पहले दर्शन भावित किया था, उसी दर्शन का फलभूत, एक काल में ही लोक–अलोक के सम्पूर्ण पदार्थों में प्राप्त हुए सामान्य को ग्रहण कराने कला 'केवलदर्शन' है।

(द्रष्टव्यः केवलज्ञान)

केवलव्यतिरेकी

० सपक्षरहितः विपक्षसहितः केवलव्यतिरेकी। आत्मा चेतनः ज्ञातृत्वात्, यो यः चेतनो न भवति स सर्वोऽपि ज्ञाता न भवति, यथा पटः, ज्ञाता चायमात्मा, तस्माच्चेतनो भवति इत्यादि।

(प्र.प्र. 1/28)

जिस हेतु में विपक्ष होता है किन्तु सपक्ष नहीं होता, उसे 'केवलव्यतिरेकी' कहते हैं। जैसे–आत्मा चेतन है क्योंकि वह ज्ञाता है, जो चेतन नहीं होता वह ज्ञाता नहीं होता, जैसे वस्त्र, आत्मा ज्ञाता है, अतः वह चेतन है।

० पक्षवृत्तिर्विपक्षव्यावृतः सपक्षरहितो हेतुः केवलव्यतिरेकी। यथा–'जीवच्छरीरं सात्मकं भवितुर्महति प्राणादिमत्त्वात्, यद्यत्सात्मकं न भवति तत्तत्प्राणा-दिमन्न भवति, यथा लोष्ठम् इति।

(न्या.दी. 3/44)

जो पक्ष में रहता है, विपक्ष में नहीं रहता और सपक्ष से रहित है, वह हेतु 'केवलव्यतिरेकी' है। जैसे–जीवित शरीर जीव सहित होना चाहिए, क्योंकि वह प्राणादि वाला है। जो जो जीव-सहित नहीं होता, वह वह प्राणादि वाला नहीं होता, जैसे–लोष्ठ (मिट्टी का ढेला)।

केवलान्वयी (हेतु)

० विपक्षरहितः सपक्षरहितः केवलान्वयी। वीतः सदसद्वर्गः कस्यचिद् एकज्ञानालम्बनमनेकत्वात्, यद् यदनेकं तत् कस्यचिदेकज्ञानालम्बनं, यथा पंचाङ्गुलम्, अनेकश्चायं सदसद्वर्गः तस्मात् कस्यचिदेकज्ञानालम्बनमित्यादि।

(प्र.प्र. 1/27)

जो हेतु सपक्ष से सहित, किन्तु विपक्ष से रहित होता है उसे 'केवलान्वयी' कहते हैं। जैसे–विचार का विषय सत् तथा असत् (भावरूप तथा अभावरूप) पदार्थों का समूह किसी एक के ज्ञान का विषय होता है क्योंकि वह अनेक हैं, जो अनेक होता है वह किसी एक के ज्ञान का विषय होता है, जैसे पांच अंगुलियां, ये सत् तथा असत् पदार्थ भी अनेक हैं, इसलिये वे किसी एक के ज्ञान के विषय होते हैं।

० पक्षसपक्षवृत्तिर्विपक्षरहितः केवलान्वयी। यथा–'अदृष्टादयः कस्यचित्प्रत्यक्षा अनुमेयत्वात्, यद्यदनुमेयं तत्तत्कस्यचित्प्रत्यक्षम्, यथाऽग्न्यादि' इति।

(न्या.दी. 3/43)

जो पक्ष और सपक्ष में रहता है तथा विपक्ष से रहित है, वह 'केवलान्वयी' है। जैसे–'अदृष्ट (पुण्य–पाप) आदिक किसी के प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि वे अनुमान से जाने जाते हैं। जो जो अनुमान से जाने जाते हैं, वे वे किसी के प्रत्यक्ष हैं जैसे–अग्नि आदि।'

कोष्ठ (धारणाभेद)

० 'कोट्ठे' त्ति जहा कोट्ठगे सालिमादिबीया पक्खित्ता अविणट्ठा धारिज्जति तहा अवातावधारितमत्थं गुरूवदिट्ठं सुत्तमत्थं वा अविणट्ठं धारयतो धारणा कोट्ठगसम त्ति कातुं कोट्ठे त्ति वत्तव्वा।

(न.चू. 53, पृ. 37)

(धारणा के छः भेदों में पांचवां भेद है–कोष्ठ। उसका स्वरूप –)

धारणा की पांचवीं अवस्था है–कोष्ठ। जैसे कोठे में प्रक्षिप्त धान्य विनष्ट नहीं होता, वैसे ही अवाय के द्वारा अवधारित अर्थ विनष्ट नहीं होता।

० कोष्ठा इव कोष्ठा। कोष्ठा नाम कुस्थली, तद्वन्निर्णीतार्थं धारयतीति कोष्ठेति भण्यते।

(ध. 13, पृ. 242)

कोष्ठा के समान बुद्धि का नाम कोष्ठा है। कोष्ठा कुस्थली को कहते हैं। उसके समान जो निर्णीत अर्थ को धारण करती है, वह बुद्धि 'कोष्ठा' कहलाती है।

(द्रष्टव्य : धारणा)

क्रम

० क्रम आनुपूर्व्यम्।

(रा.वा. 2/2/3)

क्रम का अर्थ है आनुपूर्वी।

० एकस्य निष्पादनानन्तरम् अन्यस्य निष्पादनं क्रमः।

(सत्य. मीमांसा, पृ. 44)

एक के निष्पादन के वाद दूसरे का निष्पादन –यह 'क्रम' है।

० क्रमो हि पौर्वापर्यम्।

(स्या.मं. 5)

क्रम का अर्थ है वस्तुओं को पहले और बाद में रखना।

क्रमभावनियम

० पूर्वोत्तरचारिणोः कार्यकारणयोश्च क्रमभावः।

(प.मु. 3/14)

पूर्वचर और उत्तरचर में तथा कार्य और कारण में क्रमभावनियम होता है।

(द्रष्टव्य : अविनाभाव)

क्रिया

० उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानः पर्यायो द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रिया।

(स.सि. 5/7/539)

अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग निमित्त से उत्पन्न होने वाली जो पर्याय द्रव्य के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में प्राप्त कराने का कारण है, वह 'क्रिया' कहलाती है।

० द्रव्यस्य द्वितीयनिमित्तवशात् उत्पद्यमाना परिस्पन्दात्मिका क्रियेत्यवसीयते।

(रा.वा. 5/22/19)

बाह्य और आभ्यन्तर निमित्त से द्रव्य में हौने वाला परिस्पन्दात्मक परिणमन 'क्रिया' है।

० उभयनिमित्तापेक्षः पर्यायविशेषो द्रव्यस्य देशान्तर-प्राप्तिहेतुः क्रिया।

(तत्त्व.श्लो. 5/7)

(अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग–इन) दोनों कारणों की अपेक्षा रखते हुए द्रव्य का जो पर्यायविशेष देश से देशान्तर की प्राप्ति का कारण होता है, वह 'क्रिया' है।

० किरिया णाम परिप्फंदणरूवा।

(ध. 1, पृ. 18)

परिस्पन्द अर्थात् हलन-चलन रूप अवस्था को 'क्रिया' कहते हैं।

० प्रयोगविस्रसाभ्यां या निमित्ताभ्यां प्रजायते। द्रव्यस्य सा परिज्ञेया परिस्पन्दात्मिका क्रिया।।

(तत्त्वा. 3/47)

प्रेरणा और स्वभाव–इन दो निमित्तों से द्रव्य में जो हलन-चलन रूप परिणति होती है, उसे 'क्रिया' जानना चाहिए।

० प्रदेशान्तरप्राप्तिहेतुः परिस्पन्दरूपपर्यायः क्रिया।

(पंचा.त.प्र. 98)

प्रदेशान्तर की प्राप्ति का हेतु जो परिस्पन्द रूप पर्याय है, वह 'क्रिया' है।

० देशादेशान्तरप्राप्तिहेतुः परिस्पन्दात्मको हि परिणामोऽर्थस्य कर्मोच्यते।

(प्र.क.मा. 6/74)

देश से देशान्तर प्राप्ति रूप पदार्थ का जो परिस्पंदात्मक परिणाम है, वह 'कर्म' या 'क्रिया' कहलाती है।

० प्रयोगविस्रसाभ्यां जनितो जीवानां परिणमन-व्यापारः करणं क्रिया।

(षड्.समु.टी. 49/175)

पुरुष के प्रयोग से अथवा स्वाभाविक रूप से परिणमन के लिये होने वाला व्यापार 'क्रिया' है।

० तत्र क्रिया प्रदेशानां परिस्पन्दश्चलात्मकः।

(पं. 2/26)

जो प्रदेशों का हलन–चलन रूप परिस्पन्द होता है, वह 'क्रिया' कहलाती है।

क्षणिकवाद

० क्षणिकाः सर्वसंस्काराः।

(षड्.समु. 7)

सभी संस्कार (पदार्थ) क्षणिक हैं।

० सौगताः किल इत्थं प्रमाणयन्तिसर्वं सत् क्षणिकम्। यतः सर्वं तावद् घटादिकं वस्तु मुद्गारादिसंनिधौ नाशं गच्छद् दृश्यते। तत्र येन स्वरूपेण अन्त्यावस्थायां घटादिकं विनश्यति, तच्च एतत्स्वरूपमुत्पन्नमात्रस्य विद्यते, तदानीं उत्पादानन्तरमेव तेन विनष्टव्यम्, इति व्यक्तमस्य क्षणिकत्वम्।

(स्या.मं. 16)

बौद्ध इस प्रकार अपने मत को प्रमाणित करते हैं–चूंकि सभी घट आदि पदार्थ मुद्गर आदि की संनिधि (चोट) से नाश को प्राप्त होते हुए देखे जाते हैं। घट आदि अपनी अन्तिम अवस्था में जिस (विनश्वरता के) स्वरूप से नष्ट होते हैं, वह स्वरूप उत्पन्न मात्र (सभी उत्पद्यमान) पदार्थ का होता है, अतः उत्पत्ति के बाद ही उस (पदार्थ) को नष्ट होना चाहिए। इस प्रकार उनका क्षणिकत्व स्पष्ट है।

० सर्वसंस्काराः क्षणविनश्वराः सर्वे पदार्था इत्यर्थः।

(षड्.समु.टी. 7/58)

सर्व संस्कार क्षणिक हैं–अर्थात् सभी पदार्थ क्षणनश्वर हैं।

ग

गवेषणा

० गवेष्यते अनया इति गवेषणा।

(ध. 13, पृ. 242)

जिसके द्वारा गवेषणा की जाती है, वह 'गवेषणा' है।

(द्रष्टव्य : आभिनिबोधिकज्ञान, ईहा)

गुण

० एगदव्वस्सिया गुणा।

(उत्तर.सू. 28/6)

जो एक (केवल) द्रव्य के आश्रित रहते हैं, वे 'गुण' होते हैं।

० द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः।

(त.सू. 5/41)

जो द्रव्य में रहते हों तथा स्वयं निर्गुण हों, वे गुण हैं।

० द्रव्यमेषामाश्रय इति द्रव्याश्रयाः, नैषां गुणाः सन्तीति निर्गुणाः।

(तत्त्व.भा. 5/40)

जिनका आश्रय द्रव्य है–जो द्रव्य में रहते हैं और जिनमें गुण नहीं रहते, स्वयं निर्गुण हैं, उनको 'गुण' कहते हैं।

० दव्वेण विणा ण गुणा गुणेहि दव्वं विणा ण संभवदि।
अव्वदिरित्तो भावो दव्वगुणाणं हवदि तम्हा।।

(पंचा. 13)

तम्हा दव्वगुणाणं अजुदा सिद्धि त्ति णिद्दिट्ठा।।

(पंचा. 50)

द्रव्य के बिना गुण नहीं होते और गुण भी द्रव्य के बिना नहीं होते, इसलिए द्रव्य व गुणों का अव्यतिरिक्त (अभिन्न) रूप होता है। (13) इसलिए द्रव्य व गुणों की परस्पर 'अयुतसिद्धि' कही गई है। (50)

० अन्वयिनो गुणाः।

(स.सि. 5/38/600)

गुण 'अन्वयी' होते हैं।

० द्रव्यं द्रव्यान्तराद् येन विशिष्यते स गुणः। तेन हि द्रव्यं विधीयते।

(स.सि. 5/38/600)

जिससे एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से जुड़ा होता है, वह गुण है। इसी गुण के द्वारा द्रव्य का अस्तित्व सिद्ध होता है।

० गुणो द्रव्यविधानं स्यात्।

(तत्त्वा. 3/9)

द्रव्य की जो विशेषता है, उसे 'गुण' कहते हैं।

० सहभुवो गुणाः।

(पंचा.त.प्र. 5; न्या.कु. 5/42)

जो द्रव्य के साथ रहते हैं, वे 'गुण' हैं।

० गुणास्तु त एवान्वयिनः।

(पंचा.त.प्र. 5)

जो पदार्थ में अन्वयी (सदा अविनाशी) रूप में साथ रहते हैं, वे 'गुण' कहे जाते हैं।

० अनेकान्तात्मकस्य वस्तुनोऽन्वयिनो विशेषा गुणाः।

(पंचा.त.प्र. 10)

अनेकान्तात्मक वस्तु में अन्वय रूप से जो विद्यमान होते हैं, वे 'गुण' हैं।

० सरिसो जो परिणामो अणाइणिहणो हवे गुणो सो हि।
सो सामण्णसरूवो उप्पज्जदि णस्सदे णेय।।

(कार्ति. 241)

द्रव्य का जो अनादि–निधन सदृश परिणाम होता है, वही 'गुण' है। वह सामान्य रूप न तो उत्पन्न होता है और न ही नष्ट होता है।

० यावद्द्रव्यभाविनः सकलपर्यायानुवर्तिनो गुणाः।

(न्या.दी. 3/78)

जो सम्पूर्ण द्रव्य में व्याप्त होकर रहते हैं और समस्त पर्यायों के साथ रहने वाले हैं, उन्हें 'गुण' कहते हैं।

० द्रव्याश्रया गुणाः स्युर्विशेषमात्रास्तु निर्विशेषाश्च।
करतलगतं यदेतैर्व्यक्तमिवालक्ष्यते वस्तु।।
अयमर्थो विदितार्थः समप्रदेशाः समं विशेषा ये।
ते ज्ञानेन विभक्ताः क्रमतः श्रेणीकृता गुणा ज्ञेयाः।।

(पं. 1/104–105)

जो द्रव्य के आश्रय से रहते हैं और स्वयं अन्य विशेषों से रहित हैं, ऐसे जितने भी विशेष हैं, वे सब 'गुण' कहलाते हैं। इन गुणों के द्वारा वस्तु हथेली पर रखे पदार्थ की तरह स्पष्ट हो जाती है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि द्रव्य के सभी प्रदेशों में साथ-साथ रहने वाले और ज्ञान के द्वारा विभाग करके क्रम से एक पंक्ति में स्थापित किये गये जितने भी विशेष हैं, उन सब को 'गुण' जानना चाहिए।

० सहभावी गुणो धर्मः। द्रव्यस्य सहभावी यावद्-द्रव्यभावी यो धर्मः स गुण उच्यते।

(द्रव्य.तर्क. 2/2)

द्रव्य के साथ सदा रहने वाला जो धर्म है, वह 'गुण' है। द्रव्य के सहभावी अर्थात् द्रव्य के साथ ही साथ होने (रहने) वाला, तथा यावद्द्रव्यभावी अर्थात् उस समग्र द्रव्य में रहने वाला जो धर्म है, उसी को 'गुण' कहते हैं।

० सहभावी धर्मो गुणः।

(जै.सि.दी. 1/40)

द्रव्य के सहभावी धर्म को 'गुण' कहते हैं।

गुण के भेद

० व्यतिरेकिणः पर्यायास्ते।

(पंचा.त.प्र. 10)

व्यतिरेक और पर्याय भेद से गुण दो प्रकार का होता है।

० सामान्यो विशेषश्च।

(जै.सि.दी. 1/41)

(गुण दो प्रकार का होता है–) सामान्य और विशेष।

गुण पर्याय

० गुणद्वारेणान्वयरूपाया एकत्वप्रतिपत्तेर्निबन्धनं कारणभूतो गुणपर्यायः।

(पंचा.ता.वृ. 16)

जिन पर्यायों में गुणों के द्वारा अन्वय 'रूप एकत्व' का ज्ञान होता है, उन्हें 'गुणपर्याय' कहते हैं।

० यतरे च विशेषांस्ततरे गुणपर्यया भवन्त्येव।

(पं. 1/135)

जितने गुण के अंश होते हैं, उतने वे सब 'गुणपर्याय' ही कहे जाते हैं।

गुणप्रत्यय (अवधिज्ञान)

० अणुव्रत-महाव्रतानि सम्यक्त्वाधिष्ठानानि गुणः कारणं यस्यावधिज्ञानस्य तद् गुणकारणं यस्यावधिज्ञानस्य तद् गुणप्रत्ययकम्।

(ध. 13, पृ. 290)

सम्यक्त्व से अधिष्ठित अणुव्रत और महाव्रत गुण जिस अवधिज्ञान के कारण हों, वह 'गुण प्रत्यय' अवधिज्ञान है।

० गुणपच्चइगो णरतिरियाणं संखादिचिण्हभवो।।
(गो.सा.जी. 371)
गुणप्रत्यय अवधिज्ञान पर्याप्त मनुष्यों और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यञ्चों के होता है और वह उनके शंख आदि चिह्नों से उत्पन्न होता है।

गुणप्रत्यय (अवधिज्ञान) के भेद

० गुणपच्चइगो छद्धा अणुगावट्ठिदपवड्ढमाणिदरा।
(गो.सा.जी. 372)
गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के छः भेद हैं–अनुगामी, अननुगामी, अवस्थित, अनवस्थित, वर्धमान, हीयमान।

गोष्ठीवाद

(द्रष्टव्य : वाद के भेद)

च

चक्रकाश्रय तर्क (उत्पत्ति दृष्टि से)

० त्र्याद्यष्टान्तानां परस्परमुत्पादकत्वे उत्पत्तिपक्षे चक्रकाश्रयः।
(प्र.प्र. 1/43)
तीन से लेकर आठ तक वस्तुएं एक दूसरे की उत्पादक हैं, ऐसा कहने पर उत्पत्ति की दृष्टि से 'चक्रकाश्रय' तर्क होता है।

चक्रकाश्रय तर्क (ज्ञप्ति दृष्टि से)

० त्र्याद्यष्टान्तानां परस्परं ज्ञापकत्वे ज्ञप्तिपक्षे चक्रकाश्रयः।
(प्र.प्र. 1/43)
तीन से लेकर आठ तक वस्तुएं एक दूसरे का ज्ञान कराती हैं–ऐसा कहने पर ज्ञप्ति की दृष्टि से 'चक्रकाश्रय तर्क' होता है।
(द्रष्टव्यः तर्क भेद)

चक्षुर्दर्शन

० चक्षुषा सामान्यस्यार्थस्य ग्रहणं चक्षुर्दर्शनम्।
(ध. 1, पृ. 381)
चक्षु के द्वारा सामान्य पदार्थ के ग्रहण करने को 'चक्षुर्दर्शन' कहते हैं।

० चक्षुर्ज्ञानोत्पादकप्रयत्नानुविद्धस्वसंवेदने रूपदर्शनक्षमोऽहमिति सम्भावनाहेतुश्चक्षुर्दर्शनम्।
(ध. 6, पृ. 33)
चक्षुरिन्द्रिय-सम्बन्धी ज्ञान को उत्पन्न करने वाले प्रयत्न से संयुक्त स्वसंवेदन के होने पर 'मैं रूप देखने में समर्थ हूं' इस प्रकार की संभावना के हेतु को 'चक्षुर्दर्शन' कहते हैं।

० "चक्खूण जं पयासदि दिस्सदि तं चक्खुदंसणं वेंति।".....जे यत् चक्खूणं चक्षुषां पयासदि प्रकाशते दिस्सदि चक्षुषा दृश्यते वा तं तत् चक्खुदंसणं चक्षुर्दर्शनमिति वेंति ब्रुवते। चक्खिंदियणाणादो जो पुव्वमेव सुवसत्तीए सामण्णाए अणुहवो चक्खुणाणुप्पत्तिणिमित्तो तं चक्खुदंसणमिदि उत्तं होदि। कथमंतरंगाए चक्खिंदियविसयपडिबद्धाए सत्तीए चक्खिंदियस्स पउत्ती ? ण, अंतरंगे बहिरंगत्थोवयारेण बालजणबोहणट्ठं चक्खूणं जं दिस्सदि तं चक्खुदंसणमिदि परूवणादो।
(ध. 7 पृ. 100–101)
"जो चक्षु इन्द्रिय का अवलम्बन लेकर प्रकाशित होता है या दिखता है, उसे चक्षुर्दर्शन कहते हैं।".....'चक्षु के आलम्बन से जो प्रकाशित होता है अर्थात् दिखता है, अथवा आंख द्वारा देखा जाता है, वह

चक्षुर्दर्शन है''—इसका अर्थ ऐसा समझना चाहिए कि चक्षु इन्द्रिय ज्ञान के पूर्व ही चक्षुज्ञान की उत्पत्ति में निमित्तभूत जिसमें स्वशक्ति रूप सामान्य का अनुभव होता है, वह चक्षुर्दर्शन है (यह उक्त कथन का तात्पर्य है)। शंका—उस चक्षु इन्द्रिय के विषय से प्रतिबद्ध अन्तरंग शक्ति में चक्षु इन्द्रिय की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ? (समाधान) (इसलिए वह सम्भव है) क्योंकि बालक जनों को ज्ञान कराने के लिए अन्तरंग में बहिरंग पदार्थों के उपचार से चक्षुओं को जो दिखता है, वही चक्षुर्दर्शन है—ऐसा प्ररूपण किया गया है।

० चक्खुविण्णाणुप्पायणकारणं सगसंवेयणं चक्खुदंसणं णाम।

(ध. 13 पृ. 355)

चाक्षुष विज्ञान को उत्पन्न करने वाला जो स्वसंवेदन है, वह 'चक्षुर्दर्शन' है।

० बज्झत्थेसु पडिबद्धत्तसगसत्तिसंवेयणं चक्खुदंसणं।

(ध. 15, पृ. 10)

बाह्य पदार्थों में प्रतिबद्ध आत्म-शक्ति के संवेदन को 'चक्षुर्दर्शन' कहते हैं।

० स खल्वनादिदर्शनावरणकर्म्मावच्छन्नप्रदेशः सन् यत्तदावरणक्षयोपशमाच्चक्षुरादीन्द्रियावलम्बाच्च मूर्तद्रव्यं विकलं सामान्येनावबुध्यते तच्चक्षुर्दर्शनम्।

(पंचा.त.प्र. 42)

(उस आत्मा के) अंतरंग चक्षुदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से बहिरंग नेत्र के अवलम्बन से किंचित् मूर्तिक द्रव्य जिसके द्वारा देखा जाय, उसका नाम 'चक्षुर्दर्शन' है।

० चक्खूण जं पयासइ दिस्सइ तं चक्खुदंसणं वेंति।

(गो.सा.जी. 484)

जो नेत्रों द्वारा प्रकाशित होता है या दिखता है, वह 'चक्षुर्दर्शन' है।

० आत्मा हि जगत्त्रयकालत्रयवर्त्तिसमस्तवस्तु-सामान्यग्राहक सकलविमलकेवलदर्शनस्वभाव-स्तावत् पश्चादनादिकर्मबन्धाधीनः सन् चक्षु-र्दर्शनावरणक्षयोपशमाद् बहिरङ्गद्रव्येन्द्रिया-लम्बनाच्च मूर्त्तसत्तासामान्यं निर्विकल्पं संव्यवहारेण प्रत्यक्षमपि निश्चयेन परोक्षरूपेणैकदेशेन यत्पश्यति तच्चक्षुर्दर्शनम्।

(बृ.द्र.सं.वृ. 4)

आत्मा तीन लोक और भूत, भविष्य तथा वर्तमान रूप तीनों कालों में रहने वाले सम्पूर्ण द्रव्यसामान्य को ग्रहण करने वाला जो पूर्ण निर्मल केवल दर्शन स्वभाव है, उसका धारक है, पश्चात् (फिर) अनादि कर्मबंध के आधीन होकर चक्षुर्दर्शनावरण के क्षयोपशम से—अर्थात् नेत्र द्वारा जो दर्शन होता है, उस दर्शन को रोकने वाले कर्म के क्षयोपशम से—तथा बहिरंग द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन से मूर्त्त सत्तासामान्य को जो कि संव्यवहार से प्रत्यक्ष है तो भी निश्चय से परोक्षरूप है, उसको एकदेश से विकल्परहित, 'जैसे है वैसे' जो देखता है वह 'चक्षुर्दर्शन' है।

(द्रष्टव्यः दर्शन)

चार्वाक दर्शन

० यः पुनरपरमार्थिकद्रव्यपर्यायविभागमभिप्रैति, स व्यवहाराभासः।। यथा चार्वाकदर्शनम्।।

(प्र.न.त. 7/25–26)

जो नय द्रव्य व पर्याय का अवास्तविक भेद स्वीकार करता है, वह व्यवहारनयाभास है। जैसे–चार्वाक दर्शन।

० व्यवहारनयानुपाति प्रायश्चार्वाकदर्शनम्।

(स्या.मं. 28)

प्रायः व्यवहार नय का अनुयायी चार्वाक दर्शन है।

० यः पुनरपारमार्थिकद्रव्यपर्यायविभागमभिप्रैति, स व्यवहाराभासः। यथा चार्वाकदर्शनम्।

(स्या.मं. 28)

जो अपरमार्थिक द्रव्य व पर्याय के एकान्त भेद का प्रतिपादन करना है, वह 'व्यवहारनयाभास' है, जैसे–चार्वाक दर्शन।

० तन्नामानि चार्वाका लोकायता इत्यादीनि। गल, चर्व अदने, चर्वति, भक्षयति तत्त्वतो न मन्यन्ते पुण्यपापादिकं परोक्षं वस्तुजातमिति चार्वाकाः।. .....लोका निर्विचाराः सामान्यलोकाः, तद्वद् आचरन्ति स्म इति लोकायताः, लोकायतिका इत्यपि। बृहस्पतिप्रणीतत्वेन बार्हस्पत्याश्चेति।

(षड्.समु.टी. 80)

चार्वाक, लोकायत इत्यादि (नास्तिक मत के) नाम हैं। गल व चर्व धातु भक्षणार्थक हैं। अतः चर्वन्ति अर्थात् खाना-पीना व मौज उड़ाना ही जिनका एकमात्र लक्ष्य है, जो पुण्य–पाप आदि अतीन्द्रिय वस्तुओं को वास्तविक नहीं मानते हैं, वे चार्वाक हैं।..... साधारण विचारशून्य मूर्ख लोगों की तरह आचरण करने वाले 'लोकायत' या 'लौकायतिक' कहलाते हैं। बृहस्पति द्वारा प्रवर्तित होने से 'बार्हस्पत्य' भी कहे जाते हैं।

० अपारमार्थिकद्रव्यपर्यायविभागाभिप्रायो व्यवहाराभासः, यथा चार्वाकदर्शनम्, चार्वाको हि प्रमाणप्रतिपन्नं जीवद्रव्यपर्यायादिप्रविभागं कल्पनारोपितत्वेनापह्नुतेऽविचारितरमणीयं भूतचतुष्टयप्रविभागमात्रं तु स्थूललोकव्यवहारानुयायितया समर्थयत इति।

(जै.त.भा.नय परि., पृ. 66)

द्रव्य और पर्याय का अवास्तविक भेद स्वीकार करने वाला नय 'व्यवहाराभास' (मिथ्या नय) है, जैसे–चार्वाक दर्शन। वह प्रमाण से सिद्ध जीवद्रव्य और पर्याय आदि के भेद को काल्पनिक कहकर अस्वीकार करता है और स्थूल लोकव्यवहार का अनुयायी होने से भूतचतुष्टय का विभाग मात्र स्वीकार करता है।

(द्रष्टव्य : मिथ्याश्रुत, सर्वनयात्मक)

चेतनत्व

० चेतनस्य भावश्चेतनत्वम् चैतन्यमनुभवनम्।

(आ.प. 101)

चेतन का भाव अर्थात् पदार्थों की अनुभूति होना –इसको 'चेतनत्व या चैतन्य' कहते हैं।

चेतना

० जीवस्वभावश्चेतना।.....यत्संनिधानादात्मा ज्ञाता द्रष्टा कर्त्ता भोक्ता च भवति, तल्लक्षणो जीवः।

(रा.वा. 1/4/14)

जिस शक्ति के सान्निध्य से आत्मा ज्ञाता, द्रष्टा अथवा कर्ता-भोक्ता होता है, वह चेतना है और वही जीव का स्वभाव होने के उसका लक्षण है।

चेतना के पर्याय

० चेतनानुभूत्युपलब्धिवेदनानामेकार्थत्वात्।

(पंचा.त.प्र. 39)

चेतना, अनुभूति, उपलब्धि, वेदना–ये सभी एकार्थक शब्द हैं।

चेतना के भेद

० ये तु तस्या द्वे रूपे ते दर्शनज्ञाने।

(स.सा.आ.ख्या. 298–299)

चेतना के दो रूप कहे गये हैं–दर्शन और ज्ञान।

छ

छद्मस्थ

० छद्म ज्ञानदृगावरणे, तत्र तिष्ठन्तीति छद्मस्थाः।

(ध. 1, पृ. 189)

ज्ञानावरण और दर्शनावरण को 'छद्म' कहा जाता है। उसमें जो रहते हैं, उन्हें 'छद्मस्थ' कहते हैं।

० संसरन्ति अनेन घातिकर्मकलापेन चतसृषु गतिष्विति घातिकर्मकलापः संसारः। तस्मिन् तिष्ठन्तीति संसारस्थाः छद्मस्थाः।

(ध. 13, पृ. 44)

जिस घातिकर्मसमूह के कारण जीव चारों गतियों में संसरण करते हैं, वह घातिकर्मसमूह 'संसार' है। और उसमें रहने वाले संसारस्थ जीव 'छद्मस्थ' हैं।

छल

० तत्र परस्य वदतोऽर्थविकल्पोपपादनेन वचन-विघातश्छलम्।

(प्र.मी. 2/1/29)

किसी वादी के वचन में अर्थ का विकल्प उत्पन्न करके उसके वचन का विघात या खण्डन करना 'छल' कहलाता है।

० आपाद्यार्थान्तरं वाक्यविघातः छलमुच्यते।

(प्र.प्र. 1/45)

(वक्ता के इष्ट अर्थ को छोड़कर) दूसरे ही अर्थ की कल्पना करके बात काटना यह 'छल' कहलाता है।

० तत्र परस्य वदतोऽर्थविकल्पोपपादनेन वचनविघातः छलम्।

(स्या.मं. 10)

बोलने वाले वादी के अर्थ को बदलकर वादी के वचनों के निषेध करने को 'छल' कहते हैं।

० अभिप्रायान्तरेण प्रयुक्तस्य शब्दस्यार्थान्तरं परिकल्प्य दूषणाभिधानं छलमिति छलसामान्यलक्षणम्।

(स.भं.त. 114)

अन्य अभिप्राय से कहे हुए शब्द का अन्य अर्थ की कल्पना करके दूषण देना–यही छल सामान्य का लक्षण है।

० तत्रार्थविकल्पप्रयुक्तवचनखण्डनं छलम्।

(प्र.रत्ना. 6/73)

अर्थ सम्बन्धी विकल्पों में प्रयुक्त वचन का निराकरण 'छल' होता है।

छल के भेद

० तच्च वाक्छलं सामान्यछलमुपचारछलमिति त्रिविधम्।

(प्र.प्र. 1/45; स्या.मं. 10)

छल के तीन प्रकार हैं—वाक्छल, सामान्यछल तथा उपचारछल।

ज

जड़त्व

० स्वप्रकाशे परमुखप्रेक्षित्वं हि जडस्य लक्षणम्।

(स्या.मं. 12)

अपने प्रकाश (प्रकट होने, ज्ञेय होने) में दूसरे का अवलंबन ग्रहण करना 'जड़त्व' का लक्षण है।

जय

० स्वपक्षस्य सिद्धिर्जयः।

(प्र.मी. 2/1/31)

अपने पक्ष की सिद्धि हो जाना 'जय' है।

जल्प

० साध्ये परतिरस्कारो जल्पः।

(प्र.सं. 55)

साध्य के विषय में (स्वपक्ष की सिद्धि में) दूसरे को तिरस्कृत करना, इसका नाम 'जल्प' है।

० समर्थवचनं जल्पं चतुरङ्गं विदुर्बुधाः।

(सि.वि. 5/2)

(वादी, प्रतिवादी, प्राश्निक और परिषत्—इन) चार रूप अंग वाले अथवा चार अवयवों वाले समर्थ वचन को 'जल्प' कहा जाता है।

० सम्यगेव तदज्ञाने तदाभासोऽपि युज्यते।
पक्षवैपक्षयोर्यत्र स जल्पः परिभाष्यते।।

(प्र.प्र. 1/103)

जिसमें पक्ष और विपक्ष में योग्य साधनों और योग्य दूषणों का ही प्रयोग किया जाता है किन्तु उन योग्य साधन-दूषणों का ज्ञान न होने पर साधनाभास तथा दूषणाभास का भी प्रयोग होता है, उसे 'जल्प' कहते हैं।

० यत्र विचारे पक्षविपक्षयोर्यथाक्रमं सम्यगेव साधन-दूषणे प्रयुज्येते, तयोरपरिज्ञाने साधन-दूषणाभासावपि प्रयुज्येते स विचारो जल्पः।

(प्र.प्र. 1/103)

जिस विचार-विमर्श में अपने पक्ष में योग्य साधनों का ही प्रयोग किया जाता है, किन्तु योग्य साधन न सूझने पर साधनाभास का भी प्रयोग किया जाता है तथा प्रतिपक्ष में योग्य दूषण ही दिये जाते हैं, किन्तु योग्य दूषण न सूझने पर दूषणाभास भी प्रयुक्त किये जाते हैं, उसे 'जल्प' कहा जाता है।

० छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भः सिद्धान्ता-विरुद्धः पंचावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो जल्पः।

(प्र.प्र. 1/105)

जिसमें छल, जाति तथा निग्रहस्थानों द्वारा भी साधन और दूषण दिये जाते हैं, जो सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं होता, पांच अवयवों से सम्पन्न होता है तथा पक्ष और प्रतिपक्ष को स्वीकार करके किया जाता है, उसे 'जल्प' कहते हैं।

जाति (दूषणाभास)

० सम्यग्हेतौ हेत्वाभासे वा वादिना प्रयुक्ते, झटिति तद्दोषतत्त्वाप्रतिभासे हेतुप्रतिबिम्बनप्रायं किमपि प्रत्यवस्थानं जातिः दूषणाभासः।

(स्या.मं. 10)

वादी के द्वारा सम्यक् हेतु अथवा हेत्वाभास के प्रयोग करने पर, वादी के हेतु की सदोषता की बिना परीक्षा किये, हेतु के समान मालूम होने वाला शीघ्रता से कुछ भी कह देना 'जाति' (नामक दूषणाभास) होता है।

जाति (दूषणाभास) के भेद

० उक्ते हेतौ विपक्षेण साम्यापादनवाक्यतः।
जातिः प्रतिविधिः प्रोक्ता विंशतिश्चतुरुत्तरा।।
साधर्म्य-वैधर्म्य-उत्कर्ष-अपकर्ष-वर्ण्य-अवर्ण्य-विकल्प-असिद्धादि-प्राप्ति-अप्राप्ति-प्रसंग-प्रतिदृष्टान्त-अनुत्पत्ति-संशय-प्रकरण-अहेतु-अर्थापत्ति-अविशेष-उपपत्ति-उपलब्धि-अनुपलब्धिनित्य-अनित्य-कार्यसमा जातयः।।

(प्र.प्र. 1/49)

हेतु के कथन होने पर, विपक्ष द्वारा समानता बताने वाले वाक्य से दिया गया उत्तर 'जाति' कहलाता है। जातियां चौबीस हैं–साधर्म्यसमा, वैधर्म्यसमा, उत्कर्षसमा, अपकर्षसमा, कार्यसमा, अवर्ण्यसमा, विकल्पसमा, असिद्धादिसमा, प्राप्तिसमा, अप्राप्तिसमा, प्रसंगसमा, प्रतिदृष्टान्तसमा, अनुत्पत्तिसमा, संशयसमा, प्रकरणसमा, अहेतुसमा, अर्थापत्तिसमा, अविशेषसमा, उपपत्तिसमा, उपलब्धिसमा, अनुपलब्धिसमा, नित्यसमा, अनित्यसमा, कार्यसमा।

जात्यन्तर (वस्तु)

० न च द्रव्यांशः पर्यायांशो वा परमार्थतः कश्चिदस्ति, परिकल्पितत्वात्.....अनेकान्तवादिनः संमतं जात्यन्तरमेव, अविभक्तरूपसंसर्गात्मकत्वात् नरसिंहादिवत्.....एवं घटाद्यपि द्रव्यार्थरूपात् पर्यायार्थरूपाच्च जात्यन्तरम्।

(तत्त्व.भा.वृ. 5/29)

द्रव्यांश या पर्यायांश–ऐसा परमार्थ रूप से कोई नहीं है, क्योंकि यह परिकल्पित हैं..... अनेकान्तवादी को तो 'जात्यन्तर' रूप स्वीकार्य है, क्योंकि 'नरसिंह' की तरह वस्तु (दोनों–द्रव्यांश व पर्यायांश के) अविभक्त रूपों का संसर्ग रूप होती है.....इस प्रकार, घट आदि पदार्थ भी अपने द्रव्यार्थ व पर्यायार्थ–दोनों से (अविभक्त एवं) जात्यन्तर रूप है।

० जात्यन्तरं हि अनेकान्तात्मकं सर्वथा एकान्त-विकल्पातीतत्वात्।

(अष्टस. 46, पृ.193)

अनेकान्तात्मक वस्तु सर्वथा एकान्त–विकल्पों से अतीत होने के कारण 'जात्यन्तर' रूप होती है।

० ततः सूक्तं 'त्रिकालवर्तिनयोपनयविषयपर्याय-विशेषसमूहो द्रव्यमेकानेकात्मकं जात्यन्तरं वस्तु' इति।

(अष्टस. 107, पृ. 290)

इसलिए यह ठीक ही कहा गया है कि नय व उपनय के त्रिकालवर्ती पर्याय–विशेषों का समूह व एकानेकात्मक द्रव्य एक 'जात्यन्तर' वस्तु है।

० नाप्युभयदोषः। चौर(पार)दारकिाभ्याम् अचौर-पारदारिकवत् जैनाभ्युपगतवस्तुनो जात्यन्त-रत्वात्। न खलु भेदाभेदयोः सत्त्वासत्त्वयोर्वा अन्योन्यनिरपेक्षयोरेकत्वं जैनैरभ्युपगम्यते येनायं दोषः, तत्सापेक्षयोरेव तदभ्युपगमात्, तथा-प्रतीतेश्च।

(प्र.क.मा. 4/10)

अभेद-भेद आदि को एकत्र मानने में उभयदोष भी नहीं आता, क्योंकि भेद और अभेद जिस वस्तु में रहते हैं, वह वस्तु एक पृथक ही जातिवाली है, जैसे कि चोरी करने वाले और परदारा-सेवन करने वाले पुरूष (इन दोनों में पृथक्–पृथक् पुरूष) से अचोर-अपारदारिक पुरूष अचौर्य व परदारविरति–दोनों से युक्त पृथक् कहलाता है। जैन भेद और अभेद, या सत्त्व– इनको परस्पर की अपेक्षा से रहित नहीं मानते, अर्थात् 'ये दोनों धर्म परस्पर, निरपेक्ष होकर एकत्व रूप रहते हैं', ऐसा नहीं मानते हैं, जिससे कि यह उभय दोष आवे। जैन तो सापेक्षभूत सत्त्वासत्त्व में ही एकत्व स्वीकार करते हैं। वस्तु में ऐसे सापेक्ष सत्त्व, असत्त्वादि की प्रतीति भी भली प्रकार से होती है।

० न चात्र भेदाभेदपक्षभावी दोषो गुडनागरसंज्ञित-वस्तु अभ्युपगमात्। तदुक्तम्–गुडश्चेत् कफहेतुः स्यात्, नागरं पित्तकारणम्।
तन्मूलमन्यदेवेदं गुडनागरसंज्ञितम्।।
मधुरं न हि सर्वं स्यात् कफहेतुर्यथा मधु।
तीक्ष्णं वा पित्तजनकं यथा मागधिका मता।।
(न्या.वा.वृ. 35)
(द्रव्य व पर्याय आदि में) भेद या अभेद पक्ष में होने वाला दोष यहां नहीं है, क्योंकि 'गुडनागर (गुड व सौंठ के मिश्रण रूप पेय पदार्थ) नामक (जैसी) वस्तु को हम स्वीकार करते हैं। कहा भी है–
गुड तो कफ करता है और सौंठ पित्त बढाती है, फिर भी 'गुडनागर' नामक पदार्थ उनसे बना होकर भी उनसे भिन्न (कफ–पित्तनाशक) ही होता है। मधुर वस्तु कफ नहीं बढाती, जैसे कि शहद, इसी तरह समस्त तीक्ष्ण वस्तु पित्त नहीं बढाती, जैसे कि बड़ी पीपल।

० तदेवं देशकालस्वभावाभेदेऽपि संख्या-संज्ञा-लक्षण-कार्यभेदात् नरसिंहाकारमेव वस्तु। तदुक्तम्–
न नरः सिंहरूपत्वात्, न सिंहो नररूपतः।
संज्ञाविज्ञानकार्याणां भेदात् जात्यन्तरं हि तत्।।
नान्वयो भेदरूपत्वात्, न भेदोऽन्वयरूपतः।
मृद्भेदद्वयसंसर्गवृत्तिर्जात्यन्तरं घटः।।
(न्या.वा.वृ. 35)
इस प्रकार, देश, काल व स्वभाव की दृष्टि से अभिन्न होने पर भी, प्रत्येक वस्तु संख्या, संज्ञा, लक्षण व कार्य सम्बन्धी भिन्नता के कारण नरसिंह की तरह (जात्यन्तर) होती है। कहा भी है–सिंह (के मुख) रूप होने वह न तो मनुष्य है, नर जैसे रूप के कारण वह सिंह भी नहीं है, अपितु संज्ञा, ज्ञान व कार्य की दृष्टि से भेद रूप होने के कारण वह न तो अन्वय (सामान्य) रूप है, और अन्वय रूप होने से भेदरूप भी नहीं है, अपितु मिट्टी के द्विविध (सामान्य व विशेष रूप) भेद के संसर्ग से उत्पन्न 'जात्यन्तर' रूप है।

० न द्रव्यरूपं न पर्यायरूपं नोभयरूपं वस्तु, येन तत्तत्पक्षभावी दोषः स्यात्, किन्तु स्थित्युत्पादव्ययात्मकं जात्यन्तरमेव वस्तु।
(प्र.मी. 1/1/33)
वस्तु न तो (मात्र) द्रव्य रूप है, न पर्याय रूप है, न ही उभय (द्रव्य-पर्याय-उभय) रूप

है, इसलिए उन-उन (एकान्त) पक्ष में होने वाले दोष सिद्ध नहीं होते, किन्तु स्थिति-उत्पाद-व्ययात्मक वस्तु 'जात्यन्तर' ही है।

० न चैवात्र वस्तुनि परस्परविरुद्धधर्माध्यासायोगाद् असन् स्याद्वादः इति वाच्यम्, नित्यानित्यपक्षविलक्षणस्य पक्षान्तरस्य अङ्गीक्रियमाणत्वात्। तथैव च सर्वैरनुभवात्। तथा च पठन्ति–भागेसिंहो नरो भागे योऽर्धो भागद्वयात्मकः।
तमभागं विभागेन नरसिंहं प्रचक्षते।। इति।
(स्या.मं. 5)
'एक ही पदार्थ में परस्पर–विरुद्ध दो धर्म किस प्रकार सम्भव हैं? अतः स्याद्वाद असत् है' यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि हम वस्तु का नित्य-अनित्य रूप से विलक्षण तीसरा पक्ष (स्वरूप) स्वीकार करते हैं। कहा भी है–एक भाग से सिंह, दूसरे भाग में मनुष्य–इस प्रकार दो भागों को धारण करने से भागरहित 'नृसिंह' रूप होता है–ऐसा कहा जाता है।

० गुणगुण्यात्मकं सामान्यविशेषात्मकं द्रव्य-पर्यायात्मकं जात्यन्तरं प्रमाणविषयत्वेन सिद्धम्।
(प्र.प्र.क. 2/38)
गुण व गुणी रूप, सामान्य-विशेषात्मक व द्रव्य-पर्यायात्मक जात्यन्तर पदार्थ है–यह सिद्ध हुआ।
(द्रष्टव्य : अनेकान्त)

जात्युत्तर (दूषणाभास)

० अविद्यमानानां साधनदोषाणां प्रतिपादनान्य-दूषणान्यपि दूषणवदाभासमानानि 'दूषणाभासाः'। तानि च 'जात्युत्तराणि। जातिशब्दः सादृश्य-वचनः। उत्तरसदृशानि जात्युत्तराणि उत्तर-स्थानप्रयुक्तत्वात्। उत्तरसदृशानि जात्युत्तराणि।
(प्र.मी. 2/1/29)
अविद्यमान दोषों का उद्भावन (प्रतिपादन) करना वास्तविक दूषण नहीं होता, अपितु 'दूषणाभास' होता है। इन्हें ही 'जात्युत्तर' कहते हैं। 'जाति' का अर्थ है–सदृश। इस प्रकार उत्तर के रूप में प्रयुक्त वचन जो उत्तर सरीखे (उत्तराभास) हों, वे 'जात्युत्तर' कहलाते हैं, ये जात्युत्तर 'उत्तर-सदृश' होते हैं।

जात्युत्तर (जाति, दूषणाभास) के भेद

० जात्या सादृश्येनोत्तराणि जात्युत्तराणि। तानि च सम्यग्घेतौ हेत्वाभासे वा वादिना प्रयुक्ते झटिति तद्दोषतत्त्वाप्रतिभासे हेतुप्रतिबिम्बनप्रायाणि प्रत्यवस्थानान्यनन्तत्वात्परिसङ्ख्यातुं न शक्यन्ते, तथाप्यक्षपाददर्शितदिशा साधर्म्यादिप्रत्यवस्थानभेदेन साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्य-प्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तानुत्पत्तिसंशयप्रकरणा-हेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धि-नित्यानित्यकार्यसमरूपतया चतुर्विंशतिरूप-दर्श्यन्ते।
(प्र.मी. 2/1/29)
जाति अर्थात् सादृश्य के कारण जो उत्तररूप समझे जायें उन्हें जात्युत्तर (दूषणाभास) समझना चाहिए। वादी ने समीचीन हेतु या हेत्वाभास का प्रयोग किया किन्तु प्रतिवादी को उसमें कोई वास्तविक दोष समझ में नहीं आया। ऐसी स्थिति में वह प्रतिवादी अपने वादी के द्वारा प्रयुक्त हेतु का खण्डन करने के लिये हेतु जैसे प्रतीत होने वाले कुछ दोष प्रस्तुत करें,

तो ऐसे जात्युत्तर वचनों की संख्या अगणित हो सकती है। उनकी नियत संख्या बताना संभव नहीं है फिर भी न्यायदर्शन में प्रदर्शित दिशा के अनुरूप जात्युत्तर (दूषणाभास रूप खण्डन) के चौबीस प्रकार इस रूप में निर्दिष्ट हैं–1. साधर्म्यसमा, 2. वैधर्म्यसमा, 3. उत्कर्षसमा, 4. अपकर्षसमा, 5. वर्ण्यसमा, 6. अवर्ण्यसमा, 7. विकल्पसमा, 8. साध्यसमा, 9. प्राप्तिसमा, 10. अप्राप्तिसमा, 11. प्रसंगसमा, 12. प्रतिदृष्टान्तसमा, 13. अनुत्पत्तिसमा, 14. संशयसमा, 15. प्रकरणसमा, 16. अहेतुसमा, 17. अर्थापत्तिसमा, 18. अविशेषसमा, 19. उपपत्तिसमा, 20. उपलब्धिसमा, 21. अनुपलब्धिसमा, 22. नित्यसमा, 23. अनित्यसमा और 24. कार्यसमा।

जिगीषु

० स्वीकृतधर्मव्यवस्थापनार्थं साधनदूषणाभ्यां परं पराजेतुमिच्छुः जिगीषुः।

(प्र.न.त. 8/3)

स्वीकार किये हुए धर्म की सिद्धि करने के लिये, स्वपक्ष के साधन और पर–पक्ष के दूषण द्वारा प्रतिवादी को जीतने की इच्छा रखने वाला 'जिगीषु' कहलाता है।

जैनी नीति

० एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी।।

(पु.सि. 225)

जिस प्रकार गोपी बिलौने में लिपटी हुई रस्सी (नेत्र) को एक छोर से खींचती है और दूसरे छोर से ढीला करती है, उसी तरह वस्तु-स्वरूप को एक अन्त (धर्मविशेष–ग्राहक नय) से खींचती है और दूसरे अन्त (नय) से शिथिल करती है, ऐसी (इस प्रकार नयों में मुख्यता व गौणता रखती हुई) जैनी नीति (जिनेन्द्र की कथन-पद्धति) जयवन्त हो।

० दुर्विवारनयानीकविरोधध्वंसनौषधिः।
स्यात्कारजीविता जीयात् जैनी सिद्धान्तपद्धतिः।।

(पंचा.त.प्र. मंगलाचरण, 2)

जो दुर्विवार नय-सेना के विरोध को नष्ट करने वाली औषधि है तथा स्यात्-पद जिसका जीवन है, ऐसी जैनी सिद्धान्त–पद्धति जयवन्त हो।

(द्रष्टव्य : स्यात् पद, स्याद्वाद)

ज्ञ

ज्ञान (निर्दोष)

० अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः।

(रत्नक. 42)

जो ज्ञान वस्तु–स्वरूप को न्यूनता से रहित, अधिकता से रहित, विपरीतता से रहित और सन्देह से रहित, जैसा का तैसा– ज्यों का त्यों (जैसा वस्तु का स्वरूप है) जानता है, उस ज्ञान को आगम के जानने वाले 'ज्ञान' कहते हैं।

० प्रधानविशेषमुपसर्जनीकृतसामान्यं च ज्ञानमिति।।

(स्या.मं. 1)

विशेष की मुख्यतापूर्वक सामान्य को गौण करके किसी वस्तु के जानने को 'ज्ञान' कहते हैं।

(द्रष्टव्य : निर्णय, निश्चय, प्रमाण, सम्यक् ज्ञान)

ज्ञान (आत्म गुण)

० इयं विसेसियं णाणं।

(सन्मति. 2/1)

विशेष का ग्रहण ज्ञान है।

० आकारवच्च विज्ञानम्।

(तत्त्व.भा.वृ. 2/9)

आकार-सहित होना –यह 'ज्ञान' है।

० जानाति, ज्ञायतेऽनेन, ज्ञप्तिमात्रं वा ज्ञानम्।

(स.सि. 1/1/6)

जो जानता है, जिसके द्वारा जाना जाय, या 'जानना'–वह 'ज्ञान' है।

० णाणं-अवबोहमेत्तं, भावसाधणो। अहवा णज्जइ अणेणेति नाणं, खयोवसमिय–खाइएण वा भावेण जीवादिपदत्था णज्जंति इति णाणं, करणसाधणो। अहवा णज्जति एतम्हि त्ति णाणं, नाणभावे जीवोत्ति, अधिकरणसाहणो।

(न.चू. 7, पृ. 13)

ज्ञान यानी अवबोधक मात्र, यह भावसाधन वाली (जो जानना है, वह ज्ञान है–इस) निर्युक्ति से होने वाला अर्थ है। अथवा जिसके द्वारा जाना जाय, वह ज्ञान है, अर्थात् ज्ञानावरण की क्षायोपशमिक व क्षायिक परिणति से जीव आदि पदार्थ ज्ञात होते हैं, वह ज्ञान है, यहां करण-साधन वाली (जिससे जाना जाय, वह ज्ञान है –इस) निर्युक्ति से होने वाला अर्थ है। अथवा जिसमें ज्ञात होते हैं, वह ज्ञान है, अर्थात् जीव 'ज्ञान' है। यह अधिकरण साधन वाली(जिस में पदार्थ ज्ञात होते हैं–इस) निर्युक्ति से होने वाला अर्थ है।

० भूतार्थप्रकाशनं ज्ञानम्।.....अथवा सद्भाव–विनिश्चयोपलम्भकं ज्ञानम्।.....शुद्धनयविवक्षायां तत्त्वार्थोपलम्भकं ज्ञानम्।.....द्रव्यगुणपर्यायाननेन जानातीति ज्ञानम्।

(ध. 1, पृ. 143–144)

1. सत्यार्थ का प्रकाश करने वाली शक्ति–विशेष का नाम 'ज्ञान' है।
2. अथवा सद्भाव अर्थात् वस्तु-स्वरूप का निश्चय करने वाले (आत्मीय) धर्म को 'ज्ञान' कहते हैं। शुद्धनय की विवक्षा में वस्तुरूप का उपलम्भ करने वाले धर्म को ही ज्ञान कहा गया है।
   जिसके द्वारा द्रव्य, गुण, पर्यायों को जानते हैं, उसे 'ज्ञान' कहते हैं।

० सामान्यविशेषात्मकं बाह्यार्थग्रहणं ज्ञानम्।

(ध. 1, पृ. 148)

सामान्यविशेषात्मक बाह्य पदार्थ को ग्रहण करने वाला 'ज्ञान' होता है।

० यथायथं प्रतिभासितार्थप्रत्ययानुविद्धावगमो ज्ञानम्।

(ध. 1, पृ. 366)

यथावस्थित प्रतिभासित हुए पदार्थ के निमित्त से उत्पन्न हुए तत्संबंधी बोध को 'ज्ञान' कहते हैं।

० बाह्यार्थपरिच्छेदिका जीवशक्तिः ज्ञानम्, तच्च जीवस्य यावद्द्रव्यभावी गुणः, तेन विना जीवस्य अभाव-प्रसंगात्।

(ध. 13, पृ. 206)

बाह्य पदार्थ का परिच्छेद (बोध) करने वाली

जीव की शक्ति ज्ञान है, वह जीव का यावद्द्रव्यभावी (समस्त जीव में व्याप्त) गुण है, क्योंकि उसके बिना जीव के अभाव का प्रसंग हो जाता है।

० विशेषग्राहि ज्ञानम्।

(पंचा.त.प्र. 40)

जो विशेषता लिए पदार्थों को जानता है, वह 'ज्ञानोपयोग' कहलाता है।

० साकारं हि भवेज्ज्ञानम्।

(तत्त्वा. 2/10)

ज्ञान(एक) साकार (उपयोग) है।

० साकारं ज्ञानमुद्दिष्टम्।

(आ.पु. 24/101)

जो उपयोग साकार है (अर्थात् पदार्थ को विकल्प सहित जानता है), वह 'ज्ञान' है।

० ज्ञायते प्राधान्येन विशेषो गृह्यतेऽनेन इति ज्ञानम्।

(र.करा. 1/2)

जो जानता है तथा जिसके द्वारा मुख्यतया विशेष का ग्रहण किया जाता है, वह 'ज्ञान' है।

(द्रष्टव्यः उपयोग के भेद, साकार उपयोग)

ज्ञान (आत्मा)

० एवम्भूतनयवक्तव्यवशात् ज्ञानदर्शनपर्याय-परिणतात्मैव ज्ञानं दर्शनं च तत्स्वाभाव्यात्।

(रा.वा. 1/1/5)

एवंभूत नय की दृष्टि में ज्ञान व दर्शन क्रिया में परिणत आत्मा ही 'ज्ञान' व 'दर्शन' है, क्योंकि वह ज्ञानस्वभावी व दर्शनस्वभावी है।

० जानाति परिच्छिनत्ति जीवादिपदार्थानिति ज्ञानम् आत्मा।

(ध. 9, पृ. 142)

'जानातीति ज्ञानम्' इस निर्युक्ति के अनुसार जो जीवादि पदार्थों को जानता है, वह ज्ञान अर्थात् 'आत्मा' है।

ज्ञान के भेद

० दुविहे णाणे पण्णत्ते, तं जहा–पच्चक्खे चेव परोक्खे चेव।

(ठा.सू. 2/86; भ.सू. 8/2/22; नन्दी. 2/2; रा. प्र.सू. 241)

ज्ञान दो प्रकार का कहा गया है–प्रत्यक्ष और परोक्ष।

० नाणं पंचविहं पण्णत्तं, तं जहा– आभिणिबोहि-यनाणं सुयनाणं ओहिनाणं मणपज्जवनाणं केवलणाणं।

(नन्दी. 2/1; अनु.सू. 1/1)

ज्ञान के पांच प्रकार बताये गये हैं। वे हैं– आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान।

० आभिणिसुदोधिमणकेवलाणि णाणाणि पंचभेयाणि। कुमदिसुदविभंगाणि य तिण्णि वि णाणेहिं संजुत्ते।।

(पंचा. 41)

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान –ये पाँच प्रकार के सम्यग्ज्ञान हैं तथा कुमति, कुश्रुत, विभङ्गावधि –ये तीन कुज्ञान हैं। इन्हें मिलाकर ज्ञानोपयोग के आठ प्रकार होते हैं।

० ज्ञानमष्टविधं ज्ञेयं मतिज्ञानादिभेदतः।

(तत्त्वा. 2/13)

ज्ञान के मतिज्ञान आदि (मतिज्ञान, श्रुत ज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान, केवलज्ञान, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, विभंग ज्ञान) भेद से आठ प्रकार हैं।

ज्ञान की स्वपरप्रकाशकता

० स्वपराभासि ज्ञानम्।

(न्यायाव. 1)

ज्ञान 'स्व' और पर (पदार्थ) का बोध कराता है।

० दीपवन्नोपपद्येत बाह्यवस्तुप्रकाशकम्।
अनात्मवेदने ज्ञाने जगदान्ध्यं प्रसज्ज्यते।।

(न्या.वा. 4)

(ज्ञान को) दीपक की तरह बाह्य वस्तु के प्रकाशक होने के साथ–साथ स्वप्रकाशक (आत्मवेदक) नहीं माना जाय तो जगत् ही अन्धेपन को प्राप्त हो जाएगा।

० कः खलु ज्ञानस्यालम्बनं बाह्यं प्रतिभातम-भिमन्यमानः, तदपि तत्प्रकारं नाभिमन्येत? मिहिरालोकवत्।

(प्र.न.त. 1/17)

ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो ज्ञान के विषयभूत बाह्य पदार्थ को तो जाना हुआ माने, किन्तु ज्ञान को स्वयं जाना हुआ उसी तरह न जाने, जिस तरह सूर्य का प्रकाश स्वयं व अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है।

० ज्ञानस्य धर्मोऽयं तावत् स्वपरप्रकाशकत्वं प्रदीपवत्।

(नि.सा.ता.वृ. 159)

ज्ञान का तो यह धर्म (स्वभाव) ही है कि वह प्रदीप की तरह स्व और पर दोनों को प्रकाशित करता है।

० ज्ञानं हि स्वपरसंवेदनम्।

(स्या.मं. 16)

ज्ञान वस्तुतः स्व और पर को जानने वाला होता है।

(द्रष्टव्य : प्रामाण्य)

ज्ञानगुण प्रमाण

(द्रष्टव्य : प्रमाण)

ज्ञानगुण प्रमाण के भेद

० से किं तं नाणगुणप्पमाणे? नाणगुणप्पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा–पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवम्मे, आगमे।

(अनु.सू. 11/515)

ज्ञानगुण प्रमाण क्या है? ज्ञानगुण प्रमाण के चार प्रकार हैं। वे हैं–प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम।

त

तत्त्व

० पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात् तत्त्वं त्रयात्मकम्।।

(आ.मी. 60)

जिसके दुग्ध लेने का व्रत है, वह दही नहीं खाता, जिसके दही लेने का व्रत है, वह दुग्ध नहीं पीता। और जिसका गोरस न लेने का व्रत है वह दूध-दही दोनों ही नहीं खाता। इससे मालूम होता है कि वस्तुतत्त्व त्रयात्मक है।

० तत्त्वशब्दो भावसामान्यवाची, कथम् ? तदिति सर्वनामपदम्। सर्वनाम च सामान्ये वर्तते। तस्य भावस्तत्त्वम्।

(स.सि. 1/2/10)

तत्त्व शब्द भाव (पदार्थ) सामान्य का वाचक है। कैसे ? क्योंकि 'तत्' यह सर्वनाम पद है। और सर्वनाम सामान्य अर्थ में रहता है, इसलिए उस (सामान्य पदार्थ) का भाव 'तत्त्व' है।

० तद्भावस्तत्त्वम्।

(स.सि. 2/1/253)

जिस वस्तु का जो भाव है, वह 'तत्त्व' है।

० स्वं तत्त्वं स्वतत्त्वम्, स्वो भावोऽसाधारणो धर्मः।

(रा.वा. 2/1/6)

अपना तत्त्व स्वतत्त्व होता है, वह स्वभावभूत असाधारण धर्म हैं (अर्थात् वस्तु के असाधारण रूप स्वतत्त्व को 'तत्त्व' कहते हैं)।

० तत्त्वं परमार्थभूतं वस्तु जीवाजीवलक्षणम् अनन्तधर्मात्मकमेव।

(स्या.मं. 22)

तत्त्व से तात्पर्य है –जीव व अजीव आदि अनन्तधर्मात्मक, परमार्थ वस्तु।

० तत्त्वं यथावस्थितवस्तुस्वरूपपरिच्छेदः।

(स्या.मं. 25)

यथावस्थित वस्तु-स्वरूप का ज्ञान 'तत्त्व' है।

० तत्त्वं पारमार्थिकं वस्तु।

(जै.सि.दी. 2/1)

पारमार्थिक वस्तु को 'तत्त्व' कहते हैं।

(द्रष्टव्य : अनन्तधर्मात्मक, द्रव्य, वस्तु, सत्)

तत्त्व के भेद

० जीवाः, अजीवाः, आस्रवः, बन्धः, संवरः, निर्जरा, मोक्षः –इत्येष सप्तविधोऽर्थस्तत्त्वम्।

(तत्त्व.भा. 1/4)

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष –इन सात प्रकारों वाला अर्थ 'तत्त्व' है।

० तत्त्वं हेयमुपादेयमिति द्वेधाऽभ्यधादसौ।

(तत्त्व.अनु. 3)

सर्वज्ञ देव ने कहा है कि तत्त्व के दो भेद हैं –हेय व उपादेय।

० प्रमाणविषयफलप्रमातृरूपेषु चतुर्षु विधिषु तत्त्वं परिसमाप्यते।

(प्र.मी. 1/1/30)

'तत्त्व' इन चार प्रकारों में परिसमाप्त (निविष्ट) है –(1) प्रमाण (2) प्रमाण विषय (3) प्रमाणफल, और (4) प्रमाता।

तत्त्वज्ञान

० तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम्।।

(आ.मी. 101)

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च.....।।

(आ.मी. 105)

तत्त्वज्ञान आप (जिनेन्द्र) के मत में प्रमाण है। वह दो प्रकार का है –अक्रमभावी व क्रमभावी। जो एक साथ सम्पूर्ण पदार्थों को जानता है, वह अक्रमभावी ज्ञान 'केवलज्ञान' है। तथा जो क्रम से पदार्थों का जानना है, वह स्याद्वाद एवं नय –दोनों रूप होता है। सम्पूर्ण तत्त्वों के प्रकाशक स्याद्वाद व केवलज्ञान –ये दोनों हैं, किन्तु इनमें अन्तर इतना ही है कि जिसे केवलज्ञान युगपत् प्रत्यक्ष जानता है, उसे स्याद्वाद परोक्ष रूप से (क्रमशः) जानता है।

तत्त्वनिर्णिनीषु

० तथैव तत्त्वं प्रतितिष्ठापयिषुस्तत्त्वनिर्णिनीषुः।

(प्र.न.त. 8/4)

पूर्वोक्त रीति से (अर्थात् स्वपक्ष-सिद्धि और परपक्ष-दूषण के उद्देश्य से) तत्त्व की स्थापना करने का इच्छुक 'तत्त्वनिर्णिनीषु' कहलाता है।

तत्त्वनिर्णिनीषु के भेद

० अयं च द्वेधा-स्वात्मनि परत्र च।।
आद्यः शिष्यादिः।। द्वितीयो गुर्वादिः।।
अयं द्विविधः क्षायोपशमिकज्ञानशाली केवली च।।

(प्र.न.त. 8/5–8)

तत्त्वनिर्णिनीषु दो प्रकार के हैं–

1. स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषु (स्वयं तत्त्व-निर्णय का इच्छुक) और
2. परत्रनिर्णिनीषु (दूसरे को तत्त्व का निर्णय कराने का इच्छुक)।

शिष्य आदि 'स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषु' हैं।
गुरु आदि 'परत्र तत्त्वनिर्णिनीषु' हैं।
परत्र तत्त्वनिर्णिनीषु भी दो प्रकार के होते हैं– क्षायोपशमिक ज्ञानी और केवली।

तत्त्वार्थ

० जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं।
तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता।

(नि.सा. 9)

जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म, काल और आकाश, ये 'तत्त्वार्थ' कहे गये हैं, जो कि विविध गुण व पर्यायों से संयुक्त हैं।

० अर्यत इत्यर्थो निश्चीयत इति यावत्। तत्त्वेनार्थस्तत्त्वार्थः। अथवा भावेन भाववतोऽभिधानम्, तदव्यतिरेकात्।

(स.सि. 1/2/10)

अर्थ वह है, जो निश्चय किया जाता है। तत्त्वतः अर्थ तत्त्वार्थ होता है। अथवा भाव द्वारा भाववान् का कथन किया जाता है, क्योंकि भाव व भाववान्–ये दोनों पृथक् पृथक् नहीं पाये जाते (अतः 'तत्त्व ही अर्थ है'–ऐसा कहा जा सकता है)।

० अर्यते गम्यते ज्ञायते इत्यर्थः, तत्त्वेनार्थस्तत्त्वार्थः। येन भावेनार्थो व्यवस्थितस्तेन भावेनार्थस्य ग्रहणम्।

(रा.वा. 1/2/6)

जो जाना जाए, वह अर्थ होता है। तत्त्व रूप से अर्थ को तत्त्वार्थ कहते हैं, अर्थात् जो पदार्थ जिस रूप से स्थित है, इसका उसी रूप से ग्रहण (ज्ञान) 'तत्त्वार्थ' है।

तथागत दर्शन

० (द्रष्टव्य : बौद्धदर्शन)

तर्क

० येन हि प्रत्ययेन प्रतिपत्ता साध्यसाधनार्थानां व्याप्त्या सम्बन्धं निश्चित्यानुमानाय प्रवर्तते, स तर्कः।

(तत्त्व.श्लो. 1/13/84)

जिस के द्वारा अनुमानकर्ता साध्य व साधन रूप पदार्थों की व्याप्ति रूप सम्बन्ध का निश्चय कर अनुमान के लिए प्रवृत्त होता है, वह 'तर्क' है।

० .....स्वविषयभूतस्य साध्यसाधनसम्बन्धाज्ञान-निवृत्तिरूपे साक्षात् स्वार्थनिश्चयने फले साधकतमस्तर्कः।

(तत्त्व.श्लो. 1/13/118)

साध्य और साधन के अविनाभावरूप सम्बन्ध के अज्ञान की निवृत्ति करना रूप स्वार्थ निश्चय स्वरूप अव्यवहित फल को उत्पन्न करने में 'तर्क' प्रकृष्ट उपकारक है।

० उपलम्भानुपलम्भसम्भवं, त्रिकालीकलितसाध्य-साधनसम्बन्धाद्यालम्बनं, 'इदमस्मिन् सत्येव भवति' इत्याद्याकारं संवेदनमूहापरनामा तर्कः।

(प्र.न.त. 3/7; स्या.मं. 28; षड्.समु.टी. 55/317)

(साध्य के साथ हेतु के) उपलम्भ और (साध्य के अभाव में हेतु के) अनुपलम्भ से होने वाला, तीन काल सम्बन्धी व्याप्ति को जानने वाला, 'यह इसके होने पर ही होता है' इत्यादि आकारवाला ज्ञान 'तर्क' है। ऊह उसका दूसरा नाम है।

० साध्यसाधनयोः व्याप्तिज्ञानं तर्कः।

(प्र.प्र. 1/15)

साध्य और साधन की व्याप्ति के ज्ञान को 'तर्क' कहते हैं।

० व्याप्तिबलेन परस्यानिष्टापादनं तर्कः।

(प्र.प्र. 1/43)

व्याप्ति के बल से प्रतिपक्षी के लिये अनिष्ट बात को सिद्ध करना 'तर्क' कहलाता है।

० व्याप्तिज्ञानं तर्कः।

(न्या.दी. 3/15, जै.सि.दी. 9/13)

व्याप्ति के ज्ञान को 'तर्क' कहते हैं।

० सकलदेशकालाद्यवच्छेदेन साध्यसाधनभावादि-विषय ऊहस्तर्कः।

(जै.त.भा.प्र.परि., पृ. 30)

समस्त देश और समस्त काल सम्बन्धी साध्य-साधनभाव (अविनाभावव्याप्ति) आदि (वाच्य-वाचक) को जानने वाला 'ज्ञान' तर्क है।

० अन्वयव्यतिरेकनिर्णयस्तर्कः।

(भि.न्या. 3/7)

अन्वय (साधन के होने पर साध्य के होने) और व्यतिरेक (साध्य के अभाव में साधन के अभाव होने) के निर्णय को 'तर्क' कहा जाता है।

तर्काभास

० असम्बद्धे तज्ज्ञानं तर्काभासम्।

(प.मु. 6/10)

अविनाभाव-सम्बन्ध से रहित पदार्थ में अविनाभाव-सम्बन्ध का ज्ञान करना 'तर्काभास' है।

० असत्यामपि व्याप्तौ तदवभासस्तर्काभासः।। स श्यामो मैत्रतनयत्वादित्यत्र यावान्मैत्रतनयः स श्याम इति।

(प्र.न.त. 6/35–36)

व्याप्ति घटित न होने पर भी व्याप्ति का आभास होना 'तर्काभास' है। जैसे 'वह व्यक्ति काला है, क्योंकि मैत्र का पुत्र है'; यहाँ पर 'जो जो मैत्र का पुत्र होता है, वह काला होता है' ऐसी व्याप्ति का आभास होना–यह 'तर्काभास' है।

० व्याप्तिशून्यहेतुविशेष्यकव्याप्तिप्रकारकज्ञानत्वं तर्काभासस्य लक्षणम्।

(प्र.रत्ना. 6/10)

व्याप्ति-रहित हेतु जहां 'विशेष्य' हो और व्याप्ति 'प्रकार' हो, ऐसा ज्ञान 'तर्काभास' का लक्षण है।

तर्क के दोष

० मूलशैथिल्यं मिथोविरोधः इष्टापादनं विपर्ययेऽपर्यवसानमिति तर्कदोषाश्चत्वारः।

(प्र.प्र. 1/44)

तर्क के चार दोष होते हैं–मूलशैथिल्य, मिथः विरोध, इष्टापादन तथा विपर्यय में अपर्यवसान।

तर्क के भेद

० स च आत्माश्रय इतरेतराश्रयश्चक्राश्रयः अनवस्था अतिप्रसंग इति पंचप्रकारः।

(प्र.प्र. 1/43)

तर्क के पांच प्रकार कहे हैं–आत्माश्रय, इतरेतराश्रय, चक्रकाश्रय, अनवस्था तथा अतिप्रसंग।

तात्पर्य

० यत्परः शब्दः स शब्दार्थः –इत्येवंलक्षणे तत्परत्वे. .....।

(प्र.मी. 2/1/5)

शब्द का जो पर यानी प्रकृष्ट (प्रयोजनभूत प्रकाश) अर्थ होता है, वह 'तात्पर्य' कहलाता है।

तात्त्विकवाद

० यत्रैता न प्रयुज्यन्ते निष्फलाश्छलजातयः।
उक्ता अपि न दोषाय स वादस्तात्त्विको भवेत्।।

(प्र.प्र. 1/95)

जिसमें छल, जाति इत्यादि निष्फल बातों का प्रयोग नहीं किया जाता तथा करने पर भी जहां वे (प्रतिपक्षी के लिए) दोष के कारण नहीं होते, उस वाद को 'तात्त्विकवाद' कहते हैं।

तादात्म्य

० तस्य वस्तुन आत्मानौ द्रव्यपर्यायौ सत्त्वासत्त्वादिधर्मौ वा तदात्मानौ, तच्छब्देन वस्तुनः परामर्शात्, तयोर्भावस्तादात्म्यम्–भेदाभेदात्मकत्वम्।

(प्र.क.मा. 4/10)

तत् अर्थात् वस्तु या पदार्थ, आत्म अर्थात् उस वस्तु का स्वरूप। द्रव्य व पर्याय–इन दोनों को अथवा सत्त्व, असत्त्व आदि धर्मों को वस्तु की आत्मा या स्वरूप कहते हैं। उस वस्तु-स्वरूप का जो भाव है, वह 'तादात्म्य' कहलाता है, कथंचित् भेदाभेदात्मकपना होने को भी 'तादात्म्य' कहते हैं।

० तादात्म्यं हि एकत्वम्।

(प्र.क.मा., 4/10)

तादात्म्य तो 'एकत्व' ही है।

तादात्म्य सम्बन्ध

० अग्नेरुष्णगुणेनैव सह तादात्म्यलक्षणसम्बन्धः। यत्किल सर्वास्वप्यवस्थासु यदात्मकत्वेन व्याप्तं भवति, तदात्मकत्वव्याप्तिशून्यं न भवति, तस्य तैः सह तादात्म्यलक्षणसम्बन्धः स्यात्।

(स.सा.आ.ख्या. 61–64)

जो वस्तु सभी अवस्थाओं में जिस भाव स्वरूप हो और किसी भी अवस्था में उस भावस्वरूपता को न छोड़े, उस वस्तु का उन भावों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होता है।

तिर्यक्सामान्य

० सदृशपरिणामस्तिर्यक्, खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत्।।

(प.मु. 4/4)

सदृश अर्थात् सामान्यपरिणाम को 'तिर्यक्-सामान्य' कहते हैं। जैसे खण्डी, मुण्डी आदि गायों में गोपना (गोत्व) समानरूप से रहता है।

० तिर्यक्सामान्यं च गवादिषु गोत्वादिस्वरूपसदृश-परिणामात्मकम्।

(र.करा. 3/5)

गाय आदि में गोत्व के समान अनेक द्रव्यों व पर्यायों में जो सदृशज्ञान का विषयभूत सदृश परिणाम पाया जाता है, वह 'तिर्यक्सामान्य' कहा जाता है।

० तिर्यगुल्लेखिनाऽनुवृत्ताकारप्रत्ययेन गृह्यमाणं तिर्यक्सामान्यम्।

(र.करा. 5/3)

तिर्यक् (एक ही काल में वर्तमान द्रव्यों में) अनुगत (सदृश) आकार की प्रतीति से गृहीत (ज्ञेय) होने वाला 'तिर्यक्सामान्य' होता है।

० एककाले नानाव्यक्तिगतोऽन्वयस्तिर्यक् सामान्यं भण्यते, तत्र दृष्टान्तो यथा–नानासिद्धजीवेषु सिद्धोऽयं सिद्धोऽयमित्यनुगताकारः सिद्ध-जातिप्रत्ययः।

(प्र.सा.ता.वृ. 2/1)

एक समय में नाना व्यक्तियों में जो एकाकार प्रतीति होती है, उसे 'तिर्यक्सामान्य' कहते हैं। यहां दृष्टान्त यह है–नाना सिद्ध जीवों में 'यह सिद्ध है, यह सिद्ध है' ऐसी जो अनुगताकार प्रतीति सिद्धजातीय प्रतीति होती है (वह तिर्यक्सामान्य है)।

० सदृशपरिणामात्मकमनेकं तिर्यक्सामान्यम्।

(स.भं.त. 110)

सदृश परिणामरूप प्रत्येक में भिन्न-भिन्न अनेक सत्त्व 'तिर्यक्सामान्य' हैं।

० तुल्या परिणतिर्भिन्नव्यक्तिषु यत्तदुच्यते।
तिर्यक्सामान्यमित्येव घटत्वं तु घटेष्विव।।

(द्रव्य.तर्क. 2/5)

भिन्न-भिन्न प्रदेशों में स्थित जो अनेक व्यक्ति हैं, उन सब में सदृश परिणाम रूप जो द्रव्य-शक्ति है, उसको 'तिर्यक्सामान्य' कहते हैं।

त्रिभङ्गी

० गोयमा! दुपएसिए खंधे सिय आया, सिय नो आया, सिय अवत्तव्वं.....से केणट्ठेणं भंते! एवं...? गोयमा! अप्पण्णो आदिट्ठे आया, परस्स आदिट्ठे नो आया, तदुभयस्स आदिट्ठे अवत्तव्वं.....।

(भ.सू. 12/218–219)

गौतम! द्विप्रदेशी स्कन्ध स्यात् आत्मा (अस्ति) है, स्यात् अनात्मा (नास्ति) है, स्यात् अवक्तव्य है.....भंते! यह कैसे?.....गौतम! वह स्व की अपेक्षा से आत्मा (अस्ति) है, पर की अपेक्षा से अनात्मा (नास्ति) है और उभय की अपेक्षा से अवक्तव्य है।

(द्रष्टव्य : सप्तभङ्गी)

द

दर्शन (उपयोग)

० पश्यति दृश्यतेऽनेन दृष्टिमात्रं वा दर्शनम्।

(स.सि. 1/1/6)

जो देखता है, जिसके द्वारा देखा जाता है या देखना मात्र वह 'दर्शन है।

० दर्शनावरणक्षयक्षयोपशमाविर्भूतवृत्तिरालोचनं दर्शनम्।

(रा.वा. 9/7/11)

दर्शनावरण के क्षय और क्षयोपशम से होने वाला आलोचन 'दर्शन' है।

० दर्शनावरणस्य स्यात् क्षयोपशमसन्निधौ।
आलोचनं पदार्थानां दर्शनं तच्चतुर्विधम्।।
(तत्त्वा. 2/86)
दर्शनावरण कर्म का क्षयोपशम (और क्षय) होने पर जो पदार्थो का सामान्य अवलोकन होता है, उसे 'दर्शन' कहते हैं।

० जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्ठुमायारं।
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णदे समये।।
(482)
भावाणं सामण्ण-विसेसयाण सरूवमेत्तं जं।
वण्णणहीणग्गहणं जीवेण य दंसणं होदि।।
(483)
(गो.सा.जी. 482–483)
भावों (सामान्य–विशेषात्मक पदार्थों) के आकार (भेद) को ग्रहण न करके जो सामान्य ग्रहण (स्वरूप मात्र का अवभासन) होता है, उसे परमागम में 'दर्शन' कहा गया है। (482)
सामान्य–विशेषात्मक पदार्थों का विकल्परहित स्वरूप मात्र जैसा है, वैसा जीव के साथ स्वपर–सत्ता का अवभासन 'दर्शन' है। (483)
(द्रष्टव्य : अनाकार उपयोग, साकार उपयोग)

दर्शन (ज्ञान की पूर्वावस्था)

० रसादयोऽर्थाः विषयः, षडपीन्द्रियाणि विषयिणः ज्ञानोत्पत्तेः पूर्वावस्था विषय-विषयिसंपातः ज्ञानोत्पादनकारणपरिणामविशेषसंतत्युत्पत्त्युपलक्षितः अन्तर्मुहूर्तकालः दर्शनव्यपदेशभाक्।
(ध. 13, पृ. 216)
रस आदिक अर्थ विषय हैं, छहों इन्द्रियां विषयी हैं, ज्ञानोत्पत्ति की पूर्वावस्था विषय व विषयी का सम्पात (सम्बन्ध) है, जो 'दर्शन' नाम से कहा जाता है। यह दर्शन ज्ञानोत्पत्ति के कारणभूत परिणाम विशेष की सन्तति की उत्पत्ति से उपलक्षित होकर अन्तर्मुहूर्त काल तक स्थायी रहता है।

दर्शन (अनाकार उपयोग)

० जं सामण्णग्गहणं दंसणम्।
(सन्मति. 2/1)
सामान्य का जो ग्रहण है, वह 'दर्शन' है।

० अनाकारं दर्शनमिति।
(स.सि. 2/9/273)
आकारहीन (उपयोग) 'दर्शन' है।

० निव्विसेसमणागारं। तं दंसणं ति।
(विशे.भा. 764)
जो निर्विशेष व अनाकार बोध है, वह 'दर्शन' है।

० दर्शनस्यास्यानाकारग्रहणं स्वरूपम्।
(अष्टस. 15, पृ. 132)
इस दर्शन का स्वरूप है–अनाकार का ग्रहण।

० किंचिदित्यवभास्यत्र वस्तुमात्रमपोद्धृतम्।
तद्ग्राहि दर्शनं ज्ञेयमवग्रहनिबन्धनम्।।
(तत्त्व.श्लो. 1/15/11)
"कुछ है" इस प्रकार सामान्य वस्तु को ग्रहण करने वाला प्रतिभास दर्शनोपयोग है। वह दर्शनोपयोग अवग्रह ज्ञान का कारण है–ऐसा मानना चाहिए।

० .....भावानां बाह्यार्थानामाकारं प्रतिकर्मव्यवस्थाम-कृत्वा यद् ग्रहणं तद्दर्शनम्।

(ध. 1, पृ. 148)

सामान्यविशेषात्मक स्वरूप को ग्रहण करने वाला 'दर्शन' होता है। भावों के अर्थात् बाह्य पदार्थों के आकार अर्थात् प्रतिकर्म व्यवस्था को नहीं करके, जो ग्रहण होता है, उसको 'दर्शन' कहते हैं।

० अणायारूवजोगो दंसणं।

(ध. 13, पृ. 207)

अनाकार उपयोग का नाम 'दर्शन' है।

० पमाणदो पुधमूदं कम्ममायारो तं जम्मि णत्थि सो उवजोगो अणायारो णाम, 'दंसणुवजोगो' त्ति भणिदं होदि।

(ज.ध. 1, पृ. 302)

प्रमाण से पृथग्भूत कर्म को आकार कहते हैं। अर्थात् प्रमाण में अपने से भिन्न बहिर्भूत जो विषय, प्रतिभासमान होता है, उसे 'आकार' कहते हैं। वह आकार जिस उपयोग में नहीं पाया जाता है, वह उपयोग 'अनाकार' अर्थात् 'दर्शनोपयोग' कहलाता है।

० सामान्यग्राहि दर्शनम्।

(पंचा.त.प्र. 40)

जो सामान्यस्वरूप पदार्थों को जानता है, वह 'दर्शनोपयोग' है।

० .....अनाकारं च दर्शनम्।।
भेदग्रहणमाकारः प्रतिकर्मव्यवस्थया।
सामान्यमात्रनिर्भासादनाकारं तु दर्शनम्।।

(आ.पु. 24/101–102)

जो अनाकार है–विकल्प रहित पदार्थ को जानता है, उसे ज्ञानोपयोग कहते हैं। घट–पट आदि की व्यवस्था लिये हुए किसी वस्तु के भेद ग्रहण करने को आकार कहते हैं और सामान्य रूप ग्रहण करने को अनाकार कहते हैं। ज्ञानोपयोग वस्तु को भेदपूर्वक ग्रहण करता है, इसलिए वह साकार–सविकल्प उपयोग कहलाता है और दर्शनोपयोग वस्तु को सामान्य रूप से ग्रहण करता है। इसलिए वह अनाकार-अविकल्पक उपयोग कहलाता है।

० यदा कोऽपि किमप्यवलोकयति पश्यति; तदा यावत् विकल्पं न करोति तावत् सत्तामात्रग्रहणं दर्शनं भण्यते। (पश्चाच्छुक्लादिविकल्पे जाते ज्ञानमिति।)

(बृ.द्र.सं.वृ. 43)

जब कोई भी किसी पदार्थ को देखता है तब, जब तक वह देखने वाला विकल्प न करे, तब तक तो जो सत्तामात्र का ग्रहण है, उसको 'दर्शन' कहते हैं। (और फिर जब यह शुक्ल है, यह कृष्ण है इत्यादि रूप से विकल्प उत्पन्न होते हैं, तब उसको ज्ञान कहते हैं।)

० सामान्यप्रधानमुपसर्जनीकृतविशेषमर्थग्रहणं दर्शन-मुच्यते।

(स्या.मं. 1)

सामान्य की मुख्यतापूर्वक तथा विशेष को गौण करके पदार्थ के जानने को 'दर्शन' कहते हैं।

० दर्शनस्य किंस्विदित्यादिरूपेणाकारग्रहणम् स्वरूपम्।

(स.भं.त. 67)

दर्शन का स्वरूप है–'कुछ है' इस प्रकार से वस्तु का आकार ग्रहण।

० सामान्यग्राहित्वाद् दर्शनमनाकारः।।

(जै.सि.दी. 2/22)

'दर्शन' सामान्य धर्मों को जानता है, अतः इसको अनाकार उपयोग कहते हैं।

(द्रष्टव्य : निराकार उपयोग)

दर्शन (आत्मविषयक उपयोग)

० णाणं परप्पयासं ववहारणयेण दंसणं तम्हा।
अप्पा परप्पयासो ववहारणयेण दंसणं तम्हा।।
णाणं अप्पपयासं णिच्छयणएण दंसणं तम्हा।
अप्पा अप्पपयासो णिच्छयणएण दंसणं तम्हा।।

(नि.सा. 164–165)

व्यवहार नय से ज्ञान परप्रकाशक है, अतः दर्शन भी परप्रकाशक है, और आत्मा परप्रकाशक है तो दर्शन भी परप्रकाशक है। निश्चय नय से तो ज्ञान आत्म-प्रकाशक है और दर्शन भी उसी तरह आत्मप्रकाशक है। इसी तरह (निश्चय नय से) आत्मा आत्मप्रकाशक है तो दर्शन भी आत्मप्रकाशक है।

० ततः स्वरूपसंवेदनं दर्शनमिति अंगीकर्तव्यम्।..... स्वस्माद् भिन्नवस्तुपरिच्छेदकं ज्ञानम्, स्वतोऽभिन्न-वस्तुपरिच्छेदकं दर्शनम्, ततो नानयोरेकत्वमस्ति।

(ध. 1 पृ. 385–386)

इसलिए स्वरूपसंवेदन दर्शन है–ऐसा स्वीकार कर लेना चाहिए।.....अपने से भिन्न वस्तु का परिच्छेदक (बोधक) ज्ञान होता है, किन्तु अपने से अभिन्न वस्तु का परिच्छेदक दर्शन होता है–इस दृष्टि से इन दोनों का एकत्व नहीं हो सकता।

० स्वतोऽभिन्नवस्तुपरिच्छेदकं दर्शनम्।

(ध. 1, पृ. 386)

अपने से अभिन्न वस्तु का परिच्छेदक 'दर्शन' होता है।

० अप्पविसओ उवजोगो दंसणं।

(ध. 6, पृ. 9)

आत्म-विषयक उपयोग को 'दर्शन' कहते हैं।

० ज्ञानोत्पादकप्रयत्नानुविद्धस्वसंवेदो दर्शनं आत्म-विषयोपयोग इत्यर्थः।

(ध. 6, पृ. 32–33)

ज्ञान का उत्पादन करने वाले प्रयत्न से सम्बद्ध स्व-संवेदन, अर्थात् आत्मविषयक उपयोग को 'दर्शन' कहते हैं।

० जं सामण्णग्गहणं भावाणं णेव कट्टु आयारं।
अविसेसिदूण अत्थे दंसणमिदि भण्णदे समये।
.....अप्पत्थम्मि पउत्तसामण्णसद्दग्गहणादो।

(ध. 7, पृ. 98)

"वस्तुओं का आकार न करके तथा उनमें विशेष को ग्रहण न करते हुए जो सामान्य का ज्ञान किया जाता है, उसे सिद्धान्त में 'दर्शन' कहा गया है।".....इस कथन में 'सामान्य' शब्द जो प्रयुक्त है, वह 'आत्म' पदार्थ के लिए है।

० को दंसणोवजोगो णाम ? अंतरंगउवजोगो।

(ध. 11, पृ. 333)

दर्शनोपयोग किसे कहते हैं ?

अन्तरंग उपयोग को 'दर्शनोपयोग' कहते हैं।

० बज्झत्थगहणसंते विसिट्ठसगसरूवसंवेयणं दंसण-मिदि सिद्धं।

(ध. 11, पृ. 333)

बाह्य अर्थ का ग्रहण होने पर जो विशिष्ट आत्मस्वरूप का वेदन होता है, वह 'दर्शन' है, यह सिद्ध होता है।

० सरूवस्स बज्झत्थपडिबद्धस्स संवेयणं दंसणं णाम।

(ध. 15, पृ. 6)

बाह्य अर्थ से सम्बद्ध आत्मस्वरूप के जानने का नाम 'दर्शन' है।

० अंतरंगविसयस्स उवजोगस्स दंसणत्तब्भुवगमादो। .....तम्हा विसय-विसयिसंपायादो पुव्वं चेव विसयीकयंतरंगो दंसणुवजोगो उप्पज्जदि त्ति घेत्तव्वो, अणायारत्तण्णहाणुववत्तीदो।

(ज.ध. 1, पृ. 307–308)

अंतरंग पदार्थ को विषय करने वाले उपयोग को 'दर्शन' स्वीकार किया गया है, इसलिए .....विषय व विषयी के संपात के पहले ही अन्तरंग को विषय करने वाला दर्शनोपयोग उत्पन्न होता है–ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा दर्शनोपयोग 'अनाकार' नहीं बन सकता है।

दर्शन

० दर्शनमात्मविनिश्चतिः।

(पु.सि. 216)

दर्शन (अन्तश्चित्प्रकाश स्वसंवेदन)

० अन्तर्बहिर्मुखयोश्चित्प्रकाशयोर्दर्शनज्ञानव्यपदेशभाजोः..।

(ध. 1, पृ. 146)

अन्तर्मुख चित्प्रकाश को 'दर्शन' और बहिर्मुख चित्प्रकाश को 'ज्ञान' माना गया है।

० आलोकनवृत्तिर्वा दर्शनम्। अस्य गमनिका-आलोकत इत्यालोकनमात्मा, वर्तनं वृत्तिः, आलोकनस्य वृत्तिरालोकनवृत्तिः स्वसंवेदनं तद्दर्शनमिति लक्ष्यनिर्देशः।

(ध. 1, पृ. 149–150)

आलोकन वृत्ति को अर्थात् आत्मा के व्यापार को 'दर्शन' कहते हैं। अर्थ यह है कि जो आलोकन करता है, उसे आलोकन अर्थात् 'आत्मा' कहते हैं। और वर्तन अर्थात् व्यापार को वृत्ति कहते हैं। तथा आलोकन अर्थात् आत्मा की वृत्ति को आलोकनवृत्ति कहते हैं, इसी का नाम स्वसंवेदन है, उसी को 'दर्शन' कहते है। यहां पर 'दर्शन' इस शब्द से लक्ष्य का निर्देश किया गया है।

० प्रकाशवृत्तिर्वा दर्शनम्। अस्य गमनिका–प्रकाशो ज्ञानम्, तदर्थमात्मनो वृत्तिः प्रकाशवृत्तिस्तद्दर्शनम्। विषयविषयिसंपातात् पूर्वावस्था दर्शनमित्यर्थः।

(ध. 1, पृ. 150)

प्रकाश वृत्ति को दर्शन कहते हैं। अर्थ यह है कि प्रकाश ज्ञान को कहते हैं और उस ज्ञान के लिये जो आत्मा का व्यापार होता है, उसे प्रकाशवृत्ति कहते हैं, और वही दर्शन है। अर्थात् विषय और विषयी के योग्य देश में होने की पूर्वावस्था को 'दर्शन' कहते हैं।

दर्शन (सामान्यग्रहण व आत्मग्रहण का समन्वय)

० किं बहुना ? यदि कोऽपि तर्कार्थं सिद्धान्तार्थं च ज्ञात्वैकान्तदुराग्रहत्यागेन नयविभागेन मध्यस्थ-

वृत्त्या व्याख्यानं करोति, तदा द्वयमपि घटत इति। कथमिति चेत्-तर्के मुख्यवृत्त्या परसमयव्याख्याने, तत्र यदा कोऽपि परसमयी पृच्छति जैनागमे दर्शनं ज्ञानं चेति गुणद्वयं जीवस्य कथ्यते तत्कथं घटत इति। तदा तेषाम् आत्मग्राहकं दर्शनमिति कथिते सति ते न जानन्ति। पश्चादाचार्यैस्तेषां प्रतीत्यर्थं स्थूल-व्याख्यानेन बहिर्विषये यत् सामान्यपरिच्छेदनं तस्य सत्तावलोकनदर्शनसंज्ञा स्थापिता, यच्च शुक्लमिदमित्यादि विशेषपरिच्छेदनं तस्य ज्ञानसंज्ञा स्थापितेति दोषो नास्ति। सिद्धान्ते पुनः स्वसमयव्याख्यानं मुख्यवृत्त्या। तत्र सूक्ष्मव्याख्याने क्रियमाणे सत्याचार्यैरात्मग्राहकं दर्शनं व्याख्यातमित्यत्रापि दोषो नास्ति।

(बृ.द्र.सं.वृ. 3/44)

अधिक कहने से क्या–यदि कोई भी तर्क और सिद्धान्त के अर्थ को जान कर, एकान्त दुराग्रह को त्याग करके, नयों के विभाग से मध्यस्थता धारण करके, व्याख्यान करता है तब तो सामान्य और आत्मा ये दोनों ही घटित होते हैं। सो कैसे ? तर्क में मुख्यता से अन्यमत को दृष्टि में रखकर कथन किया जाता है। इसलिए उसमें यदि कोई अन्यमतावलम्बी पूछे कि जैन सिद्धान्त में जीव के 'दर्शन और ज्ञान' ये जो दो गुण कहे जाते हैं, वे कैसे घटित होते हैं ? तब इसके उत्तर में कहा जाए कि 'आत्मग्राहक दर्शन है' तो वह समझेगा नहीं। तब आचार्यों ने प्रतीति करने के लिए विस्तृत व्याख्यान से जो बाह्य विषय में सामान्य जानना है, उसका नाम 'दर्शन' स्थापित किया और जो 'यह सफेद है' इत्यादि रूप बाह्य में विशेष का जानना है, उसका नाम 'ज्ञान' ठहराया, अतः दोष नहीं है। सिद्धान्त में मुख्यता से निजसमय का व्याख्यान होता हैं, इसलिए सिद्धान्त में जब सूक्ष्म व्याख्यान किया गया, तब आचार्यों ने 'आत्मग्राहक दर्शन है' ऐसा कहा। अतः इसमें भी दोष नहीं है।

दर्शन (उपयोग) के भेद

० दंसणमवि चक्खुजुदं अचक्खुजुदमवि य ओहिणा सहियं।
अणिधणमणंतविसयं केवलियं चावि पण्णत्तं।।

(पंचा. 42)

चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और अन्तरहित अनन्त पदार्थों को विषय करने वाला केवलदर्शन –इन्हें दर्शनोपयोग कहा गया है।

० चक्षुरादिविकल्पाच्च दर्शनं स्याच्चतुर्विधम्।।

(तत्त्वा. 2/13)

चक्षुरादि (चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन व केवलदर्शन) भेद से दर्शनोपयोग–चार प्रकार का है।

० चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं केवलदर्शनमिति नामाभिधानम्।

(पंचा.त.प्र. 42)

चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन–इन चार भेदों वाला दर्शनोपयोग जानना चाहिए।

दुर्नय

० सावधारणानि वाक्यानि दुर्णयाः।

(ध. 9, पृ. 183)

वाक्य 'सावधारण' अर्थात् अन्यव्यावृत्ति रूप होने पर 'दुर्नय' हो जाते हैं।

० अपेक्षया नयाः, इतरथा दुर्नयाः।

(न्या.कु. 5/30)

परस्पर अपेक्षा रखने वाले 'नय' हैं, अन्यथा 'दुर्नय' होते हैं।

० णिरवेक्खा ते वि दुण्णया होंति।

(कार्ति. 266)

वे नय भी यदि निरपेक्ष हों तो 'दुर्नय' कहलाते हैं।

० अनन्तधर्मात्मके वस्तुनि स्वाभिप्रेतनित्यत्वादि-धर्म-समर्थनप्रवणाः शेषधर्मतिरस्कारेण प्रवर्त्तमाना दुर्नया इति तल्लक्षणात्।

(स्या.मं. 5)

वस्तु के अनन्तधर्मात्मक होने पर भी सब धर्मों का तिरस्कार करके केवल अपने अभीष्ट नित्यत्व आदि धर्मों का ही समर्थन करना 'दुर्नय' है।

० सदेवेति दुर्नयः।.....

अयं वस्तुनि एकान्तास्तित्वमेव अभ्युगच्छन् इतरधर्माणां तिरस्कारेण स्वाभिप्रेतमेव धर्मं व्यवस्थापयति। दुर्नयत्वं चास्य मिथ्यारूपत्वात्।

(स्या.मं. 28)

सत् ही है– यह (एवकार के साथ) कहना 'दुर्नय' है।.....

किसी वस्तु में अन्य धर्मों का निषेध करके अपने अभीष्ट एकान्त अस्तित्व की सिद्धि करने को 'दुर्नय' कहते हैं। जैसे यह घट ही है– यह कथन दुर्नय है। वस्तु में अभीष्ट धर्म की प्रधानता से अन्य धर्मों का निषेध करने के कारण 'दुर्नय' को मिथ्या कहा गया है। (द्रष्टव्यः एकान्त, मिथ्यानय)

दूषण

० वाद्युक्ते साधने प्रोक्तदोषाणामुद्भावनं दूषणम्।

(न्यायाव. 26)

वादी द्वारा कथित साधन में दोषों का उद्भावन करना 'दूषण' कहलाता है।

० साधनदोषोद्भावनं दूषणम्।

(प्र.मी. 2/1/28)

साधन के दोषों को प्रकाशित करना 'दूषण' कहलाता है।

दूषणाभास

० निरवद्ये तु दूषणाभासनामकम्।

(न्यायाव. 26)

(वादी द्वारा प्रयुक्त साधन) निर्दोष हो, तब भी उसमें दूषण का उद्भावन करना 'दूषणाभास' है।

० अभूतदोषोद्भावनानि दूषणाभासा जात्युत्तराणि।

(प्र.मी. 2/1/29)

अविद्यमान दोषों का उद्भावन करना 'जात्युत्तर' है, वही 'दूषणाभास' है।

० अविद्यमानानां साधनदोषाणां प्रतिपादनान्य-दूषणान्यपि दूषणवदाभासमानानि दूषणाभासाः।

(प्र.मी. 2/1/29)

जो वास्तव में (दूषण) न हो, किन्तु दूषण जैसा प्रतिभासित हो, वह 'दूषणाभास' कहलाता है।

दृष्टान्त

० दृष्टो हि विधिनिषेधरूपतया वादिप्रतिवादिभ्याम् अविप्रतिपत्त्या प्रतिपन्नोऽन्तः साध्यसाधनधर्मो यत्रासौ दृष्टान्तः इति व्युत्पत्तेः।

(प्र.क.मा. 3/47)

'दृष्टान्त' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है–दृष्ट अर्थात् विधि रूप या निषेध रूप से वादी व प्रतिवादी को बिना किसी विप्रतिपत्ति के, 'अन्त' अर्थात् साध्य व साधन का (अविनाभावरूप) धर्म जहां स्वीकार हो, वह 'दृष्टान्त' कहलाता है।

० प्रतिबन्धप्रतिपत्तेरास्पदं दृष्टान्तः।।

(प्र.न.त. 3/43)

व्याप्ति का अविनाभाव बताने के स्थान को *'दृष्टान्त' कहते हैं।*

० स व्याप्तिदर्शनभूमिः।

(प्र.मी. 1/2/20)

वह (दृष्टान्त) व्याप्ति को प्रदर्शित करने का आधार (स्थल) होता है।

० दृष्टौ अन्तौ साध्यसाधनधर्मौ तदभावौ वा वादिप्रतिवादिभ्याम् अविगानेन यस्मिन् धर्मिणि स दृष्टान्तः।

(प्र.प्र. 1/20)

वादी और प्रतिवादी दोनों की मान्यता से जिस धर्मी में दो अन्त अर्थात् साध्यधर्म और साधनधर्म देखे जाते हैं अथवा साध्यधर्म और साधनधर्म का अभाव देखा जाता है, उस धर्मी को 'दृष्टान्त' कहते हैं।

० व्याप्तिसम्प्रतिपत्तिप्रदेशो दृष्टान्तः।

(न्या.दी. 3/64)

जहाँ साध्य और साधन की व्याप्ति दिखलाई जाती है, उसे 'दृष्टान्त' कहते हैं।

० व्याप्तिप्रतीतिप्रदेशो दृष्टान्तः।

(भि.न्या. 3/21)

व्याप्ति के प्रतीतिस्थल को 'दृष्टान्त' कहा जाता है।

दृष्टान्त के भेद

० दृष्टान्तो द्वेधाऽन्वयव्यतिरेकभेदात्।।

(प.मु. 3/47; प्र.प्र. 1/20; भि.न्या. 3/22)

दृष्टान्त दो प्रकार के होते हैं–1. अन्वय दृष्टान्त, और 2. व्यतिरेक दृष्टान्त।

० स द्वेधा साधर्म्यतो वैधर्म्यतश्च।।

(प्र.न.त. 3/44)

दृष्टान्त दो प्रकार का है–साध्यर्म्य दृष्टान्त और वैधर्म्य दृष्टान्त।

दृष्टान्ताभास

० विपरीतान्वयव्यतिरेकौ।
अप्रदर्शितान्वयव्यतिरेकौ।।

(प्र.मी. 1/2/26–27)

1. विपरीत अन्वय दृष्टान्त की प्रस्तुति या 2. विपरीत व्यतिरेक दृष्टान्त की प्रस्तुति, 3. अन्वय दृष्टान्त का प्रदर्शन न करना, अथवा 4. व्यतिरेक दृष्टान्त को प्रदर्शन न करना–ये सब 'दृष्टान्ताभास' कहे जाते हैं।

दृष्टान्ताभास के भेद

० साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामष्टावष्टौ दृष्टान्ताभासाः। दृष्टान्तस्य च साधर्म्यवैधर्म्यभेदेन द्विविधत्वात् प्रत्येकम् 'अष्टावष्टौ' दृष्टान्तवदाभासमानाः 'दृष्टान्ताभासाः' भवन्ति।

(प्र.मी. 2/1/22)

साधर्म्य और वैधर्म्य के भेद से दृष्टान्ताभास आठ–आठ प्रकार के हैं। दृष्टान्त दो प्रकार का है –साधर्म्य दृष्टान्त और वैधर्म्यदृष्टान्त। इनमें से प्रत्येक के आठ–आठ दोष हैं। जो वस्तुतः दृष्टान्त के लक्षण से रहित हो, किन्तु दृष्टान्त के सदृश प्रतीत हो, वह 'दृष्टान्ताभास' कहलाता है।

० दृष्टान्तौ हि प्राग् द्विप्रकारः प्रोक्तः, साधर्म्येण वैधर्म्येण च। ततस्तदाभासोऽपि तथैव वाच्यः।

(र.करा. 6/58)

दृष्टान्त दो प्रकार का होता है–साधर्म्य और वैधर्म्य। इसलिये दृष्टान्ताभास के भी दो भेद होते हैं–साधर्म्य दृष्टान्ताभास और वैधर्म्य दृष्टान्ताभास।

देश

० बुद्धिकल्पितो वस्त्वंशो देशः।

(जै.सि.दी. 1/22)

वस्तु के बुद्धिकल्पित (अपृथक्भूत) अंश को 'देश' कहते हैं।

(द्रष्टव्य : अंश)

देशावधिज्ञान

० भवं प्रतीत्य यो जातो गुणं वा प्राणिनामिह। देशावधिः स विज्ञेयो दृष्टिमोहाद् विपर्ययः।।

(तत्त्व.श्लो. 1/32/133)

भव या गुण (क्षयोपशम) के आश्रय से जीवों के जो अवधिज्ञान होता है, उसे 'देशावधि' कहते हैं। वह दर्शनमोह के उदय से विपर्यय (विभंग) हुआ करता है।

० देसं सम्मत्तं, संजमस्स अवयवभावादो, तमोही मज्जाया जस्स णाणस्स तं देसोहिणाणं।

(ध. 13, पृ. 323)

'देश' का अर्थ सम्यक्त्व है, क्योंकि, वह संयम का अवयव है; वह जिस ज्ञान की अवधि अर्थात् मर्यादा है, वह 'देशावधिज्ञान' है।

देशावधिज्ञान के भेद

० तत्र देशावधिस्त्रेधा –जघन्य उत्कृष्टः अजघन्योत्कृष्टश्चेति।

(रा.वा. 1/22/4)

देशावधि के ज्ञान के तीन भेद हैं –जघन्य, उत्कृष्ट व अजघन्योत्कृष्ट।

० वर्धमानो हीयमानः अवस्थितः अनुगामी अननुगामी अप्रतिपाती प्रतिपाती इत्येतेऽष्टौ भेदा देशावधेर्भवन्ति।

(रा.वा. 1/22/4)

वर्धमान, हीयमान, अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी, और अप्रतिपाती और प्रतिपाती–ये आठ भेद देशावधि के होते हैं।

द्रव्य

० गुणाणमासओ दव्वं।

(उत्तर.सू. 28/6)

गुणों का आश्रय जो होता है, वह 'द्रव्य' होता है।

० गुणपर्यायवद् द्रव्यम्।।

(त.सू. 5/38 दिग., 5/37 श्वे.)

जो गुण और पर्याय वाला हो या गुण व पर्याय जिसमें हों, उसको 'द्रव्य' समझना चाहिए।

० अपरिच्चत्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं ति वुच्चंति।।

(प्र.सा. 2/3)

जो नहीं छोडे हुए अपने अस्तित्व स्वभाव से उत्पाद, व्यय, तथा ध्रौव्य से संयुक्त है और (अनंत) गुणात्मक है, पर्यायों से सहित है, उसे 'द्रव्य' कहते हैं।

० समवेदं खलु दव्वं संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं।
एक्कम्मि चेव समये तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं।।

(प्र.सा. 2/10)

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य नामक भावों से द्रव्य निश्चित ही एकमेक है, अलग नहीं है, और उत्पादादि तीनों एक ही समय में अभेद रूप से परिणमन करते हैं। इस कारण, वह द्रव्य उत्पादादिकत्रिक रूप ही है।

० दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भावपज्जयाइं जं।
दवियं तं भण्णंते अणण्णभूदं तु सत्तादो।।

(पंचा. 9)

जो उन-उन अपने गुण पर्याय स्वभावों को प्राप्त होता है, और जो सत्ता से अनन्य है, उसे आचार्यों ने 'द्रव्य' कहा है।

० विस्सरूवं भणियं दवियं त्ति णाणीहिं।

(पंचा. 43)

ज्ञानियों ने द्रव्य को विश्वरूप (अनन्त रूप) कहा है।

० नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चयः।
अविभ्राड्भावसम्बन्धो द्रव्यमेकमनेकधा।।

(आ.मी. 107)

तीनों कालों को विषय करने वाले नयों और उपनयों के विषयभूत अनेक धर्मों के तादात्म्य सम्बन्ध को प्राप्त समुदाय का नाम 'द्रव्य' है। द्रव्य एक भी है, और अनेक भी।

० गुणैर्गुणान्वा द्रुतं गतं गुणैर्द्रोष्यते गुणान्द्रोष्यतीति वा द्रव्यम्।

(स.सि. 1/5/22)

जो गुणों के द्वारा प्राप्त हुआ था या गुणों को प्राप्त हुआ था अथवा जो गुणों के द्वारा प्राप्त किया जायेगा या गुणों को प्राप्त होता रहेगा, उसे 'द्रव्य' कहते हैं।

० स्वपरप्रत्ययोत्पादविगमपर्यायैः द्रूयन्ते द्रवन्ति वा तानिति द्रव्याणि।

(रा.वा. 5/2/1)

स्व और पर कारणों से होने वाले उत्पाद और व्यय रूप पर्यायों को जो प्राप्त हो तथा पर्यायों से जो प्राप्त होता हो, वह 'द्रव्य' है।

० यत्सत्, तद् द्रव्यम्।.....यदिन्द्रियग्राह्य-मतीन्द्रियमपि बाह्याध्यात्मिकनिमित्तापेक्षम् उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् (वेदितव्यम्)।

(रा.वा. 5/29)

जो 'सत्' है, वह 'द्रव्य' है।..... सत् वह है जो इन्द्रियग्राह्य या अतीन्द्रिय पदार्थ बाह्य और आन्तर निमित्त की अपेक्षा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को प्राप्त होता है। (ऐसा जानना चाहिए।)

० द्रवति द्रोष्यति अदुद्रवदिति वा द्रव्यम्।

(लघी.वि. 5/30)

जो परिणमित होता है, जिसमें परिणमन होगा, जिसमें परिणमन हुआ, वह 'द्रव्य' है।

० स्वपरप्रत्ययोत्पादविगमपर्यायैर्द्रूयन्ते द्रवन्ति वा तानीति द्रव्याणि।

(तत्त्व.श्लो. 5/2)

स्व व पर के कारण से होने वाले उत्पाद व व्यय से युक्त पर्यायों द्वारा जो बहाये (द्रवित यानी प्रवाहबद्ध किये) जाते हैं, या उन पर्यायों को जो (अनुगत, प्राप्त) होते हैं, वे 'द्रव्य' कहे जाते हैं।

० तिकालगोचराणंतपज्जायाणं विस्ससाए अण्णोण्णा-जहउत्ती दव्वं।

(ज.ध. 1, पृ. 280)

त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायों का स्वभाव से ही एक दूसरे को न छोड़कर रहने रूप जो तादात्म्य-सम्बन्ध है, वह 'द्रव्य' है।

० समुत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणं क्षीणकल्मषाः।
गुणपर्ययवद्द्रव्यं वदन्ति जिनपुङ्गवाः।।

(तत्त्वा. 3/5)

भगवान् जिनेन्द्र ने उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से युक्त अथवा गुण और पर्यायों से युक्त पदार्थों को 'द्रव्य' कहा है।

० द्रव्याणि हि सहक्रमभुवां गुणपर्यायाणामनन्यत-याधारभूतानि।

(पंचा.त.प्र. 6)

सहभावी गुण तथा क्रमभावी पर्यायों के आधार 'द्रव्य' होते हैं।

० तानि सामान्यादेशादभिन्नानि विशेषादेशा-द्भिन्नानि युगपद्भावीनि स्वभावभूतानि द्रव्यस्य लक्षणं भवन्ति।

(पंचा.त.प्र. 10)

ये तीनों भाव (उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य) सामान्य कथन की अपेक्षा द्रव्य से भिन्न नही हैं। विशेष कथन की अपेक्षा द्रव्य से भेद दिखाया जाता है। एक ही समय ये तीनों भाव होते हैं, ये 'द्रव्य' के स्वाभाविक लक्षण हैं।

० उत्पादव्ययध्रौव्याणि वा द्रव्यलक्षणम्।

(पंचा.त.प्र. 10)

उत्पाद, द्रव्य और ध्रौव्य गुण से युक्त पदार्थ को 'द्रव्य' कहते हैं।

० द्रव्यं हि सहक्रमप्रवृत्तानन्तगुणपर्यायाधारतया अनन्त- रूपत्वाद् एकमपि विश्वरूपमभिधीयते।

(पंचा.त.प्र. 43)

वास्तव में द्रव्य सहवर्ती और क्रमवर्ती ऐसे अनन्त गुणों व पर्यायों का आधार होने के कारण अनन्तरूप है, इसलिए एक होता हुआ भी 'विश्वरूप' है।

० द्रव्यम् ऊर्ध्वतासामान्यम्।

(न्या.कु. 5/47)

द्रव्य का अर्थ है–ऊर्ध्वतासामान्य।

० अण्णइ-रूवं दव्वं।

(कार्ति. 240)

वस्तु के अन्वयीरूप को 'द्रव्य' कहते हैं।

० द्रवति तांस्तान् पर्यायान् गच्छति इति द्रव्यं ध्रौव्यलक्षणम्।

(प्र.मी. 1/1/30)

ध्रुवता (नित्यता) जिसका लक्षण है, तथा जो परिणमित होता रहता है–उन उन पर्यायों को प्राप्त करता है, वह 'द्रव्य' है।

० स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मा द्रवति द्रोष्यत्यदुद्रवत्।
स्वपर्यायानिति द्रव्यमर्थस्तान् तान् विवक्षितान्।।
(आ.सा. 3/7)
जो स्थिति, उत्पत्ति व व्यय–इन तीनों रूप वाला है, जो उन-उन विवक्षित स्वपर्यायों को प्राप्त करता है, करता रहेगा और करता रहा है, वह द्रव्य या अर्थ है।

० पूर्वापरपर्याययोरनुगतमेकं द्रव्यम्।
(र.करा. 5/5)
पूर्वापर पर्याय में अनुगत रहने वाला एक ही 'द्रव्य' होता है।

० गुणपर्ययवद् द्रव्यं लक्षणमेतत्सुसिद्धमविरुद्धम्।
गुणपर्ययसमुदायो द्रव्यं पुनरस्य भवति वाक्यार्थः।।
(पं. 1/72)
जो गुण और पर्याय वाला है, वह द्रव्य है –यह द्रव्य का लक्षण सुसिद्ध है और अविरूद्ध है। गुण तथा पर्यायों का समूह ही द्रव्य है, यह इसका वाक्यार्थ है।

० गुणपर्याययोः स्थानमेकरूपं सदापि यत्।
स्वजात्या द्रव्यमाख्यातं मध्ये भेदो न तस्य वै।।
(द्रव्य.तर्क. 2/1)
जो गुण और पर्यायों का स्थान है; जो निजस्वरूप से सदा एकरूप रहता है, और जिसके निजस्वरूप के मध्य में कुछ भेद नहीं है, वह 'द्रव्य' कहा गया है।

० गुणपर्याययोर्भाजनं कालत्रये एकरूपं द्रव्यम् स्वजात्या निजत्वेन एकस्वरूपं भवति। परं पर्यायवत् न परावृत्तिं लभते तद्द्रव्यमुच्यते।
(द्रव्य.तर्क. 2/1)
जो गुण और पर्याय का आश्रय हो, निजस्वरूप से कालत्रय में भी एकरूप हो, न कि पर्याय के सदृश परिवर्तन को प्राप्त हो, उसको 'द्रव्य' कहते हैं।

० गुणानां पर्यायाणां चाश्रयः आधारो द्रव्यम्।
(जै.सि.दी 1/3)
गुण ओर पर्यायों के आश्रय को 'द्रव्य' कहते हैं। (द्रष्टव्यः सत्)

द्रव्य के पर्याय

० द्रव्यं सामान्यम्, उत्सर्गः, अनुवृत्तिः इत्यर्थः।
(स.सि. 1/33/241)
द्रव्य का अर्थ है–सामान्य, उत्सर्ग और अनुवृत्ति।

द्रव्यत्व

० द्रव्यस्य भावो द्रव्यत्वम्, निजनिजप्रदेशसमूहैरखण्डवृत्त्या स्वभावविभावपर्यायान् द्रवति द्रोष्यति अदुद्रुवदिति द्रव्यम्।
(आ.प. 96)
जो अपने-अपने प्रदेश समूह के द्वारा अखण्डपने से अपने स्वभाव विभाव पर्यायों को प्राप्त होता है, होवेगा, हो चुका है, वह 'द्रव्य' है। उस द्रव्य का जो भाव है, वह 'द्रव्यत्व' है।

द्रव्य निक्षेप

० द्रव्यं च भव्ये। भव्यमिति प्राप्यमाह। भू प्राप्ता-वात्मनेपदी। तदेवं प्राप्यन्ते प्राप्नुवन्ति वा द्रव्याणि।

(तत्त्व.भा. 1/5)

द्रव्य का अर्थ है भव्य। भव्य शब्द का अर्थ है (परिणति को) प्राप्त होने वाला। प्राप्ति अर्थवाली भू धातु आत्मनेपदी है। जो प्राप्त किया जाये अथवा जिसे प्राप्त करते हैं, वह 'द्रव्य' है।

० दवए दुयए दोरवयवो विगारो गुणाण संदावो। दव्वं भव्वं भावस्स भूअभावं च जं जोग्गं।।

(विशे.भा. 28)

जो 'द्रवण' करे (अर्थात् उन-उन पर्यायों को प्राप्त करे या छोड़े अथवा जो स्वपर्यायों से प्राप्त किया जाए या छोड़ा जाए), या 'द्रु' यानी सत्ता, उसका अवयव (अंग) हो या विकार हो, तथा जो (रूप-रस आदि) गुणों का संद्रवण (यानी समुदाय) हो, जो 'भाव' (यानी भावी पर्याय) के योग्य हो, और जो भूत (अतीत, नष्ट) पर्याय को प्राप्त हो चुका हो, वह 'द्रव्य निक्षेप' होता है।

० भाविनः परिणामस्य यत्प्राप्तिं प्रति कस्यचित्। स्याद्गृहीताभिमुख्यं हि तद्द्रव्यं ब्रुवते जिनाः।।

(तत्त्वा. 1/12)

किसी द्रव्य को आगे होने वाली पर्याय की अपेक्षा वर्तमान में ग्रहण करना 'द्रव्य निक्षेप' है, ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं।

० ऋजुनयनिरपेक्षतया सापेक्षं भाविनैगमादिनयैः। छद्मस्थो जिनजीवो जिन इव मान्यो यथात्र तद् द्रव्यम्।।

(पं. 1/743)

जिसमें ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा नहीं है, किन्तु जो भावी, नैगम आदि नयों की अपेक्षा से होता है, वह द्रव्य निक्षेप है। जैसे, छद्मस्थ जिन जीव को 'जिन' के समान मानना 'द्रव्य निक्षेप' है।

० भूतभव्यभाविनो वा भावस्य कारणं यन्निक्षिप्यते स द्रव्यनिक्षेपः।

(जै.त.भा.नि.परि., पृ. 69)

भूतभाव (पर्याय) अथवा भावी भाव का जो कारण निक्षिप्त किया जाता है, वह 'द्रव्यनिक्षेप' कहलाता है।

० भूतभाविभावस्य कारणमनुपयोगो वा द्रव्यम्।

(जै.सि.दी. 9/45)

भूत और भावी अवस्था के कारण को अथवा अनुपयोग (उपयोग रहित) को 'द्रव्य-निक्षेप' कहते हैं।

(द्रष्टव्य : निक्षेप)

द्रव्यपर्याय

० तत्रानेकद्रव्यात्मकैक्यप्रतिपत्तिनिबन्धनो द्रव्यपर्यायः।

(प्र.सा.तत्त्वप्र. 92)

अनेक द्रव्यात्मक एकता की प्रतिपत्ति में कारणभूत 'द्रव्यपर्याय' होती है।

० यतरे प्रदेशभागास्ततरे द्रव्यस्य पर्यया नाम्ना।।

(पं. 1/135)

द्रव्य के जितने प्रदेश रूप अंश होते हैं, उतने वे सब 'द्रव्यपर्याय' नाम से कहे जाते हैं।

द्रव्यप्रमाण

० द्रव्यप्रमाणमिन्द्रियार्थतत्सम्बन्धहेतुदृष्टान्तव्यापि-शब्दार्थसंकेतादयः।

(प्र.प्र. 1/125)

इन्द्रिय और पदार्थ तथा उनके सम्बन्ध के हेतु और दृष्टान्तों पर आधारित शब्द और अर्थ के संकेत आदि को 'द्रव्यप्रमाण' कहते हैं।

द्रव्यमन

० पुद्गलविपाकिकर्मोदयापेक्षं द्रव्यमनः।

(स.सि. 2/11/282)

'द्रव्यमन' पुद्गलविपाकी नामकर्म के उदय से होता है।

० तत्थ मणपज्जत्तिणामकम्मुदयातो जोग्गे मणोदव्वे घेत्तुं मणजोगपरिणामिदव्वा दव्वमणो भण्णइ।

(न.चू. 50, पृ. 35)

मनःपर्याप्ति नाम कर्म के उदय से योग्य मनोद्रव्य-मनोवर्गणा को ग्रहण करके, मनरूप परिणमाये गये द्रव्यों का नाम 'द्रव्यमन' है।

० द्रव्यमनश्च ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशम-लाभप्रत्ययाः गुण-दोषविचार-स्मरणादिप्रणि-धानाभिमुखस्याऽऽत्मनोऽनुग्राहकाः पुद्गला वीर्यविशेषावर्जनसमर्थाः मनस्त्वेन परिणताः इति कृत्वा पौद्गलिकं, नाकाशमयम्।

(रा.वा. 5/19/20)

गुण-दोष विचार और स्मरणादि रूप व्यापार में तत्पर आत्मा के ज्ञानावरण व वीर्यान्तराय के क्षयोपशम के आलम्बन बनने वाले या सहायक जो पुद्गल शक्तिविशेष से युक्त होकर मन रूप से परिणत होते हैं, वे 'द्रव्यमन' हैं। वह द्रव्यमन पौद्गलिक है, आकाश रूप नहीं है।

० हिदि होदि हु दव्वमणं वियसियअट्ठच्छदारविंदं वा।

अंगोवंगुदयादो मणवग्गणखंददो णियमा।।

(गो.सा.जी. 443)

अंगोपांग नामकर्म के उदय से मनोवर्गणा रूप स्कन्धों के द्वारा हृदयस्थान में मन की उत्पत्ति होती है। वह खिले हुए आठ पांखुड़ी के कमल के समान होता है।

० द्रव्यमनो मनस्त्वेन परिणतानि पुद्गलद्रव्याणि।

(प्र.मी. 1/1/24)

मन रूप से परिणत हुए पुद्गल द्रव्यों को 'द्रव्यमन' कहते हैं।

(द्रष्टव्य : अनिन्द्रिय, भावमन, मन)

द्रव्यार्थिक नय

० द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ द्रव्यार्थिकः।

(स.सि. 1/6/24)

द्रव्य जिसका प्रयोजन (लक्ष्य) है, वह 'द्रव्यार्थिक' नय है।

० द्रव्यं सामान्यमुत्सर्गः अनुवृत्तिरित्यर्थः। तद्विषयो द्रव्यार्थिकः।

(स.सि. 1/33/241)

द्रव्य का अर्थ सामान्य, उत्सर्ग और अनुवृत्ति है, और इसको विषय करने वाला नय 'द्रव्यार्थिक नय' कहलाता है।

० द्रोष्यत्यदुद्रुवत्तांस्तान् पर्यायानिति द्रव्यम्, द्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः।

(ध. 1, पृ. 84)

जो उन-उन पर्यायों को प्राप्त होता है, प्राप्त होगा और प्राप्त हुआ था, उसे 'द्रव्य' कहते हैं, द्रव्य ही जिसका अर्थ अर्थात् प्रयोजन हो, उसे 'द्रव्यार्थिक नय' कहते हैं।

० द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः। तद्भव-लक्षणसामान्येनाभिन्नं सादृश्यलक्षणसामान्येन भिन्नमभिन्नं च वस्त्वभ्युपगच्छन् द्रव्यार्थिक इति।

(ज.ध. 1, पृ. 197)

द्रव्य जिस नय का विषय है, वह द्रव्यार्थिक नय है। तद्भावलक्षण सामान्य से अभिन्न और सादृश्य लक्षण सामान्य से भिन्न और अभिन्न वस्तु को स्वीकार करने वाला 'द्रव्यार्थिक नय' है।

० अनुप्रवृत्तिः सामान्यं द्रव्यं चैकार्थवाचकाः। नयस्तद्विषयो यः स्याज्ज्ञेयो द्रव्यार्थिको हि सः।।

(तत्त्वा. 1/39)

अनुप्रवृत्ति, सामान्य, द्रव्य–ये तीनों शब्द एकार्थवाची हैं। जो नय इन्हें विषय करता है, वह द्रव्यार्थिक नय है।

० द्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः।

(आ.प. 184)

द्रव्य ही जिसका प्रयोजन (विषय) है, वह 'द्रव्यार्थिक नय' है।

० तदेव अर्थोऽस्ति यस्य सः द्रव्यार्थिकः सोऽभेदाश्रयः।

(न्या.कु. 2/5/30)

द्रव्य ही है प्रयोजन जिसका, वह नय 'द्रव्यार्थिक' है। वह अभेद को ग्रहण करता है।

० द्रव्यमेव अर्थः विषयो यस्यास्ति, स द्रव्यार्थिकः।

(प्र.क.मा. 6/74)

द्रव्य ही अर्थ यानी विषय जिसका है, वह 'द्रव्यार्थिक नय' कहलाता है।

० जो साहदि सामण्णं, अविणाभूदं विसेसरूवेहिं। णाणाजुत्तिबलादो, दव्वत्थो सो णओ होदि।।

(कार्ति. 269)

जो नय वस्तु के विशेष रूपों से अविनाभूत सामान्य रूप को नाना युक्तियों के बल से साधता (ग्रहण करता) है, वह 'द्रव्यार्थिक नय' है।

० तत्र द्रव्यार्थिकनयः द्रव्यपर्यायरूपमेकानेकात्मकमनेकान्तं प्रमाणप्रतिपन्नमर्थं विभज्य पर्यायार्थिकनयविषयस्य भेदस्योपसर्जनभावेनावस्थानमात्रमभ्यनुजानन् स्वविषयं द्रव्यमभेदमेव व्यवहारयति।

(न्या.दी. 3/82)

उनमें द्रव्यार्थिक नय प्रमाण के विषयभूत द्रव्य-पर्यायात्मक, एकानेकात्मक अनेकान्तरूप अर्थ का विभाग (ग्रहण) करके पर्यायार्थिक नय के विषयभूत भेद को गौण करता हुआ उसकी स्थिति मात्र को स्वीकार कर अपने विषय द्रव्य को अभेद रूप व्यवहार योग्य करता है।

० द्रव्यं सन्मुखतया केवलमर्थः प्रयोजनं यस्य। भवति द्रव्यार्थिक इति नयः स्वधात्वर्थसंज्ञकश्चैकः।।

(पं. 1/518)

मुख्यता से केवल द्रव्य ही जिस नय का अर्थ अर्थात् प्रयोजन है, वह 'द्रव्यार्थिक' नय है। यह इसका अपनी धातु के अनुसार अन्वर्थ नाम है, और यह एक है।

० तत्र प्राधान्येन द्रव्यमात्रग्राही द्रव्यार्थिकः।

(जै.त.भा.नय परि., पृ. 59)

प्रधान रूप से केवल 'द्रव्य' को ही ग्रहण करने वाला 'द्रव्यार्थिक' नय होता है।
(द्रष्टव्य : द्रव्यास्तिक नय)

द्रव्यार्थिक नय के भेद

० द्रव्यार्थिकस्य दश भेदाः।

(आ.प. 46)

द्रव्यार्थिक नय के दश भेद हैं। (इनमें से शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के तीन, अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद तथा अन्वय सापेक्ष, स्वद्रव्यादिग्राहक, परद्रव्यादिग्राहक एवं परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय एक–एक भेद वाले हैं।)

० स च द्वेधा–द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकविकल्पात्।
.....तत्राद्यो नैगमसंग्रहव्यवहारविकल्पात् त्रिविधः।।

(प्र.क.मा. 6/74)

(वह (नय) दो प्रकार का है–द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नय।) उनमें प्रथम (द्रव्यार्थिक) नय तीन प्रकार का है–नैगम, संग्रह, व्यवहार नय।

० आद्यो नैगमसंग्रहव्यवहारभेदात् त्रेधा।

(प्र.न.त. 7/6)

पहला (द्रव्यार्थिक) नय तीन प्रकार का है– 1. नैगम नय, 2. संग्रह नय और 3. व्यवहार नय।

० तत्र द्रव्यार्थिकस्त्रिधा नैगमसंग्रहव्यवहारभेदात्।

(जै.त.भा.नय परि., पृ. 59; भि.न्या. 5/3)

द्रव्यार्थिक नय तीन हैं–1. नैगम, 2. संग्रह और 3. व्यवहार।

द्रव्यार्थिकनयाभास

० तत्र द्रव्यमात्रग्राही पर्यायप्रतिक्षेपी द्रव्यार्थिकाभासः।

(जै.त.भा.नय परि., पृ. 65)

द्रव्य मात्र को ग्रहण करने वाला और पर्याय का निषेध करने वाला 'द्रव्यार्थिकनयाभास' होता है।

० द्रव्यार्थिकनयस्त्वाद्यो दशधा समुदाहृतः।
द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकादिक्रमेण नया नव वर्तन्ते, तेषु आद्यः प्रथमो द्रव्यार्थिकनय आद्यो दशधा दशप्रकारः समुदाहृतः। तत्र च प्रथमो द्रव्यार्थिक-नयः शुद्धद्रव्यार्थिक इति अकर्मोपाधितः कर्मणा-मुपाधितो रहितः शुद्धद्रव्यार्थिकः कथ्यते।..... उत्पादव्ययययोर्गौणत्वेन सत्ताग्राहकः शुद्धद्रव्यार्थिको नाम द्वितीयो भेदः।.....भेदकल्पनया रहितः कल्पना-रहितस्तृतीयो भेदः शुद्धद्रव्यार्थिकनामास्ति।.... कर्मोपा-धेरशुद्धद्रव्यार्थिकश्चतुर्थो भेदः कथितः।.... .उत्पादव्ययसापेक्षः पञ्चमो भेदोऽशुद्धद्रव्यार्थिको ज्ञेयः।..... अशुद्धद्रव्यार्थिकः षष्ठो भेदो भेदस्य भेदभावस्य कल्पनां गृह्णन् सन् जायते।..... अन्वयद्रव्यार्थिकः सप्तमो भेद एकस्वभाव उक्तः।.....स्वद्रव्यादिग्राहको द्रव्यार्थिकोऽष्टमो भेदः कथितः।.....तेषु द्रव्यार्थादिषु परद्रव्यादिग्राहको द्रव्यार्थिको नवमः।..... परमभाव-संग्रही परमभावग्राहको दशमो भेदः कथितः।

(द्रव्य.तर्क. 5/9–19)

प्रथम द्रव्यार्थिक नय दस प्रकार का कहा गया है।

द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक आदि के क्रम में नौ नय होते हैं, उनमें प्रथम अर्थात् द्रव्यार्थिक नय दशविध अर्थात् दस प्रकार का कहा जाता है। इनमें प्रथम द्रव्यार्थिक-शुद्धद्रव्यार्थिक नय कहा जाता है जो कर्मों की उपाधि से रहित (विषय को ग्रहण करने वाला) होता है।.....पर्यायादि के उत्पाद व व्यय की गौणता से विवक्षा करने पर तथा ध्रुव (नित्य) स्वरूप को मुख्यता से विवक्षा करने पर शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का दूसरा भेद होता है।..... भेदकल्पना से रहित होने से कल्पनारहित शुद्ध द्रव्यार्थिक–यह तीसरा भेद होता है।... ..कर्मरूप उपाधि की अपेक्षा रखने वाला अशुद्ध द्रव्यार्थिक– यह चौथा भेद होता है।. ....उत्पत्ति व नाश के सापेक्ष अर्थात् उत्पत्ति व नाश की अपेक्षा रखने वाला अशुद्ध द्रव्यार्थिक–यह पांचवां भेद होता है।.....भेद की कल्पना को ग्रहण करने वाला अशुद्ध द्रव्यार्थिक–यह छठा भेद होता है।..... अन्वयद्रव्यार्थिक नाम वाला 'एकस्वभावी–यह सातवां भेद होता है।.....अपने द्रव्य आदि को ग्रहण करने वाला–यह आठवां भेद होता है।. .....उन द्रव्यार्थ आदि में परद्रव्यादि का ग्राहक होने से परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नाम का नौवां भेद होता है।.....परम भाव का संग्रहण करने वाला होने से परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय–यह दसवां भेद होता है।

० इत्याह सिद्धसेनोऽपि आद्या द्रव्यनयास्त्रयः। द्रव्यावश्यकलीनस्तदृजुसूत्रो न संभवेत्।।

(द्रव्य.तर्क. 8/15)

सिद्धसेन ने भी आदि के तीन नयों को द्रव्यार्थिक नय कहा है; और शेष चारों को पर्यायार्थिक नय कहा है; क्योंकि द्रव्य के वर्तमानमात्र पर्याय के कहने से ऋजुसूत्र द्रव्यार्थिकनय नहीं हो सकता।

द्रव्यार्थिकनैगम नय

० तत्र सर्वमेकं, सदविशेषात्, सर्वं द्विविधम्, जीवाजीवभेदादित्यादियुक्त्यवष्टम्भबलेन विषयीकृतसंग्रहव्यवहारनयविषयो द्रव्यार्थिकनैगमः।

(ज.ध. 1, पृ. 222)

सत् सामान्य की अपेक्षा पदार्थों में कोई विशेषता नहीं होने से 'सब एक' हैं तथा 'जीव और अजीव के भेद से सब दो रूप हैं'–इत्यादि युक्तिरूप आधार के बल से संग्रह और व्यवहार–इन दोनों नयों के विषय को स्वीकार करने वाला 'द्रव्यार्थिकनैगम' नय होता है।

द्रव्यास्तिक नय

० अस्तीति मस्तिरस्येत्यास्तिकः द्रव्य एवास्तिको द्रव्यास्तिकः।

(तत्त्व.भा.वृ. 5/29)

'है' यह बुद्धि जिसकी होती है, वह 'आस्तिक' है, द्रव्य के प्रति जो आस्तिक है, वह 'द्रव्यास्तिक' (नय) है।

(द्रष्टव्य : द्रव्यार्थिक)

द्रव्यास्तिक नय के भेद

० तत्र द्रव्यार्थिकः त्रेधा–नैगमसंग्रहव्यवहारभेदात्। .....ऋजुसूत्रो द्रव्यार्थिकस्यैव भेदः इति जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणाः।

(जै.त.भा.नय परि., पृ. 59)

द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद हैं –नैगम, संग्रह व व्यवहार नय।.....ऋजुसूत्र नय भी द्रव्यार्थिक नय का ही भेद है– ऐसा जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण का मत है। (अर्थात् इस नय के चार भेद हैं।)

० तार्किकाणां त्रयो भेदाः, आद्या द्रव्यार्थतो मताः। सैद्धान्तिकानां चत्वारः।
तार्किकाणामिति। तार्किकाणांवादिसिद्धसेनमतानुसारिणाम्,
आद्यास्त्रयो भेदाः नैगम-सङ्ग्रह-व्यवहारलक्षणाः, द्रव्यार्थतो मताः।
द्रव्यमेवार्थं विषयीकृत्याभिप्रेताः, आद्यास्त्रयो भेदास्तार्किकमते द्रव्यार्थिका इति सम्मुखोऽर्थः, सैद्धान्तिकानां-जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणानामिति शेषः।

(नयो. 18)

तार्किकों के मत में आदि के (नैगम, संग्रह व व्यवहार)–ये तीन भेद द्रव्यार्थिक नय माने गये हैं और सैद्धान्तिकों के मत में आदि के चार नय (नैगम, संग्रह, व्यवहार व ऋजुसूत्र) द्रव्यार्थिक नय के रूप में स्वीकृत है। यहां तार्किकों से तात्पर्य है– वादी सिद्धसेन और उनके अनुयायी दार्शनिक। इनके मत में नैगम, संग्रह, व्यवहार–ये तीन नय, चूंकि द्रव्य को ही विषय कर अभिप्रेत होते हैं –इसलिए तार्किकों के मत में–द्रव्यार्थिक नय माने गये हैं। सैद्धान्तिकों से तात्पर्य है–जिनभद्र गणिक्षमाश्रमण आदि।

ध

धरणी

० धरणीव बुद्धिर्धरणी। यथा धरणी गिरि-सरित्-साग-वृक्ष-क्षुपाश्मादीन् धारयति तथा निर्णीतमर्थं या बुद्धिर्धारयति सा धरणी णाम।

(ध. 13, पृ. 243)

धरणी के समान जो बुद्धि होती है, उसका नाम धरणी है। जिस प्रकार धरणी (पृथ्वी) गिरि, नदी, सागर, वृक्ष, झाड़ी और पत्थर आदि को धारण करती है, उसी प्रकार जो बुद्धि निर्णीत अर्थ को धारण करती है, वह 'धरणी' है।

(द्रष्टव्य : धारणा)

धर्मी

० प्रसिद्धो धर्मी।

(प.मु. 3/23)

धर्मी (पक्ष) प्रसिद्ध होता है (अवस्तुस्वरूप या कल्पित नहीं।)

० आनुमानिकप्रतिपत्त्यवसरापेक्षया तु पक्षापरपर्यायस्तद्विशिष्टः प्रसिद्धो धर्मी।

(प्र.न.त. 3/20)

अनुमान प्रयोग करते समय धर्म (अग्नि) से युक्त धर्मी (पर्वत) साध्य होता है। धर्मी का दूसरा नाम 'पक्ष' है और वह प्रसिद्ध होता है।

० साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी.....।
धर्मी प्रमाणसिद्धः।। बुद्धिसिद्धोऽपि।।

(प्र.मी. 1/2/15–17)

साध्य धर्म से विशिष्ट (अर्थात् पक्ष) को 'धर्मी' कहते हैं। वह धर्मी प्रमाण से सिद्ध होता है और बुद्धिसिद्ध भी होता है।
(द्रष्टव्य : पक्ष/साध्य)

धारणा

० धारणा प्रतिपत्तिर्यथास्वं मत्यवस्थानमवधारणं च।

(तत्त्व.भा. 1/15)

धारणा नाम प्रतिपत्ति (स्थिति) का है अर्थात् अपने योग्य पदार्थ का जो बोध हुआ है, उसका अधिक काल तक स्थिर रहना–इसको 'धारणा' कहते हैं।

० यदा तु निश्चितं सन्तमविच्युतिरूपेण धारयति कालान्तरानुस्मरणे वा सा धारणा।

(तत्त्व.भा.वृ. 1/15)

जब पदार्थ का निश्चय हो गया हो, और उसे अप्रच्युति रूप से धारण करना या कालान्तर में पुनः स्मृति में आना–यह 'धारणा' है।

० अवेतस्य कालान्तरेऽविस्मरणकारणं धारणा। यथा सैवेयं बलाका पूर्वाह्णे यामहमद्राक्षमिति।

(स.सि. 1/15/190)

जानी हुई वस्तु का जिस कारण कालान्तर में विस्मरण नहीं होता, उसे 'धारणा' कहते हैं। जैसे, यह वही बकपंक्ति है, जिसे प्रातःकाल मैंने देखा था, ऐसा जानना 'धारणा' है।

० धरणं पुण धारणं बेंति।

(विशे.भा. 179)

उस (अवाय) को धारण करना 'धारणा' है।

० अविच्चुई धारणा तस्स।

(विशे.भा. 180)

उसी (निर्णयात्मक ज्ञान) की अविच्छिन्न रूप से स्थिति 'धारणा' कही जाती है।

० तयणंतरं तयत्थाविच्चवणं, जो य वासणाजोगो। कालंतरे य जं पुणरणुसरणं धारणा सा उ।।

(विशे.भा. 291)

उस (अवाय) के बाद उस (सम्बद्ध) अर्थ से (उपयोग) की च्युति का (नाश) जो न होना है, तथा वासना का जीव के साथ जो योग (सम्बन्ध) है और उस (अर्थ) की कालान्तर में (भी) जो स्मृति हो जाती है–ये तीनों प्रकार जिसके बताये गये हैं, वह 'धारणा' ही तो है।

० तमेव अत्थं अणुवयोगत्तणतो विच्चुतं जहण्णेणं अंतमुहुत्तातो परतो दिवसादिकालविभागेसु संभरतो य धारणा भण्णति।

(न.चू. 53, पृ. 37)

(धारणा के छः भेदों में दूसरा भेद है–धारणा, उसका स्वरूप–)
यह धारणा की दूसरी अवस्था है। इस अवस्था में अवधारित विषय अनुपयोग के कारण विच्युत हो जाता है। जघन्यतः अंतर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः एक दिन, दो दिन तथा असंख्येय काल तक स्मृतियोग्य बना रहता है।

० अवायाणंतरं तमत्थं अविच्चुतीए जहण्णुक्कोसेणं अंतमुहुत्तं धरेंतस्स धरणा भण्णति।

(न.चू. 53, पृ. 37)

धारणा की पहली अवस्था है धरणा। इस अवस्था में अवधारित विषय की अविच्युति बनी

रहती है। इसका न्यूनतम और अधिकतम कालमान अन्तर्मुहूर्त्त है।

० निर्णीतार्थाऽविस्मृतिर्धारणा। भाषावयोरूपादि विशेषैर्याथात्म्येन निर्णीतस्य पुरूषस्योत्तरकालम् 'स एवायम्' इत्यविस्मरणं यतो भवति, सा धारणा।

(रा.वा. 1/15/4)

निर्णीत पदार्थ की विस्मृति न होना–धारणा है। आयु व रूप आदि विशेषों के द्वारा उसकी उस विशेषता का यथार्थ रूप में निर्णय जिसका कर लिया गया हो – ऐसे पुरुष के सम्बन्ध में 'यह वही है' इस प्रकार अविस्मृति (का बने रहना) जिस कारण से बनी रहती है, वह 'धारणा' होती है।

० धारणा स्मृतिहेतुः।

(लघी. 1/5)

जो स्मृति में कारण हो, उसे धारणा कहते हैं।

० .....स्मृतिहेतुः सा धारणा।

(तत्त्व.श्लो. 1/15/4)

अवाय ज्ञान ही स्मृति का हेतु बन कर (दृढ़ संस्काररूप) होकर 'धारणा' मतिज्ञान हो जाता है।

० कालान्तरेऽप्यविस्मरणसंस्कारजनकं ज्ञानं धारणा।

(ध. 1, पृ. 356)

कालान्तर में भी विस्मरण न होने रूप संस्कार के उत्पन्न करने वाले ज्ञान को 'धारणा' कहते हैं।

० निर्णीतस्यार्थस्य कालान्तरे अविस्मृतिर्धारणा जत्तो णाणादो कालंतरे वि अविस्सरणहेदुभूदो जीवे संसकारो उप्पज्जदि, तण्णाणं धारणा णाम।

(ध. 6, पृ. 18)

अवाय ज्ञान से निर्णय किये गये पदार्थ का कालान्तर में विस्मरण न होना 'धारणा' है। जिस ज्ञान से कालान्तर अर्थात् आगामी काल में भी अविस्मरण का कारणभूत संस्कार जीव में उत्पन्न होता है, उस ज्ञान का नाम 'धारणा' है।

० निर्णीतार्थाविस्मृतिर्यतस्सा धारणा।

(ध. 9, पृ. 144)

जिससे निर्णीत पदार्थ का विस्मरण नहीं होता, वह 'धारणा' है।

० अवेतस्य कालान्तरे अविस्मरणकारणं ज्ञानं धारणा।

(ध. 13, पृ. 218–219)

जाने हुए पदार्थ के कालान्तर में विस्मरण नहीं होने का कारणभूत ज्ञान 'धारणा' है।

० अवेदत्थुलिंगग्गहणदुवारेण कालांतरे अविस्सरण-हेतुसंसकारजणणं विण्णाणं धारणेत्ति अब्भुवगमादो।

(ध. 13, पृ. 233)

अवाय के द्वारा गृहीत वस्तु के लिंग को ग्रहण करके उसके द्वारा कालान्तर में अविस्मरण के कारणभूत संस्कार को उत्पन्न करने वाला विज्ञान 'धारणा' है।

० धार्यते निर्णीतोऽर्थः अनया इति धारणा।

(ध. 13, पृ. 243)

जिसके द्वारा निर्णीत अर्थ धारण किया जाता है, वह 'धारणा' है।

० कालंतरे संभरणणिमित्तसंसकारहेउणाणं धारणा।

(ज.ध. 1, पृ. 303)

जो संस्कार कालान्तर में स्मरण का निमित्त है, उसके कारण रूप ज्ञान को 'धारणा' कहते हैं।

० जं कालंतरे अविस्सरणहेउसंसकारूप्पाययं णाणं णिण्णयसरूवं सा धारणा।

(ज.ध. 1, पृ. 307)

अवाय ज्ञान से जाने हुए पदार्थ में कालान्तर में अविस्मरण के कारणभूत संस्कार को उत्पन्न कराने वाला जो निर्णयरूप ज्ञान होता है, उसे 'धारणा' कहते हैं।

० तस्यैव निश्चितस्य वस्तुनोऽविच्युतिस्मृतिवासनारूपं धरणं धारणा, सूत्रेऽविच्युतेरूपलक्षणत्वात्।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 180)

(अवाय द्वारा) निश्चित उसी पदार्थ की जो अविच्युति या अविच्छिन्न स्मृति-वासना रूप जो धारण (निर्णीत ज्ञानधारा का निरन्तर बने रहना) है, वह 'धारणा' है।

० स एव दृढ़तमावस्थापन्नो धारणा।

(प्र.न.त. 2/10)

अवाय ज्ञान जब अत्यन्त दृढ़ हो जाता है, तब वही अवाय, 'धारणा' कहलाता है।

० स्मृतिहेतुर्धारणा।। 'स्मृतेः' अतीतानुसन्धानरूपाया 'हेतुः' परिणामिकारणम्, संस्कार इति यावत्, संख्येयमसेख्येयं वा कालं ज्ञानस्यावस्थानं 'धारणा'।

(प्र.मी. 1/1/29)

स्मृति अतीत का अनुसन्धान करने वाली होती है। उसका जो परिणामी कारण 'धारणा' है, इसे संस्कार भी कहते हैं। इस प्रकार संख्यात या असंख्यात काल तक बना रहने वाला ज्ञान 'धारणा' है।

० कालान्तराविस्मरणहेतुसंस्कारजनकं धारणाज्ञानम्।

(प्र.प्र. 1/6)

समय बीतने पर भी उस पदार्थ को न भूलने के कारणभूत संस्कार को उत्पन्न करे, वह 'धारणा' ज्ञान है।

० स इत्यवायो दृढ़तमावस्थापन्नो विवक्षितविषयावसाय एव सादरस्य प्रमातुरत्यन्तोपचितः कञ्चित् कालं तिष्ठन् धारणेत्यभिधीयते।

(र.करा. 2/10)

अवाय ज्ञान में निर्णीत विवक्षित विषय का जो ज्ञान दृढ़ रूप से निश्चित काल पर्यन्त हृदय में स्थिर रहना है, उसे 'धारणा' कहते हैं।

० कालान्तराविस्मरणयोग्यतया तस्यैव ज्ञानं धारणा।

(न्या.दी. 2/11)

अवाय से निश्चित किये गये पदार्थ को कालान्तर में न भूलने की शक्ति से उसी का ज्ञान होना (बने रहना) 'धारणा' है।

० अवेतविषयस्मृतिहेतुस्तदनन्तरं धारणा।

(षड्.समु.टी. 55/314)

जिस पदार्थ का पक्का निश्चय हो गया है,

उसका कालान्तर में स्मरण करने वाले कारण को 'धारणा' कहते हैं।

० तस्यावस्थितिर्धारणा।

(भि.न्या. 1/13)

निर्णयात्मक ज्ञान की अवस्थिति का नाम 'धारणा' है।

धारणा के पर्याय

० धरणी धारणा ट्ठवणा कोट्ठा पदिट्ठा।

(षट्खं. 5/5/40)

धरणी, धारणा, स्थापना, कोष्ठा और प्रतिष्ठा –ये धारणा के पर्याय है।

० तीसे णं इमे एगट्ठिया नाणाघोसा, नाणावंजणा, पंच नामधिज्जा भवंति, तं जहा– 1. धारणा, 2. साधारणा, 3. ठवणा, 4. पइट्ठा, 5. कोट्ठे।

(नन्दी. 60)

धारणा के अर्थ वाले नाना घोष और नाना व्यंजन वाले पाँच नाम इस प्रकार हैं– धारणा, साधारणा, स्थापना, प्रतिष्ठा और कोष्ठ।

० धारणा प्रतिपत्तिरवधारणमवस्थानं निश्चयोऽवगमः अवबोध इत्यनर्थान्तरम्।

(तत्त्व.भा. 1/15)

धारणा, प्रतिपत्ति, अवधारणा, अवस्थान, निश्चय, अवगम एवं अवबोध–ये परस्पर समानार्थक हैं।

(द्रष्टव्यः वह–वह नाम)

धारणा के भेद

० छव्विधा धारणा (मती?) पण्णत्ता, तं जहा–बहुं धरेति, बहुविहं धरेति, पोराणं धरेति, दुद्धरं धरेति, अणिस्सितं धरेति, असंदिद्धं धरेति।

(ठा.सू. 6/64)

धारणा (मति-निर्णीत विषय को स्थिर करने) के छह प्रकार हैं–1. बहुत धारणा करना, 2. बहुत प्रकार की वस्तुओं की धारणा करना, 3. पुराने की धारणा करना, 4. दुर्द्धर की धारणा करना, 5. अनिश्रित धारणा करना, 6. असंदिग्ध धारणा करना।

० धारणा छव्विहा पण्णता, तं जहा– 1. सोइंदिय-धारणा, 2. चक्खिदिय–धारणा, 3. घाणिंदिय-धारणा, 4. जिब्भिंदिय-धारणा, 5. फासिंदिय-धारणा, 6. नोइंदिय-धारणा।

(नन्दी. 3/48)

धारणा छह प्रकार की है। यथा–1. श्रोत्रेन्द्रिय-धारणा, 2. चक्षुरिन्द्रिय-धारणा, 3. घ्राणेन्द्रिय-धारणा, 4. रसनेन्द्रिय-धारणा, 5. स्पर्शेन्द्रिय-धारणा, 6. नोइन्द्रिय-धारणा।

० सा च त्रिविधा-अविच्युतिः, स्मृतिः, वासना च।

(जै.त.भा.प्र.परि., पृ. 15)

वह धारणा तीन प्रकार की है–1. अविच्युति, 2. स्मृति, 3. वासना।

धारावाहिक ज्ञान

० एकस्मिन्नेव घटे घटविषयाज्ञानविघटनार्थमाद्ये ज्ञाने प्रवृत्ते तेन घटप्रमितौ सिद्धायां पुनर्घटोऽयं घटोऽयमित्येवमुत्पन्नान्युत्तरोत्तरज्ञानानि खलु धारावाहिकज्ञानानि भवन्ति।

(न्या.दी. 1/15)

एक ही घट (घड़े) में घट विषयक अज्ञान

के निराकरण करने के लिये प्रवृत्त हुए पहले घटज्ञान से घट की प्रमिति (सम्यक् परिच्छित्ति) हो जाने पर फिर 'यह घट है, यह घट है' इस प्रकार उत्पन्न हुए ज्ञान 'धारावाहिक' ज्ञान हैं।

ध्रौव्य

० अनादिपारिणामिकस्वभावत्वेन व्ययोदयाभावात् ध्रुवति स्थिरीभवति इति ध्रुवः, ध्रुवस्य भावः कर्म वा ध्रौव्यम्, यथा पिण्डघटाद्यवस्थासु मृदाद्यन्वयात्।

(स.सि. 5/30/584; रा.वा. 5/30/3)

अनादि पारिणामिक स्वभाव से व्यय और उत्पाद नहीं होते, किन्तु द्रव्य स्थित रहता है, ध्रुव बना रहता है, जैसे कि (मिट्टी का) पिण्ड और घट दोनों अवस्थाओं में मृद्रूपता (मिट्टी) का अन्वय रहता है। इस 'ध्रुव (पदार्थ) का भाव या कर्म ही (अर्थात् ध्रुवता ही) 'ध्रौव्य' है।

० ध्रौव्यं तु तादवस्थ्यं स्यात्।

(आ.पु. 24/110)

वस्तु का तदवस्थ (एक ही अवस्थिति में) रहना–यह 'ध्रौव्य' कहलाता है।

० समुत्पादव्ययाभावो यो हि द्रव्यस्य दृश्यते।
अनादिना स्वभावेन तद् ध्रौव्यं ब्रुवते जिनाः।।

(तत्त्वा. 3/8)

अनादि स्वभाव के कारण द्रव्य में जो उत्पाद और व्यय का अभाव है, उसे जिनेन्द्र भगवान् 'ध्रौव्य' कहते हैं।

० पूर्वोत्तरभावोच्छेदोत्पादयोरपि स्वजातेरपरित्यागो ध्रौव्यम्।

(पंचा.त.प्र. 10)

जब उत्पाद-व्यय के होते हुए भी द्रव्य अपने निज स्वरूप को नहीं छोड़ता है, उसे 'ध्रौव्य' कहते हैं।

० तद्भावाव्ययमिति वा ध्रौव्यं तत्रापि सम्यगयमर्थः। यः पूर्वं परिणामो भवति हि पश्चात् स एव परिणामः।।

(पं. 1/204)

'जिस वस्तु का जो भाव है, उसका व्यय नहीं होना–यह जो 'ध्रौव्य' का लक्षण बताया गया है, उसका सही अर्थ यह है कि जो परिणाम पूर्व समय में होता है, तदनन्तर वह वही परिणाम होता है।

न

नय

० ज्ञेयस्य त्वर्थस्याध्यवसायान्तराण्येतानि।

(तत्त्व.भा. 1/35)

ये नय ज्ञेय पदार्थ के पृथक्-पृथक् अध्यवसाय (अभिप्राय-विशेष) होते हैं।

० जीवादीन्पदार्थान्नयन्ति, प्राप्नुवन्ति, कारयन्ति, साधयन्ति, निर्वर्तयन्ति, निर्भासयन्ति, उपलम्भयन्ति, व्यञ्जयन्ति–इति नयाः।

(तत्त्व.भा. 1/35)

जो जीवादिक पदार्थों तक ले जाते हैं (अर्थात् सामान्य रूप से उन्हें प्रकाशित करते हैं, उनको 'नय' कहते हैं। (जो उन पदार्थों को

आत्मा में प्राप्त कराते या पहुंचाते है) उनको 'प्रापक' भी कहते हैं। (जो आत्म में अपूर्व पदार्थ के ज्ञान को उत्पन्न कराते हैं), उनको 'कारक' भी कहते हैं। (परस्पर की व्यावृत्ति रूप–जिसमें एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ में मिश्रण न हो जाय, इस तरह के विज्ञप्ति रूप तथा सिद्धि के उपायभूत वचनों को जो सिद्ध करें,) उनको 'साधक' भी कहते हैं। (अपने निश्चित अभिप्राय के द्वारा जो विशेष अध्यवसाय से उत्पन्न होते हैं,) उनको 'निर्वर्तक' भी कहते हैं। (जो निरंतर वस्तु के अंश का भास–ज्ञान करावे,) उनको 'निर्भासक' भी कहते हैं। (विशिष्ट क्षयोपशम की अपेक्षा से अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ-विशेषों में, जो आत्मा या ज्ञान का अवगाहन करावें) उनको 'उपलम्भक' भी कहते हैं। (जो जीवादिक पदार्थों को अपने अभिप्रायानुसार यथार्थ स्वभाव में स्थापित करें,) उनको 'व्यञ्जक' भी कहते हैं।

० णओ वि णादुस्स हिदयभावत्थो।

(ति.प. 1/83)

ज्ञाता के हृदय के अभिप्राय को 'नय' कहते हैं।

० सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधतः।
स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नयः।।

(आ.मी. 106)

स्याद्वादरूप परमागम से विभक्त हुए अर्थ–विशेष का जो सधर्मा-दृष्टान्त के द्वारा, साध्य के साधर्म्य से और अविरोध रूप से व्यंजक होता है, उसको 'नय' कहते हैं।

० तावद्वस्तुन्यनेकान्तात्मन्यविरोधेन हेत्वर्पणात्साध्य-विशेषस्य याथात्म्यप्रापणप्रवणः प्रयोगो नयः।

(स.सि. 1/33/241)

अनेकान्तात्मक वस्तु में विरोध के बिना हेतु की मुख्यता से साध्य-विशेष की यथार्थता प्राप्त कराने में समर्थ (वचन) प्रयोग को 'नय' कहते हैं।

० एगेण वत्थुणोऽणेगधम्मुणो जमवधारणेणेव।
नयणं धम्मेण तओ होइ नओ सत्तहा सो य।।

(विशे.भा. 2180)

अनेकधर्मात्मक एक वस्तु की उसके एक धर्म के (ही) माध्यम से जो सावधारण (ऐसा ही है –इस रूप में) प्ररूपणा करते हैं, इसलिए वे नय सात प्रकार के हैं।

० अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमधर्मपरिच्छेद-स्तदविनाभाविधर्मबलप्रसूतो नयः।

(भ.आ.टी. 5)

अनन्तधर्मात्मक वस्तु के किसी एक धर्म के जानने को 'नय' कहते हैं। यह नय उस धर्म के साथ ही रहने वाले अन्य धर्मों के बल (सापेक्षत्व) से उत्पन्न होता है।

० स्वार्थैकदेशनिर्णीतिलक्षणो हि नयः स्मृतः।

(तत्त्व.श्लो. 1/6/4)

अपना और अर्थ का एकदेशरूप से निर्णय करना 'नय' का लक्षण कहा गया है।

० सामान्यादेशतस्तावदेक एव नयः स्थितः।
स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जनात्मकः।।

(तत्त्व.श्लो. 1/33/2)

सामान्य की विवक्षा से तो नय एक ही है। स्याद्वाद (श्रुतज्ञान) द्वारा विभक्त पदार्थ के विशेष को व्यक्त करना—यह 'नय' का स्वरूप है।

० नीयते गम्यते येन श्रुतार्थांशो नयो हि सः।
(तत्त्व.श्लो. 1/33/6)
श्रुतज्ञान से जाने हुए अर्थ के अंश को जिसके द्वारा जाना जाता है, वह 'नय' है।

० प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशे वस्त्वध्यवसायो नयः।
(ध. 1, पृ. 84)
प्रमाण के द्वारा ग्रहण की गई वस्तु के एक अंश में वस्तु का निश्चय करने वाले ज्ञान को 'नय' कहते हैं।

० प्रमाणपरिच्छिन्नवस्तुन एकदेशे वस्तुत्वार्पणा नय इति सिद्धम्।
(ध. 9, पृ. 164)
प्रमाण से जानी गई वस्तु के एकदेश में वस्तुत्व की विवक्षा का नाम 'नय' है।

० वस्तुनोऽनन्तधर्मस्य प्रमाणव्यञ्जितात्मनः।
एकदेशस्य नेता यः स नयोऽनेकधा मतः।।
(तत्त्वा. 1/37)
प्रमाण के द्वारा जिसका स्वरूप प्रकट है, ऐसी अनन्तधर्मात्मक वस्तु के एकदेश तक ले जाने वाला अर्थात् जो जानने वाला है, वह 'नय' है। नय अनेक प्रकार का कहा गया है।

० तदवयवा नयाः।। (39)
प्रमाणेन वस्तुसंगृहीतार्थैकांशो नयः, (प्रमाणेन संगृहीतस्य वस्तुतः अर्थैकांशो नयः) श्रुतविकल्पो वा, ज्ञातुरभिप्रायो वा नयः, नानास्वभावेभ्यो व्यावृत्त्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयति प्राप्नोतीति वा नयः। (181)
(आ.प. 181)
उस (प्रमाण) के अवयव नय हैं। (39)
प्रमाण के द्वारा सम्यक् प्रकार ग्रहण की गई वस्तु के एक धर्म अर्थात् अंश को ग्रहण करने वाले को 'नय' कहते हैं। अथवा, श्रुतज्ञान के विकल्प को 'नय' कहते हैं। ज्ञाता के अभिप्राय को 'नय' कहते हैं। अथवा, जो नाना स्वभावों से हटाकर किसी एक स्वभाव में वस्तु को प्राप्त कराता है, वह 'नय' होता है। (181)

० अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नयः।
(प्र.क.मा. 6/74)
वस्तु के एक अंश या धर्म को ग्रहण करने वाला ज्ञाता का अभिप्राय—जो विरोधी धर्मों का निराकरण नहीं करता—'नय' कहलाता है।

० सापेक्षो नयः।
(न्या.कु. 5/43)
नय सापेक्ष होते हैं।

० नयो ज्ञातुरभिप्रायः, प्रमाणविषयीकृतेऽर्थे एकांश-विषयो ज्ञातुः प्रमातुरभिप्रायः।
(न्या.कु. 6/52)
ज्ञाता का अभिप्राय 'नय' है अर्थात् प्रमाण के विषयभूत पदार्थ में उसके एक अंश को विषय करने वाला ज्ञाता का अभिप्राय 'नय' है।

० लोयाणं ववहारं, धम्मविवक्खाइ जो पसाहेदि।
सुयणाणस्स वियप्पो, सो वि णओ लिंगसंभूदो।।
(कार्ति. 263)

जो लोकव्यवहार को वस्तु के एक धर्म की विवक्षा से सिद्ध करता है, वह 'नय' है। नय श्रुतज्ञान का भेद है तथा लिंग (किसी न किसी अभिप्राय रूप हेतु) से उत्पन्न होता है।

० णाणाधम्मजुदं पि य, एयं धम्मं पि वुच्चदे अत्थं।
तस्सेव विवक्खादो, णत्थि विवक्खा हु सेसाणं।।
(कार्ति. 264)
नाना धर्मों से युक्त भी पदार्थ के एक धर्म को ही नय कहता है, क्योंकि उस समय उसी धर्म की विवक्षा होती है, शेष धर्मों की विवक्षा नहीं होती है।

० सो चिय इक्को धम्मो, वाचयसद्दो वि तस्स धम्मस्स।
तं जाणदि तं णाणं, ते तिण्णि वि णयविसेसा य।।
(कार्ति. 265)
वस्तु का कोई एक धर्म, उस धर्म का वाचक शब्द और उस धर्म को जानने वाला ज्ञान, ये तीनों ही नय के भेद हैं।

० अनेकधर्मणोऽनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनो यदेकेन नित्यत्वादिनाऽनित्यत्वादिना वा धर्मेणावधारणे-नैव साक्धारणं नयनं प्ररूपणं तकोऽसौ नयो भवति।
(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 2180)
अनेक धर्म वाली अर्थात् अनन्तधर्मात्मक वस्तु के नित्यत्व आदि का अनित्यत्व आदि किसी एक धर्म द्वारा अवधारण–सहित (ऐसा ही है–इस रूप में) जो नयन यानी प्ररूपण है, उसे 'नय' कहा जाता है।

० अनन्तधर्मात्मकं वस्त्वेकांशेनैव नयति प्ररूपयतीति नयः।
(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 2180)
अनन्तधर्मात्मक वस्तु तक उसके एक अंश (धर्म) द्वारा पहुंचाने वाला, प्ररूपणा करने वाला 'नय' होता है।

० नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्यार्थ-स्यांशस्तदितरांशौदासीन्यतः स प्रतिपत्तुरभिप्राय-विशेषो नयः।।
(प्र.न.त. 7/1)
श्रुतज्ञान द्वारा जाने हुए पदार्थ का एक धर्म, अन्य धर्मों को गौण करके, जिस अभिप्राय से जाना जाता है, वक्ता का वह अभिप्राय 'नय' कहलाता है।

० न चाप्यनेकान्तमृते नयस्थितिः।
(अयोग. 28)
अनेकान्त (वाद) के बिना नयों की स्थिति (प्ररूपणा, नयवाद) सम्भव नहीं है।

० जं णाणीण वियप्पं सुवासयं वत्थुअंससंगहणं।
तं इह णयं पउत्तं.....।
(बृ.न.च. 173)
श्रुतज्ञान का आश्रय लेकर ज्ञानी का जो विकल्प वस्तु के अंश को ग्रहण करता है, उसे 'नय' कहते हैं।

० नीयते गम्यते, श्रुतप्रमाणपरिच्छिन्नार्थैकदेशोऽने-नेति नयः।
(र.करा. 1/1)
प्रमाण से गृहीत वस्तु का श्रुतप्रमाण के द्वारा वस्तु के एकदेश का ज्ञान होना 'नय' है।

० अंशौ, अंशा वा, येन परामर्शविशेषेण श्रुतप्रमाण-प्रतिपन्न वस्तुनो विषयीक्रियन्ते तदितरांशौदासीन्यापेक्षया स नयोऽभिधीयते।

(र.करा. 7/1)

जिस परामर्श-विशेष द्वारा श्रुतप्रमाण से गृहीत वस्तु के (अपेक्षित) अंश को–उस वस्तु के अन्य अंशों के प्रति उदासीनता की दृष्टि रखते हुए –विषय बनाया जाता है, वह 'नय' कहा जाता है।

० वस्त्वंशे प्रवर्तमानो नयः स्वार्थैकदेशव्यवसायलक्षणो न प्रमाणं, नापि मिथ्याज्ञानम् इति।

(र.करा. 7/2)

वस्तु के अंश में प्रवर्तित होता हुआ नय, स्वार्थ (स्वपर पदार्थ) के एकदेश का निश्चय करता है, अतः वह न तो प्रमाण है और न ही मिथ्याज्ञान है।

० ततश्चानन्तांशात्मके वस्तुन्येकैकांशपर्यवसायिनो यावन्तः प्रतिपत्तृणामभिप्रायास्तावन्तो नयाः।

(र.करा 7/4)

अनन्त (धर्मरूपी) अंशों वाली वस्तु में एक-एक अंश को विषय करने वाले ज्ञाताओं के जितने भी अभिप्राय (सम्भव) हैं, उतने ही 'नय' हैं।

० प्रमाणं त्रिकालगोचरसर्वजीवादिपदार्थनिरूपणम्। तदर्थांशपरीक्षाप्रवणः अभिसन्धिर्नयः।

(लघी.वृ. 73)

त्रिकालवर्ती समस्त जीवादि पदार्थों का निरूपक 'प्रमाण' होता है, उस प्रमाण-गृहीत पदार्थ के अंश (धर्म-विशेष) की परीक्षा में दक्ष अभिप्राय- विशेष ही 'नय' होते हैं।

० एकदेशविशिष्टोऽर्थः प्रतीतिविषयमाभिरिति नीतयो नयाः।

(स्या.मं. 27)

वस्तु का एकदेश जिन नीतियों (दृष्टियों) द्वारा प्रतीति में आता है, वे 'नय' हैं।

० तत्र प्रमाणप्रतिपन्नार्थैकदेशपरामर्शी नयः। अनन्तधर्माध्यासितं वस्तु स्वाभिप्रेतैकधर्मविशिष्टं नयति प्रापयति संवेदनकोटिम् आरोहयति इति नयः। प्रमाणप्रवृत्तेरुत्तरकालभावी परामर्श इत्यर्थः।

(स्या.मं. 28)

प्रमाण से निश्चित किये हुये पदार्थों के एक अंश के ज्ञान करने को 'नय' कहते हैं। प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म पाये जाते हैं, इन अनन्त धर्मों में से अपने इष्ट धर्म को जानने को 'नय' कहते हैं। वस्तु का प्रमाण द्वारा निश्चय होने पर उत्तरवर्ती जो ज्ञाता का परामर्श (भाव-अभिप्राय) होता है, वह 'नय' है।

० नीयते परिच्छिद्यते एकदेशविशिष्टोऽर्थ आभिरिति नीतयो नयाः।

(स्या.मं. 28)

जिन नीतियों के द्वारा पदार्थों के एक अंश को जाना जाता हो, उसे 'नय' कहते हैं।

० कोऽयं नयो नाम? उच्यते-प्रमाणगृहीतार्थैकदेशग्राही प्रमातुरभिप्रायविशेषः।

(न्या.दी. 3/82)

यह 'नय' क्या है? बता रहे हैं–प्रमाण से जाने हुए पदार्थ के एकदेश को ग्रहण करने वाले ज्ञाता के अभिप्राय-विशेष को 'नय' कहते हैं।

० इत्युक्तलक्षणेऽस्मिन् विरुद्धधर्मद्वयात्मके तत्त्वे। तत्राप्यन्यतरस्य स्यादिह धर्मस्य वाचकश्च नयः।।

(पं. 1/504)

परस्पर-विरुद्ध धर्मद्वय स्वरूप 'तत्त्व' है—ऐसा बताया गया है। उसी तत्त्व में किसी एक ध र्म का वाचक 'नय' होता है।

० सर्वो नयो विकल्पात्मा।

(पं. 1/510)

सभी नय विकल्पात्मक होते हैं।

० स्थूलं वा सूक्ष्मं वा बाह्यान्तर्जल्पमात्रवर्णमयम्। ज्ञानं तन्मयमिति वा नयविकल्पो वाग्-विलासत्वात्।।

(पं. 1/512)

स्थूल और सूक्ष्म वर्णमय जितना भी बाह्य जल्प व अन्तर्जल्प होता है, वह तथा तन्मात्र ज्ञान —यह सब विकल्पात्मक नय ही है, क्योंकि वह वचनों का विलासमात्र ही होता है।

० प्रमाणपरिच्छिन्नस्यानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुन एकदेशग्राहिणः तदितरांशाप्रतिक्षेपिणोऽध्यवसाय-विशेषा नयाः।

(जै.त.भा.नय परि., पृ. 59)

(श्रुत) प्रमाण के द्वारा गृहीत अनन्तधर्मात्मक वस्तु के एकदेश-धर्म को ग्रहण करने वाला अभिप्राय 'नय' कहलाता है।

० अनिराकृतेतरांशो वस्त्वंशग्राही प्रतिपत्तुरभिप्रायो नयः।

(भि.न्या. 5/1, जै.सि.दी. 9/17)

वस्तु के अन्य अंशों का निराकरण न करने वाले तथा उसके एक अंश का ग्रहण करने वाले ज्ञाता के अभिप्राय को 'नय' कहा जाता है।

नय के पर्याय

० नयाः प्रापकाः कारकाः साधकाः निर्वर्तका निर्भासका उपलम्भका व्यंजका इत्यनर्थान्तरम्।

(तत्त्व.भा. 1/35)

नय, प्रापक, कारक, साधक, निर्वर्तक, निर्भासक, उपलम्भक, व्यञ्जक—ये सभी शब्द एकार्थवाची हैं।

नय के भेद

० सत्त मूलणया पण्णत्ता, तं जहा—णेगमे, संगहे, ववहारे, उज्जुसुत्ते, सद्दे, समभिरूढे, एवंभूते।

(ठा.सू. 7/38; अनु.सू. 13/715)

मूल नय सात हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत।

० गोयमा! एत्थ दो नया भवंति, तं जहा—नेच्छयियनए य ववहारियनए य।

(भ.सू. 18/6/1)

गौतम! इस विषय में दो नयों का आश्रय लिया जाता है। वे हैं—निश्चय नय और व्यवहार नय।

० नैगम-संग्रह—व्यवहारर्जुसूत्र-शब्द-समभि-रूढैवम्भूता नयाः।

(त.सू. 1/33 दिग.)

नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, एवम्भूत—ये (सात) नय हैं।

० नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दा नयाः।

(त.सू. 1/34 श्वे.)

नयों के पांच भेद हैं–नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द।

० नयो द्विविधः द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च।

(स.सि. 1/6/24; भि.न्या. 5/2)

नय के दो भेद हैं–द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक।

० नेगम संगह ववहार उज्जुसुए चेव होइ बोधव्वो।
सद्दे य समभिरूढे एवंभूए य मूलनया।।

(विशे.भा. 2181)

नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र. शब्द, समभिरूढ व एवम्भूत –ये सात मूलनय हैं–ऐसा जानें।

० श्रुतभेदाः नयाः सप्त नैगमादिप्रभेदतः।

(लघी. 6/66)

श्रुतज्ञान के भेद नय हैं। वे नय नैगम आदि के भेद से सात हैं।

(1) द्रव्यनयेन.....(2) पर्यायनयेन.....(3) अस्तित्व-नयेन.....(4) नास्तित्वनयेन..... (5) अस्तित्वनास्तित्व-नयेन.....(6) अवक्तव्यनयेन.....(7) अस्तित्वावक्तव्य-नयेन.....(8) नास्तित्वावक्तव्यनयेन.....(9) अस्तित्व-नास्तित्वावक्तव्यनयेन).....(10) विकल्पनयेन..... (11) अविकल्पनयेन.....(12) नामनयेन..... (13) स्थापनानयेन.....(14) द्रव्य-(निक्षेप)-नयेन..... (15) भावनयेन.....(16) सामान्यनयेन.....(17) विशेष-नयेन.....(18) नित्यनयेन.....(19) अनित्यनयेन..... (20) सर्वगतनयेन.....(21) असर्वगतनयेन..... (22) शून्यनयेन..... (23) अशून्यनयेन.....(24) ज्ञान-ज्ञेयाद्वैतनयेन.....(25) ज्ञानज्ञेयद्वैतनयेन..... (26) नियतिनयेन.....(27) अनियतिनयेन..... (28) स्वभावनयेन.....(29) अस्वभावनयेन..... (30) काल- नयेन.....(31) अकालनयेन..... (32) पुरुषकारनयेन..... (33) दैवनयेन..... (34) ईश्वरनयेन.....(35) अनीश्वर- नयेन..... (36) गुणिनयेन.....(37) अगुणिनयेन..... (38) कर्तृनयेन.....(39) अकर्तृनयेन..... (40) मोक्तृनयेन .....(41) अभोक्तृनयेन..... (42) क्रियानयेन.....(43) ज्ञान- नयेन..... (44) व्यवहारनयेन.....(46) अशुद्धनयेन..... (47) शुद्धनयेन.....। एवमनया दिशा प्रत्येकमनन्तधर्म-व्यापकानन्तनयैर्निरूप्यमाणम्.....आत्मद्रव्यम्।

(प्र.सा.तत्त्वप्र. 3/75)

नय के 47 भेद कहे गये हैं–(1) द्रव्यनय, (2) पर्यायनय, (3) अस्तित्वनय, (4) नास्तित्वनय, (5) अस्तित्वनास्तित्वनय, (6) अवक्तव्यनय, (7) अस्तित्वावक्तव्यनय, (8) नास्तित्वाव-क्तव्यनय, (9) अस्तिनास्तिअवक्तव्यनय, (10) विकल्पनय, (11) अविकल्पनय, (12) नाम-नय, (13) स्थापनानय, (14) द्रव्य-(निक्षेप)-नय, (15) भावनय, (16) सामान्यनय, (17) विशेषनय, (18) नित्यनय, (19) अनित्यनय, (20)सर्वगतनय, (21) असर्वगतनय, (22) शून्यनय, (23) अशून्यनय, (24) ज्ञानज्ञेयाद्वैतनय, (25) ज्ञानज्ञेयद्वैतनय, (26)नियतिनय, (27) अनियतिनय, (28) स्वभाव-नय, (29) अस्वभावनय, (30) कालनय, (31) अकाल-नय, (32) पुरुषकारनय, (33) दैवनय, (34) ईश्वर-नय, (35) अनीश्वरनय, (36) गुणिनय, (37) अगुणि- नय, (38) कर्तृनय, (39) अकर्तृनय, (40) भोक्तृनय, (41) अभोक्तृनय, (42) क्रियानय, (43) ज्ञाननय, (44) व्यवहारनय, (46) अशुद्धनय, (47) शुद्धनय। इन नयों के

उदाहरण के अनुरूप पद्धति द्वारा प्रत्येक आत्मद्रव्य को, अनन्त धर्मों को विषय करने वाले अनन्त नयों द्वारा, निरूपित किया जाता है।

० णिच्छयववहारणया मूलमभेया णयाण सव्वाणं।
णिच्छयसाहणहेऊ दव्वयपज्जत्थिया मुणह।।
(आ.प. 40)

सम्पूर्ण नयों के निश्चयनय और व्यवहारनय–ये दो मूल-भेद हैं। निश्चय का हेतु द्रव्यार्थिक नय है और साधन का हेतु अर्थात् व्यवहार का हेतु पर्यायार्थिक नय है।

० स द्वेधा सविकल्पनिर्विकल्पभेदात्।
(आ.प. 182)

सविकल्प और निर्विकल्प के भेद से 'नय' भी दो प्रकार का होता है।

० सो संगहेण एक्को, दुविहो वि य दव्वपज्जएहिंतो।
तेसिं च विसेसादो, णइगमपहुदी हवे णाणं।।
(कार्ति. 268)

संग्रह अर्थात् सामान्य से नय एक है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के भेद से दो प्रकार का है। उन्हीं दोनों के नैगम आदि जो भेद हैं, वे ज्ञान ही हैं।

० मूलनयौ द्वौ द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकभेदात्।
(प्र.र.मा. 6/74)

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के भेद से मूलतः नय दो हैं।

० स व्याससमासाभ्यां द्विप्रकारः।।
व्यासतोऽनेकविकल्पः।।
समासतस्तु द्विभेदो द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च।।
(प्र.न.त. 7/3–5)

नय दो प्रकार का है–व्यासनय और समासनय। व्यासनय अनेक प्रकार का है। समासनय दो प्रकार का है–द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय।

० नयाश्च अनन्ताः, अनन्तधर्मत्वात् वस्तुनः तदेकधर्मपर्यवसितानां वक्तुरभिप्रायाणां च नयत्वात्।.
....तथापि चिरन्तनाचार्यैः सर्वसंग्राहिसप्ताभिप्रायपरिकल्पनाद्वारेण सप्त नयाः प्रतिपादिताः। तद्यथा-नैगमसंग्रहव्यवहारऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूता इति।
(स्या.मं. 28)

नय तो अनन्त हैं। वस्तु अनन्त धर्मों वाली होती है, उसके एक-एक धर्म को लेकर वक्ताओं के जो अभिप्राय होते हैं, वे (ही) 'नय' होते हैं।.....फिर भी चिरन्तन आचार्यों ने सात अभिप्रायों की कल्पना करके सात नयों का ही प्रतिपादन किया है। जैसे नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़, एवम्भूत नय।

० स नयः संक्षेपेण द्वेधा-द्रव्यार्थिकनयः पर्यायार्थिकनयश्चेति।
(न्या.दी. 3/82)

वह नय संक्षेप में दो प्रकार का होता है–द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय।

० नया न्यायानुसारेण नव चोपनयास्त्रयः।
(द्रव्य.तर्क. 5/8)

न्यायशास्त्रीय ग्रन्थों के अनुसार नय नौ हैं, और उपनय तीन हैं।

नय (अध्यात्म) के भेद

० पुनरप्यध्यात्मभाषया नया उच्यन्ते।
तावन्मूलनयौ द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च।

(आ.प. 214–215)

अध्यात्म भाषा से नयों का कथन किया जा रहा हे। नयों के मूल दो भेद हैं–निश्चय और व्यवहार।

० निश्चयव्यवहारौ हि तदध्यात्ममतानुगौ।

(द्रव्य.तर्क. 5/8)

अध्यात्म विचारधारा के अनुरूप दो नय हैं– निश्चय और व्यवहार।

० अपरथापि नयो द्विधा-निश्चयो व्यवहारश्च।

(भि.न्या. 5/17)

प्रकारान्तर से भी नय दो प्रकार का होता है– निश्चय नय और व्यवहार नय।

० ज्ञानक्रियाप्रधानौ क्रमाज्ज्ञानक्रियानयावपि।

(भि.न्या. 5/20)

प्रकारान्तर से नय दो प्रकार का होता है–
1. ज्ञान नय, 2. क्रिया नय।
ज्ञान प्रधान नय को 'ज्ञान नय' और क्रिया प्रधान नय को 'क्रिया नय' कहा जाता है।
(द्रष्टव्य : प्रमाणांश, सर्वनयात्मक, शब्दनय)

नय प्रमाण

(भाव प्रमाण के अन्तर्गत, उसका एक भेद।)
(द्रष्टव्यः प्रमाण के भेद)

नय वाक्य

० स्यादस्त्येव द्रव्यमिति वस्त्वेकदेशग्राहकत्वान्नय-वाक्यम्।

(पंचा.ता.वृ. 14)

'स्यात् द्रव्य है ही'–यह (वाक्य) वस्तु के एकदेश का ग्राहक होने से 'नय वाक्य' है।

० नयविषयीकृतस्य वस्तुधर्मस्य भेदवृत्तिप्राधान्याद् भेदोपचाराद् वा क्रमेण यदभिधायकं वाक्यं स विकलादेशो नयवाक्यापरपर्यायः।

(स्या.मं. 23)

नय के द्वारा विषयीकृत वस्तुधर्म का, भेदवृत्ति की प्रधानता से या भेदोपचार से, क्रमशः प्रतिपादक जो वाक्य होता है, वह विकलादेश है। उसे ही 'नयवाक्य' कहा जाता है।
(द्रष्टव्यः सद्वाद, विकलादेश)

नय सप्तभङ्गी

० तस्यैकस्य जीवस्य अनेकात्मकस्य प्रत्यायने शब्दः प्रवर्तमानो द्विधा व्यवतिष्ठते-क्रमेण यौगपद्येन वा, न तृतीयो वाक्पथोऽस्ति।.....यदा तु क्रमः, तदा विकलादेशः, स एव नय इति व्यपदिश्यते।.....निरंशस्यापि गुणभेदादंशकल्पना विकलादेशः।.....तत्रापि विकलादेशे तथा आदेशवशेन सप्तभङ्गी वेदितव्या।.....कथम्? गुणभेदकेषु अंशेषु क्रमेण यौगपद्येन क्रम-यौगपद्याभ्यां विवक्षावशात् विकलादेशा भवन्ति।. ....तद्यथा सर्वसामान्यादिषु द्रव्यार्थादेशेषु केनचिदुपलभ्यमानत्वात् 'स्याद् अस्ति एव आत्मा' इति प्रथमो विकलादेशः। अत्र इतरेषां वस्तुनि सतामपि कालादिभि-र्भेदविवक्षातः शब्दवाच्यत्वेन अन्तर्भावअभावात् निरासाभावाच्च न विधिर्न प्रतिषेधः। .....अत्राप्यत एव स्यात्-

शब्दप्रयोगः कर्तव्यः-स्याद् अस्ति एव जीवः 'इत्यादि। कोऽर्थः? एवकारेण इतरनिवृत्तिप्रसङ्गे स्वात्मलोपात् सकलो लोपो मा विज्ञायि–इति वस्तुनि यथावस्थितं विवक्षितधर्मस्वरूपं, तथैव द्योतयति स्यात्शब्दः।

(रा.वा. 4/42/12–13, 16–17)

इस अनेकान्तात्मक जीव पदार्थ का कथन शब्दों से दो रूपों में किया जाता है–एक क्रमशः और दूसरा युगपत्। तीसरा कोई वचन–मार्ग नहीं है।.....जब क्रमशः कथन होता है तो 'विकलादेश' होता है, उसे ही 'नय' कहा जाता है।.....निरंश के भी गुणों के भेद अंश की कल्पना विकलादेश है।.....इस विकलादेश में भी आदेश-वश (विवक्षा–वश) सप्तभङ्गी होती है–ऐसा जानना चाहिए। कैसे? (उत्तर) गुणभेदक अंशों में क्रम, यौगपद्य व क्रमयौगपद्य–दोनों से विवक्षावश विकलादेश होते हैं।.....जैसे–सर्वमान्य आदि किसी एक द्रव्यार्थ दृष्टि से उपलभ्यमान होने से 'स्यादस्त्येव आत्मा' यह पहला विकलादेश है। इस भंग में 'नास्ति' आदि अन्य धर्म यद्यपि वस्तु में विद्यमान हैं तो भी कालादि की अपेक्षा, वे भेद-विवक्षा होने से शब्दवाच्यत्व रूप से उनके अन्तर्भाव का अभाव होने से स्वीकृत नहीं है–अतः न उन धर्मों का यहां विधान है और न उनका प्रतिषेध ही है।.....यहां पर भी 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करना चाहिए 'स्यादस्त्येव जीवः' इत्यादि। प्रश्न-स्यादस्त्येव जीवः इसका क्या अर्थ है? उत्तर-एवकार से इतर धर्म की निवृत्ति का प्रसंग प्रस्तुत होने पर स्वात्म का लोप (नास्तिक्य का लोप) होने से सकल धर्म का लोप न हो जाय, इसलिये वस्तु में यथावस्थित विवक्षित धर्मस्वरूप को 'स्यात्' शब्द प्रकट करता है। (अर्थात् स्यात् शब्द विवक्षित धर्म के साथ ही साथ अन्य धर्मों के सद्भाव की भी सूचना देता है।)

० प्रतिपादितनयसप्तभङ्गीष्वपि प्रतिपक्षं स्यात्कारस्य एवकारस्य च प्रयोगसद्भावात्।

(तत्त्व.श्लो. 1/33/95)

प्रतिपादित नय-सप्तभङ्गी में भी प्रत्येक पक्ष (भंग) में 'स्यात्' पद तथा 'एव' पद का प्रयोग होता है।

० स्याद् अस्त्येव.....अनन्तधर्मणो द्रव्यस्य एकैकं धर्ममाश्रित्य विवक्षित-अविवक्षित-विधिप्रतिषेधाभ्यामवतरन्ती सप्तभङ्गिका एवकारविश्रान्तम्, अश्रान्तसमुच्चार्यमाणस्यात्कारामोघमन्त्रपदेन समस्तमपि विप्रतिषेधमुदस्यति।

(प्र.सा.तत्त्वप्र. 2/23)

'स्यात् अस्ति एव' (कथंचित् है ही).....इत्यादि रूप में, अनन्तधर्मात्मक द्रव्य के एक-एक धर्म का आश्रयण कर विधि (अस्तित्व) व निषेध (नास्तित्व) को विवक्षित (मुख्य) या अविवक्षित (गौण) करते हुए सप्तभङ्गी निष्पन्न होती है, जो 'स्यात्' पदरूप सत्य मंत्र द्वारा समस्त विरोध (एकान्तवाद) रूपी विष-मोह को दूर करती है।

० विकलादेशस्वभावा हि नयसप्तभंगी वस्त्वंशमात्रप्ररूपकत्वात्।

(प्र.क.मा. 6/74)

विकलादेश स्वभाववाली सप्तभंगी वस्तु के केवल एक अंश की प्ररूपणा करने के कारण 'नयसप्त-भंगी' कहलाती है।

० नयवाक्यमपि स्वविषये प्रवर्तमानं विधिप्रतिषेधाभ्यां सप्तभङ्गीमनुव्रजति।

(प्र.न.त. 7/53)

नय वाक्य भी अपने विषय में प्रवृत्त होता हुआ विधि व निषेध की विवक्षा से सप्तभङ्गी का अनुसरण करता है।

० नयवाक्यं प्राग्लक्षितविकलादेशस्वरूपम्.....नयसप्तभङ्गीष्वपि प्रतिभङ्गं स्यात्कारस्य एवकारस्य च प्रयोगसद्भावात्। तासां विकलादेशत्वादेव सकलादेशात्मिकायाः प्रमाणसप्तभङ्ग्याः विशेषव्यवस्थापनात्।

(र.करा. 7/53)

नय वाक्य भी पूर्वोक्त विकलादेशस्वरूप लिए होता है। नय सप्तभङ्गी में भी प्रत्येक भङ्ग में स्यात् पद का तथा 'एव' पद का प्रयोग होता है। वे सभी भङ्ग विकलादेश रूप लिए हुए (अर्थात् मात्र वस्तु अंश के प्ररूपक) होते हैं, यही प्रमाणसप्तभङ्गी से उनका अन्तर होता है।

० नयसप्तभङ्गीष्वपि प्रतिभङ्गं स्यात्कारस्य एवकारस्य च प्रयोगसद्भावात्।

(र.करा. 7/53)

नयसप्तभङ्गी में भी प्रत्येक भङ्ग में 'स्यात्' व 'एव' पद–इन दोनों पदों का प्रयोग होता है।

० स्यात् अस्त्येव द्रव्यमिति वस्त्वेकदेशग्राहकत्वात् नयवाक्यम्।

(पंचा.ता.वृ. 14)

'स्यात् अस्ति एव द्रव्यम्' –यह नय वाक्य है, क्योंकि यह वस्तु के एकदेश का ग्राहक है।

० सत् –इति नयः।.....सद् इति उल्लेखनात् नयः। स हि 'अस्ति घटः' इत घटे स्वाभिमतमस्तित्वधर्मं प्रसाधयन् शेषधर्मेषु गजनिमीलिकामालम्बते। न चास्य दुर्नयत्वम्, धर्मान्तरातिरस्कारात्। न च प्रमाणत्वम्, स्यात्-शब्देन अलाञ्छितत्वात्।

(स्या.मं. 28)

'सत् है'–यह 'नय' (वाक्य) है।.....'सत्' यह वस्तु के एक अस्तित्व धर्म का उल्लेख करता है, अतः यह 'नय' है। यह नय वाक्य 'घड़ा है' इस कथन में अपने अभिप्रेत (विवक्षित) अस्तित्व धर्म को सिद्ध करता हुआ शेष धर्मों के प्रति 'गजनिमीलिका' का अवलम्बन लेता है (अर्थात् अपनी आंखें मीच लेता है। यह 'दुर्नय' वाक्य नहीं है, क्योंकि यह वाक्य अन्य धर्मों का तिरस्कार नहीं करता और न ही यह 'प्रमाण' है क्योंकि 'स्यात्' पद से युक्त नहीं है।)

० नयवाक्यमपि स्वविषये प्रवर्तमानं विधिप्रतिषेधाभ्यां सप्तभङ्गीमनुगच्छति, विकलादेशत्वात्, परमेतद्वाक्यस्य प्रमाणवाक्याद्विशेष इति द्रष्टव्यम्।

(जै.त.भा.नय परि., पृ. 65)

नय वाक्य भी अपने विषय में प्रवृत्त होता हुआ विधि और निषेध के द्वारा सप्तभङ्गी को प्राप्त होता है। वह विकलादेश रूप होता है। प्रमाणवाक्य से नयवाक्य की यही विशेषता है।

(द्रष्टव्य : विकलादेश, सप्तभंगी के भेद)

नयवाद

० यथैता न विप्रतिपत्तयोऽथ चाध्यवसायस्थानान्तराण्येतानि तद्वन्नयवादा इति।

(तत्त्व.भा. 1/35)

जिस प्रकार विभिन्न कथनों में कोई भी विप्रतिपत्ति–विवाद उपस्थित नहीं होते, और न अध्यवसाय स्थानों की भिन्नता ही विरुद्ध प्रतीत होती है, उसी प्रकार 'नयवाद' को समझना चाहिए।

० जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति णयवाया। जावइया णयवाया तावइया चेव परसमया।।

(सन्मति. 3/47)

जितने कथन के प्रकार हैं, उतने ही नयवाद हैं। जितने नयवाद हैं, उतने ही परसमय (अन्यमत, अन्य सिद्धान्त) हैं।

-

० आत्रिकामुत्रिकफलप्राप्त्युपायो नयः। स उच्यते कथ्यते अनेनेति नयवादः सिद्धान्तः।

(ध. 13, पृ. 287)

ऐहिक और पारलौकिक फल की प्राप्ति का उपाय 'नय' है। उसका वाद अर्थात् जो कथन है, उसे 'नयवाद' कहते हैं।

(द्रष्टव्य : परसमय, प्रवाद)

नयविधि

० नया नैगमादयः, ते विधीयन्ते निरूप्यन्ते सदसदादिरूपेणास्मिन्निति नयविधिः। अथवा नैगमादिनयैः विधीयन्ते जीवादयः पदार्था अस्मिन्निति नयविधिः।

(ध. 13, पृ. 284)

सत्, असत् आदि रूप से जहां नैगमादि नयों का निरूपण किया जाता है, उसे 'नयविधि' कहते हैं, अथवा जहां नैगमादि नयों के आश्रय से जीवादि पदार्थों का विधान किया जाता है, वह 'नयविधि' कहलाती है।

नयाभास

० पुनर्नैगमादयो निरपेक्षाः परस्परेण ते नयाभासा इति।

(तत्त्व.भा.वृ. 1/6)

और नैगम आदि नय जब परस्पर निरपेक्ष होते हैं तो वे 'नयाभास' होते हैं।

० निराकृतप्रतिपक्षस्तु नयाभासः।

(प्र.क.मा. 6/74)

प्रतिपक्ष का निराकरण करने वाले नय को 'नयाभास' कहते हैं।

० स्वाभिप्रेतादंशादितरांशापलापी पुनर्नयाभासः।

(प्र.न.त. 7/2)

अपने अभीष्ट अंश के अतिरिक्त अन्य अंशों का अपलाप करने वाला 'नयाभास' है।

० नयाभासो नयप्रतिबिम्बात्मा, दुर्नय इत्यर्थः। यथा तीर्थिकानां नित्यानित्याद्येकान्तप्रदर्शकं सकलं वाक्यम्।

(र.करा. 7/2)

नय के प्रतिबिम्ब स्वरूप वाले, अर्थात् दुर्नय को 'नयाभास' कहते हैं। जैसे–(अन्य) तीर्थिकों के नित्य या अनित्य आदि एकान्त कथन करने वाले सभी वाक्य 'नयाभास' हैं।

० पक्षीकृतांशादितरांशापलापी नयाभासः।

(भि.न्या. 5/21)

वस्तु के स्वीकृत धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों का अपलाप करने वाले विचार को 'नयाभास' कहा जाता है।

(द्रष्टव्य : मिथ्या एकान्त, मिथ्यानय)

नयों के फल

० यथा खल्वानन्तर्येण प्रमाणस्य संपूर्णवस्त्वज्ञान-निवृत्तिः फलमुक्तम्, तथा नयस्यापि वस्त्वेक-देशाज्ञाननिवृत्तिः फलमानन्तर्येणावधार्यम्। यथा च पारंपर्येण प्रमाण.स्योपादानहानोपेक्षाबुद्धयः संपूर्णवस्तुविषयाः फलत्वेनाभिहितास्तथा नयस्यापि वस्त्वंशविषयास्ताः परम्पराफलत्वेनावधारणीयाः।

(र.करा. 7/54)

जैसे प्रमाण का अनन्तर (साक्षात्) फल अज्ञान-निवृत्ति माना गया है, वैसे ही नय का भी साक्षात् फल वस्तु के एकदेश (अंश) सम्बन्धी अज्ञान की निवृत्ति जाननी चाहिए। जैसे प्रमाण का साक्षात् फल समग्र वस्तु का उपादान, हान या उपेक्षा भाव होना माना गया है, वैसे ही वस्तु के अंश के विषय में उपादान, हान, या उपेक्षा को नय का साक्षात् फल जानना चाहिए।

नाम निक्षेप

० नाम संज्ञाकर्म इत्यनर्थान्तरम्। चेतनावतोऽ-चेतनस्य वा द्रव्यस्य जीव इति नाम क्रियते, स नामजीवः।

(तत्त्व.भा. 1/5)

नाम और संज्ञाकर्म शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं। चेतनायुक्त अथवा अचेतन किसी भी द्रव्य की 'जीव' ऐसी संज्ञा रख देने को 'नाम जीव' कहते हैं।

० अतद्गुणे वस्तुनि संव्यवहारार्थं पुरुषाकारान्नि-युज्यमानं संज्ञाकर्म नाम।

(स.सि. 1/5/22)

संज्ञा के अनुसार गुणरहित वस्तु में व्यवहार के लिये अपनी इच्छा से की गई संज्ञा को 'नाम' कहते हैं।

० पज्जायाऽणभिधेयं ठिअमण्णत्थे तयत्थनिरवेक्खं। जाइच्छिअं च नाम जावदव्वं च पाएण।।

(विशे.भा. 25)

जो पर्याय से नहीं कहा जाता, जिसका सहभाव विवक्षित 'अर्थ से अन्य' या 'अन्वर्थ' में रहता है, जो (विवक्षित) अर्थ में निरपेक्ष होकर रहता है, या फिर यदृच्छा (अपनी मर्जी) से विवक्षित वस्तु के लिये दिया जाता है, और प्रायः (विवक्षित) द्रव्य की स्थिति तक जिसकी सत्ता रहती है, उसे 'नाम' निक्षेप कहते हैं।

० नीयते गम्यतेऽनेनार्थः नमति वाऽर्थमभिमुखी-करोतीति नाम।.....निमित्तान्तरानपेक्षं संज्ञाकर्मनाम। यथा परमैश्वर्यलक्षणेन्दनक्रियानिमित्तान्तरानपेक्षं कस्यचित् 'इन्द्रः' इति नाम।

(रा.वा. 1/5/1)

जिससे (किसी को) जाना जाय या जो पदार्थ को सामने लाता है, वह नाम निक्षेप है।..... अन्य किसी निमित्त की अपेक्षा न रख कर किसी की संज्ञा रख देना 'नाम' (निक्षेप) है।. ....जैसे– परमैश्वर्यस्वरूप वाला इन्दन-क्रिया (ऐश्वर्यवान् होने) के होने रूप अन्य निमित्त की अपेक्षा न रख कर किसी की 'इन्द्र' यह संज्ञा रख देना।

० तत्र निमित्तान्तरानपेक्षं संज्ञाकर्म नाम।
(लघी.वि. 7/73)
अन्य निमित्त की अपेक्षा न रखते हुये किसी की कोई संज्ञा कर देना 'नाम निक्षेप' है।

० संज्ञाकर्मानपेक्ष्यैव निमित्तान्तरमिष्टितः।
नामानेकविधं लोकव्यवहाराय सूत्रितम्।
(तत्त्व.श्लो. 1/5/1)
दूसरे निमित्तों की अपेक्षा नहीं करते हुए, वक्ता की इच्छा से लोक-व्यवहार हेतु अनेक प्रकार की संज्ञा करना—यह 'नामनिक्षेप' है।

० वस्तुन्यतद्गुणे खलु संज्ञाकरणं जिनो यथा नाम।
(पं. 1/742)
जिस वस्तु में उसके नाम के अनुसार गुण तो न हों, केवल व्यवहार चलाने के लिये उसका वैसा नाम रख देना 'नाम निक्षेप' है, जैसे किसी का 'जिन' नाम रख देना।

० तत्र प्रकृतार्थनिरपेक्षा नामार्थान्यतरपरिणतिर्नामनिक्षेपः।
(जै.त.भा.नि.परि., पृ. 68)
प्रकृत अर्थ की अपेक्षा न रखने वाली नाम या नाम वाले पदार्थ की परिणति 'नाम निक्षेप' है।

० तदर्थनिरपेक्षं संज्ञाकर्म नाम।
(जै.सि.दी. 9/43)
मूल शब्द के अर्थ की अपेक्षा न रखने वाले संज्ञाकरण को नाम-निक्षेप कहते हैं।

नास्तित्व

० नास्तित्वं नाम तेन तेनरूपेण अभवनमिष्यते, तेनरूपेण अभवनं च वस्तुनो धर्मः।
(षड्.समु.टी. 55/349)
नास्तित्व का अर्थ है—वस्तु का उस-उस रूप से न होना, उस-उस रूप से न होना—यह उस वस्तु का धर्म है।
(द्रष्टव्य : अनन्तधर्मात्मक, अभाव, स्वपरचतुष्टय,)

नास्तित्व सम्बन्ध

० द्रष्टव्य : सम्बन्ध के भेद, परपर्याय, स्वपर चतुष्टय)

नास्तिस्वभाव

० परस्वरूपेणाभावान्नास्तिस्वभावः।
(आ.प. 107)
परस्वरूप नहीं होना 'नास्तिस्वभाव' है।
(द्रष्टव्य : परपर्याय)

निक्षेप

० विस्तरेण लक्षणतो विधानतश्चाधिगमार्थे न्यासो निक्षेप इत्यर्थः।
(तत्त्व.भा. 1/5)
लक्षण और भेदों के द्वारा पदार्थों का ज्ञान जिससे विस्तार के साथ हो सके, ऐसे व्यवहार रूप उपाय को 'न्यास' अथवा 'निक्षेप' कहते हैं।

० णिक्खेओ वि उवाओ जुत्तीए अत्थपडिगहणं।।
(ति.प. 1/83)
युक्ति से पदार्थ को ग्रहण करने का उपाय 'निक्षेप' होता है।

० पदार्थानां नामादिनिक्षेपविधिर्नियोज्यः। स किमर्थः?

अप्रकृतनिराकरणाय प्रकृतनिरूपणाय च।

(स.सि. 1/5/22)

पदार्थों का नाम आदि निक्षेप विधि से कथन किसलिए किया जाता है? (उत्तर–) अप्रकृत (अर्थ) का निराकरण करने के लिये और प्रकृत (अर्थ) का निरूपण करने के लिए इसका कथन किया जाता है।

० निक्षिप्यत इति निक्षेपः स्थापना।

(स.सि. 6/9/626)

निक्षेप का अर्थ स्थापना अर्थात् रखना है।

० निक्षिप्यत इति निक्षेपः, अथवा.....निक्षिप्तिर्निक्षेपः।

(रा.वा. 6/9/1)

जो निक्षिप्त होता है, जिसका निक्षेपण किया जाता है, वह अथवा 'निक्षेपण' निक्षेप है।

० णिच्छये णिण्णए खिवदि त्ति णिक्खेवो।

(ध. 1, पृ. 10)

जो किसी एक निश्चय या निर्णय में क्षेपण करता है, अर्थात् अनिर्णीत वस्तु का उसके नामादिक द्वारा निर्णय करता है, उसे 'निक्षेप' कहते हैं।

० संशय-विपर्य्ययानध्यवसायस्थितं जीवं निश्चये क्षिपतीति निक्षेपः, अप्रकृतापोहनमुखेन प्रकृत-प्ररूपणाय अर्प्पितवाचकस्य वाच्यप्रमाण-प्रतिपादनं वा निक्षेपः।

(ध. 13, पृ. 38)

जो संशय, विपर्य्यय और अनध्यवसाय में स्थित जीव को किसी एक निर्णय पर पहुँचाता है, उसे 'निक्षेप' कहते हैं। या अप्रकृत अर्थ के निराकरण द्वारा प्रकृत अर्थ का कथन करने के लिये मुख्य वाचक के वाच्यार्थ की प्रमाणता का प्रतिपादन करता है, उसे 'निक्षेप' कहते हैं।

० संशय-विपर्ययानध्यवसायेभ्योऽपसार्य निश्चये क्षिपतीति निक्षेपः बाह्यार्थविकल्पप्ररूपको वा।

(ध. 13, पृ. 198)

संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रूप विकल्प से हटाकर जो निश्चय में स्थापित करता है, उसे 'निक्षेप' कहते हैं। अथवा बाह्य अर्थ के सम्बन्ध में जितने विकल्प होते हैं, उनका जो कथन करता है, उसे 'निक्षेप' कहते हैं।

० या निमित्तान्तरं किञ्चिदनपेक्ष्य विधीयते। द्रव्यस्य कस्यचित्संज्ञा तन्नाम परिकीर्तितम्।।

(तत्त्वा. 1/10)

जाति, गुण, क्रिया आदि किसी अन्य निमित्त की अपेक्षा न कर, किसी द्रव्य की जो संज्ञा रखी जाती है, वह 'नाम निक्षेप' कहा गया है।

० तदधिगतानां श्रुतनयाधिगतानां द्रव्यपर्यायरूपाणां जीवादीनां वाच्यताम् आपन्नानां साधारण-स्वरूपाणाम्.....वाचकेषु जीवादिशब्देषु भेदेन संकर-व्यतिकरव्यतिरेकेण उपन्यासः, जीवाद्यर्थानां प्ररूपणं न्यासः निक्षेप इति यावत्।

(न्या.कु. 7/76)

श्रुतनय से ज्ञात किये गये द्रव्य–पर्याय रूप जीव आदि पदार्थों के वाचक जीव आदि शब्दों में भेदपूर्वक अर्थात् सांकर्य व व्यतिकर दोष को टालते हुए उपन्यास करना–जीवादि पदार्थों का प्ररूपण करना–यह 'न्यास' या 'निक्षेप' होता है।

० प्रकरणादिवशेनाप्रतिपत्त्यादिव्यवच्छेदकयथा-स्थानविनियोगाय शब्दार्थरचनाविशेषा निःक्षेपाः।

(जै.त.भा.नि.परि., पृ. 68)

शब्द और अर्थ की ऐसी विशेष रचना 'निक्षेप' कहलाती है, जिससे प्रकरण आदि के अनुसार अप्रतिपत्ति आदि का निवारण होकर उनका यथास्थान विनियोग होता है।

० पदार्थानां वाचकेषु भेदेनोपन्यासो निक्षेपः।

(जै.सि.दी. 9/41)

जीवादि पदार्थों का उनके वाचकों में यथोचित भेद पूर्वक आरोप करने को 'निक्षेप' कहते हैं।

० शब्देषु विशेषणबलेन प्रतिनियतार्थप्रतिपादन-शक्तेर्निक्षेपणं निक्षेपः।

(जै.सि.दी. 10/42)

शब्दों में विशेषण के द्वारा प्रतिनियत अर्थ का प्रतिपादन करने की शक्ति निहित करने को 'निक्षेप' कहा जाता है।

निक्षेप के भेद

० नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः। तद्यथा-नामजीवः स्थापनाजीवो द्रव्यजीवो भावजीव इति।

(तत्त्व.भा. 1/5)

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव से जीव आदि का जो न्यास होता है, उसे 'निक्षेप' कहते हैं। जीव शब्द का न्यासपूर्वक व्यवहार चार प्रकार से हो सकता है—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। इन्हीं को क्रम से 'नाम जीव', 'स्थापना जीव', 'द्रव्य जीव' और 'भाव जीव' कहते हैं।

० ते च सामान्यतश्चतुर्धा-नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात्।

(जै.त.भा.नि.परि., पृ. 68)

सामान्यतः निक्षेप के चार भेद हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।

निगमन

० प्रतिज्ञायास्तु निगमनम्।।

(प.मु. 3/47)

'प्रतिज्ञा' के उपसंहार को 'निगमन' कहते हैं।

० साध्यधर्मस्य पुनर्निगमनम्।।
यथा—तस्मादग्निरत्र।।

(प्र.न.त. 3/51–52)

साध्य का पक्ष में दोहराना 'निगमन' कहलाता है। जैसे—'इसलिए, यहाँ अग्नि' हैं।

० साध्यस्य निगमनम्।।

(प्र.मी. 2/1/15; भि.न्या. 3/28)

साध्य के सद्भाव का पक्ष में दोहराना 'निगमन' है।

० साध्यधर्मस्य धर्मिण्युपसंहारो निगम्यते, पूर्वे-षामवयवानामर्थोऽनेन इति निगमनम्। यथा—तस्मादग्निमानिति।

(प्र.मी. 2/1/15)

साध्य धर्म का धर्मी (पक्ष) में उपसंहार किया जाता है अर्थात् पूर्वोक्त समस्त अवयवों का प्रयोजन जिससे निश्चित होता है, उसे 'निगमन' जानना चाहिए। जैसे—"इसलिए यह (पर्वत, पक्ष) अग्नि (रूपी साध्य) वाला है"।

० उक्तोपसंहारार्थं प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्।

(प्र.प्र. 1/21)

कहे गये अनुमान के उपसंहार के लिये प्रतिज्ञा को पुनः कहना–यह 'निगमन' है।

० साध्यधर्मस्य पुनर्निगमनम्।

(र.करा. 3/51)

साध्यधर्म अर्थात् प्रतिज्ञा वाक्य को पुनः कहना ही 'निगमन' है।

० साधनानुवादपुरस्सरं साध्यनियमवचनं निगमनम्।

(न्या.दी. 3/72)

साधन को दोहराते हुए साध्य के निश्चयरूप वचन को 'निगमन' कहते हैं।

० प्रतिज्ञायास्तूपसंहारो निगमनम्।

(षड्.समु.टी. 55/318)

पक्ष में हेतु की सत्ता का उपसंहार करके प्रतिज्ञा-'साध्य के सद्भाव' को दुहराना 'निगमन' कहलाता है।

निगमनाभास

० उक्तलक्षणोल्लंघनेनोपनयनिगमनयोर्वचने तदाभासौ।

तस्मिन्नेव प्रयोगे तस्मात् 'कृतकः शब्दः' इति, तस्मात् परिणामी कुम्भः इति'।।

(प्र.न.त. 6/80,82)

(साध्य का पक्ष में दोहराना 'निगमन' कहलाता है) इस लक्षण का उल्लंघन करके निगमन बोलने से 'निगमनाभास' हो जाता है। जैसे, (शब्द परिणामी है, क्योंकि वह कृतक है) इस अनुमान में 'इसलिए शब्द कृतक है' अथवा 'इसलिए घट परिणामी है' ऐसा कहना 'निगमनाभास' है।

० अत्रापि साधनधर्मं साध्यधर्मिणि साध्यधर्मं वा दृष्टान्तधर्मिणि उपसंहरतो निगमनाभासः।

(र.करा. 6–82)

साधन धर्म के साध्यधर्मी में या साध्य धर्म के दृष्टान्त धर्मी में उपसंहार करने को 'निगमनाभास' कहते हैं।

निग्रहस्थान

० स निग्रहो वादिप्रतिवादिनोः।

स पराजय एव वादिप्रतिवादिनोः निग्रहः, न वधबन्धादिः। अथवा स एव स्वपक्षासिद्धिरूपो निग्रहहेतुत्वात्।

(प्र.मी. 2/1/33)

वह पराजय (अर्थात् अपने–अपने पक्ष की सिद्धि न कर पाना) ही वादी व प्रतिवादी के लिए निग्रहस्थान है। अथवा अपने पक्ष की सिद्धि न होना रूप पराजय ही निग्रह का कारण होने से 'निग्रह' कहलाता है, अन्य कुछ नहीं।

० वादिप्रतिवादिनोः अन्यतरस्य पराजयनिमित्तं निग्रहस्थानम्। प्रतिज्ञाहानिः, प्रतिज्ञान्तरम्, प्रतिज्ञाविरोधः, प्रतिज्ञासंन्यासः, हेत्वन्तरम्, अर्थान्तरम्, निरर्थकम्, अविज्ञातार्थम्, अपार्थकम्, अप्राप्तकालम्, हीनम्, अधिकम्, पुनरुक्तम्, अननुभाषणम्, अज्ञानम्, अप्रतिभा, विक्षेपः, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षणम्, निरनुयोज्यानुयोगः, अपसिद्धान्तः, हेत्वाभासाश्च –इति द्वाविंशतिनिग्रहस्थानानि।

(प्र.प्र. 1/70)

वादी और प्रतिवादी में से किसी एक के पराजय का जो कारण होता है, उसे 'निग्रहस्थान' कहते हैं। प्रतिज्ञाहानि,

प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञासंन्यास, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, अप्राप्तकाल, हीन, अधिक, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षण, निरनुयोज्यानुयोग, अपसिद्धान्त, हेत्वाभास–ये बाईस (न्याय दर्शन में मान्य) निग्रहस्थान होते हैं।

नित्य

० तद्भावाव्ययं नित्यम्।।

यत् सतो भावान्न व्येति न व्येष्यति तन्नित्यमिति।

(तत्त्व.भा. 5/30)

नित्य शब्द का अर्थ है–सत् के भाव-भवन-परिणमन का अव्यय यानी अविनाश। जो सत् के भाव से न नष्ट हुआ है और न होगा, उसको 'नित्य' कहते हैं।

० भवनं भावः, तस्य भावस्तद्भावः, येनात्मना प्राग्दृष्टं वस्तु तेनैवात्मना पुनरपि भावात् तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञायते। ततः तद्भावेनाव्ययं तद्भावाव्ययम् नित्यमिति निश्चीयते।

(रा.वा. 5/31/1)

वस्तु का होना, होते रहना–यह उसका भाव ही 'तद्भाव' है। जिस स्वरूप से वस्तु पहले देखी थी, उसी रूप में फिर से होने के कारण यह प्रत्यभिज्ञान होता है कि यह वस्तु वही है। इस प्रकार, उसी भाव से नष्ट न होने वाला (पदार्थ) 'नित्य' है–यह निश्चित होता है।

० तद्भावाव्ययं नित्यम्–इति तु सत्यं नित्य-लक्षणम्। उत्पादविनाशयोः सद्भावेऽपि तद्-भावात् अन्वयिरूपात् यत् न व्येति, तन्नित्यमिति।

(स्या.मं. 5)

'तद्भावाव्ययं नित्यम् (त.सू. 5/30) यह लक्षण नित्य का सत्य है। जो उत्पाद व विनाश के होते हुए भी अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता, वहीं 'नित्य' है।

० सतोऽप्रच्युतिर्नित्यम्।

(जै.सि.दी. 9/33)

सत् की अप्रच्युति-नष्ट न होने को 'नित्य' कहते हैं।

नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय

० सत्तासापेक्षस्वभावो नित्याशुद्धपर्यायार्थिकः, यथा एकस्मिन् समये त्रयात्मकः पर्यायः।

(आ.प. 61)

ध्रौव्य की अपेक्षा सहित ग्रहण करने वाला नय नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय है। जैसे एक समय में पर्याय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक (द्रव्य) है।

नित्यता

तद्भावाव्ययो नित्यत्वम्। येन भावेन उपलक्षितं द्रव्यं तस्य भावस्याऽव्ययो नित्यत्वमुच्यते।

(रा.वा. 5/4/2)

द्रव्य जिस–जिस भाव (सामान्य व विशेष लक्षण) से उपलक्षित है–जाना जाता है, उस–उस भाव का नष्ट न होना–यही 'नित्यता' है।

नित्य शुद्धपर्यायार्थिक नय

० कर्मोपाधिनिरपेक्षस्वभावो नित्यशुद्धपर्यायार्थिकः यथा सिद्धपर्यायसदृशाः शुद्धाः संसारिणां पर्यायाः।

(आ.प. 62)

कर्मोपाधि (कर्मबन्धन) से निरपेक्ष ग्रहण करने वाला नय नित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय है। जैसे संसारी जीवों की पर्याय सिद्ध समान शुद्ध है।

नित्यसमा जाति (दूषणाभास, जात्युत्तर के भेद)

० साध्यधर्मनित्यानित्यत्वविकल्पेन शब्दनित्यत्वापादनं नित्यसमा जातिः। यथा अनित्यः शब्द इति प्रतिज्ञाते जातिवादी विकल्पयति-येयमनित्यता शब्दस्योच्यते सा किमनित्या नित्या वेति? यद्यनित्या तदियमवश्यमपायिनीत्य-नित्यताया अपायान्नित्यः शब्दः। अथा–नित्यता नित्यैव; तथापि धर्मस्य नित्यत्वात्तस्य च निराश्रयस्यानुपपत्तेस्तदाश्रयभूतः शब्दोऽपि नित्यो भवेत्, तदनित्यत्वे तद्धर्मनित्यत्वायोगा-दित्युभयथापि नित्यः शब्द इति।

(प्र.मी. 2/1/29)

साध्य धर्म में नित्यता और अनित्यता का विकल्प करके शब्द की नित्यता का उपस्थापन करना नित्यसमा जाति है। यथा–'शब्द अनित्य है' इस प्रकार प्रतिज्ञा का प्रयोग करने पर जातिवादी विकल्प करता है–आप शब्द की जो अनित्यता कहते हो सो वह अनित्यता अनित्य है या नित्य? यदि अनित्य है तो अवश्य ही नष्ट होने वाली है और अनित्यता जब नाशशील है तो शब्द नित्य होगा। अगर शब्द की अनित्यता नित्य है तो धर्म नित्य होने से धर्मी भी नित्य होना चाहिए, क्योंकि धर्मी के बिना निराधार धर्म रह नहीं सकता। यदि शब्द अनित्य होता तो उसका धर्म (अनित्यत्व) नित्य नहीं हो सकता था। इस प्रकार दोनों तरह से शब्द की नित्यता ही सिद्ध होती है।

० पक्षस्यानित्यधर्मस्य नित्यत्वापादनेन प्रत्यवस्थानं नित्यसमा जातिः।

(प्र.प्र. 1/67)

पक्ष के अनित्य गुण-धर्म को नित्य बतलाकर उत्तर देना यह 'नित्यसमा' जाति (दूषणाभास) होती है।

नित्यस्वभाव

० निज-निज-नानापर्यायेषु तदेवेदमिति द्रव्यस्यो-पलम्भान्नित्यस्वभावः।

(आ.प. 108)

अपनी-अपनी नाना पर्यायों में 'यह वही है', इस प्रकार द्रव्य की प्राप्ति 'नित्यस्वभाव' है।

निदर्शन

० निश्चयेन दर्श्यतेऽनेन दार्ष्टान्तिक एवार्थ इति निदर्शनम्।

(दश.नि.हरि.वृ. 1/52 पृ. 34)

जहां पर दार्ष्टान्तरूप अर्थ को निश्चय से दिखाया जाता है, उसे 'निदर्शन' (दृष्टान्त) कहते हैं।

निमित्त कारण

० साक्षात् साहाय्यकारि निमित्तम्।

(भि.न्या. 3/38)

साक्षात् सहायता करने वाले कारण को 'निमित्त कारण' कहते हैं।

(द्रष्टव्यः कारण के भेद)

निमित्त के पर्याय

० पूर्वं निमित्तं कारणम्–इत्यनर्थान्तरम्।

(स.सि. 1/20/206)

पूर्व, निमित्त, कारण–ये एकार्थक हैं।

निमित्तकारण के भेद

० निमित्तकारणं च द्वेधा-निमित्तकारणमपेक्षाकारणं च। यत्र दण्डादिषु प्रायोगिकी वैस्रसिकी च क्रिया भवति, तानि दण्डादीनि निमित्तकारणम्। यत्र तु धर्मादिद्रव्येषु वैस्रसिक्येव क्रिया, तानि निमित्तकारणान्यपि विशेषकारणताज्ञापनार्थम् अपेक्षाकारणान्युच्यन्ते।

(षड्.समु.टी. 49/168)

निमित्त कारण दो प्रकार के होते हैं– एक तो 'शुद्ध निमित्तकारण' तथा दूसरे 'अपेक्षा निमित्त कारण'। जिन निमित्त कारणों में स्वाभाविक तथा कर्त्ता के प्रयोग से क्रिया होती है, वे दोनों प्रकार की क्रिया वाले दण्ड आदि कारण शुद्ध निमित्त–कारण हैं। परन्तु जिन धर्मास्तिकाय आदि में केवल स्वाभाविक ही परिणमन होता हो, कर्त्ता के प्रयोग से जिसमें क्रिया की संभावना न हो, वे निमित्तकारण 'अपेक्षा कारण' कहलाते हैं। यद्यपि साधारण रूप से 'अपेक्षा कारण' भी निमित्त कारण ही हैं, पर उनमें केवल स्वाभाविक परिणमन रूप विशेषता होने के कारण ये 'अपेक्षा कारण' कहे जाते हैं।

नियतार्थवाद

० हेतुदृष्टान्तदोषेषु प्रतिज्ञातैकदोषतः।
नियतार्थः प्रतिज्ञातकक्षायां भङ्गवाहनम्।।

(प्र.प्र. 1/97)

हेतु अथवा दृष्टान्त के दोषों में किसी एक दोष (को बतलाने) की प्रतिज्ञा करने पर उस प्रतिज्ञा की परिधि में (प्रतिपक्षी की बात को) निरस्त करना–यह 'नियतार्थवाद' है।

निरनुयोज्यानुयोग निग्रहस्थान

० अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानानुयोगो निरनुयोज्यानुयोगः।

(प्र.मी. 2/1/34)

निग्रहस्थान को प्राप्त न होने पर भी निग्रहस्थान प्राप्ति का आरोप लगाना–यह 'निरनुयोज्यानुयोग' निग्रहस्थान कहलाता है।

० दोषरहितस्य दोषोद्भावनं निरनुयोज्यानुयोगो नाम निग्रहस्थानम्।

(प्र.प्र. 1/83)

निर्दोष कथन में दोष बतलाना–यह 'निरनुयोज्यानुयोग' नाम का निग्रह स्थान होता है।

निरर्थक निग्रहस्थान

० अभिधेयरहितवर्णानुपूर्वीप्रयोगमात्रं निरर्थकं नाम निग्रहस्थानं भवति।

(प्र.मी. 2/1/34)

अर्थहीन कुछ वर्णों की आनुपूर्वी का प्रयोग करना– यह 'निरर्थक' नामक निग्रहस्थान होता है।

० अर्थरहितशब्दमात्रोच्चारणं निरर्थकं नाम निग्रहस्थानम्।

(प्र.प्र. 1/77)

बिना अर्थ के केवल ध्वनि का उच्चारण करना –यह 'निरर्थक' नाम का निग्रहस्थान है।

निराकार उपयोग

० यद् विशेषमकृत्वैव गृह्यते वस्तुमात्रकम्।
निराकारं ततः प्रोक्तं दर्शनं विश्वदर्शिभिः।।

(तत्त्वा. 2/12)

दर्शन वस्तु की विशेषता को ग्रहण नहीं, करता है, वह सामान्य रूप से वस्तु को ग्रहण करता है, इसलिए सर्वदर्शी भगवान् ने उसे 'निराकार' (निर्विकल्प) कहा है।
(द्रष्टव्य : अनाकार उपयोग, दर्शन)

निराकार उपयोग के भेद

० चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदृग्विषयस्त्वनाकारः।

(प्रशम. 195)

चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन व केवलदर्शन –ये (चार) अनाकार या निराकार उपयोग हैं।

निर्णय

० साधनोपालम्भजन्मा तत्त्वावबोधो निर्णयः।

(न्या.कु. 2/7)

साधनों की उपलब्धि से होने वाला तत्त्व का ज्ञान 'निर्णय' है।

० निर्णयः संशयाऽनध्यवसायाविकल्पकत्वरहितं ज्ञानम्।

(प्र.मी. 1/1/2)

संशय, अनध्यवसाय (अनिश्चय) और अविकल्प से रहित ज्ञान 'निर्णय' कहा जाता है।

० ऊर्ध्वं संदेहतर्काभ्यां प्रत्ययो निर्णयो मतः।।

(षड्.समु. 28)

सन्देह व तर्क के अनन्तर होने वाला प्रत्यय 'निर्णय' कहा जाता है।
(द्रष्टव्य : निश्चय, व्यवस्था)

निर्देश

० वस्तुस्वरूपकथनं निर्देशः।

(न्या.कु. 7/75)

वस्तु के स्वरूप का कथन करना 'निर्देश' है।

निर्वर्तक कारण

० (द्रष्टव्यः कारण के भेद)

निर्विकल्प ज्ञान

० निर्विकल्पं मनोरहितं केवलज्ञानम्।

(आ.प. 180)

मनरहित अथवा विचार या इच्छा रहित ज्ञान 'निर्विकल्प' ज्ञान होता है। केवलज्ञान 'निर्विकल्प' ज्ञान होता है।

निश्चय

० समादोषो हि येन व्यवच्छिद्यते, स निश्चयः।

(अष्टस. 16, पृ. 141)

जिससे समारोप (संशय, विपर्यय व अनध्यवसाय) का उच्छेद हो जाय, वह 'निश्चय' है।
(द्रष्टव्य : ज्ञान, निर्णय)

निश्चय नय (अध्यात्म)

० अभिन्नकर्तृकर्मादिविषयो निश्चयो मतः।

(तत्त्व.अनु. 29)

जिस में कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान आदि का व्यक्तित्व एक–दूसरे से भिन्न नहीं होता, वह 'निश्चय' नय होता है।

० अभेदानुपचारतया वस्तु निश्चीयत इति निश्चयः।

(आ.प. 204)

जो अभेद व अनुपचार से वस्तु का निश्चय करता है, वह 'निश्चय नय' है।

० निश्चयनयोऽभेदविषयः।

(आ.प. 216)

निश्चय नय का विषय अभेद द्रव्य है।

० आत्माश्रितो निश्चयनयः।

(स.सा.आ.ख्या. 272)

जो नय आत्मा (वस्तु के निज स्वरूप) पर आश्रित होता है, वह 'निश्चय नय' कहलाता है।

० तात्त्विकार्थाभ्युपगमपरस्तु निश्चयः, स पुनर्मन्यते पंचवर्णो भ्रमरः, बादरस्कन्धत्वेन तच्छरीरस्य पंचवर्णपुद्गलैर्निष्पन्नत्वात्।

(जै.त.भा.नय परि., पृ. 63)

तात्त्विक पदार्थ को स्वीकार करने वाला नय 'निश्चय नय' कहलाता है। निश्चयनय की मान्यता के अनुसार भ्रमर में पाँचों वर्ण विद्यमान हैं, क्योंकि उसका शरीर बादर स्कन्ध होने के कारण पाँचों वर्णों के पुद्गलों से बना हुआ होता है।

० तात्त्विकार्थाभिधायी निश्चयः। यथा भ्रमरः पञ्चवर्णः।

(जै.सि.दी.स्वो.व्या. 9/26)

तात्त्विक अर्थ का कथन करने वाले विचार को निश्चय नय कहते है; जैसे–भौंरा पांच वर्ण वाला है–यह कथन या विचार।

० तात्त्विकार्थाभ्युपगमपरो निश्चयः।

(भि.न्या. 5/18)

तात्त्विक अर्थ को स्वीकार करने वाले विचार को 'निश्चय नय' कहा जाता है।

निश्चय नय के भेद

० तत्र निश्चयो द्विविधः शुद्धनिश्चयोऽशुद्धनिश्चयश्च।

(आ.प. 217)

निश्चय नय दो प्रकार का है–शुद्धनिश्चय और अशुद्ध निश्चय नय।

० निश्चयो द्विविधस्तत्र शुद्धाशुद्धविभेदतः।

(द्रव्य.तर्क. 8/1)

निश्चय नय दो प्रकार का कहा गया है; शुद्ध निश्चय नय तथा अशुद्ध निश्चय नय।

निश्चयनयाभास

० तत्त्वमभ्युपगम्य व्यवहारप्रतिक्षेपी निश्चयाभासः।

(जै.त.भा.नय परि., पृ. 67)

(स्व) 'तत्त्व' को अंगीकार करके लोक व्यवहार का निषेध करने वाला 'निश्चयनयाभास' होता है।

निश्चितविपक्षवृत्ति (अनैकान्तिक हेत्वाभास)

० निश्चितवृत्तिरनित्यः शब्दः प्रमेयत्वाद् घटवत्। आकाशे नित्येऽप्यस्य निश्चयात्।।

(प.मु. 6/31–32)

"शब्द अनित्य है; क्योंकि वह प्रमेय है, अर्थात् प्रमाण का विषय है। जो प्रमेय होता है, वह अनित्य होता है; जैसे घट।" यह निश्चित विपक्षवृत्ति अनैकान्तिक हेत्वाभास का उदाहरण है, क्योंकि नित्य आकाश में भी इस प्रमेयत्व हेतु का रहना निश्चित है।

निषेधसाधक अविरुद्धानुपलब्धि

० तत्राविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधावबोधे सप्तप्रकारा।। प्रतिषेध्येनाविरुद्धानां स्वभाव-व्यापक-कार्य-कारण- पूर्वचरोत्तरचरसहचराणामनुपलब्धिः।।

(प्र.न.त. 3/94–95)

निषेध सिद्ध करने वाली अविरुद्धानुपलब्धि सात प्रकार की है। प्रतिषेध्य से–

1. अविरुद्धस्वभावानुपलब्धि,
2. अविरुद्धव्यापकानुपलब्धि,

3. अविरुद्ध कार्यानुपलब्धि,
4. अविरुद्धकारणानुपलब्धि,
5. अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धि,
6. अविरुद्ध उत्तरचरानुपलब्धि,
7. अविरुद्धसहचरानुपलब्धि।

नैगम नय

० नेगेहिं माणेहिं मिणइ त्ति नेगमस्स य निरुत्ती।
(अनु.सू. 13/715(1); विशे.भा. 2182)
जो अनेक प्रमाणों (मानदण्डों) से वस्तु का ज्ञान करता है, वह नैगम है–यह 'नैगम' पद की निरुक्ति है।

० निगमेषु येऽभिहिताः शब्दाः, तेषामर्थः, शब्दार्थपरिज्ञानं च देशसमग्रगाही नैगमः।..... नैगमशब्दार्थानाम्, एकानेकार्थनयगमापेक्षः। देशसमग्रग्राही व्यवहारी नैगमो ज्ञेयः।।
(तत्त्व.भा. 1/35)
निगम यानी जनपद देश, वहाँ जो शब्द बोले जाते हैं, और जो अर्थ उनके नियत हैं, उन (शब्द व अर्थ के सम्बन्ध) को जानना 'नैगम नय' है। वह देशग्राही व समग्रग्राही (इस तरह दो प्रकार का) होता है। निगम (जनपद आदि) में प्रयुक्त शब्द व अर्थों के एक (सामान्य) व अनेक (विशेष) अंशों को जानने की अपेक्षा रखकर देशग्राही व समग्रग्राही रूप से व्यवहार करने वाला 'नैगम नय' होता है।

० अनभिनिर्वृत्तार्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः।
(स.सि. 1/32/241)
अनिष्पन्न अर्थ में संकल्प मात्र को ग्रहण करने वाला नय 'नैगम' है।

० लोगत्थनिबोहा वा निगमा तेसु कुसलो भवो वाऽयं। अहवा जं नेगगमोऽणेगपहो णेगमो तेणं।।
(विशे.भा. 2187)
निगम का अर्थ है–जीवादि पदार्थों का अनेक प्रकार से बोध। ऐसे निगम में जो कुशल होता है, वह नैगम है। अथवा निगम का अर्थ है– पदार्थ को जानने के अनेक मार्ग। उसमें कुशल होने से उसे नैगम (नय) कहा जाता है।

० अर्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः। निगच्छन्ति तस्मिन्निति निगमनमात्रं वा निगमः, निगमे कुशलो भवो वा नैगमः।.....तद्यथा-कश्चित् प्रगृह्य परशुं पुरुषं गच्छतन्तमभिसमीक्ष्याह 'किमर्थं गच्छति भवान्' इति ? स तस्मै आचष्टे प्रस्थार्थमिति।.....तथा 'कतरोऽत्र गमी' इत्युक्ते आचष्टे– 'अहं गमी', इति संप्रत्यगच्छत्यपि गमीति व्यवहारः। एवं प्रकारोऽन्योऽपि नैगमनयस्य विषयः।
(रा.वा. 1/33/2)
अर्थ (पदार्थ) सम्बन्धी के संकल्प को ग्रहण करने वाला 'नैगम नय' होता है। जिसमें अनेक प्रकार का बोध होता है या अनेक प्रकार का बोध होना–यह 'निगम' है। इसमें जो कुशल है या जो होता (विद्यमान) है, वह 'नैगम' है।.....जैसे प्रस्थ बनाने के निमित्त से जंगल में लकडी लेने जाने वाले फरसाधारी किसी पुरुष से किसी ने पूछा–'आप कहां जा रहे हों ? तो वह उत्तर देता है कि 'प्रस्थ के लिए'।.....अथवा –'यहां कौन जा रहा है ?'' ऐसा पूछने पर (बैठा हुआ) कोई व्यक्ति कहे कि मैं जा रहा हूँ –इत्यादि व्यवहार (लोक में) होते हैं। इसी प्रकार न

जा रहे व्यक्ति में भी 'जा रहा है' यह व्यवहार तथा इसी तरह के अन्य भी व्यवहार नैगम नय के विषय है।

० अन्योन्यगुणभूतैकभेदाभेदप्ररूपणात् नैगमः।

(लघी. 5/39)

जो भेद और अभेद में से परस्पर एक को गौण और एक को प्रधान करके कहता है, वह 'नैगम नय' है।

० गुणप्रधानभावेन धर्मयोरेकधर्मिणि। विवक्षा नैगमः।

(लघी. 6/68)

एक द्रव्य में दो धर्मों की गौणता और मुख्यता से कहने का जो अभिप्राय है, वह 'नैगम नय' है।

० स्वलक्षणभेदाभेदयोः अन्यतरस्य प्ररूपणायाम् इतरो गुणः स्यात् इति नैगमः।

(लघी.वि. 5/39)

स्वलक्षण भेद या अभेद में किसी एक की (मुख्यतः) प्ररूपणा करते समय दूसरे को गौण रखा जाय– ऐसा अभिप्राय 'नैगम नय' होता है।

० तत्र संकल्पमात्रस्य ग्राहको नैगमो नयः।
सोपाधिरित्यशुद्धस्य द्रव्यार्थस्याभिधानतः।।
संकल्पो निगमस्तत्र भवोऽयं तत्प्रयोजनः।
तथा प्रस्थादिसंकल्पः तदभिप्राय इष्यते।।
यद्वा नैकं गमो योऽत्र स सतां नैगमो मतः।
धर्मयोर्धर्मिणो वापि विवक्षा धर्मधर्मिणोः।।

(तत्त्व.श्लो. 1/33/17–18, 21)

इन (नयों) में संकल्प मात्र का ग्राहक नैगम नय होता है। वह अशुद्ध द्रव्यस्वरूप अर्थ का कथन कर देने से क्वचित् संकल्पित पदार्थ की उपाधि से सहित होता है। निगम यानी संकल्प, उसमें होने वाला या संकल्प रूप प्रयोजन वाला नैगम नय होता है, जैसे–प्रस्थ आदि का संकल्प उस (नय) का अभिप्राय (प्रयोजन) होता है। अथवा 'न एकं गमः' नैगमः–इस व्युत्पत्ति के अनुसार धर्म व धर्मी में से एक ही अर्थ को नहीं जानता है, अपितु गौण प्रधान भाव से धर्म, धर्मी दोनों को विषय करता है, इसे सत्पुरुषों ने नैगम नय कहा है।

० द्रव्ययोः पर्याययोर्द्रव्य-पर्याययोर्वा गुणप्रधानभावेन विवक्षायां नैगमत्वात्, नैकं गमो नैगम इति निर्वचनात्।

(अष्टस. 104, पृ. 287)

दो द्रव्यों, दो पर्यायों, या द्रव्य व पर्याय–इन दोनों में गौण व मुख्यता की विवक्षा में, 'नैगम' नय होता है, क्योंकि 'नैगम' की व्युत्पत्ति ही यह है कि जो किसी एक पर गमन न करे।

० यदस्ति न तद् द्वयमतिलंघ्य वर्तते इति संग्रह-व्यवहारयोः परस्परविभिन्नोभयविषयालम्बनो नैगम-नयः, शब्दशील-कर्म-कार्यकारणाधाराधेयभूत-भविष्यद्वर्तमान-मेयोन्मेयादिकमाश्रित्य स्थितोपचार-प्रभव इति यावत्।

(ध. 9, पृ. 171; ज.ध. 1, पृ. 201)

'जो है, वह भेद व अभेद दोनों का उल्लंघन कर नहीं रहता', इस प्रकार संग्रह और व्यवहार नयों के परस्पर भिन्न (भेदाभेद) दो

विषयों का अवलम्बन करने वाला नैगम नय है। अभिप्राय यह है कि जो शब्द शील, कर्म, कार्य, कारण, आधार, आधेय, भूत, भविष्यत् वर्तमान, मेय व उन्मेयादिक का आश्रय कर स्थित उपचार से उत्पन्न होने वाला है, वह 'नैगम' नय कहा जाता है।

० नैकगमो नैगमः, द्रव्य-पर्यायद्वयं मिथो विभिन्न-मिच्छन् नैगम इति यावत्।

(ध. 13, पृ. 199)

जो एक को नहीं प्राप्त होता, वह 'नैगम' है। जो द्रव्य और पर्याय–इन दोनों को आपस में अलग-अलग स्वीकार करता है, वह नैगम है।

० यदस्ति न तद् द्वयमतिलंघ्य वर्तत इति नैकगमो नैगमः।

(ध. 15, पृ. 24)

जो विद्यमान है वह (भे व अभेद इन) दोनों का उल्लंघन करके नहीं रहता' इस कारण जो उन दोनों में से किसी एक को विषय न करके, विवक्षा-भेद से दोनों को ही विषय करता है, वह 'नैगम नय' कहा जाता है।

० अर्थसंकल्पमात्रस्य ग्राहको नैगमो नयः।

(तत्त्वा. 1/44)

जो नय पदार्थ के संकल्पमात्र को ग्रहण करता है, वह 'नैगम' नय है।

० नैकं गच्छतीति निगमः निगमो विकल्पस्तत्र भवो नैगमः।

(आ.प. 196)

जो एक को प्राप्त नहीं होता अर्थात् अनेक को प्राप्त होता है, वह निगम है। निगम का अर्थ विकल्प (भी) है। जो विकल्प को ग्रहण करे, वह 'नैगम नय' है।

० तत्रानिष्पन्नार्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः। निगमो हि संकल्पस्तत्र भवस्तत्प्रयोजनो वा नैगमः।

(प्र.क.मा. 6/74)

जो पदार्थ अभी बना नहीं है, उसके संकल्प मात्र को जो ग्रहण करता है, वह नैगम नय हैं। संकल्प को 'निगम' कहते हैं, उसमें जो होवे, वह नैगम होता है, अथवा निगम अर्थात् संकल्प जिसका प्रयोजन है, वह 'नैगम' कहलाता है।

० स्वलक्षणं पर्यायात्मकं द्रव्यं तदात्मकाः पर्यायाश्च, तस्य यौ भेदाभेदौ इतरः भेदप्ररूपणा-याम् अभेदः तत्प्ररूपणायां वा भेदः गुणः स्यात् इति एवंविधो नैगमो नयः।

(न्या.कु. 5/39)

स्वलक्षण–यानी पर्यायात्मक द्रव्य व द्रव्यात्मक पर्याय, इनमें जो भेद रूप व अभेद रूप हैं, उनमें किसी एक की, भेद की या अभेद की प्ररूपणा करते समय दूसरे को गौणता दी जाय अर्थात् भेद–प्ररूपणा में अभेद को और अभेदप्ररूपणा में भेद को गौण रखा जाय–ऐसा अभिप्राय 'नैगम नय' कहलाता है।

० गुणप्रधानभावेन मुख्यामुख्यरूपता धर्मयोः एकस्मिन् धर्मिणि विवक्षा प्रतिपत्तुरभिसन्धिः नैगमः।

(न्या.कु. 6/68)

एक धर्मी में गौण या प्रधान रूप से दोनों धर्मों को मुख्य या गौण रूप में विवक्षा हेतु ज्ञाता का जो अभिप्राय है, वह 'नैगम नय' कहलाता है।

० जो साहेदि अदीदं, वियप्परूवं भविस्समट्ठं च। संपडिकालाविट्ठं सो हु णओ णेगमो णेयो।।

(कार्ति. 271)

जो नय अतीत, भविष्यत् तथा वर्तमान को संकल्परूप में विषय करता है, वह 'नैगम नय' है।

० अन्योन्यगुण-प्रधानभूतभेदाभेदप्ररूपणो नैगमः। नैकं गमो नैगम इति निरुक्तेः।

(प्र.र.मा. 6/74)

वस्तुगत धर्मों के भेद और अभेद को परस्पर गौण और प्रधान करके निरूपण करना 'नैगमनय' है। यह नय एक ही धर्म को ग्रहण नहीं करता, किन्तु विधि-प्रतिषेधरूप अनेक धर्मों को मुख्यता और गौणता से ग्रहण करता है, अतः 'नैकं गमः नैगमः' इस प्रकार की इसकी निरूक्ति 'सार्थक' है।

० उभयं सामान्यविशेषोभयरूपमपान्तरालसामान्यं वृक्षत्व-गोत्व-गजत्वादिकम्, विशेषास्तु नित्यद्रव्य-वृत्तयोऽन्त्यस्वरूपाव्यावृत्त्याकारबुद्धिहेतवः, तेषां सामान्योभय-विशेषाणां ग्राहकाणि ज्ञानानि सामान्योभयविशेषज्ञानानि, तैर्यस्माद् मिनोति मिमीते वा, ततो नैगमः।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 2186)

वृक्षत्व, गोत्व, गजत्व आदि अवान्तर सामान्य (सत्ता) रूप हैं। नित्य द्रव्य में रहने वाले तथा अन्य वस्तुओं से व्यावृत्त आकार की प्रतीति के हेतु रूप 'विशेष' होते हैं जो वस्तु के अन्तिम (निर्णायक) स्वरूप होते हैं। इन दोनों–सामान्य व विशेष, या दोनों के ग्राहक ज्ञानों को जो नय प्रमित करता है (निरूपण करता है, विषय बनाता है), वह 'नैगम नय' कहा जाता है।

० अर्था जीवादयस्ते नितरामनेकप्रकाराः, बोधा निबोधाः, लोकस्यार्थनिबोधा लोकार्थनिबोधाः। तेषु एवंविधेषु निगमेषु भवः कुशलो वाऽयमिति नैगमः।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 2187)

अर्थ हैं–जीवादि पदार्थ। निबोध का अर्थ है–अनेक प्रकार से किया जाने वाला बोध। लोकार्थ- निबोध में, अर्थात् लोक द्वारा किये जाने वाले अनेक प्रकार के बोध में जो कुशल होता है या विद्यमान रहता है, वह 'नैगम नय' है।

० गम्यतेऽनेनेति गमः पन्थाः, नैके गमाः पन्थानो यस्यासौ नैकगमः, वक्ष्यमाणनीत्या बहुविधाभ्युपगमपरत्वाद् नैकमार्गः, निरुक्तविधिना च ककारलोपाद् नैगमः।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 2187)

'गम' का अर्थ है–जिससे पहुंचा जाये, वह मार्ग, नैक यानी अनेक मार्ग जिसके होते हैं, अर्थात् आगे बताई जानेवाली पद्धति से अनेक प्रकार के ज्ञान कराने वाला होने से यह 'नैकगम' नय होता है, किन्तु निरुक्त (व्याकरण) से (मध्यवर्ती) ककार का लोप होने से 'नैगम' नय कहाता है।

० स नैगमनयः क्रमेण परिपाट्या विशुद्धा विशेषवन्तो भेदाः प्रकाराः यस्य स क्रमविशुद्ध-भेदः तथा हि–आद्यभेदोऽस्य निर्विकल्पमहा-सत्ताख्यकेवल-सामान्यवादित्वात् सर्वाविशुद्धः, गौत्वादिसामान्यविशेषवादी तु द्वितीयभेदो विशुद्धा-विशुद्धः, विशेषवादी तु तृतीयभेदः सर्वविशुद्धः।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 2188)

वह नैगम नय क्रमशः यानी एक के बाद एक, विशुद्ध यानी विशेषयुक्त भेदों या प्रकारों वाला है। उदाहरणार्थ (इसके तीन भेद हैं–सर्वअविशुद्ध, सर्वविशुद्ध और विशुद्ध-अविशुद्ध,) इसका प्रथम भेद सर्व-अविशुद्ध है जो निर्विकल्प महासत्ता रूपी मात्र सामान्य का कथन करता है। इसका दूसरा भेद विशुद्धाविशुद्ध है जो गोत्व आदि सामान्य व विशेष का कथन करता है। इसका तीसरा भेद सर्वविशुद्ध है जो विशेष का कथन करता है।

० धर्मयोर्धर्मिणोर्धर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपसर्जनभावेन सद्विवक्षणं स नैकगमो नैगमः।।
सच्चैतन्यमात्मनीति धर्मयोः।।
वस्तु पर्यायवद्द्रव्यमिति धर्मिणोः।।
क्षणमेकं सुखी विषयासक्तजीव इति धर्मधर्मिणोः।।

(प्र.न.त. 7/7–10)

दो धर्मों की, दो धर्मियों की और धर्म–धर्मी की प्रधान और गौण रूप से विवक्षा करना, इस प्रकार अनेक मार्गों से वस्तु का बोध कराने वाला नय 'नैगम नय' कहलाता है। दो धर्मों का प्रधान-गौण भाव–जैसे, सत्त्व से युक्त चैतन्य है। दो धर्मियों का प्रधान गौण भाव–जैसे, पर्याय वाला द्रव्य वस्तु कहलाता है। धर्म-धर्मी का प्रधान गौण भाव–जैसे, विषयासक्त जीव क्षण भर सुखी होता है।

० तत्र सामान्यविशेषाद्यनेकधर्मोपनयनपरोऽध्य-वसायो नैगमः।

(जै.त.भा.नय परि., पृ. 59)

सामान्य तथा विशेष आदि अनेक धर्मों को ग्रहण करने वाला अभिप्राय 'नैगम नय' कहलाता है।

० नैकैर्मानैर्गम्यते मीयत इति नैकगमः ककारलो-पान्नैगम इति व्युत्पत्तिः।

(द्रव्य.तर्क. 6/9)

'नैगम' शब्द की व्युत्पत्ति यह है–अनेक प्रकार से जिसका मान (ज्ञान) किया जाय, वह 'नैकगम' है। यहां 'क' का लोप हो जाने से, उसे 'नैगम' कहा जाता है।

० भेदाभेदग्राही नैगमः। संकल्पग्राही च।।

(भि.न्या. 5/4–5)

भेद व अभेद–दोनों को ग्रहण करने वाला नय 'नैगम' होता है।
संकल्पग्राही विचार को भी 'नैगम नय' कहा जाता है।

नैगम नय के भेद

० नैगममाह। स द्विभेदो देशपरिक्षेपी सर्वपरिक्षेपी चेति।

(तत्त्व.भा. 1/35)

नैगम नय का कथन कर रहे हैं। वह नय दो प्रकार का है–देशपरिक्षेपी और सर्वपरिक्षेपी।

० नैगमस्त्रेधा भूतभाविवर्तमानकालभेदात्।
अतीते वर्तमानारोपणं यत्र, स भूतनैगमो यथा अद्य दीपोत्सवदिने श्री वर्द्धमानस्वामी मोक्षं गतः।।

भाविनि भूतवत्कथनं यत्र स भाविनैगमो यथा अर्हन् सिद्ध एव।।

कर्तुमारब्धमीषन्निष्पन्नमनिष्पन्नं वा वस्तु निष्पन्नवत्कथ्यते यत्र स वर्तमाननैगमो यथा ओदनः पच्यते।।

(आ.प. 64–67)

भूत, भावी, वर्तमान काल के भेद से नैगम नय तीन प्रकार का है।

जहाँ पर अतीतकाल में वर्तमान को संस्थापन किया जाता है, वह भूत नैगम नय है। जैसे– आज दीपावली के दिन श्री महावीर स्वामी मोक्ष गये हैं।

जहाँ भविष्यत् पर्याय में भूतकाल के समान कथन किया जाता है, वह भाविनैगम नय है। जैसे–अरहन्त सिद्ध ही हैं।

करने के लिये प्रारम्भ की गई ऐसी ईषत् (थोड़ी बनी हुई) अथवा अनिष्पन्न (बिल्कुल नहीं बनी हुई) वस्तु को निष्पन्नवत् कहना–यह वर्तमान नैगम नय है। जैसे–भात पकाया जाता है।

नैगमाभास

० अर्थान्तरत्वोक्तौ नैगमाभास इष्यते।

(लघी. 5/39)

अर्थान्तरत्व (नैगम नय के लक्षण से विपरीत भाव) के कथन में अर्थात् गुण-गुणी आदि में सर्वथा भेद का निरूपण करने वाला नय 'नैगमाभास' कहा जाता है।

० सर्वथा भेदवादस्तदाभासः।

(प्र.र.मा. 6/74)

सर्वथा भेदवाद को ही कहना 'नैगमाभास' है।

० धर्मद्वयादीनामेकान्तिकपार्थक्याभिसन्धिः नैगमाभासः।।

यथाऽऽत्मनि सत्त्वचैतन्ये परस्परमत्यन्तं पृथग्भूते इत्यादिः।।

(प्र.न.त. 7/11–12)

दो धर्मों का, दो धर्मियों का और धर्म तथा धर्मी का एकान्त भेद मानना 'नैगमनयाभास' कहलाता है। जैसे आत्मा में सत्त्व और चैतन्य धर्म परस्पर में सर्वथा भिन्न हैं, इत्यादि मानना।

० धर्मिधर्मादीनामैकान्तिकपार्थक्याभिसन्धिः नैगमाभासः।

(जै.त.भा.नय परि., पृ. 65–66)

धर्मी और धर्म अर्थात् द्रव्य और गुण में, अनेक गुणों में अथवा द्रव्यों में एकान्त भेद स्वीकार करने वाला 'नैगमाभास' है।

नोइन्द्रियप्रत्यक्ष (अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष) के भेद

० नोइंदियपच्चक्खे तिविहे पण्णते, तं जहा– ओहिनाणपच्चक्खे मणपज्जवनाणपच्चक्खे केवलनाणपच्चक्खे। से तं नोइंदियपच्चक्खे।

(अनु.सू. 11/518)

नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष के तीन प्रकार प्रज्ञप्त हैं, जैसे– अवधिज्ञान प्रत्यक्ष, मनःपर्यवज्ञान प्रत्यक्ष और केवलज्ञान प्रत्यक्ष। वह (सब) नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष है।

न्याय

० ज्ञेयानुसारित्वान्न्यायरूपत्वाद्वा न्यायः सिद्धान्तः।

(ध. 13, पृ. 286)

ज्ञेय का अनुसरण करने वाला होने से या न्याय रूप होने से सिद्धान्त को 'न्याय' कहते हैं।

० युक्त्याऽर्थपरीक्षणं न्यायः।

(भि.न्या. 1/1)

युक्ति के द्वारा तत्त्वों का परीक्षण करना 'न्याय' है।

न्याय (न्यायचर्चा) के अंग

० प्रमाणं प्रमेयं प्रमितिः प्रमाता चेति चतुरङ्गः।

(भि.न्या. 1/2)

प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति और प्रमाता–न्याय के ये चार अंग हैं।

न्याय–दर्शन

० अपरे च परस्परनिरपेक्षपदार्थपृथग्भूतसामान्य-विशेषयुक्तं वस्तु वाच्यत्वेन निश्चिन्वते। ते च नैगमनयानुरोधिनः.....अक्षपादाश्च।

(स्या.मं. 14)

कुछ दार्शनिक सामान्य व विशेष–इन दोनों को परस्पर–निरपेक्ष व भिन्न मानकर उनसे युक्त वस्तु का निर्णय करते हैं, वे अक्षपाद-दर्शन (न्याय दर्शन) के अनुयायी नैगम नय का अनुसरण करने वाले हैं।

० धर्मिधर्मादीनामेकान्तिकपार्थक्याभिसन्धिः नैगमाभासः, यथा नैयायिक.....दर्शनम्।

(जै.त.भा.नय.परि., पृ. 65–66)

धर्मी व धर्म (द्रव्य व गुण) आदि में एकान्त भेद स्वीकार करने वाला 'नैगमाभास' नय है, जैसे –नैयायिक दर्शन।

(द्रष्टव्य : मिथ्याश्रुत, सर्वनयात्मक)

न्याय्य

० न्यायादनपेतं न्याय्यं श्रुतज्ञानम्।

(ध. 13, पृ. 286)

'श्रुत' चूंकि न्याय से युक्त है, अतः उसे 'न्याय्य' कहा जाता है।

न्यास

० उपायो न्यास इष्यते। उपायः कारणम् आत्मादिज्ञानस्य नामादिन्यासो निक्षेपः इष्यते।

(न्या.कु. 6/52)

उपाय को 'न्यास' कहते हैं। नाम आदि न्यास या निक्षेप हैं, जो आत्मा आदि के ज्ञान में उपाय या कारण होते हैं।

(द्रष्टव्य : निक्षेप)

न्यून (हीन) निग्रहस्थान

० पंचावयवे वाक्ये प्रयोक्तव्ये तदन्यतमेनाप्यवयवेन हीनं न्यूनं नाम निग्रहस्थानं भवति।

(प्र.मी. 2/1/34)

परार्थानुमान के पांच अवयवों का प्रयोग करणीय हो, उनमें किसी एक अवयव से हीन या न्यून रखना–यह न्यून या हीन निग्रहस्थान होता है।

० अन्यतमेन अवयवेन न्यूनं हीनं नाम निग्रह-स्थानम्।

(प्र.प्र. 1/81)

(परार्थ) अनुमान का वाक्य किसी एक अवयव से 'न्यून' हो तो वह 'हीन' नामक निग्रहस्थान होता है।

प

पक्ष

० साध्याभ्युपगमः पक्षः प्रत्यक्षाद्यनिराकृतः।
तत्प्रयोगोऽत्र कर्त्तव्यो हेतोर्गोचरदीपकः।।

(न्यायाव. 14)

प्रत्यक्ष आदि (प्रमाणों) से जिसका निराकरण न किया जा सके, ऐसे साध्य का स्वीकरण जहाँ अभिप्रेत हो, वह 'पक्ष' कहलाता है। वह पक्ष हेतु के विषय का दीपक होता है।

० इदमेव च पक्षस्य स्वरूपम्-यद् हेत्वपेक्षस्य अर्थ-प्रतिपादकत्वं नाम। 'पच्यते कोमलीक्रियते हेतुना सुकुमारप्रज्ञानां साध्यधर्मान्वितत्वेन व्यक्ततामापाद्यते इति पक्षः' इति व्युत्पत्तेः।

(न्या.कु. 3/12)

पक्ष का यही स्वरूप है कि वह हेतु की अपेक्षा रखते हुए अर्थ का प्रतिपादक हो। 'पक्ष' शब्द की व्युत्पत्ति भी यही है कि जो हेतु द्वारा पकाया या 'मृदु' (सरल) बनाया जाता है, अर्थात् सुकुमारमति लोगों के लिए साध्य धर्म से युक्त होते हुए जो व्यक्त व स्पष्ट स्वरूप को प्राप्त करता है।

० इष्टं साधयितुं शक्यं वादिना साध्यम्।

(न्या.वा. 50)

जो वादी द्वारा इष्ट हो, और सिद्ध करने योग्य हो, वह साध्य 'पक्ष' होता है।

० धर्म-धर्मिसमुदायः पक्षः।

(प्र.र.मा. 3/22)

धर्म और धर्मी के समुदाय को 'पक्ष' कहते हैं।

० 'पक्षः' इति साध्यस्यैव नामान्तरमेतत्।।

(प्र.मी. 1/2/13)

'पक्ष' यह 'साध्य' का ही दूसरा नाम है।

० सिषाधयिषितधर्माधारो धर्मी पक्षः।

(प्र.प्र. 1/16)

जिसे सिद्ध करने की इच्छा है, उस धर्म (गुण) के आधार धर्मी (धर्म से युक्त पदार्थ) को 'पक्ष' कहते हैं।

० पच्यते व्यक्तीक्रियते साध्यधर्मवैशिष्ट्येन हेत्वादिभिरिति पक्षः।

(स्या.मं. 30)

जो साध्य से युक्त होकर हेतु आदि के द्वारा व्यक्त किया जाय, उसे 'पक्ष' कहते हैं।

० साध्यविशिष्टः प्रसिद्धो धर्मी पक्षः।

(षड्.समु.टी. 55/318)

साध्य से युक्त धर्मी 'पक्ष' कहलाता है। (द्रष्टव्य : साध्य)

पक्षधर्म

० यो हि धर्मिधर्मः स पक्षधर्मः इत्युच्यते।

(न्या.कु. 1/3)

धर्मी के धर्म को 'पक्षधर्म' कहते हैं।

पक्षधर्मत्व

० साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी पक्षः, यथा धूमध्वजानुमाने पर्वतः, तस्मिन् व्याप्य वर्त्तमानत्वं हेतोः पक्षधर्मत्वम्।

(न्या.दी. 3/37)

साध्यधर्म से विशिष्ट धर्मी को पक्ष कहते हैं। जैसे अग्नि के अनुमान करने में पर्वत पक्ष होता है। उस पक्ष में व्याप्त होकर हेतु का रहना पक्ष-धर्मत्व है।

पक्षाभास

० प्रतिपाद्यस्य यः सिद्धः पक्षाभासोऽक्षलिंगतः। लोकस्ववचनाभ्यां च बाधितोऽनेकधा मतः।।

(न्यायाव. 21)

प्रतिपाद्य, अर्थात् प्रतिवादी के जो सिद्ध है, वह 'पक्षाभास' है। इसी तरह जो प्रत्यक्षबाधित, अनुमानबाधित, लोकबाधित व स्ववचनबाधित होता है, वह भी पक्षाभास होता है।

० तत्र प्रतीत-निराकृतानभीप्सितसाध्यधर्मास्त्रयः पक्षाभासाः।

(प्र.न.त. 6/38)

पक्षाभास तीन प्रकार का है–1. प्रतीतसाध्य-धर्म विशेषण, 2. निराकृत साध्यधर्म विशेषण, 3.अनभीप्सित साध्यधर्म विशेषण-पक्षाभास।

० अनिष्टसिद्धबाधितपक्षान्यतमत्वं पक्षाभासलक्षण-मित्यर्थः।

(प्र.रत्ना. 6/12)

जो पक्ष अनिष्ट हो, असिद्ध हो या बाधित हो, वह 'पक्षाभास' कहलाता है।

पत्र

० प्रसिद्धावयवं वाक्यं स्वेष्टस्यार्थस्य साधकम्। साधुगूढपदप्रायं पत्रमाहुरनाकुलम्।।

(पत्र प., पृ.1)

प्रसिद्ध अवयवों से युक्त, अपने इष्ट अर्थ को सिद्ध करने वाला तथा अच्छे किन्तु प्रायः गूढ़ शब्दों से बना हुआ वाक्य निर्दोष 'पत्र' होता है।

० त्रायन्ते वा पदान्यस्मिन् परेभ्यो विजिगीषुणा। कुतश्चिदिति पत्रं स्याल्लोके शास्त्रे च रूढितः।।

(पत्र प., पृ 2)

विजय की इच्छा रखने वाला (वादी) प्रतिवादी से अपने पदों (शब्दों) की इसमें किसी तरह रक्षा करता है अर्थात् (गूढ़ शब्दों का प्रयोग कर प्रतिवादी से अपने वाक्य की रक्षा करता है), इसलिए इसे (इस गूढ़ वाक्य को) लोगों के व्यवहार में तथा शास्त्र–चर्चा में रूढ़ि के कारण 'पत्र' कहते हैं।

० तथाहि-सर्वाभिप्रेतार्थसाधनानवद्यगूढपद-समूहात्मकं प्रसिद्धावयवलक्षणं वाक्यं पत्रमित्य-वगन्तव्यं तथाभूतस्यैवास्य निर्दोषतोपपत्तेः।

(प्र.क.मा. 6/74)

अपने को इष्ट ऐसे साधन वाला निर्दोष एवं गूढ पदों के समुदाय स्वरूप, प्रसिद्ध अवयवों से युक्त वाक्य को 'पत्र' कहते हैं, इस तरह के लक्षणों से लक्षित वाक्य को ही निर्दोष पत्र कहा जा सकता है।

० न खलु स्वाभिप्रेतार्थासाधकं दुष्टं सुस्पष्ट-पदात्मकं वा वाक्यं निर्दोषपत्रं युक्तमतिप्रसङ्गात्। न च क्रियापदादिगूढं काव्यमप्येवं पत्रं प्रसज्यते; प्रसिद्धावयवत्वविशिटस्यास्य पत्रत्वाभिधानात्। न हि पदगूढादिकाव्यं प्रमाणप्रसिद्धप्रतिज्ञाद्यवयव-विशेषणतया किञ्चित्प्रसिद्धम्, तस्य तथा प्रसिद्धौ पत्रव्यपदेशसिद्धेरबाधनात्।

(प्र.क.मा. 6/74)

(शंका–जो अपने इष्ट अर्थ का साधक नहीं है, सुस्पष्ट पद वाला है, अर्थात् गूढ़ अर्थ युक्त नहीं है), ऐसा वाक्य निर्दोष पत्र नहीं कहा जा सकता, अन्यथा काव्य आदि किसी वाक्य को 'पत्र' मानने का अतिप्रसंग उपस्थित होगा। (पत्र के लक्षण में तीन विशेषण हैं–अपने इष्टार्थ का साधक हो, निर्दोष गूढ पद से युक्त हो, एवं अनुमान के प्रसिद्ध

अवयवों से सहित हो। इनमें से) क्रिया पद आदि से गूढ काव्य भी हुआ करता है। अतः उसको पत्र मानने का प्रसंग आयेगा– (उत्तर–) ऐसी आशंका नहीं करना, क्योंकि अनुमान के प्रसिद्ध अवयवों से सहित होने पर ही 'पत्रपना' संभव है, काव्य में होने वाले क्रिया आदि के गूढपद प्रमाण-प्रसिद्ध प्रतिज्ञा हेतु आदि अवयवों से विशिष्ट नहीं हुआ करते हैं। यदि किसी काव्य में इस तरह के पद-वाक्य होवें तो वह भी 'पत्र' कहा जा सकता है।

० पदानि त्रायन्ते गोप्यन्ते रक्ष्यन्ते परेभ्यः स्वयं विजिगीषुणा यस्मिन्वाक्ये तत्पत्रम्' इति व्युत्पत्तेः। प्रकृतिप्रत्ययादिगोपनाद्धि पदानां गोपनं विनि-श्चितपदस्वरूपतदभिधेयतत्त्वेभ्योपि परेभ्यः सम्भवत्येव।

(प्र.क.मा. 6/74)

'प' अर्थात् पदों की 'त्र' अर्थात् रक्षा करना, तात्पर्य है कि परवादी से अपने पदों को जिसमें गुप्त रखा जाता है, वह वाक्य 'पत्र' कहलाता है। इस प्रकार पत्र शब्द की व्युत्पत्ति है। पदों का स्वरूप एवं उनके वाच्यार्थ को जानने वाले परवादी से भी प्रत्यय, प्रकृति आदि के गोपन से, पदों का गोपन करना सम्भव होता ही है।

० प्रसिद्धावयवं वाक्यं स्वेष्टस्यार्थस्य साधकम्। साधुगूढपदप्रायं पत्रमाहुरनाकुलम्।।

(प्र.र.मा. 6/74, श्लो. 42)

जिसमें अनुमान के प्रसिद्ध पांचों अवयव पाये जावें, जो अपने अभीष्ट अर्थ का साधक हो और जो निर्दोष गूढ़ रहस्य वाले पदों से प्रायः भरपूर हो, ऐसे अनाकुल अर्थात् अबाधित वाक्य को 'पत्र' कहते हैं।

० तत्तन्मतप्रसिद्धाङ्गं गूढार्थं गूढसत्त्वकम्। स्वेष्टप्रसाधकं वाक्यं निर्दोषं पत्रमुत्तमम्।।

(प्र.प्र. 1/84)

उस-उस मत में (पत्र का प्रयोग करने वाले वादी के मत में) जो प्रसिद्ध अंगों से युक्त हो, जिसका अर्थ तथा तात्पर्य गूढ हो तथा जो अपने इष्ट तत्त्व को सिद्ध करता हो, उस वाक्य को निर्दोष 'पत्र' कहते हैं।

० मुख्यं पदान्वयं वाक्यं लिप्यामारोप्यते लिपेः। पत्रस्थत्वाच्च तत् पत्रम् उपचारोपचारतः।।

(प्र.प्र. 1/101)

मुख्यतः वाक्य शब्दों से बनता है, लिपि में वाक्य होने का आरोप किया जाता है (वाक्य के शब्द लिपि में अंकित किये जाने पर व्यवहार से उन लिपि-चिन्हों को भी वाक्य कहा जाता है) तथा ये लिपि-चिन्ह पत्र पर अंकित होते हैं, अतः उपचार के भी उपचार से उस पत्र को भी वाक्य कहते हैं (और इस तरह वादी द्वारा प्रयुक्त गूढ़ वाक्य को 'पत्र' यह संज्ञा मिलती है)।

पद

० वर्णानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायः पदम्।

(प्र.क.मा. 3/101)

परस्पर में सापेक्ष वर्णों का जो समुदाय है, उसको 'पद' कहते हैं।

० वर्णानामन्योन्यापेक्षाणां निरपेक्षा संहतिः पदम्।

(प्र.न.त. 4/10)

परस्पर-सापेक्ष वर्णों के निरपेक्ष समूह को 'पद' कहते हैं।

पद का अभिधेय (अर्थ)

० सामान्यं पदानामभिधेयम्।.....विशेषः पदानामर्थः..... .जैनानामुभयं पदार्थः, पदानामुभयत्र प्रतीत्युत्पत्तेः।

(भ.आ.टी. 30)

किन्हीं का मत है–'सामान्य' पद का अभिधेय होता है.....किन्हीं का मत है–'विशेष' पद का अभिधेय होता है।.....जैनों के मत में पदों का अभिधेय (अर्थ) 'सामान्य' भी है और 'विशेष' भी है क्योंकि दोनों की ही पद से प्रतीति होती है।

० सर्वस्य वागर्थस्य विधिप्रतिषेधात्मकत्वात्।

(रा.वा. 2/8/18)

सभी वचनों का अर्थ (अभिधेय) विधि व प्रतिषेध उभयात्मक होता है।

० अर्थः पुनरनेकशब्दसम्बन्धेन अभिधीयमानो वस्तुतया एकः अभिधेयः।

(पंचा.त.प्र. 2)

अर्थ अर्थात् अनेक शब्दों के सम्बन्ध से कहा जाने वाला, वस्तु रूप से एक पदार्थ।

पदार्थ

० अर्यते परिच्छिद्यत इत्यर्थः पदार्थः।

(स्या.मं. 28)

जो जाना जाता है, वह अर्थ या पदार्थ है। (द्रष्टव्य : अर्थ)

पदार्थ-प्ररूपणा

० दव्वं खित्तं कालं भावं पज्जायदेस संजोगे। भेदं च पडुच्च सया भावाणं पण्णवणपज्जा।।

(सन्मति. 3/60)

पदार्थों की प्ररूपणा का मार्ग द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पर्याय, देश, संयोग और भेद का अवलम्बन लेने पर ही योग्य होता है।

परत्वापरत्व

० परत्वापरत्वे त्रिविधे-प्रशंसाकृते क्षेत्रकृते कालकृते इति। तत्रं प्रशंसाकृते परो धर्मः परं ज्ञानम-परोऽधर्मः अपरमज्ञानमिति। क्षेत्रकृते एक-दिक्कालावस्थितयोर्विप्रकृष्टः परो भवति, सन्नि-कृष्टोऽपरः। कालकृते द्विरष्टवर्षाद् वर्षशतिकः परो भवति, वर्षशतिकाद् द्विरष्टवर्षोऽपरो भवति।

(तत्त्व.भा. 5/22)

परत्व व अपरत्व तीन प्रकार के हैं– प्रशंसाकृत, क्षेत्रकृत और कालकृत। प्रशंसा की अपेक्षा धर्म व ज्ञान को 'पर' तथा अधर्म और अज्ञान को 'अपर' माना जाता है। क्षेत्र की एक दिशा में स्थित दूरवर्ती को 'पर' और निकटवर्ती को 'अपर' कहा जाता है। काल की अपेक्षा में 16 वर्ष वाले की अपेक्षा 100 वर्ष वाले में 'पर' का और 16 वर्ष वाले में 'अपर'का व्यवहार होता है।

परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय

० परद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिकः यथा परद्रव्यादि-चतुष्टयापेक्षया द्रव्यं नास्ति।(55)
परद्रव्यादिग्रहणमर्थः प्रयोजनमस्येति परद्रव्या-दिग्राहकः। (189)

(आ.प. 55,189)

परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा द्रव्य नास्ति रूप है, ऐसा परद्रव्यादि-ग्राहक द्रव्यार्थिक नय है।(55)

परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, परस्वभाव अर्थात् परचतुष्टय को ग्रहण करना जिसका प्रयोजन है, वह 'परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक' नय होता है। (189)

परनिमित्तक उत्पाद

० परप्रत्ययोऽपि अश्वादिगतिस्थित्यवगाहन-हेतुत्वात् क्षणे क्षणे तेषां भेदात् तद्-हेतुत्वमपि भिन्नम् –इति परप्रत्ययापेक्ष उत्पादः।

(स.सि. 5/7/539)

परप्रत्यय उत्पाद का उदाहरण इस प्रकार है– अश्व आदि की गति, व स्थिति व अवगाहन में (धर्म आदि द्रव्यों की) हेतुता है, और इन गति आदि में क्षण, क्षण में अन्तर पड़ता है, इसीलिए इनके कारण (हेतु) भी भिन्न-भिन्न होने चाहिएं, इस प्रकार इन धर्मादिक द्रव्यों में परप्रत्यय की अपेक्षा से उत्पाद (व व्यय) होता है।

(द्रष्टव्य : उत्पाद)

परपर्याय

० पदादिपर्यायाणामपि घटप्रतियोगित्वात् तद्–अपरिज्ञाने घटो न याथात्म्येन अवगन्तुं शक्यते –इतिपटादिपर्याया अपि घटस्य पर्यायाः।..... .आह च भाष्यकृत्–

जेसु अनाएसु तओ न नज्जाए, नज्जाए य नाएसु।

किह तस्स ते न धम्मा, घडस्स रूवाइधम्म व्व।।

तस्मात् पटादिपर्याया अपि घटस्य सम्बन्धिनः।

(षड्.समु.टी. 55)

पट आदि (घटेतर) पर्याय घट (के अभाव) के प्रतियोगी हैं, अतः पटादि-पर्यायों को जाने बिना घट को (व्यावृत्त रूप से) परमार्थतः नहीं जान सकते, इसलिए पट आदि पर्यायें भी घट के पर्याय हैं।.....भाष्यकार ने कहा भी है–"जिनके अज्ञात रहने पर जिसका ज्ञान नहीं हो पाता और जिनका ज्ञान होने से ही जिस का ज्ञान होता है, वे उसके धर्म क्यों नहीं कहे जाएंगे? इसलिए पटादि-पर्याय भी घट के सम्बन्धी हैं।

परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय

० परमभावग्रहणमर्थः प्रयोजनमस्येति परमभाव-ग्राहकः। (19)

परमभावग्राहकद्रव्यार्थिकः यथा ज्ञानस्वरूप आत्मा, अत्रानेकस्वभावानां मध्ये ज्ञानाख्यः परमस्वभावो गृहीतः।

(आ.प. 19,56)

परमभावग्रहण करना जिसका प्रयोजन है, वह 'परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक' नय होता है। (19) ज्ञानस्वरूप आत्मा–ऐसा कहना परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय का विषय है, क्योंकि इसमें जीव के अनेक स्वभावों में से ज्ञाननामक परमभाव का ही ग्रहण किया गया है।

परमस्वभाव

० पारिणामिकभावप्रधानत्वेन परमस्वभावः।

(आ.प. 116)

पारिणामिक भाव की प्रधानता से 'परमस्वभाव' है।

परमाणु

० सत्थेण सुतिक्खेण वि,
छेत्तुं भेत्तुं व जं किर न सक्का।
तं परमाणुं सिद्धा,
वदंति आदिं पमाणाणं।।

(भ.सू. 6/7/134)

सुतीक्ष्ण शस्त्र से भी जिसका छेदन-भेदन नहीं किया जा सकता, उस (व्यावहारिक) परमाणु को सिद्ध पुरुष (केवली) प्रमाणों का आदि बतलाते हैं।

० परमाणुरप्रदेशो वर्णादिगुणेषु भजनीयः।।
(प्रशम. 208)
परमाणु के प्रदेश नहीं होते। रूप वगैरह गुणों की अपेक्षा से परमाणु का (कल्पित) विभाग कर लेना चाहिए।

० धाउचउक्कस्स पुणो जं हेऊ कारणंति तं णेयो।
खंधाणां अवसाणो णादव्वो कज्जपरमाणु।।
अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिये गेज्झं।
जं दव्वं अविभागी तं परमाणुं विआणाहि।।
(नि.सा. 25–26)
जो पृथ्वी, जल, तेज और वायु –इन चार धातुओं का कारण है, उसे 'कारण परमाणु' जानना चाहिए और स्कन्धों के अवसान को अर्थात् स्कन्धों में भेद होते-होते जो अन्तिम अंश रहता है, उसे 'कार्य परमाणु' जानना चाहिए।
जिसका आदि, मध्य और अन्त एक है और जिसे इन्द्रियां नहीं ग्रहण कर सकतीं, ऐसा जो विभाग रहित द्रव्य है, उसे 'परमाणु' मानना चाहिए।

० सव्वेसिं खंधाणं जो अंतो तं वियाण परमाणू।
सो सस्सदो असद्दो एक्को अविभागि मुत्तिभवो।।
आदेशमत्तमुत्तो धादुचदुक्कस्स कारणं जो दु।
सो णेओ परमाणू परिणामगुणो सयमसद्दो।।
(पंचा. 77–78)
समस्त स्कन्धों का जो अन्तिम भेद है, उसे परमाणु जानना चाहिए। वह परमाणु नित्य है, शब्द रहित है, एक है, अविभागी है, मूर्त्तस्कन्ध से उत्पन्न हुआ है और मूर्त्तस्कन्ध का कारण भी है, जो गुण-गुणी के संज्ञादि भेदों से मूर्त्तिक है, पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु का समान कारण है, परिणमनशील है, और स्वयं शब्दरहित है, उसे 'परमाणु' जानना चाहिए।

० एयरसवण्णगंधं दो फासं सद्दकारणमसद्दं।
खंधंतरिदं दव्वं परमाणुं तं वियाणेहि।।
(पंचा. 81)
जो एक रस वाला, एक वर्ण वाला, एक गन्ध वाला एवं दो स्पर्श वाला होता है, वह शब्द का कारण होता है, अशब्द (शब्द पर्याय परिणति से रहित) होता है, स्कन्ध के भीतर होता है, फिर भी द्रव्य होता है, उसे 'परमाणु' जानें।

० .....अविभागी होदि परमाणू।।
सत्थेण सुतिक्खेणं छेत्तुं भेत्तुं च जं किरस्सक्कं।
जलयणलादिहिं णासं ण एदि सो होदि परमाणू।।
एक्करसवण्णगंधं दो पासा सद्दकारणमसद्दं।
खंदंतरिदं दव्वं तं परमाणुं भणंति बुधा।।
अंतादिमज्झहीणं अपदेसं इंदिएहिं ण हु गेज्झं।
जं दव्वं अविभत्तं तं परमाणुं कहंति जिणा।।
पूरंति गलंति जदो पूरणगलणेहि पोग्गला तेण।
परमाणु च्चिय जादा इय दिट्ठं दिट्ठिवादम्हि।
वण्णरसगंधफासे पूरणगलणाइ सव्वकालम्हि।
खंदं पिव कुणमाणा परमाणू पुग्गला तम्हा।।

आदेसमुत्तमुत्तो धातुचउक्कस्स कारणं जादो।
सो णेओ परमाणू परिणामगुणो य खंदस्स।।

(ति.प. 1/95–101)

स्कंध के अविभागी अर्थात् जिसके और विभाग न हो सकें, ऐसे अंश को 'परमाणु' कहते हैं। जो अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र से भी छेदा या भेदा नहीं जा सकता, तथा जल और अग्नि आदि के द्वारा नाश को भी प्राप्त नहीं होता, वह 'परमाणु' है। जिसमें पांच रसों में से एक रस, पांच वर्णों में से एक वर्ण, दो गंधों में से एक गंध, और स्निग्ध-रूक्ष में से एक तथा शीत–उष्ण में से एक, ऐसे दो स्पर्श, इस प्रकार कुल पांच गुण हों, और जो स्वयं शब्दरूप न होकर भी शब्द का कारण हो एवं स्कन्ध के अन्तर्गत हो, ऐसे द्रव्य को पण्डित जन 'परमाणु' कहते हैं। जो द्रव्य अन्त, आदि एवं मध्य से विहीन हो, प्रदेशों से रहित अर्थात् एकप्रदेशी हो, इन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता हो और विभाग रहित हो उसे जिन भगवान् 'परमाणु' कहते हैं। चूंकि स्कन्धों के समान परमाणु भी पूरते हैं और गलते हैं, इसलिए पूरण-गलन क्रियाओं के रहने से वे भी पुद्गल के अन्तर्गत हैं, ऐसा दृष्टिवाद अंग में निर्दिष्ट है। परमाणु स्कन्ध की तरह सब काल में वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श, इन गुणों में पूरण-गलन को किया करते हैं, इसलिए वे पुद्गल ही हैं। जो नय विशेष की अपेक्षा कथंचित् मूर्त व कथंचित् अमूर्त है, चार धातुरूप स्कन्ध का कारण है, और परिणमनस्वभावी है, उसे 'परमाणु' जानना चाहिए।

० आदिमध्यान्त्यप्रदेशैः परिहीण एव परमाणुरिष्यते।

(तत्त्व.भा.वृ. 5/11)

परमाणु को आदि, मध्य व अन्त प्रदेशों से रहित ही माना जाता है।

० अन्तादिमध्यहीनः अविभागोऽतीन्द्रियः एकरस-वर्णगन्धः द्विस्पर्शः परमाणुः।

(रा.वा. 3/38/6)

अन्त, आदि व मध्य भाग से रहित, अविभाज्य, अतीन्द्रिय, एक रस, एक वर्ण व एक गन्ध वाला तथा दो स्पर्शों वाला 'परमाणु' होता है।

० 'अपदेसं णेव इंदिए गेज्झं' इदि परमाणूणं णिरवयवत्तं परियम्मे वुत्तमिदि।

(ध. 13, पृ. 18)

'परमाणु अप्रदेशी होता है और उसका इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं होता।' इस प्रकार परमाणुओं का निरवयवपना 'परिकर्म' (ग्रन्थ) में कहा गया है।

० अविभाज्यः परमाणुः।

(जै.सि.दी. 1/14)

अविभाज्य पुद्गल को 'परमाणु' कहते हैं।

परमावधिज्ञान

० परमा ओही मज्जाया जस्स णाणस्स तं परमोहि-णाणं। किं परमं? असंखेज्जलोगमेत्तसंजमवियप्पा।

(ध. 13, पृ. 323)

परम ही जिस ज्ञान की अवधि अर्थात् मर्यादा है वह परमावधिज्ञान कहा जाता है। परम शब्द का क्या अर्थ है? परम शब्द से असंख्यात लोकमात्र संयम के विकल्प अभीष्ट है।

परमावधिज्ञान के भेद

० तथा परमावधिरपि त्रिधा।

(रा.वा. 1/22/4)

परमावधिज्ञान के भी तीन भेद कहे गये हैं (जघन्य, उत्कृष्ट व सर्वावधि)।

० हीयमानप्रतिपातिभेदवर्जा इतरे षड् भेदा भवन्ति परमावधेः।

(रा.वा. 1/22/4)

हीयमान, प्रतिपाती–इन दो छोड़कर शेष छः भेद वर्धमान, अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी, और अप्रतिपाती–ये भेद परमावधि में होते हैं।

परसंग्रहनय

० अशेषविशेषेष्वौदासीन्यं भजमानः शुद्धद्रव्यं सन्मात्रमभिमन्यमानः परसंग्रहः।।
विश्वमेकं सदविशेषादिति यथा।।

(प्र.न.त. 7/15–16; स्या. मं. 28)

समस्त विशेषों में उदासीनता रखने वाला और शुद्ध सत्ता मात्र द्रव्य को विषय करने वाला नय 'परसंग्रहनय' कहलाता है। जैसे–सत्ता सब में पाई जाती है, अतः विश्व एकरूप है।

० तत्राशेषविशेषेष्वौदासीन्यं भजमानः शुद्धद्रव्यं सन्मात्रमभिमन्यमानः परः संग्रहः।

(जै.त.भा.नय परि., पृ. 60)

जो अभिप्राय समस्त विशेषों में उदासीनता धारण करता है और शुद्ध द्रव्य 'सत्ता' (पर सामान्य) को ही स्वीकार करता है, वह 'परसंग्रहनय' कहलाता है।

परसंग्रहाभास

० सत्ताद्वैतं स्वीकुर्वाणः सकलविशेषान्निराचक्षाणस्तदाभासः।
सत्तैव ततः पृथग्भूतानां विशेषाणामदर्शनात्।।

(प्र.न.त. 7/17–18)

एकान्त सत्ता मात्र को स्वीकार करने वाला और घट आदि सब विशेषों का निषेध करने वाला अभिप्राय 'परसंग्रह नयाभास' है। जैसे–'सत्ता ही वास्तविक वस्तु है, क्योंकि उससे भिन्न घट आदि विशेष दृष्टिगोचर नहीं होते' यह मानना 'परसंग्रह नयाभास' है।

० सत्ताद्वैतं तदाभासः।

(प्र.रत्ना. 6/74)

सत्ता में अद्वैत मानने वाला 'परसंग्रहाभास' होता है।

परसमय (अध्यात्म)

० पोग्गलकम्मपदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं।

(स.सा. 2)

जो पुद्गल कर्म के प्रदेशों में स्थित है (पर द्रव्य में एकाकार जानता व परिणमित हो रहा है), वह आत्मा 'परमसमय' कहा जाता है।

० दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादा।
सिद्धं तध आगमदो णेच्छदि जो सो हि परसमओ।।

(प्र.सा. 2/6)

गुणपर्याय रूप द्रव्य अपने स्वभाव से निष्पन्न है और वह सत् स्वरूप है। ऐसा जिनभगवान् में यथार्थ रूप में कहा है। जो पुरूष आगम

से सिद्ध (प्रमाणित) इस तथ्य को नहीं मानता है, निश्चय ही 'परसमय' (मिथ्यादृष्टि) है।

परमसय (सिद्धान्त)

० ज्ञेयः परसिद्धान्तः, स्वपक्षबलनिश्चयोपलब्ध्यर्थम्।

(सिद्ध.द्वा. 8/19)

अपने पक्ष के बल की निश्चित उपलब्धि के लिए परकीय सिद्धान्त का ज्ञान करणीय है।

० एकांशग्राहकनयानुयायिनः अन्यतीर्थिकाः।

(स्या.मं. 22)

एकांश को ग्रहण करने वाले (एकान्त) नय के अनुयायी अन्यतीर्थिक (परसमय) होते हैं। (द्रष्टव्य : अद्वैत, एकान्त, चार्वाक, नयवाद, नयाभास, न्याय, बौद्ध, मिथ्याश्रुत, मीमांसा, वैशेषिक दर्शन, सम्यक् नय, सर्वनयात्मक, सांख्य)

पराजय

० असिद्धिः पराजयः।।

(प्र.मी. 2/1/32)

अपने पक्ष को सिद्ध न कर पाना 'पराजय' है।

परार्थन वाद

० प्रतिवाद्यानुलोम्येन भूपसभ्यार्थनेन वा।
परार्थनो भवेद् वादः परस्येच्छानुवर्तनात्।।

(प्र.प्र. 1/98)

प्रतिवादी के अनुरोध को स्वीकार करने से अथवा राजा या किसी सभासद के निवेदन पर जो वाद होता है, उसे 'परार्थन वाद' कहते हैं।

परार्थ प्रत्यक्ष

० प्रत्यक्षपरिच्छिन्नार्थाभिधायि वचनं परार्थं प्रत्यक्षं, परप्रत्यक्षहेतुत्वात्।।

यथा–पश्य पुरः स्फुरत्किरणमणिखण्डमण्डिताभरणभारिणीं जिनपतिप्रतिमामिति।।

(प्र.न.त. 3/27)

प्रत्यक्ष द्वारा जाने हुए पदार्थ का उल्लेख करने वाले वचन 'परार्थ प्रत्यक्ष' हैं, क्योंकि उन वचनों से दूसरे को प्रत्यक्ष होता है।
जैसे–देखो, सामने चमकती हुई किरणों वाली मणियों के टुकड़ों से जड़े हुए आभूषणों को धारण करने वाली जिन भगवान की प्रतिमा है।

परार्थ प्रमाण

० वचनात्मकं परार्थम्।

(स.सि. 1/6/24)

वचनात्मक प्रमाण 'परार्थ प्रमाण' है।
(द्रष्टव्य : स्वार्थ प्रमाण)

परार्थाधिगम

० परार्थाधिगमः शब्दरूपः।

(स.भं.त. 2)

शब्दात्मक अर्थात् वचनरूप अधिगम को 'परार्थाधिगम' कहते हैं।

परार्थाधिगम के भेद

० स च द्विविधः प्रमाणात्मको नयात्मकश्चेति।

(स.भं.त. 2)

परार्थाधिगम दो प्रकार का है–प्रमाण रूप और नय रूप।

परार्थानुमान

० स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनं बुधैः।
परार्थं मानमाख्यातम्।

(न्यायाव. 10)

अपने समान दूसरों को भी निश्चय कराना, इसको विद्वानों ने 'परार्थ' मान कहा है।

० साध्याविनाभुवो हेतोर्वचो यत्प्रतिपादकम्।
परार्थमनुमानं तत्पक्षादि वचनात्मकम्।
(न्यायाव. 13)
साध्य के बिना नहीं होने वाले हेतु का जो वचन प्रतिपादक है, वह 'परार्थ अनुमान' है। वह अनुमान पक्ष (व हेतु) आदि के वचन रूप होता है।

० परार्थं तु तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातम्।।
तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात्।।
(प.मु. 3/51–52)
स्वार्थानुमान के विषय, साध्य और साधन को कहने वाले वचनों से उत्पन्न हुए ज्ञान को 'परार्थानुमान' कहते हैं। परार्थानुमान के प्रतिपादक वचनों को भी 'परार्थानुमान' कहते हैं, क्योंकि वे (वचन) परार्थानुमान के हेतु हैं।

० तस्य स्वार्थानुमानस्यार्थः साध्यसाधनलक्षणः। तं परामृशतीत्येवंशीलं तदर्थपरामर्शि तच्च तद्वचनं च तस्माज्जातमुत्पन्नं विज्ञानं परार्थानुमानमिति।
(प्र.र.मा. 3/51)
उस स्वार्थानुमान का अर्थ–जो साध्य-साधन लक्षण वाला पदार्थ है–उसे परामर्श अर्थात् विषय करना जिसका स्वभाव है, उसे 'तदर्थ-परामर्शी' कहते हैं। ऐसे तदर्थ–परामर्शी वचनों से जो विज्ञान उत्पन्न होता है, वह 'परार्थानुमान' है।

० पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारात्।
(प्र.न.त. 3/23)
पक्ष और हेतु का वचन 'परार्थानुमान' है। उसे उपचार से 'अनुमान' कहते हैं।

० परव्यामोहनिवर्तनक्षमम् परार्थम्।
(प्र.मी. 1/2/8)
अन्य के संशय के निराकरण करने में सक्षम 'परार्थानुमान' होता है।

० यथोक्तसाधनाभिधानजः परार्थम्।
(प्र.मी. 2/1/1)
(पूर्वोक्त) साधन के कथन से उत्पन्न होने वाला 'परार्थानुमान' होता है।

० परार्थम् अनुमानं परोपदेशापेक्षं साध्यविज्ञानमित्यर्थः।
(प्र.मी. 2/1/1)
परोपदेश से (दूसरे के कथन से) उत्पन्न होने वाला साध्य का ज्ञान 'परार्थानुमान' कहा जाता है।

० स्वार्थानुमानपरामर्शिपुरुषवचनात् ज्ञातं परार्थानुमानम्। तद् वचनमपि तद्हेतुत्वात् परार्थानुमानमेव।
(प्र.प्र. 1/16)
स्वार्थानुमान के जानने वाले पुरुष के कहने से जो ज्ञान होता है वह 'परार्थानुमान' है। उसका कारण होने से ऐसे अनुमान के कथन को भी 'परार्थानुमान' ही कहते हैं।

० पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानम्, उपचारात्।
(स्या.मं. 28)
पक्ष और हेतु का कथन कर दूसरे को साध्य का ज्ञान कराना–यह परार्थानुमान है यह उपचार से 'अनुमान' है।

० परोपदेशमपेक्ष्य यत्साधनात्साध्यविज्ञानं तत्परार्थानुमानम्।

(न्या.दी. 3/29)

दूसरे के उपदेश की अपेक्षा लेकर जो साधन से साध्य का ज्ञान होता है उसे 'परार्थानुमान' कहते हैं।

० पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारात्।

(षड्.समु.टी. 55/318)

पक्ष और हेतु के कथन को सुनकर श्रोता को उत्पन्न होने वाला 'साध्य का ज्ञान' 'परार्थानुमान' कहलाता है।

० परार्थं पक्षहेतुवचनात्मकमनुमानमुपचारात्। तेन श्रोतुः अनुमानेन अर्थबोधनात्।

(जै.त.भा.प्र.परि., पृ. 43)

पक्ष और हेतु का प्रयोग करना 'परार्थानुमान' है। परार्थानुमान ज्ञानात्मक न होकर वचनात्मक है, इसलिए उसे उपचार से प्रमाण माना गया है। उपचार का कारण यह है कि वचन से श्रोता को अनुमान से ज्ञान होकर अर्थ का बोध उत्पन्न होता है।

० न्यायवाक्यजन्यानुमानत्वं परार्थानुमानस्य लक्षणमित्यर्थः।

(प्र.रत्ना. 3/55)

'न्याय वाक्य' से अनुमान होना 'परार्थानुमान' का लक्षण है।

परार्थानुमान के भेद

० तद् द्वेधा।। तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभेदात्।।

(प्र.मी. 2/1/3–4)

वह (वचनात्मक परार्थानुमान) दो प्रकार का है–तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति।

परार्थानुमान के दो अवयव

० एतावान् प्रेक्षप्रयोगः।।

'एतावान्' एव यदुत तथोपपत्त्यान्यथानुपपत्त्या वा युक्तं साधनं प्रतिज्ञा च। 'प्रेक्षाय' प्रेक्षावते प्रतिपाद्याय तदवबोधनार्थः 'प्रयोगः' न त्वधिकः, नापि हीनः।

(प्र.मी. 2/1/9)

प्रेक्षावान् प्रतिपाद्य के लिये इतना ही अनुमान प्रयोग है। तथोपपत्ति अथवा अनुपपत्ति से युक्त साधन का तथा प्रतिज्ञा का प्रयोग करना–इतना ही बुद्धिमान् प्रतिपाद्य को समझाने के लिये अनुमान का प्रयोग उचित है। न तो इससे अधिक प्रयोग करना चाहिए और न ही कम।

० परार्थानुमानप्रयोजकस्य च वाक्यस्य द्वाववयवौ–प्रतिज्ञा हेतुश्च। तत्र धर्म-धर्मिसमुदायरूपस्य पक्षस्य वचनं प्रतिज्ञा। यथा 'पर्वतोऽयमग्निमान्' इति। साध्याविनाभाविसाधनवचनं हेतुः। यथा–धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेः इति।

(न्या.दी. 3/31)

परार्थानुमान के प्रयोजक वाक्य के दो अवयव हैं–प्रतिज्ञा और हेतु। धर्म–धर्मी समुदाय रूप पक्ष का कथन प्रतिज्ञा होती है, जैसे–'यह पर्वत अग्नि वाला है।' साधन के साथ अविनाभाव सम्बन्ध वाले हेतु का कथन 'हेतु' है, जैसे–'धूमवाला होने के साथ अन्यथाऽनुपपत्ति होने के कारण।

० हेतुपूर्वकम् पुनः पक्षवचनं निगमनम्, तस्मादग्नि-मानेवेति।

(न्या.दी. 3/32)

हेतु पूर्वक पक्ष के कहने को 'निगमन' कहते हैं। जैसे–धूम वाला होने से यह अग्नि वाला ही है।

परार्थानुमान के पांच अवयव

० बोध्यानुरोधात्प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि पंचापि।।

साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा।।

साधनत्वाभिव्यञ्जकविभक्त्यन्तं साधनवचनं हेतुः।।

दृष्टान्तवचनमुदाहरणम्।।

धर्मिणि साधनस्योपसंहार उपनयः।।

साध्यस्य निगमनम्।।

(प्र.मी. 2/1/10–15)

शिष्य के अनुरोध पर (अर्थात् उसकी योग्यता को दृष्टि में रखकर) परार्थानुमान् के ये पांच अवयव भी प्रयोग करने योग्य हैं–1. प्रतिज्ञा, 2. हेतु, 3. उदाहरण, 4. उपनय और 5. निगमन। साध्य का निर्देश करना 'प्रतिज्ञा' है (जैसे–यह पर्वत अग्नि वाला है)। साधनता को प्रकट करने वाली विभक्ति (पंचमी या तृतीया) वाले साधन का कथन 'हेतु' कहलाता है (जैसे–धुआं होने से)। दृष्टान्त का कथन 'उदाहरण' कहलाता है (जैसे–जो जो धूम वाला है, वह वह अग्नि वाला है, जैसे–रसोईघर)।

पक्ष में साधन को दोहराना 'उपनय' है (जैसे–यह पर्वत भी धूम वाला है)।

साध्य का पक्ष में दोहराना 'निगमन' है (जैसे–यह पर्वत अग्नि वाला है)।

परिणाम

० तद्भावः परिणामः।।

(त.सू.दिग. 5/42; श्वे. 5/41)

उसका होना अर्थात् प्रतिसमय बदलते रहना 'परिणाम' है।

० द्रव्यस्य पर्यायो धर्मान्तरनिवृत्तिधर्मान्तरोपजनन-रूपः अपरिस्पन्दात्मकः परिणामः।

(स.सि. 5/22/569)

(द्रव्य में) एक धर्म की निवृत्ति करके दूसरे धर्म के उत्पादन रूप एवं परिस्पन्द-रहित जो द्रव्य की पर्याय है, उसे 'परिणाम' कहते हैं।

० धर्मादीनि द्रव्याणि येनात्मना भवन्ति, स तद्-भावस्तत्त्वं परिणाम इति आख्यायते।

(स.सि. 5/42/608)

धर्मादिक द्रव्य जिस रूप से होते हैं वह तद्भाव या तत्त्व है, और इसे ही 'परिणाम' कहते हैं।

० द्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन प्रयोगविस्रसालक्षणो विकारः परिणामः द्रव्यस्य चेतनस्येतरस्य वा द्रव्यार्थिकनयस्य अविवक्षातो न्यग्भूतां स्वां द्रव्यजातिमजहतः पर्यायार्थिकनयार्पणात् प्राधान्यं बिभ्रता केनचित् पर्यायेण प्रादुर्भावः पूर्वपर्याय-निवृत्तिपूर्वको विकारः प्रयोगविस्रसालक्षणः परिणाम इति प्रतिपत्तव्यः।

(रा.वा. 5/22/10)

द्रव्य का अपनी स्वद्रव्यत्व जाति को नहीं छोड़ते हुए जो स्वाभाविक या प्रायोगिक परिवर्तन होता है, उसे 'परिणाम' कहते हैं। द्रव्यत्व जाति यद्यपि द्रव्य से भिन्न नहीं है,

फिर भी द्रव्यार्थिक की अविवक्षा और पर्यार्थिक की प्रधानता में उसका पृथक् व्यवहार हो जाता है। तात्पर्य यह है कि अपनी मौलिक सत्ता को न छोड़ते हुए पूर्व पर्याय की निवृत्तिपूर्वक जो उत्तर पर्याय का उत्पन्न होना है, वही 'परिणाम' है।

० स्वजातेरविरोधेन विकारो यो हि वस्तुनः।
परिणामः स निर्दिष्टोऽपरिस्पन्दात्मको जिनैः।।
(तत्त्वा. 3/46)
अपनी जाति का विरोध न करते हुए वस्तु का जो विकार है–परिणमन है, उसे जिनेन्द्र भगवान् ने 'परिणाम' कहा है। यह परिणाम हलन-चलन रूप नहीं होता।

० स्वाभवस्तु द्रव्यपरिणामोऽभिहितः।.....द्रव्यवृत्तेर्द्वि-त्रिकोटिसमयस्पर्शिनः प्रतिक्षणं तेन तेन स्वभावेन परिणमनाद् द्रव्यस्वभावभूत एव तावत्परिणामः।
(प्र.सा.तत्त्वप्र. 109)
द्रव्य का स्वभाव 'परिणाम' कहा गया है।.... ..द्रव्य की वृत्ति तीन प्रकार के समय को (भूत, भविष्यत्, वर्तमान काल को) स्पर्शित करती है, इसलिए (वह वृत्ति-अस्तित्व) प्रतिक्षण उस-उस स्वभाव रूप परिणमित होने के कारण द्रव्य का स्वभावभूत 'परिणाम' होता है।

० पूर्वोत्तराकारपरिहारस्वीकारस्थितिलक्षण-परिणामेन।
(प्र.मी. 1/1/33)
पूर्व पर्याय का त्याग (व्यय), उत्तर पर्याय का उत्पाद–इन दोनों के साथ स्थित (ध्रौव्य)–यही(अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकता ही) परिणाम है।

० परिणामोऽवस्थान्तरगमनं न च सर्वथा ह्यव-स्थानम्।
न च सर्वथा विनाशः परिणामस्तद्विदामिष्टः।।
(स्या.मं. 27 में उद्धृत)
एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था को प्राप्त करने को 'परिणाम' कहते हैं। परिणाम न सर्वथा अवस्थान रूप होता है और न सर्वथा विनाश रूप–ऐसा विद्वानों ने कहा है।

० परिणामो द्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन परिस्पन्दे-तरप्रयोजनस्वभावः परिणामः। तद्यथा–वृक्षस्याङ्कुरमूलाद्यवस्थाः परिणामः, आसीदङ्कुरः संप्रति स्कन्धवान्, ऐषमः पुष्पिष्यतीति। पुरुषद्रव्यस्य बालकुमारयुवाद्यवस्थाः परिणामः।
(षड्.समु.टी. 49/173)
अपने निजत्व को न छोड़कर, अपने मूल स्वभाव में हेर-फेर किये बिना एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था को धारण करना 'परिणाम' कहलाता है। परिणाम हलन-चलन रूप भी होता है तथा बिना हिले–डुले ही अवस्थाओं में हेर-फेर होने से भी होता है। जैसे–वृक्ष की अंकुर, जड़ आदि अवस्थाएं परिणाम हैं। यही वृक्ष पहले एक नन्हा-सा अंकुर था, वही अब बड़ी-बड़ी डालियों वाला वृक्ष हो गया है, और इसी में आगे फूल लगेगें। यही मनुष्य बच्चे से कुमार तथा कुमार से जवान हो गया है, बूढ़ा भी यही होगा।

० स च परिणामोऽवस्था।
(पं. 1/117)
गुणों की अवस्था का नाम 'परिणमन' है।

० स्वस्वभावे परिणमनं परिणामः।

(जै.सि.दी. 2/37)

अपने-अपने स्वभाव में परिणत होने को 'परिणाम' कहते हैं।

(द्रष्टव्यः उपयोग, प्रणिधान, भाव)

परिणाम (स्वभाव)

० सदवट्ठिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हि परिणामो। अत्थेसु सो सहावो ट्ठिदिसंभवणाससंबद्धो।

(प्र.सा. 99)

स्वभाव में अवस्थित (होने से) द्रव्य सत् है; द्रव्य का जो उत्पाद-व्यय ध्रौव्य सहित परिणाम है; वह पदार्थों का स्वभाव है।

परिणाम अनित्यता

० तत्र परिणामानित्यता नाम मृत्पिण्डो हि विस्रसा-प्रयोगाभ्याम् अनुसमयमवस्थान्तरं प्रागवस्था-प्रच्युत्या समश्नुते।

(तत्त्व.भा.वृ. 5/4)

स्वभाव अथवा प्रयोग के वश मिट्टी का पिण्ड जो प्रत्येक समय में पूर्व-पूर्व अवस्था को छोड़कर अन्य-अन्य अवस्था को प्राप्त होता है, यही 'परिणाम अनित्यता' है।

परिणाम के पर्याय

० बुद्धी ववसाओ वि य अज्झवसाणं मदी व विण्णाणं।

एक्कट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो।''

(स.सा. 271)

बुद्धि, व्यवसास, अध्यवसाय, मति, विज्ञान, चित्त, भाव, परिणाम–ये एकार्थक हैं।

परिणाम के भेद

० तत्र परिणामो द्विविधः–अनादिरादिमांश्च। अनादिर्लोकसंस्थानमन्दराकारादिः। आदिमान् प्रयोगजो वैस्रसिकश्च।

(रा.वा. 5/22/10)

परिणाम दो प्रकार का है–(1) अनादि (2) आदिमान्। लोक की रचना, सुमेरू पर्वत आदि के आकार इत्यादि अनादि परिणाम हैं। आदिमान् परिणाम दो प्रकार का है–प्रयोग और वैस्रसिक (स्वाभाविक)।

० परिणामो द्विविधः, अनादिरमूर्तेषु धर्मादिषु मूर्तेषु तु सादिरभ्रेन्द्रधनुरादिषु स्तम्भकुम्भाम्भोरूहादिषु च। ऋतुविभागकृतो वेलाविभागकृतश्च परिणाम-स्तुल्यजातीयानां वनस्पत्यादीनामेकस्मिन्काले विचित्रो भवति।

(षड्.समु.टी. 49/174)

परिणाम दो प्रकार का है–एक अनादि परिणाम और दूसरा सादि परिणाम। अमूर्त धर्म आदि द्रव्यों के परिणमन की कोई शुरूआत नहीं है, वह अनादि है। मूर्त पदार्थों का बादल, इन्द्रधनुष आदि रूप से परिणमन सादि परिणाम है। इसके प्रारम्भ का समय निश्चित है। पुद्गल द्रव्य खम्भा बन जाता है; घडा बन जाता है तथा कमल आदि रूप हो जाता है। यह सब सादि परिणाम है। एक ही जाति के वृक्षों में ऋतुभेद तथा समय-भेद से एक ही समय में विचित्र–विचित्र परिणमन देखे जाते हैं।

(दृष्टव्यः कारण के भेद)

परिणाम शक्ति

० द्रव्यस्वभावभूतध्रौव्यव्ययोत्पादालिङ्गितसदृश-विसदृशरूपैकास्तित्वमात्रमयी परिणामशक्तिः।

(स.सा.आ.ख्या., स्याद्वादाधिकार)

द्रव्य के स्वभावभूत ऐसे ध्रौव्य-व्यय-उत्पादों से स्पर्शित जो समान रूप या असमान रूप परिणाम होते हैं, उन स्वरूपों को लिये हुए जो स्वअस्तित्व मात्रमयी आत्मीय शक्ति होती है, इसे 'परिणाम-शक्ति' कहते हैं (यह आत्मा की विविध शक्तियों में से एक शक्ति होती है)।

परीक्षा

० इयमेव परीक्षा यः 'अस्येदमुपपद्यते न वा' इति विचारः।

(सत्य. प्रारम्भ, पृ. 1)

'अमुक की यह उपपत्ति है कि नहीं'—यह जो विचार करना है, वही 'परीक्षा' है।

० परीक्षा तर्कः, परि समन्तादशेषविशेषत ईक्षणं यत्रार्थानामिति व्युत्पत्तेः।

(प्र.क.मा. 6/74)

तर्क को 'परीक्षा' कहते हैं, परि—संमतात् सब ओर से विशेषतया अर्थों का जहां 'ईक्षणं' देखना हो, उसे परीक्षा-परिईक्षा-परीक्षा कहते हैं।

० उद्दिष्टस्य लक्षितस्य च यथावल्लक्षणमुपपद्यते न वा इति प्रमाणतोऽर्थावधारणं परीक्षा।

(न्या.कु. 1/3)

उद्दिष्ट और लक्ष्यभूत वस्तु का लक्षण यथार्थ में घटित होता है या नहीं, इस प्रकार प्रमाण से उसकी यथार्थता का विचार करना इसका नाम 'परीक्षा' है।

० लक्षितस्य इदमित्थं भवति नेत्थम् इति न्यायतः परीक्षणं परीक्षा।

(प्र.मी. 1/1/1)

लक्षित वस्तु का जो लक्षण किया गया है, वह संगत है या नहीं, इस सम्बन्ध में किये जाने वाले विचार को 'परीक्षा' कहा जाता है।

० विरुद्धनानायुक्तिप्राबल्यदौर्बल्यावधारणाय प्रवर्त-मानो विचारः परीक्षा। सा खलु एवं चेद् एवं स्याद्, एवं चेद् एवं न स्याद् इत्येवं प्रवर्तते।

(न्या.दी. 1/6)

विरोधी नाना युक्तियों की प्रबलता और दुर्बलता का निर्णय करने के लिए प्रवृत्त हुए विचार को 'परीक्षा' कहते हैं। वह परीक्षा 'यदि ऐसा हो तो ऐसा होना चाहिए और यदि ऐसा हो तो ऐसा नहीं होना चाहिए—इस प्रकार से प्रवृत्त होती है।

परोक्ष ज्ञान

० आद्ये परोक्षम्।।

(त.सू. 1/11)

आदि के दो ज्ञान (मतिज्ञान और श्रुतज्ञान) परोक्ष प्रमाण हैं।

० जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्ख त्ति भणिदमट्ठेसु।

(प्र.सा. 1/58)

पर (आत्मा से भिन्न इन्द्रियादि) के द्वारा होने वाला जो पदार्थ-सम्बन्धी विज्ञान है, वह 'परोक्ष' कहा गया है।

० कुतोऽस्य परोक्षत्वम् ? परायत्तत्वात्।.....पराणि इन्द्रियाणि मनश्च प्रकाशोपदेशादि च बाह्य-

निमित्तं प्रतीत्य तदावरणकर्मक्षयोपशमापेक्षस्यात्मनो मतिश्रुतम् उत्पद्यमानं परोक्षमित्याख्यायते।

(स.सि. 1/11/174)

मतिज्ञान परोक्ष कैसे हैं ? (उत्तर) क्योंकि वह पर-आश्रित है।.....'पर' इन्द्रियां, मन, प्रकाश, उपदेश आदि, इन बाह्य निमित्तों की अपेक्षा रख कर तथा मतिज्ञानावरण व श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम–इनकी अपेक्षा रख कर ही मति व श्रुत ज्ञान उत्पन्न होते हैं, इसलिए परोक्ष कहे जाते हैं।

० अक्खस्स पोग्गलकया जं दव्विन्दिय-मणपरा तेणं।
तेहिं तो जं नाणं परोक्खमिह तमणुमाणं व।।

(विशे.भा. 90)

चूंकि पुद्गल से निर्मित द्रव्येन्द्रिय व द्रव्य मन अक्ष से 'पर' यानी भिन्न हैं, अतः उनके 'पर' होने से, उनके माध्यम से आत्मा का जो ज्ञान होता है, वह उसी तरह परोक्ष है, जिस तरह अनुमान (परोक्ष है)।

० जीवो अक्खो.....अक्खातो परेसु जं णाणं उप्पज्जति, तं परोक्खं।

(न.चू. 8, पृ. 14)

अक्ष का अर्थ जीव है।.....अक्ष से भिन्न वस्तुओं में जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह 'परोक्ष ज्ञान' है।

० उपात्तानुपात्तपराधान्यादवगमः परोक्षम्। उपात्तानीन्द्रियाणि मनश्च, अनुपात्तं प्रकाशोपदेशादिपरः, तत्प्राधान्यादवगमः परोक्षम्। यथा गतिशक्त्युपेतस्यापि गन्तुमसमर्थस्य यष्ट्याद्यालंबनप्राधान्यं गमनम्, तथा मतिश्रुतावरणक्षयोपशमे सति ज्ञस्वभावस्यात्मनः स्वयमर्थानुपलब्धुमसमर्थस्य पूर्वोक्तप्रत्ययप्रधानं ज्ञानं परायत्तत्वात्तदुभयं परोक्षमित्युच्यते।

(रा.वा. 1/11/6)

उपात्त व अनुपात्त 'पर' पदार्थ की प्रधानता से होने वाला ज्ञान 'परोक्ष' होता है। इन्द्रिय और मन उपात्त हैं। प्रकाश व उपदेश आदि अनुपात्त 'पर' हैं। इनकी प्रधानता (अपेक्षा) से होने वाला ज्ञान 'परोक्ष' होता है। जैसे–गति शक्ति से युक्त व्यक्ति भी (वृद्ध होने पर) गमन में असमर्थ हो जाए, तब उसका लाठी आदि के सहारे को प्रधानता देते हुए गमन करना होता है। वैसे-ही मतिश्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम होने पर भी ज्ञस्वभावी आत्मा स्वयं पदार्थों के बोध करने में असमर्थ रहता है, वह पूर्वोक्त मन व इन्द्रिय–इन 'पर' साधनों से जानता है, उसका यह ज्ञान पराधीन है, इसलिए दोनों (मति व श्रुत) ज्ञान 'परोक्ष' कहे जाते हैं।

० परोक्षमविशदज्ञानात्मकम्।

(प्र.प. 100, पृ. 41)

अविशद (अस्पष्ट) ज्ञान 'परोक्ष' ज्ञान है।

० परेषामायत्तं ज्ञानं परोक्षम्, तदन्यत् प्रत्यक्षम् इति।

(ध. 13, पृ. 212)

पर अर्थात् इन्द्रियों और आलोक आदि के अधीन जो ज्ञान होता है, वह परोक्ष ज्ञान होता है तथा इससे अन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है।

० समुपात्तानुपात्तस्य प्राधान्येन परस्य यत्।
पदार्थानां परिज्ञानं तत्परोक्षमुदाहृतम्।।

(तत्त्वा. 1/16)

गृहीत अथवा अगृहीत 'पर' की प्रधानता से जो पदार्थों का ज्ञान होता है, उसे 'परोक्ष' प्रमाण कहते हैं।

० विशदं प्रत्यक्षम्।।
परोक्षमितरत्।।

(प.मु. 3/1)

विशद ज्ञान प्रत्यक्ष होता है, उस प्रत्यक्ष से इतर अर्थात् जो भिन्न है, वह 'परोक्ष' है।

० अपौद्गलिकत्वादमूर्तो जीवः, पौद्गलिकत्वात् तु मूर्तानि द्रव्येन्द्रिय-मनांसि, अमूर्ताच्च मूर्तं पृथग्भूतम्, ततस्तेभ्यः पौद्गलिकेन्द्रियमनोभ्यो यद् मतिश्रुत-लक्षणं ज्ञानमुपजायते, तद् धूमादेरग्न्यादिज्ञानवत् परनिमित्तत्वात् परोक्षमिह जिनमते परिभाष्यते।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 90)

पौद्गलिक न होने से जीव अमूर्त है। किन्तु द्रव्येन्द्रिय व मन (दोनों) पौद्गलिक होने से मूर्त हैं। अमूर्त से मूर्त भिन्न होता है। इसलिए उन पौद्गलिक द्रव्येन्द्रिय व मन से जो मति व श्रुत संज्ञक जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह जिनमत में उसी तरह परोक्ष रूप में परिभाषित किया गया है, जिस प्रकार धूम आदि को देखकर अग्नि आदि का जो अनुमान किया जाता है, उसे परनिमित्तक (धूम-आधारित) होने से परोक्ष माना जाता है।

० यद् यस्माद् द्रव्येन्द्रियाणि द्रव्यमनश्च, अक्षस्य जीवस्य पराणि भिन्नानि वर्तन्ते, पुद्गलकृतत्वाद् येन। द्रव्येन्द्रिय-मनांसि जीवस्य परभूतानि, तेन तेभ्यो यद् मतिश्रुतलक्षणं ज्ञानमुत्पद्यते, तत् तस्य साक्षादनुत्पत्तेः परोक्षम्।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 90)

चूंकि द्रव्येन्द्रिय व द्रव्यमन अक्षरूप जीव से 'पर' यानी भिन्न हैं, चूंकि वे पुद्गल-कृत हैं, जिससे द्रव्येन्द्रिय व मन जीव से 'पर' (भिन्न) हो जाते हैं। चूंकि ये परभूत हैं, इसलिए उनके माध्यम से होने वाला मति-श्रुत लक्षण जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह जीव के साक्षात् उत्पन्न न होने से परोक्ष ही है।

० अस्पष्टं परोक्षम्।

(प्र.न.त. 3/1; जै.त.भा.प्र.परि., पृ. 25; जै.सि.दी. 9/8)

अस्पष्ट ज्ञान 'परोक्ष' कहलाता है।

० अक्षेभ्यः परतो वर्तते–इति परेण इन्द्रियादिना चोक्ष्यते इति परोक्षम्।

(प्र.मी. 1/1/10)

जो ज्ञान इन्द्रियों से परे (अप्राप्य) हो या पर यानी इन्द्रियादि से उत्पन्न होता हो–वह 'परोक्ष' है।

० अविशदः परोक्षम्।

(प्र.मी. 1/2/1)

अविशद (अपेक्षाकृत कम स्पष्ट) ज्ञान 'परोक्ष' कहा जाता है।

० परोक्षं च आत्मावधानप्रत्यक्षादिकारणकम्।

(प्र.प्र. 1/11)

परोक्ष प्रमाण वह है, जिसमें आत्मा के अवधान के साथ प्रत्यक्ष आदि कोई प्रमाण कारण होता है।

० अविशदप्रतिभासं परोक्षम्।

(न्या.दी. 3/1)

अविशद प्रतिभास को 'परोक्ष' कहते हैं।

० अक्षाणां परं–अक्षव्यापारनिरपेक्षं मनोव्यापारेणा-साक्षादर्थपरिच्छेदकम् परोक्षमिति परशब्दसमानार्थेन 'परस्'शब्देन सिद्धम्।

(षड्.समु.टी. 55/299)

इन्द्रियों से परे हो अर्थात् जिसमें इन्द्रियव्यापार की अपेक्षा न हो, केवल मन के व्यापार से ही जो ज्ञान वस्तु को असाक्षात् रूप से जाने, उसे 'परोक्ष' कहते हैं। पर शब्द का पर्यायवाची 'परस्' शब्द भी है। परस् + अक्ष = परोक्ष शब्द सिद्ध होता है।

० अविशदमविसंवादि ज्ञानं परोक्षम्।

(षड्.समु.टी. 55/317)

अस्पष्ट, अविसंवादी ज्ञान को 'परोक्ष' कहते हैं।

० साहाय्यापेक्षं परोक्षम्।

(भि.न्या. 3/1)

जिसमें दूसरे हेतुओं की सहायता अपेक्षित हो, उसे 'परोक्ष प्रमाण' (ज्ञान) कहा जाता है।

(द्रष्टव्य : प्रमाण)

परोक्ष प्रमाण

० (द्रष्टव्य : परोक्ष ज्ञान)

परोक्ष प्रमाण के दो भेद

० परोक्खे णाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा–आभिणि-बोहियणाणे चेव सुयणाणे चेव।

(ठा.सू. 2/100)

परोक्ष ज्ञान दो प्रकार का है–आभिनिबोधिक ज्ञान और श्रुतज्ञान।

० परोक्खं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा–आभिणिबो-हियनाणपरोक्खं च सुयनाणपरोक्खं च।

(नन्दी. 3/34)

परोक्ष ज्ञान दो प्रकार का है–आभिनिबोधिक ज्ञान (परोक्ष) और श्रुतज्ञान (परोक्ष)।

० (आद्ये परोक्षम्।).....तदेवमाद्ये मतिज्ञानश्रुतज्ञाने परोक्षं प्रमाणं भवतः। कुतः? निमित्तापेक्षत्वात्।

(त.सू. 1/11; तत्त्व.भा. 1/11)

आदि के दो ज्ञान अर्थात् मतिज्ञान व श्रुतज्ञान- ये परोक्ष प्रमाण (के भेद) हैं।

परोक्ष प्रमाण के पांच या छः भेद

० प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमाना-गमभेदम्।

(प.मु. 3/2; न्या.दी. 3/3)

प्रत्यक्ष आदि जिसके निमित्त हैं, वे परोक्ष प्रमाण हैं। इसके पाँच भेद हैं–स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम।

० तच्च (परोक्षं) स्मरण-प्रत्यभिज्ञानतर्काऽनुमानाऽऽग-मभेदतः पञ्चप्रकारम्।

(जै.त.भा.प्र.परि., पृ. 25)

परोक्ष प्रमाण के पांच भेद कहे गये है– 1. स्मरण, 2. प्रत्यभिज्ञान, 3. तर्क, 4. अनुमान और 5. आगम।

० स्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानागमास्तद्विधयः।।

(प्र.मी. 1/2/2)

स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, ऊह, अनुमान और आगम– ये परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद हैं।

० स्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदतस्तत् पञ्च-प्रकारम्।

(प्र.न.त. 3/2)

परोक्ष प्रमाण पांच प्रकार का है–स्मरण, प्रत्य-भिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम।

० स्मृतिः प्रत्यभिज्ञानम्, तर्कः, अनुमानम्, आगमश्चेति।

(न्या.दी. 3/3)

परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद हैं–1. स्मृति, 2. प्रत्यभिज्ञान, 3. तर्क, . अनुमान और 5. आगम।

० परोक्षं च.....स्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहापोहतर्कानुमा-नागमभेदम्।

(प्र.प्र. 1/11)

परोक्ष प्रमाण के छह प्रकार हैं–स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, ऊहापोह, तर्क, अनुमान और आगम।

० स्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदतस्तत्पञ्चधा।

(षड्.समु.टी. 55/317)

परोक्ष के पांच भेद हैं–स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम।

पर्यनुयोज्योपेक्षण निग्रहस्थान

० निग्रहप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणं नाम निग्रहस्थानं भवति।

(प्र.मी. 2/1/34)

निग्रहप्राप्त का निग्रह न करना–यह 'पर्यनु-योज्योपेक्षण' नामक निग्रहस्थान होता है।

० प्राप्तदोषानुद्भावनं पर्यनुयोज्योपेक्षणं नाम निग्रह-स्थानम्।

(प्र.प्र. 1/83)

(प्रतिपक्ष में) प्राप्त हुए दोष को न बतलाना–यह 'पर्यनुयोज्योपेक्षण' नाम का निग्रहस्थान होता है।

(द्रष्टव्य : निग्रहस्थान)

पर्याय

० लक्खणं पज्जवाणं तु, उभओ अस्सिया भवे।।

(उत्तर.सू. 28/6)

द्रव्य और गुण दोनों के आश्रित रहना 'पर्याय' का लक्षण है।

० एगत्तं च पुहत्तं च, संखा संठाणमेव य।
संजोगा य विभागा य पज्जवाणं तु लक्खणं।।

(उत्तर.सू. 28/13)

एकत्व, पृथक्त्व, संख्या, संस्थान, संयोग और विभाग–ये पर्यायों के लक्षण हैं।

० भावान्तरं संज्ञान्तरं च पर्यायः।

(तत्त्व.भा. 5/37)

भावान्तर और संज्ञान्तर को 'पर्याय' कहते हैं।

० पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूवेंति।।

(पंचा. 12)

पर्याय के बिना द्रव्य नहीं रहता, और द्रव्य से पृथक् पर्यायें नहीं होतीं। (इसलिए) श्रमण इन दोनों की अनन्यता (अभिन्नता) को प्ररूपित करते हैं।

० व्यतिरेकिणः पर्यायाः।
सामान्यापेक्षया अन्वयिनो ज्ञानादयो जीवस्य गुणाः पुद्गलादीनां च रूपादयः। तेषां विकारा विशेषात्मना भिद्यमानाः पर्यायाः।

(स.सि. 5/38/600; पंचा.त.प्र. 5)

पर्याय व्यतिरेकी होते हैं, इसलिए सामान्य की अपेक्षा जो अन्वयी ज्ञानादि हैं, वे जीव के गुण हैं और रूपादिक तो पुद्गलादिक के गुण हैं। इनके विकार विशेष रूप से भेद को प्राप्त होते हैं, इसलिए वे 'पर्याय' कहलाते हैं।

० परि समन्तादायः पर्यायः।

(रा.वा. 1/33/1)

जो सभी ओर से भेद को प्राप्त करे, वह 'पर्याय' है।

० पर्यायो द्रव्यविक्रिया।

(तत्त्वा. 3/9)

द्रव्य का जो विकार है, वह 'पर्याय' कहलाता है।

० क्रमवर्तिनः पर्यायाः। वस्तुनो विशेषा हि व्यतिरेकिणः पर्यायाः।

(पंचा.त.प्र. 5)

जो क्रमवर्ती होती हैं, वे 'पर्याय' हैं। वस्तु में अनेक अवस्था रूप जो परिणमन हैं, वे पर्यायें हैं।

० अवयविनो हि जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशपदार्थाः, तेषामवयवा अपि प्रदेशाख्याः परस्परव्यतिरेकित्वात् पर्याया उच्यन्ते।

(पंचा.त.प्र. 5)

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकश—ये पदार्थ अवयवी हैं, प्रदेश नाम के उनके जो अवयव हैं, वे भी परस्पर-व्यतिरेकवाले होने से 'पर्याय' कहे जाते हैं।

० गुणविकाराः पर्यायाः। (15)

स्वभावविभावरूपतया याति पर्येति परिणमतीति पर्यायः (105)

(आ.प. 105)

गुणों के विकार को 'पर्याय' कहते हैं। (15) जो स्वभाव या विभावरूप से सदैव परिणमन करती रहती हैं, वह पर्याय है। (105)

० एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्यायाः, आत्मनि हर्षविषादादिकाः।

(प.मु. 4/8)

एक ही द्रव्य में क्रम से होने वाले परिणामों को 'पर्याय' कहते हैं। जैसे —एक ही आत्मा में हर्ष और विषाद।

० क्रमभुवः पर्यायाः।

(न्या.कु. 5/42)

पर्याय क्रमभावी होते हैं।

० विसेसरूवो हवेइ पज्जावो।

(कार्ति. 240)

विशेष रूप को 'पर्याय' कहते हैं।

० क्रमवर्तिनो ह्यनित्या अथ च व्यतिरेकिणश्च पर्यायाः। उत्पादव्ययरूपा अपि च ध्रौव्यात्मकाः कथंचिच्च।।

(पं. 1/165)

जो क्रमवर्ती, अनित्य, व्यतिरेकी, उत्पाद-व्ययरूप और कथंचित् ध्रौव्यात्मक होती हैं, वे पर्याय कहलाती हैं।

० अंशाः पर्यायाः।

(पं. 1/519)

अंश नाम पर्यायों का है।

० पर्यायः क्रमभावी।

(द्रव्य.तर्क. 2/2)

द्रव्य में जो क्रम से होने वाला है, उसको 'पर्याय' कहते हैं।

० क्रमभावी अयावद्द्रव्यभावी पर्यायः।

(द्रव्य.तर्क. 2/2)

क्रमभावी हो, यावद् द्रव्यभावी न हो अर्थात् उस सम्पूर्ण द्रव्यमात्र में जो न रहे, किसी दशा में रहे, उसको 'पर्याय' कहते हैं।

० पूर्वोत्तराकारपरित्यागादानं पर्यायः।

(जै.सि.दी. 1/44)

पूर्व आकार के परित्याग और उत्तर आकार की प्राप्ति को 'पर्याय' कहते हैं।

पर्याय के पर्याय

० पर्यायो विशेषोऽपवादो व्यावृत्तिरित्यर्थः।

(स.सि. 1/33/241)

पर्याय का अर्थ विशेष, अपवाद, और व्यावृत्ति है।

० ववहारो य वियप्पो भेदो तह पज्जओत्ति एयट्ठो।

(गो.सा.जी. 572)

व्यवहार, विकल्प, भेद और पर्याय–ये सब एकार्थ हैं।

० पर्ययः पर्यवः पर्याय इत्यनर्थान्तरम्।

(स्या.मं. 23)

पर्यय, पर्यव और पर्याय–ये एकार्थवाची हैं।

० अपि चांशः पर्यायो भागो हारो विधा प्रकारश्च।
भेदश्छेदो भंगः शब्दाश्चैकार्थवाचका एते।।

(पं. 1/60)

अंश, पर्याय, भाग, हार, विधा, प्रकार, भेद, छेद और भंग–ये सब एक ही अर्थ के वाचक हैं।

पर्याय के भेद

० पर्यायास्तु.....द्रव्यात्मका अपि गुणात्मका अपि।

(प्र.सा.तत्त्वप्र. 93)

पर्याय गुणात्मक भी होते हैं और द्रव्यात्मक भी होते हैं।

० स्वभावविभावपर्य्यायाणां मध्ये स्वभावपर्यायस्तावत् द्विप्रकारेणोच्यते। कारणशुद्धपर्य्यायः कार्यशुद्ध-पर्य्यायश्चेति।

(नि.सा.ता.वृ. 15)

स्वभाव पर्यायों व विभाव पर्यायों के बीच प्रथम स्वभाव पर्याय दो प्रकार से कही जाती है–कारण शुद्धपर्याय, और कार्य शुद्धपर्याय।

० अथवा द्वितीयप्रकारेणार्थव्यञ्जनपर्यायरूपेण द्विधा पर्याया भवन्ति।

(पंचा.ता.वृ. 16)

अथवा दूसरे प्रकार से, अर्थपर्याय व व्यंजन-पर्याय रूप से पर्याय दो प्रकार की होती है।

० द्विधा पर्यायाः द्रव्यपर्याया गुणपर्यायाश्च।

(पंचा.ता.वृ. 16)

पर्याय दो प्रकार की होती हैं–द्रव्य पर्याय और गुणपर्याय।

० पर्यायो द्विविधः–अर्थपर्यायो व्यञ्जनपर्यायश्चेति।

(न्या.दी. 3/77)

पर्यायें दो प्रकार की हैं–1. अर्थपर्याय, 2. व्यंजनपर्याय।

(द्रष्टव्य : परपर्याय, स्वपरपर्याय)

पर्यायार्थिक नय

० पर्यायोऽर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ पर्यायार्थिकः।

(स.सि. 1/6/24)

पर्याय जिसका अर्थ यानी प्रयोजन है, वह 'पर्यायार्थिक नय' है।

० पर्यायो विशेषोऽपवादो व्यावृत्तिरित्यर्थः। तद्विषयः पर्यायार्थिकः।

(स.सि. 1/33/241)

पर्याय का अर्थ विशेष, अपवाद और व्यावृत्ति है और इसको विषय करने वाला नय 'पर्यायार्थिक नय' कहलाता है।

० परि भेदमेति गच्छतीति पर्यायः, पर्याय एवार्थः प्रयोजनस्येति पर्यायार्थिकः।

(ध. 1, पृ. 85)

'परि' अर्थात् भेद को जो प्राप्त होता है, उसे 'पर्याय' कहते हैं। वह पर्याय ही जिस नय का प्रयोजन हो, उसे 'पर्यायार्थिकनय' कहते हैं।

० पर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः।

(आ.प. 191)

पर्याय ही जिसका प्रयोजन है, वह 'पर्यायार्थिक नय' होता है।

० पर्याय एवार्थो यस्यास्त्यसौ पर्यायार्थिकः।

(प्र.क.मा. 6/74)

पर्याय ही जिसका विषय है, वह 'पर्यायार्थिक' नय है।

० जो साहेदि विसेसे बहुविहसामण्णसंजुदे सव्वे। साहणलिंगवसादो, पज्जयविसयो णओ होदि।।

(कार्ति. 270)

जो नय अनेक प्रकार के सामान्य सहित समस्त विशेष को, उनकी सिद्धि से जुड़े हेतु (प्रयोजनविशेष) को ध्यान में रखकर सिद्ध करता है, वह 'पर्यायार्थिकनय' होता है।

० अंशाः पर्याया इति तन्मध्ये यो विवक्षितोंऽशः सः। अर्थो यस्येति मतः पर्यायार्थिकनयस्त्वनेकश्च।।

(पं. 1/519)

अंश नाम पर्यायों का है। इनमें से जो विवक्षित अंश है, वह जिस नय का विषय है, वह 'पर्यायार्थिक' नय है। इसके अनेक भेद हैं।

० पर्यायार्थिकनय इति यदि वा व्यवहार एव नामेति। एकार्थो यस्मादिह सर्वोऽप्युपचारमात्रः स्यात्।।

(पं. 1/521)

पर्यायार्थिक नय कहें या व्यवहार नय–इन दोनों का एक ही अर्थ है, क्योंकि इस नय के विषय में जितना भी व्यवहार होता है, उपचार मात्र होता है।

० प्राधान्येन पर्यायमात्रग्राही पर्यायार्थिकः।

(जै.त.भा.नय परि., पृ. 59)

प्रधान रूप से पर्याय मात्र का ग्राहक 'पर्यायार्थिक नय' होता है।

(द्रष्टव्य : पर्यायास्तिक नय)

पर्यायार्थिक नय के भेद

० पर्यायार्थिकस्य षड्भेदाः।

(आ.प. 57)

पर्यायार्थिक नय के छह भेद हैं।

० पर्यायार्थिकश्चतुर्द्धा-ऋजुसूत्रः, शब्दः, समभिरूढः, एवंभूतश्च।।

(प्र.न.त. 7/27; भि.न्या. 5/9)

पर्यायार्थिक नय चार प्रकार का है–ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत।

० पर्यायार्थिकश्चतुर्द्धा ऋजुसूत्रशब्द समभिरूढ़ैवम्भूतभेदात्।

(जै.त.भा.नय परि., पृ. 59)

पर्यायार्थिक नय चार प्रकार के हैं–1. ऋजुसूत्र, 2. शब्द, 3. समभिरूढ़ और 4. एवम्भूत।
(द्रष्टव्य : द्रव्यार्थिकनय के भेद)

पर्यायार्थिकनयाभास

० पर्यायमात्रग्राही द्रव्यप्रतिक्षेपी पर्यायार्थिकाभासः।

(जै.त.भा.नय परि., पृ. 65)

पर्यायमात्र को ग्रहण करने वाला और द्रव्य का निषेध करने वाला 'पर्यायार्थिक नयाभास' कहलाता है।

पर्यायार्थिकनैगमनय

० ऋजुसूत्रादिनयचतुष्टयविषयं युक्त्यवष्टम्भबलेन प्रतिपन्नः पर्यायार्थिकनैगमः।

(ज.ध. 1, पृ. 222)

ऋजुसूत्र चारों पर्यायार्थिक नयों के विषय को युक्तिरूप आधार के बल से स्वीकार करने वाला 'पर्यायार्थिकनैगम' नय होता है।

पर्यायास्तिक नय

० पर्याय एवास्ति इति मतिरस्य जन्मादिभावविकारमात्रमेव भवनं, न ततोऽन्यद् द्रव्यमस्ति, तद्व्यतिरेकेण अनुपलब्धेः इति पर्यायास्तिकः।

(रा.वा. 1/33/1)

पर्याय ही है–ऐसी जिसकी बुद्धि है, अर्थात् केवल जन्म आदि भाव विकार ही सत् है, उससे भिन्न कोई द्रव्य नहीं है, क्योंकि पर्याय से पृथक् द्रव्य की उपलब्धि नहीं होती–ऐसा जो मानता है, वह पर्यायास्तिक नय है।
(द्रष्टव्य : पर्यायार्थिक नय)

पर्यायास्तिक नय के भेद

० पर्यायार्थगताः परे।

(नयो. 18)

द्रव्यास्तिक नय से शेष नय पर्यायास्तिक नय हैं। अर्थात् तार्किकों के मत में अंतिम चार (ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़, एवम्भूत) नय पर्यायास्तिक नय हैं और सैद्धान्तिकों के मत में शेष तीन (शब्द, समभिरूढ व एवम्भूत) नय 'पर्यायास्तिक' नय हैं।

पारतन्त्र्य

० पराश्रितत्वं हि पारतन्त्र्यम्।

(आप्त. 77, पृ. 129)

अन्य पर आश्रित होना–यही परतन्त्रता है।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष

० सकलावरणमुक्तात्मकेवलं यत्प्रकाशते।
प्रत्यक्षं सकलार्थात्मसततप्रतिभासनम्।।

(न्यायाव. 27)

सकल आवरणों से रहित हो करके और सकल वस्तुओं के स्वरूप को सतत प्रतिभासित करने वाला जो ज्ञान केवल, अर्थात् ज्ञानान्तर से निरपेक्ष होकर प्रकाशित होता है, वह 'पारमार्थिक प्रत्यक्ष' कहलाता है।

० पारमार्थिकं पुररुत्पत्तावात्ममात्रापेक्षम्।

(प्र.न.त. 2/18)

जो ज्ञान आत्मा से ही उत्पन्न होता है, उसे 'पारमार्थिक प्रत्यक्ष' कहते हैं।

० क्षयक्षयोपशमविशेषविशिष्टमात्मद्रव्यमेवाऽव्यवहितं समाश्रित्य पारमार्थिकमेतदवध्यादिप्रत्यक्षमुन्मज्जति।

(र.करा. 2/18)

(अपने आवरण के) क्षय एवं क्षयोपशम विशेष से विशिष्ट आत्म द्रव्य से अव्यवहित एवं उस पर आश्रित ज्ञान को 'पारमार्थिक प्रत्यक्ष' कहते हैं। इस प्रकार अवधिज्ञान आदि प्रत्यक्ष ज्ञान है।

० पारमार्थिकं त्वात्मसंनिधिमात्रापेक्षमवध्यादि प्रत्यक्षम्।

(षड्.समु.टी. 55/313)

जो आत्मा मात्र से उत्पन्न होते हैं, वे अवधि ज्ञान, मनःपर्याय ज्ञान व केवल ज्ञान– 'पारमार्थिक प्रत्यक्ष' कहलाते हैं।

० स्वोत्पत्तावात्मव्यापारमात्रापेक्षं पारमार्थिकम्।

(जै.त.भा.प्र.परि., पृ. 21)

जो ज्ञान अपनी उत्पत्ति में सिर्फ आत्मा के ही व्यापार की अपेक्षा रखता है, मन और इन्द्रियों की सहायता जिसमें अपेक्षित नहीं है, वह पारमार्थिक प्रत्यक्ष है।

(द्रष्टव्य : अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष, केवलज्ञान, मुख्य प्रत्यक्ष)

पारमार्थिक प्रत्यक्ष के भेद

० तत्र प्रत्यक्षं द्विविधं, सकलविकलप्रत्यक्षभेदात्।

(ध. 9, पृ. 142)

सकल प्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्ष के भेद से प्रत्यक्ष दो प्रकार का है।

० तद् विकलं सकलं च।।
तत्र विकलमवधिमनःपर्यायज्ञानरूपतया द्वेधा।।
सकलं तु सामग्रीविशेषतः समुद्भूतं समस्तावरणक्षयापेक्षं, निखिलद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारिस्वरूपं केवलज्ञानम्।।

(प्र.न.त. 2/19–20, 23)

वह (पारमार्थिक प्रत्यक्ष) दो प्रकार का है– 1. विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष और 2. सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष।
विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष दो प्रकार का है– 1. अवधिज्ञान और 2. मनःपर्यय ज्ञान।
(सम्यग्दर्शन आदि अंतरंग सामग्री और तपश्चर्या आदि बाह्य रूप) विशेष सामग्री से समस्त घाति कर्मों का क्षय होने पर उत्पन्न होने वाला तथा समस्त द्रव्यों और समस्त पर्यायों को प्रत्यक्ष करने वाला 'केवल ज्ञान' सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहलाता है।

० परमार्थे भवं पारमार्थिकं मुख्यम्, आत्मसंनिधिमात्रापेक्षम्। बाह्येन्द्रियादि-सामग्रीसापेक्षत्वादपारमार्थिकम्।

(र.करा. 2/4)

जिसमें परमार्थ की मुख्यता होती है, उसे 'पारमार्थिक' कहते हैं, आत्मस्वरूप की मुख्यता से जो ज्ञान होता है, उसे 'पारमार्थिक प्रत्यक्ष' कहते हैं। बाह्य इन्द्रिय आदि की सापेक्षता से जो ज्ञान होता है, उसे 'अपारमार्थिक प्रत्यक्ष' कहते हैं।

० असम्पूर्णपदार्थपरिच्छेदकत्वाद् विकलम्, तद्विपरीतं तु सकलम्।

(र.करा. 2/19)

विकल अर्थात् अधूरा या जो असम्पूर्ण हो, उसे 'विकल' पारमार्थिक प्रत्यक्ष और जो सम्पूर्ण है अर्थात् कोई भी पदार्थ इससे बाहर नहीं है, उसे 'सकल पारमार्थिक' प्रत्यक्ष कहते हैं।

० तद् द्विविधम् क्षायोपशमिकं क्षायिकं च।

(स्या.मं. 28)

पारमार्थिक प्रत्यक्ष क्षायोपशमिक व क्षायिक के भेद से दो प्रकार का है।

० तत् त्रिविधम्–अवधिमनःपर्ययकेवलभेदात्।

(जै.त.भा.प्र.परि., पृ. 21)

वह (पारमार्थिक प्रत्यक्ष) तीन प्रकार का है– 1. अवधिज्ञान, 2. मनःपर्ययज्ञान और 3. केवलज्ञान।

पारमार्थिकप्रत्यक्षाभास

० पारमार्थिकप्रत्यक्षमिव यदाभासते तत्तदाभासम्।। यथा–शिवाख्यस्य राजर्षेरसंख्यातद्वीपसमुद्रेषु सप्तद्वीपसमुद्रज्ञानम्।।

(प्र.न.त. 6/29–30)

जो ज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष न हो, किन्तु पारमार्थिक प्रत्यक्ष जैसा जान पड़ता हो उसे 'पारमार्थिक प्रत्यक्षाभास' कहते हैं।

जैसे–शिव नाम राजर्षि का असंख्यात द्वीप-समुद्रों में से सिर्फ सात द्वीप-समुद्रों का ज्ञान।

पुनरूक्त निग्रहस्थान

० शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरूक्तं नाम निग्रहस्थानं भवत्यन्यत्रानुवादात्।

(प्र.मी. 2/1/34; प्र.प्र. 1/83)

अनुवाद में जो शब्दार्थ की पुनरुक्ति होती है, उसे छोड़कर (वादी या प्रतिवादी द्वारा) शब्द और अर्थ की पुनरुक्ति (बराबर दुहराने की प्रवृत्ति) की जाती है तो वहां 'पुनरुक्त' निग्रहस्थान होता है।

पृथक्त्व

० पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तमिदि सासणं हि वीरस्स।

(प्र.सा. 2/14)

प्रदेशों का अत्यन्त भिन्न-भिन्न होना–यह 'पृथक्त्व' का लक्षण है।

० यत्र द्रव्यस्य भेदेन व्यपदेशादिः, तत्र पृथक्त्वम्।

(पंचा.त.प्र. 47)

जहां द्रव्य के भेदपूर्वक व्यपदेश (कथन) आदि हों, वहां 'पृथक्त्व' है।

० प्रविभक्तप्रदेशत्वं हि पृथक्त्वस्य लक्षणम्।

(प्र.सा.तत्त्वप्र. 2/14)

विभक्तप्रदेशत्व (भिन्न–भिन्न प्रदेश होना) 'पृथक्त्व' का लक्षण है।

० द्रव्यगुणपर्यायाणां भिन्नत्वं पृथक्त्वं भण्यते।

(बृ.द्र.सं.वृ. 48)

द्रव्य, गुण और पर्याय–इनके भिन्नपने को 'पृथक्त्व' कहते हैं।

(द्रष्टव्य : पर्याय)

प्रकरणसम हेत्वाभास

० प्रतिसाधनप्रतिरूद्धो हेतुः प्रकरणसमः, यथा–'अनित्यः शब्दो नित्यधर्मरहितत्वात्' इति।

(न्या.दी. 3/40)

विरोधी साधन जिसका उपलब्ध हो, वह हेतु 'प्रकरणसम' (अथवा सत्प्रतिपक्ष) हेत्वाभास है।

जैसे–'शब्द अनित्य है, क्योंकि वह नित्यधर्म-

रहित है।

प्रकरणसमा जाति (दूषणाभास जात्युत्तर के भेद)

० द्वितीयपक्षोत्थापनबुद्ध्या प्रयुज्यमाना सैव साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा वा जातिः प्रकरणसमा भवति। तत्रैव अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घट-वदिति प्रयोगे नित्यः शब्दः श्रावणत्वाच्छब्दत्ववदिति उद्भावनप्रकारभेदमात्रे सति नानात्वं द्रष्टव्यम्।

(प्र.मी. 2/1/29)

दूसरे पक्ष को खड़ा करने की बुद्धि से प्रयोग में लाई जाने वाली वही साधर्म्य या वैधर्म्य जाति 'प्रकरणसमा' जाति (दूषणाभास) कहलाती है। जैसे–शब्द अनित्य है, क्योंकि कृतक है, जैसे घट। इस प्रकार अनुमान प्रयोग करने पर जातिवादी कहता है–शब्द नित्य है, क्योंकि श्रावण है, जैसे शब्दत्व। यद्यपि तात्पर्य वही है; फिर भी दोषोद्भावन के तरीके में भेद होने से इस जाति को भिन्न कहा है।

० प्रत्यनुमानेन प्रत्यवस्थानं प्रकरणसमा जातिः।

(प्र.प्र. 1/61)

विरोधी अनुमान का प्रयोग कर उत्तर देना –यह 'प्रकरणसमा' जाति (दूषणाभास) है।

प्रकाश

० स्वतो व्यतिरिक्तबाह्यार्थावगतिः प्रकाशः।

(ध. 1, पृ. 147)

अपने से भिन्न बाह्य पदार्थों के ज्ञान को 'प्रकाश' कहते हैं।

प्रणिधान

० प्रणिधानं विशिष्टश्चेतोधर्मः।

(दश.नि.हरि.वृ. 23)

चित्त के विशिष्ट-एकाग्रतारूप-धर्म को 'प्रणिधान' कहा जाता है।

(द्रष्टव्य : उपयोग)

प्रणिधान के पर्याय

० प्रणिधानं प्रयोगः परिणाम इत्यनर्थान्तरम्।

(रा.वा. 7/33/2)

परिणाम, प्रयोग व प्रणिधान–ये एकार्थवाची शब्द हैं।

प्रणिधान के भेद

० कतिविधे णं भंते! पणिहाणे पन्नत्ते ?
गोयमा! तिविहे पणिहाणे पन्नत्ते। तं जहा–मणपणिहाणे वइपणिहाणे कायपणिहाणे।

(भ.सू. 18/7/12)

भगवन्! प्रणिधान कितने प्रकार का कहा गया है?
गौतम! प्रणिधान तीन प्रकार का कहा गया है। यथा–1. मनः-प्रणिधान, 2. वचन-प्रणिधान और 3. काय-प्रणिधान।

० पणिधाणं पि य दुविहं इंदिय-णोइंदियं च बोधव्वं।
सद्दादि-इंदियं पुण कोधाईयं भवे इदरं।।
सद्दरसरूवगंधे फासे य मणोहरे य इयरे य।
जं रागदोसगमणं पंचविहं होदि पणिधाणं।।
णोइंदियपणिधाणं कोधो माणो तधेव माया य।
लोभो य णोकसाया.....।।

(भ.आ. 115–117)

'प्रणिधान' के भी दो भेद हैं–इन्द्रिय और नोइन्द्रिय। शब्द आदि इन्द्रिय प्रणिधान हैं, और क्रोधादिक नोइन्द्रिय प्रणिधान हैं, ऐसा

जानना चाहिए। मनोहर और अमनोहर शब्द, रस, रूप, गन्ध और स्पर्श में जो राग-द्वेष होता है, वह पांच प्रकार का 'इन्द्रिय प्रणिधान' होता है। नो-इन्द्रिय प्रणिधान क्रोध, मान माया व लोभ और नोकषाय हैं।

० पणिधाणंपि य दुविहं पसत्थं तह अप्पसत्थं च।
समिदीसु य गुत्तीसु य पसत्थ सेसमप्पसत्थं तु।।
(मू.आ. 298)

प्रणिधान के भी दो भेद है—शुभ और अशुभ। पाँच समिति और तीन गुप्तियों में जो परिणाम हैं, वे शुभ होते हैं और शेष इन्द्रिय-विषयों में जो परिणाम हैं, वे अशुभ है।
(द्रष्टव्य : उपयोग के पर्याय)

प्रतिज्ञा

० धर्म-धर्मिसमुदायः प्रतिज्ञा।
(प्र.प. 88, पृ. 37; प्र.र.मा. 2/3)

धर्म अर्थात् साध्य, और धर्मी अर्थात् पक्ष के समुदाय को 'प्रतिज्ञा' कहते हैं।

० साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा।
यथा—अयं प्रदेशोऽग्निमानिति।।
(प्र.मी. 2/1/11)

साध्य का निर्देश करना 'प्रतिज्ञा' है। जैसे—'यह प्रदेश अग्निमान् है'।

० विषयोपदर्शनार्थं तु प्रतिज्ञा।।
(प्र.मी. 2/1/7)

प्रतिज्ञा विषय के उपदर्शन के लिये होती है।

० धर्म-धर्मिसमुदायस्य पक्षस्य वचनं प्रतिज्ञा।
(न्या.दी. 3/31)

धर्म और धर्मी के समुदाय रूप पक्ष के कहने को 'प्रतिज्ञा' कहते हैं।

० पक्षवचनं प्रतिज्ञा। यथा-पर्वतोऽयमग्निमानिति।
(न्या.दी. 3/32)

पक्ष के प्रयोग करने को 'प्रतिज्ञा' कहते हैं। जैसे—यह पर्वत अग्नि वाला है।
(द्रष्टव्य : परार्थानुमान के अवयव)

प्रतिज्ञान्तर निग्रहस्थान

० प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे परेण कृते तत्रैव धर्मिणि धर्मान्तरं साधनीयमभिदधतः प्रतिज्ञान्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति।
(प्र.मी. 2/1/34)

प्रतिज्ञात अर्थ का प्रतिवादी द्वारा निषेध करने पर यदि वादी उसी पक्ष में दूसरे धर्म को सिद्ध करने लगे तो 'प्रतिज्ञान्तर' नामक निग्रहस्थान होता है।

० सिद्धसाध्यत्वेन हेतोः अकिंचित्करत्वोद्भावने पश्चात् साध्य-विशेषणोपादानं प्रतिज्ञान्तरं नाम निग्रहस्थानम्।
(प्र.प्र. 1/72)

साध्य के पहले ही सिद्ध होने के कारण हेतु को अकिंचित्कर बतलाये जाने के बाद साध्य में किसी विशेषण का ग्रहण करना—यह 'प्रतिज्ञान्तर' नाम का निग्रहस्थान है।

प्रतिज्ञाविरोध निग्रहस्थान

० प्रतिज्ञायाः विरोधो यो हेतुना संप्रतीयते।
स प्रतिज्ञाविरोधः स्यात्.....।।
(तत्त्व.श्लो. 1/33/140)

हेतु से प्रतिज्ञा का जहां जो विरोध प्रतीत होता है, वहां प्रतिज्ञाविरोध (निग्रह स्थान) कहलाता है।

० ''प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः'' नाम निग्रहस्थानं भवति। यथा गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धेरिति। सोऽयं प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः, यदि गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं कथं रूपादिभ्यः अर्थान्तरस्यानुपलब्धिः? अथ रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिः कथं गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यमिति? तदयं प्रतिज्ञा-विरूद्धाभिधानात् पराजीयते।

(प्र.मी. 2/1/34)

प्रतिज्ञा और हेतु में विरोध होना–यह 'प्रतिज्ञा–विरोध' नामक निग्रहस्थान होता है। जैसे–द्रव्य गुणों से भिन्न है, क्योंकि रूप आदि से भिन्न उपलब्ध नहीं होता। यहाँ प्रतिज्ञा और हेतु में विरोध है–यदि द्रव्य गुणों से भिन्न है तो रूपादि से भिन्न उपलब्ध होना चाहिए। यदि भिन्न नहीं उपलब्ध होता तो उसे भिन्न कैसे माना जा सकता है? इस प्रकार प्रतिज्ञा से विरुद्ध हेतु का प्रयोग करने से वादी पराजित हो जाता है।

० धर्मधर्मिविरोधः प्रतिज्ञाविरोधो नाम निग्रहस्थानम्।

(प्र.प्र. 1/73)

धर्म (गुण) और धर्मी (गुणवान) में विरोध होना–यह 'प्रतिज्ञाविरोध' नाम का निग्रहस्थान है।

प्रतिज्ञासंन्यास निग्रहस्थान

० पक्षसाधने परेण दूषिते तदुद्धरणाशक्त्या प्रतिज्ञामेव निह्नुवानस्य प्रतिज्ञासंन्यासो नाम निग्रहस्थानं भवति।

(प्र.मी. 2/1/34)

प्रतिवादी के द्वारा साधन में दोष की उद्भावना करने पर वादी जब उस दोष का निवारण करने में समर्थ न हो और तब अपनी प्रतिज्ञा से ही मुकर जाय तो 'प्रतिज्ञासंन्यास' नामक निग्रहस्थान होता है।

० उक्ते हेतौ दूषणोद्भावने स्वसाध्यपरित्यागः प्रतिज्ञासंन्यासो नाम निग्रहस्थानम्।

(प्र.प्र. 1/74)

हेतु बतलाने पर दूषण दिखलाने पर अपने साध्य को छोड़ देना–यह 'प्रतिज्ञासंन्यास' नामक निग्रहस्थान है।

प्रतिज्ञाहानि निग्रहस्थान

० प्रतिज्ञायाः प्रतिज्ञात्वे हेतुना हि निराकृते।
प्रतिज्ञाहानिरेवेयं प्रकारान्तरतो भवेत्।।

(तत्त्व.श्लो. 1/33/141)

हेतु के द्वारा प्रतिज्ञा सम्बन्धी स्वरूप के निराकृत हो जाने पर इसे 'प्रतिज्ञाहानि' (निग्रहस्थान) कहा जाता है।

० ''प्रतिदृष्टान्तधर्मानुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः'' इति सूत्रम्। अस्य भाष्यकारीयं व्याख्यानम्–''साध्य–धर्मप्रत्यनीकेन धर्मेण प्रत्यवस्थितः प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तेऽनुजानन् प्रतिज्ञां जहातीति प्रतिज्ञाहानिः। यथा अनित्यः शब्दः ऐन्द्रियकत्वाद् घटवदित्युक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते–सामान्यमैन्द्रियकं नित्यं दृष्टं कस्मान्न तथा शब्दोऽपीत्येवं स्वप्रयुक्तहेतोराभासतामवस्यन्नपि कथावसानमकृत्वा प्रतिज्ञात्यागं करोति–यद्यैन्द्रियकं सामान्यं नित्यम्, कामं घटोऽपि नित्योऽस्त्विति। स खल्वयं साधनस्य दृष्टान्तस्य

नित्यत्वं प्रसजन् निगमनान्तमेव पक्षं जहाति। पक्षं च परित्यजन् प्रतिज्ञां जहातीत्युच्यते प्रतिज्ञाश्रयत्वात् पक्षस्येति''।

(प्र.मी. 2/1/34)

'प्रतिदृष्टान्तधर्मानुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः' (न्याय.सू.5.2.2) अर्थात् प्रतिदृष्टान्त के धर्म को अपने दृष्टान्त में स्वीकार कर लेना 'प्रतिज्ञाहानि' निग्रहस्थान है। इस निग्रहस्थान की व्याख्या न्यायसूत्र के भाष्यकार ने इस प्रकार की है–जब प्रतिवादी साध्यधर्म के विरोधी किसी धर्म से वादी (के हेतु निराकरण) करे, तब वादी विरोधी दृष्टान्त के धर्म को अपने दृष्टान्त में स्वीकार कर ले तो वह अपनी प्रतिज्ञा का परित्याग करता है, इस कारण प्रतिज्ञाहानि होती है। यथा–वादी ने प्रयोग किया–'शब्द अनित्य है, क्योंकि वह इन्द्रिय का विषय है, जो जो इन्द्रिय का विषय होता है, वह वह अनित्य होता है, जैसे घट'। वादी के इस प्रकार कहने पर प्रतिवादी दूषण देता है–'सामान्य' इन्द्रिय का विषय होता हुआ भी जैसे नित्य है, उसी प्रकार शब्द भी नित्य क्यों नहीं हो सकता?' इस प्रकार कहने पर वादी अपने परप्रयुक्त हेतु की आभासता (अनैकान्तिकता) को जान लेता है, फिर भी कथा का अन्त न करके अपनी प्रतिज्ञा का त्याग करता हुआ कहता है–'यदि 'सामान्य' इन्द्रिय का विषय होते हुए भी नित्य है तो भले घट भी नित्य हो।' इस प्रकार वादी अपने पक्षसाधक दृष्टान्त में (घट में) नित्यता का प्रसंग देता हुआ अपने निगमनपर्यन्त पक्ष का परित्याग करता है (शब्द की अनित्यतारूप पक्ष को त्याग देता है) और पक्ष का परित्याग करता हुआ प्रतिज्ञा को ही त्याग देता है, क्योंकि पक्ष का आधार 'प्रतिज्ञा' है।

० उक्ते हेतौ दूषणोद्भावने प्रतिपक्षाभ्युपगमः प्रतिज्ञाहानिर्नाम निग्रहस्थानम्।

(प्र.प्र. 1/71)

कहे हुए हेतु में दोष बतलाने पर प्रतिपक्ष को स्वीकार कर लेना–यह 'प्रतिज्ञाहानि' नाम का निग्रहस्थान है।

प्रतिदृष्टान्तसमा जाति (दूषणाभास, जात्युत्तर के भेद)

० प्रतिदृष्टान्तेन प्रत्यवस्थानम् प्रतिदृष्टान्तसमा जातिः। यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् घटवदित्युक्ते जातिवाद्याह–यथा घटः प्रयत्नानन्तरीयकोऽनित्यो दृष्ट एवं प्रतिदृष्टान्त आकाशं नित्यमपि प्रयत्नानन्तरीयकं दृष्टम्, कूपखननप्रयत्नानन्तरमुपलम्भादिति। न चेदमनैकान्तिकत्वोद्भावनम्, भङ्ग्यन्तरेण प्रत्यवस्थानात्।

(प्र.मी. 2/1/29)

विरोधी दृष्टान्त के द्वारा खण्डन करना प्रतिदृष्टान्तसमा जाति (दूषणाभास) है। यथा–शब्द अनित्य है, क्योंकि प्रयत्नजनित है, जैसे घट; इस प्रकार वादी के कहने पर जातिवादी कहता है–जैसे घट प्रयत्नजनित होने से अनित्य देखा जाता है, उसी प्रकार व्यतिरेक दृष्टान्त आकाश नित्य होते हुए भी प्रयत्नजनित देखा जाता है, क्योंकि कूप खोदने के प्रयत्न के पश्चात् आकाश का उपलंभ होता है। इस हेतु में अनैकान्तिक दोष का उद्भावन करना नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसका तरीका दूसरा होता है और यह दोष दूसरे तरीके से प्रकट किया गया है।

० प्रत्युदाहरणेन प्रत्यवस्थानं प्रतिदृष्टान्तसमा जातिः।

(प्र.प्र. 1/58)

प्रतिकूल उदाहरण द्वारा उत्तर देना 'प्रतिदृष्टान्तसमा' जाति (दूषणाभास) होती है।

प्रतिपक्ष

० पक्षस्य प्रतिपक्षो विरोधी पक्षः प्रतिपक्षः।

(स्या.मं. 30)

जो पक्ष से विरुद्ध पक्ष हो, वह 'प्रतिपक्ष' कहा जाता है।

प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान

० (द्रष्टव्य : प्रत्यभिज्ञान)

प्रतिवादी

० 'प्रतिवादी' उत्तरपक्षस्थितः।

(प्र.मी. 2/1/18)

उत्तर पक्ष का आश्रय लेने वाला 'प्रतिवादी' कहलाता है।

० क्षमी स्वपरपक्षज्ञः कविताप्रत्तिपत्तिमान्।
अनूद्य दूषको वादे प्रतिवादी प्रशस्तवाक्।।

(प्र.प्र. 1/94)

प्रतिवादी उसे कहते हैं, जो सहनशील, अपने तथा दूसरे (प्रतिपक्षी) के पक्ष को जानने वाला, कविता को समझने वाला, प्रशंसनीय वचनों का प्रयोग करने वाला तथा वाद में (वादी के कथन को) दुहरा कर उसमें दोष बतलाने वाला होता है।

प्रतिष्ठा

० 'पतिट्ठ' त्ति सो च्चितं अवधारितत्थो हितयम्मि प्रभेदेन पइट्ठातमाणो पतिट्ठा भण्णति, जले उपलप्रक्षेपप्रतिष्ठावत्।

(न.चू. 53, पृ. 37)

(धारणा के छः भेदों में चौथा है–प्रतिष्ठा, उसका स्वरूप–)

धारणा की चौथी अवस्था है प्रतिष्ठा। इस अवस्था में अवधारित अर्थ प्रभेदपूर्वक हृदय (मस्तिष्क) में प्रतिष्ठित किया जाता है। जैसे–जल में पत्थर नीचे जाकर प्रतिष्ठित होता है।

० प्रतितिष्ठन्ति विनाशेन विना अस्यामर्था इति प्रतिष्ठा।

(ध. 13, पृ. 243)

जिसमें विनाश के बिना पदार्थ प्रतिष्ठित रहते हैं, वह बुद्धि 'प्रतिष्ठा' है।

(द्रष्टव्य : धारणा)

प्रतीति

० प्रतीतिस्तु तथेति स्यात्स्वीकारः.....।

(पं. 2/412)

तत्त्वार्थ का स्वरूप जिस प्रकार है, वह उसी प्रकार है, ऐसा स्वीकार करना 'प्रतीति' कहलाती है।

(द्रष्टव्य : कारण, प्रत्यय)

प्रत्यक्ष (प्रमाण)

० जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं।।

(प्र.सा. 1/58)

केवल जीव द्वारा (इन्द्रियादि की सहायता के बिना) जाना गया वह ज्ञान 'प्रत्यक्ष' है।

० अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशं प्रत्यक्षम्।।

(न्यायाव. 4)

साक्षात् रूप से जो ज्ञान बाह्यार्थ की अपेक्षा से अर्थ का ग्राहक है, वह 'प्रत्यक्ष' है।

० अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा, तमेव प्राप्तक्षयोपशमं प्रक्षीणावरणं वा प्रति नियतं प्रत्यक्षम्।

(स.सि. 1/12/176)

अक्ष शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है–अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा। अर्थात् जो व्याप्त होता है, जानता है, यानी अक्ष आत्मा (का वाचक) है। अक्ष, व्याप् और ज्ञा –ये धातुएं एकार्थक हैं, इसलिए अक्ष का अर्थ आत्मा होता है। इस प्रकार क्षयोपशम वाले या आवरणरहित केवल आत्मा के प्रति जो नियत है अर्थात् जो ज्ञान बाह्य इन्द्रियादिक की अपेक्षा से न होकर केवल क्षयोपशम या आवरणरहित आत्मा से होता है, वह 'प्रत्यक्ष' ज्ञान कहलाता है।

० जीवो अक्खो अत्थव्वावण-भोयणगुणण्णिओ जेण।
तं पइ वट्टइ नाणं जं पच्चक्खं (तयं तिविहं)।।

(विशे.भा. 89)

चूंकि जीव पदार्थों में व्याप्त होता है और पदार्थों का भोग करता (भोक्ता होता) है, इसलिए जीव को 'अक्ष' कहा जाता है। अक्ष (रूप आत्मा) के प्रति जो ज्ञान (साक्षात्) वर्तता है (आत्मा द्वारा साक्षात्, प्राप्त होता है), वह 'प्रत्यक्ष' कहलाता है (वह प्रत्यक्ष ज्ञान तीन प्रकार का है)।

० जीवो अक्खो। कहं ? उच्यते–"अशू व्याप्तौ" इति णाणप्पणताए अत्थे असइ त्ति इच्चेवं जीवो अक्खो, णाणभावेण वावेति त्ति भणितं भवति। अहवा "अश भोजने" इच्चेतस्स वा सव्वत्थे असइ त्ति अक्खो, पालयति भुङ्क्ते चेत्यर्थः। अक्खं पति वट्टति त्ति पच्चक्खं।

(न.चू. 8, पृ. 14)

अक्ष का अर्थ जीव है। ऐसा इसलिए कि अक्ष में 'व्याप्ति' अर्थ वाली 'अश्' धातु है। चूंकि ज्ञान रूप से जीव व्याप्त होता है, इसलिए जीव को 'अक्ष' कहा जाता है। अथवा, अक्ष शब्द में 'भोजन' अर्थ वाली अश् धातु है, चूंकि जीव सब पदार्थों का भोग करता है, या उनकी रक्षा करता है, अतः वह 'अक्ष' है। अक्ष से प्रति नियत होने वाला (अर्थात् बिना किसी सहायता के आत्मा से होने वाला) ज्ञान 'प्रत्यक्ष' कहा जाता है।

० इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षम्। इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि पंच, अनिन्द्रियं मनः, तेष्वपेक्षा यस्य न विद्यते। अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं व्यभिचारः सोऽतीतोऽस्य। आकारो विकल्पः, यत्सह आकारेण वर्तते तत्प्रत्यक्षमित्युच्यते।

(रा.वा. 1/12/1)

इन्द्रिय और अनिन्द्रिय की अपेक्षा के बिना व्यभिचाररहित जो साकार ग्रहण होता है, उसे 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। चक्षु आदि पांच इन्द्रियां हैं, अनिन्द्रिय का अर्थ मन है, इनकी अपेक्षा जिसमें नहीं होती, वह प्रत्यक्ष है। व्यभिचार से तात्पर्य है–अतत् को तत् रूप से (जो वस्तु जैसी नहीं है, उसे उस रूप में) ग्रहण करना। उस व्यभिचार से अतीत यानी रहित, ऐसा प्रत्यक्ष होता है। आकार का अर्थ विकल्प है, उससे जो सहित है, वह प्रत्यक्ष कहा जाता है।

० प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा।
द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम्।।
(न्या.वि. 1/3; तत्त्व.श्लो. 1/12/4)
'स्पष्ट' और 'सविकल्प' तथा 'व्यभिचार आदि दोष रहित' होकर 'सामान्य रूप द्रव्य' और 'विशेष रूप पर्याय' वाले अर्थों को तथा अपने स्वरूप को जानना ही 'प्रत्यक्ष' का लक्षण है।

० प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानम्।
(सि.वि. 1/19; प.मु. 2/3; न्या.दी. 2/1)
विशद ज्ञान (प्रतिभास) को 'प्रत्यक्ष' कहते हैं।

० विशदज्ञानात्मकं प्रत्यक्षम्।
(प्र.प. 87, पृ. 37)
विशद ज्ञान होना–यह प्रत्यक्ष प्रमाण है।

० अक्ष आत्मा, अक्षमक्षं प्रति वर्तत इति प्रत्यक्षम-वधिमनःपर्ययकेवलानीति।
(ध. 9, पृ. 143)
अक्ष शब्द का अर्थ 'आत्मा' है; अतएव अक्ष अर्थात् आत्मा की अपेक्षा कर जो प्रवृत्त होता है, वह प्रत्यक्ष है; इस निरुक्ति के अनुसार अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान प्रत्यक्ष हैं।

० इन्द्रियानिन्द्रियापेक्षमुक्तमव्यभिचारि च।
साकारग्रहणं यत्स्यात्तत्प्रत्यक्षं प्रचक्ष्यते।।
(तत्त्वा. 1/17)
इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से मुक्त तथा दोषों से रहित पदार्थ का जो सविकल्पज्ञान होता है, उसे 'प्रत्यक्ष प्रमाण' कहते हैं।

० अक्षं जीवं प्रति साक्षाद्गतमिन्द्रियनिरपेक्षं वर्तते यज्ज्ञानं तत् प्रत्यक्षम्।
(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 89)
अक्ष यानी जीव। उसके प्रति जो ज्ञान इन्द्रिय–निरपेक्ष (अर्थात् साक्षात्) होता है, वह 'प्रत्यक्ष ज्ञान' है।

० स्पष्टं प्रत्यक्षम्।।
अनुमानाद्याधिक्येन विशेषप्रकाशनं स्पष्टत्वम्।।
(प्र.न.त. 2/2; जै.सि.दी. 9/3)
स्पष्ट (निर्मल) ज्ञान को 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। अनुमान आदि परोक्ष प्रमाणों की अपेक्षा पदार्थ का वर्ण, आकार आदि विशेष का ज्ञात होना–यह स्पष्टत्व कहलाता है।

० विशदः प्रत्यक्षम्।।
प्रमाणान्तरानपेक्षेदन्तया प्रतिभासो वा वैशद्यम्।।
(प्र.मी. 1/1/13–14)
जो ज्ञान विशद (स्पष्ट) होता है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। अन्य प्रमाण की अपेक्षा न रखते हुए प्रतिभासित होना अथवा 'यह' इस तरह की (स्पष्ट) प्रतीति होना–वैशद्य या विशदता है।

० तत्र पदार्थानां साक्षात् प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन वेदनं प्रत्यक्षम्।
(प्र.प्र. 1/3)
साक्षात् अर्थात् दूसरे ज्ञान के व्यवधान के बिना जो पदार्थों को जानना है, वह 'प्रत्यक्ष' प्रमाण है।

० अक्षमिन्द्रियं प्रतिगतम्-इन्द्रियाधीनतया यदुत्पद्यते तत्प्रत्यक्षम्।
(र.करा. 2/1)
अक्ष अर्थात् इन्द्रियाँ। जो ज्ञान इन्द्रियों के अधीन अथवा इन्द्रियों के माध्यम से उत्पन्न होता है, उसे 'प्रत्यक्ष' कहते हैं।

० अक्षम्-इन्द्रियं प्रति गतमिन्द्रियाधीनतया यदुत्पद्यते तत्प्रत्यक्षमिति।

(षड्.समु.टी. 55/298)

अक्ष–इन्द्रियों के अधीन जिन ज्ञानों की उत्पत्ति है, वे 'प्रत्यक्ष' हैं।

० स्वपरव्यवसायि ज्ञानं स्पष्टं प्रत्यक्षम्।

(षड्.समु.टी. 55/312)

स्व और पर के निश्चय करने वाले स्पष्ट-पर- निरपेक्ष ज्ञान को 'प्रत्यक्ष' कहते हैं।

० प्रत्यक्षस्य वैशद्यं स्वरूपम्।

(स.भं.त. 67)

वैशद्य अर्थात् निर्मलता या स्वच्छता पूर्वक स्पष्ट रीति से भासना प्रत्यक्ष ज्ञान का स्वरूप है।

० साहाय्यनिरपेक्षं प्रत्यक्षम्।

(भि.न्या. 2/2)

सहायता-निरपेक्ष ज्ञान को 'प्रत्यक्ष' ज्ञान कहा जाता है।

(द्रष्टव्य : अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष, अनिन्द्रियप्रत्यक्ष, आभिनिबोधिक, इन्द्रियप्रत्यक्ष, प्रमाण, सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष आदि)

प्रत्यक्ष के भेद

० पच्चक्खे णाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा– केवलणाणे चेव णोकेवलणाणे चेव।

(ठा.सू. 2/87)

प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का है–1. केवलज्ञान 2. नोकेवलज्ञान।

० पच्चक्खं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा– इंदियपच्चक्खं च नोइंदियपच्चक्खं च।।

(नन्दी. 2/4; अनु.सू. 11/516)

प्रत्यक्ष दो प्रकार के बताये गये हैं–इन्द्रिय प्रत्यक्ष और नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष।

० प्रत्यक्षमन्यत्। मतिश्रुताभ्यां यदन्यत् त्रिविधं ज्ञानं तत्प्रत्यक्षं प्रमाणं भवति।

(तत्त्व.भा. 1/12)

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को छोड़कर शेष अवधि, मनःपर्यव और केवल–ये तीन प्रकार के ज्ञान 'प्रत्यक्ष प्रमाण' हैं।

० प्रत्यक्षं विशदज्ञानं त्रिधा।

(प्र.सं. 2)

विशद ज्ञान को 'प्रत्यक्ष' कहते हैं, वह तीन प्रकार का होता है।

० प्रत्यक्षं विशदज्ञानं तत्त्वज्ञानं विशदम्, इन्द्रियप्रत्यक्षम् अनिन्द्रियप्रत्यक्षम्, अतीन्द्रियप्रत्यक्षं त्रिधा।

(प्र.सं.वृ. 2)

विशद ज्ञान अर्थात् विशद तत्त्वज्ञान रूपी प्रत्यक्ष के तीन भेद हैं–1. इन्द्रियप्रत्यक्ष, 2. अनिन्द्रियप्रत्यक्ष, 3. अतीन्द्रियप्रत्यक्ष।

० प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः।

(लघी. 1/3)

स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। उसके दो भेद है–मुख्य प्रत्यक्ष और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष।

० तत् त्रिविधम्–इन्द्रियानिन्द्रियातीन्द्रिय-प्रत्यक्ष-विकल्पात्।

(प्र.प. 91, पृ. 38)

प्रत्यक्ष के तीन भेद हैं–इन्द्रियप्रत्यक्ष, अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष।

० तद् द्विप्रकारं, सांव्यवहारिकं पारमार्थिकं च।।

(प्र.न.त. 2/4; न्या.दी; 2/11 स्या.मं. 28; जै.त.भा.प्र.परि., पृ. 4)

प्रत्यक्ष प्रमाण दो प्रकार का है–1. सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और 2. पारमार्थिक प्रत्यक्ष।

० अथ मुख्यसांव्यवहारिकभेदेन द्वैविध्यं प्रत्यक्षस्य हृदि निधाय मुख्यस्य लक्षणमाह–तत् सर्वथा-वरणविलये चेतनस्य स्वरूपाविर्भावो मुख्यं केवलम्।।

तत्तारतम्येऽवधिमनःपर्यायौ च।।

(प्र.मी. 1/1/15, 18)

प्रत्यक्ष प्रमाण दो प्रकार का है–मुख्य और सांव्यवहारिक। इसे दृष्टिगत रखकर मुख्य प्रत्यक्ष का स्वरूप बता रहे हैं:–

आवरणों का सर्वथा क्षय हो जाने पर चेतन आत्मा का स्वरूप प्रकट हो जाना 'मुख्य प्रत्यक्ष' है।

आवरणक्षय का तारतम्य होने पर अवधि और मनःपर्यव ज्ञान होते हैं। वे भी 'मुख्य प्रत्यक्ष' हैं।

० तच्च इन्द्रियप्रत्यक्षं मानसप्रत्यक्षं योगिप्रत्यक्षं स्वसंवेदनप्रत्यक्षमिति चतुर्धा।

(प्र.प्र. 1/3)

प्रत्यक्ष प्रमाण के चार भेद हैं–इन्द्रिय प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष, योगिप्रत्यक्ष तथा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष।

० तच्च चेतनस्य निरावरणस्वरूपं केवलम्। अपूर्णमवधिमनःपर्यायौ।

(भि.न्या. 2/3–4)

(वह प्रत्यक्ष दो प्रकार का है – पूर्ण व अपूर्ण।) आत्मा का निरावरण स्वरूप केवल ज्ञान– (यह पूर्ण) प्रत्यक्ष है। अवधिज्ञान व मनःपर्याय ज्ञान– ये (दोनों) अपूर्ण प्रत्यक्ष हैं।

प्रत्यक्षाभास

० अवैशद्ये प्रत्यक्षं तदाभासं, बौद्धस्याकस्माद् धूमदर्शनाद् वह्निविज्ञानवत्।।

(प.मु. 6/6)

अविशदज्ञान को 'प्रत्यक्ष' मानना 'प्रत्यक्षाभास' है। जैसे कि बौद्ध लोग अकस्मात् धूम देखने से पैदा हुए अग्नि के ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं। उनका यह ज्ञान ठीक नहीं है, 'प्रत्यक्षाभास' है।

० संशयविपर्यासभेदात् द्वेधा।

(प्र.प्र. 1/10)

प्रत्यक्षाभास के दो भेद हैं–संशय एवं विपर्यास। (द्रष्टव्य : विपर्यस्त, संशय)

प्रत्यभिज्ञान

० तदेवेदमिति स्मरणं प्रत्यभिज्ञानम्। तदकस्मान्न भवतीति योऽस्य हेतुः स तद्भावः। भवनं भावः। तस्य भावस्तद्भावः। येनात्मना प्राग्दृष्टं वस्तु तेनैवात्मना पुनरपि भावात्तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञायते।

(स.सि. 5/31/586)

'वह यही है' इस प्रकार के स्मरण को 'प्रत्यभिज्ञान' कहते हैं। वह अकस्मात् तो होता नहीं, इसलिए जो इसका कारण है, वही तद्भाव

है। (तात्पर्य यह है कि पहले जिस रूप वस्तु को देखा था, ऐसा प्रत्यभिज्ञान होता है।)

० दर्शनस्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानम्। तदेवेदं, तत्सदृशं, तद्विलक्षणं, तत्प्रतियोगीत्यादि।।

(प.मु. 3/5; प्र.प्र. 1/13)

वर्तमान में पदार्थ का दर्शन और पूर्व में देखे हुए का स्मरण–ये दोनों हैं कारण जिसके, ऐसे संकलन अर्थात् अनुसंधान रूप ज्ञान को 'प्रत्यभिज्ञान' कहते हैं। जैसे यह वही है, यह एकत्व प्रत्यभिज्ञान है। यह उसके सदृश है, यह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है। यह उससे विलक्षण है, यह वैलक्षण्य प्रत्यभिज्ञान है। यह उसका प्रतियोगी है, यह प्रातियोगिक प्रत्यभिज्ञान है, इत्यादि।

० अनुभवस्मृतिहेतुकं, तिर्यगूर्ध्वतासामान्यादिगोचरं, संकलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्।।
यथा–तज्जातीय एवायं गोपिण्डः, गोसदृशो गवयः स एवायं जिनदत्त इत्यादि।।

(प्र.न.त. 3/5–6; स्या.मं. 28; जै.त.भा.प्र.परि., पृ. 26)

प्रत्यक्ष और स्मरण से उत्पन्न होने वाला, तिर्यक् सामान्य अथवा ऊर्ध्वता सामान्य को जानने वाला, जोड़ रूप ज्ञान 'प्रत्यभिज्ञान' कहलाता है।
जैसे–यह गाय उस गाय के समान है, गवय (रोस) गाय के समान होता है, यह वही जिनदत्त है; आदि।

० दर्शनस्मरणसम्भवं तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि संकलनं प्रत्यभिज्ञानम्।।

(प्र.मी. 1/2/4)

प्रत्यक्ष और स्मरण से उत्पन्न होने वाला 'यह वही है, यह उसके सदृश है, यह उससे विलक्षण है, यह उससे थोड़ा, बहुत, निकट या दूर है' इत्यादि जोड़ रूप ज्ञान 'प्रत्यभिज्ञान' कहलाता है।

० अनुभवस्मृतिहेतुकं संकलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्।

(न्या.दी. 3/8)

अनुभव और स्मरणपूर्वक होने वाले जोड़रूप ज्ञान को 'प्रत्यभिज्ञान' कहते हैं।

० अनुभवस्मरणकारणकं सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम्, तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि, यथा स एवायं देवदत्तः, गोसदृशो गवयः। गोविलक्षणो महिषः। इदमस्मादीर्घं ह्रस्वमणीयो महीयो दवीयो वा दूरादयं तीव्रो वह्निः सुरभीदं चन्दनमित्यादि।

(षड्.समु.टी. 55/317)

अनुभव और स्मरण से उत्पन्न होने वाले संकलन ज्ञान, पूर्व और उत्तर में एकत्व सादृश्य आदि रूप से सम्बन्ध, या उन दोनों के जोड़ को 'प्रत्यभिज्ञान' कहते हैं। यह प्रत्यभिज्ञान अनेक प्रकार का है। एकत्व प्रत्यभिज्ञान–यह वही है, जैसे यह वही देवदत्त है। सादृश्य प्रत्यभिज्ञान– यह उसके समान है, जैसे गाय के सदृश गवय है। वैलक्षण्य प्रत्यभिज्ञान –यह उससे विलक्षण है, जैसे भैंस गाय से विलक्षण है। प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान– यह उसकी अपेक्षा दूर, समीप, छोटा, बड़ा इत्यादि रूप से होता है, जैसे अग्नि तेज है, चन्दन सुगन्धित है, इत्यादि ज्ञान।

० स एवायमित्यादिसंकलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञा।

(जै.सि.दी. 9/12)

'यह वही है' इत्यादि रूप में होने वाले संकलनात्मक –जोड़रूप ज्ञान को 'प्रत्यभिज्ञान' कहते हैं।

० अनुभवस्मृतिसंभवं तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि संकलनं प्रत्यभिज्ञा।

(भि.न्या. 3/6)

अनुभव और स्मृति के योग से उत्पन्न, यह वही है, वह उसके समान है, यह उसके विलक्षण है, यह उसका प्रतियोगी है, ऐसे संकलनात्मक ज्ञान को 'प्रत्यभिज्ञा' कहा जाता है।

प्रत्यभिज्ञानाभास

० सदृशे तदेवेदं, तस्मिन्नेव तेन सदृशम्, यमलकवदित्यादि प्रत्यभिज्ञानाभासम्।।

(प.मु. 6/9)

सदृश पदार्थ में 'यह नहीं है' ऐसा ज्ञान तथा उसी पदार्थ में 'यह उसके समान है' ऐसा ज्ञान 'प्रत्यभिज्ञानाभास' कहलाता है, जैसे एक साथ पैदा हुए दो मनुष्यों में उल्टा ज्ञान (एक में दूसरे का ज्ञान) हो जाता है।

० तुल्ये पदार्थे स एवायमिति, एकस्मिंश्च तेन तुल्य इत्यादि ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानाभासम्।।
यथा–यमलकजातवत्।।

(प्र.न.त. 6/33–34)

समान पदार्थ में 'यह वही है' ऐसा ज्ञान होना और उसी पदार्थ में 'यह उसके समान है' इत्यादि ज्ञान होना–इन्हें 'प्रत्यभिज्ञानाभास' कहते हैं। जैसे–एक साथ उत्पन्न होने वाले बालकों में विपरीत ज्ञान (प्रत्येक में दूसरे का ज्ञान) हो जाना।

० सदृशे तदेवेदं तस्मिन्नेव तत्सदृशम् इत्यादि प्रत्ययः प्रत्यभिज्ञाभासः।

(प्र.प्र. 1/13)

जो उस जैसा है, उसके विषय में 'यह वही है' ऐसा समझना, या उसी के विषय में 'यह उस जैसा है' ऐसा समझना आदि प्रत्यभिज्ञान के आभास होते हैं।

प्रत्यय

० (द्रष्टव्य : कारण)

प्रत्यय के पर्याय

० दृष्टिः श्रद्धा रूचिः प्रत्यय इति यावत्।

(ध. 1, पृ. 167)

दृष्टि, श्रद्धा, रूचि और प्रत्यय (प्रतीति)–ये पर्यायवाची नाम हैं।

प्रत्यामुंडा

० प्रत्यर्थमामुण्ड्यते संकोच्यते मीमांसितोऽर्थः अनयेति प्रत्यामुण्डा।

(ध. 13, पृ. 243)

जिसके द्वारा मीमांसित अर्थ अलग-अलग 'आमुंड्यते' संकोचित किया जाता है, वह 'प्रत्यामुंडा' है।

(द्रष्टव्य : अवाय)

प्रत्युत्पन्न

० यत् साम्प्रतमुत्पन्नं वर्तमानकालीनं वस्तु, यच्च यस्य प्रत्येकमात्मीयं तदेतदुभयस्वरूपं प्रत्युत्पन्नमुच्यते।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 2223)

जो तत्काल उत्पन्न एवं वर्तमान काल स्थित वस्तु है, और जो भी जिसका आत्मीय रूप है, इन दोनों स्वरूप वाली वस्तु को 'प्रत्युत्पन्न' कहा जाता है।

प्रदेश

० सः (परमाणुः) यावति क्षेत्रे व्यवतिष्ठते, स प्रदेशः।

(स.सि. 5/8/541)

जितने क्षेत्र में एक परमाणु रहता हैं, उसका नाम 'प्रदेश' है।

० प्रदेशाः परमाणवः। प्रदिश्यन्ते इति प्रदेशाः परमाणवः, ते हि घटादिष्ववयवत्वेन प्रदिश्यन्ते। प्रदिश्यन्ते एभिरिति वा प्रदेशाः तैर्हि आकाशादीनां क्षेत्रादिविभागः प्रदिश्यते।

(रा.वा. 2/38/1)

प्रदेश अर्थात् परमाणु। घट आदि के अवयव रूप में वे प्रदिष्ट (निर्दिष्ट) होते हैं, इसलिए परमाणुओं को 'प्रदेश' कहा जाता है। अथवा इन परमाणुओं से आकाश आदि के क्षेत्र का विभाग प्रदिष्ट (निर्दिष्ट) किया जाता है, इस दृष्टि से भी परमाणुओं को 'प्रदेश' कहा जाता है।

० निरंशः प्रदेशः।

(जै.सि.दी. 1/23)

वस्तु के निरंश अंश को 'प्रदेश' कहते हैं।

(द्रष्टव्य : पर्याय)

प्रदेशत्व

० प्रदेशस्य भावः प्रदेशत्वं क्षेत्रत्वं अविभागिपुद्गलपरमाणुनावष्टब्धम्।

(आ.प. 100)

प्रदेश का भाव 'प्रदेशत्व' है, अथवा क्षेत्रत्व है। एक अविभागी पुद्गल परमाणु के द्वारा व्याप्त क्षेत्र को 'प्रदेश' कहते हैं।

प्रध्वंसाभाव

० प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत्।।

(आ.मी. 10)

प्रध्वंसामाव को न माना जाय, तो वह कार्यरूप द्रव्य अनन्तता-अविनाशिता को प्राप्त होता है (जो दोषपूर्ण स्थिति है)।

० यदुत्पत्तौ कार्यस्यावश्यं विपत्तिः सोऽस्य प्रध्वंसाभावः।।

यथा कपालकदम्बकोत्पत्तौ नियमतो विपद्यमानस्य कलशस्य कपालकदम्बकम्।।

(प्र.न.त. 3/61–62)

जिस पदार्थ के उत्पन्न होने पर जिस कार्य (निष्पन्न पदार्थ) का अवश्य विनाश हो जाता है, वह पदार्थ उस कार्य का 'प्रध्वंसाभाव' है। जैसे–कपाल का समूह उत्पन्न होने पर निश्चित रूप से घट (कार्य) नष्ट हो जाता है, अतः घट का 'प्रध्वंसाभाव' कपाल-समूह है।

० लब्धात्मलाभस्य विनाशः प्रध्वंसः।

(भि.न्या. 3/31)

लब्धात्मलाभ (उत्पन्न कार्य) के विनाश का नाम 'प्रध्वंसाभाव' है।

(द्रष्टव्य : अभाव)

प्रमाण

० मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्।। तत्प्रमाणे।।

(त.सू. 1/9–10)

मूल भेदों की अपेक्षा से ज्ञान पांच प्रकार का है–मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः-पर्ययज्ञान और केवलज्ञान।

यह पूर्वोक्त पांच प्रकार का ज्ञान द्विविध 'प्रमाण' है।

० णाणं होदि पमाणं।

(ति.प. 1/83)

'ज्ञान' प्रमाण होता है।

० तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्।

(आ.मी. 101)

युगपत् समस्त पदार्थों को प्रतिभासित करने वाला तत्त्वज्ञान 'प्रमाण' है।

० स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्।।

(स्वयम्भू. 63)

(इस पृथ्वी पर) स्वपरावभासक रूप से बुद्धि (ज्ञान) लक्षण प्रमाण समग्रता लिए हुए माना गया है।

० प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं, बाधविवर्जितम्।

(न्यायाव. 1)

स्व व पर को प्रतिभासित करने वाला तथा बाधारहित ज्ञान 'प्रमाण' है।

० प्रमाणं स्वान्यनिश्चायि।

(न्यायाव. 7)

अपने तथा अन्य का निश्चय कराने वाला (ज्ञान) 'प्रमाण' होता है।

० प्रमेयाधिगमनिमित्तं हि प्रमाणम्।

(द्वा.न.च. 1, पृ. 89)

प्रमेय के अधिगम का निमित्त 'प्रमाण' होता है।

० प्रमिणोति प्रतीयतेऽनेन प्रमितिमात्रं वा प्रमाणम्।

(स.सि. 1/10/171)

प्रमाण शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है–प्रमिणोति, प्रमीयतेऽनेन प्रमितिमात्रं वा प्रमाणम्–जो अच्छी तरह मान (बोध) करता है, जिसके द्वारा अच्छी तरह मान किया जाता है, वह प्रमाण है, या प्रमितिमात्र प्रमाण है।

० व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम्। ग्रहणं निर्णयस्तेन मुख्यं प्रामाण्यमश्नुते।।

(लघी. 6/60)

ज्ञान व्यवसायात्मक है (अर्थ के जाति आदि का निश्चायक है), तथा स्वरूप का और अर्थ का ग्राहक माना गया है, इसलिये मुख्यतः 'स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान' ही प्रमाण होने का अधिकारी है।

० यद्यथैवाविसंवादि प्रमाणं तत्तथा मतम्।।

(लघी. 4/22)

जो ज्ञान जिस रूप में 'अविसंवादी' होता है, वह उसी रूप में 'प्रमाण' माना गया है।

० प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमनधिगतार्थाधिगम-लक्षणत्वाद्।

(अष्ट. 36)

अविसंवादी ज्ञान प्रमाण है, क्योंकि वही

अनधिगत (अपूर्व) पदार्थ का अधिगम कराने वाला है।

० प्रमाणं सकलादेशि.....।

(तत्त्व.श्लो. 1/6/3)

प्रमाण सकलादेशी (वस्तु के समस्त अंशों को ग्रहण करने वाला) होता है।

० तत्त्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानम्।

(तत्त्व.श्लो. 1/10/77)

तत्त्व रूपी अर्थ का निश्चय कराने वाला ज्ञान 'प्रमाण' होता है।

० प्रधानीकृतबोधः पुरुषः प्रमाणम्।

(ध. 9 पृ. 164)

बोध को प्रधान करने वाला (ज्ञाता) पुरुष (आत्मा)'प्रमाण है।

० प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्।

(ज.ध. 1, पृ. 34)

जिसके द्वारा पदार्थ प्रमित किया जाता है, उसे 'प्रमाण' कहते हैं।

० सम्यग्ज्ञानात्मकं तत्र प्रमाणमुपवर्णितम्।

(तत्त्वा. 1/15)

सम्यग्ज्ञान (समीचीन ज्ञान) को 'प्रमाण' कहते हैं।

› सकलवस्तुग्राहकं प्रमाणं, प्रमीयते परिच्छिद्यते वस्तुत्त्वं येन ज्ञानेन तत्प्रमाणम्।

(आ.प. 177)

सकल वस्तु को ग्रहण करने वाला ज्ञान 'प्रमाण' है। जिस ज्ञान के द्वारा वस्तुस्वरूप जाना जाता है, निश्चय किया जाता है, वह ज्ञान 'प्रमाण' होता है।

० स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्। हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्।।

(प.मु. 1/1–2)

अपना और अपूर्वार्थ का निश्चयात्मक ज्ञान 'प्रमाण' कहलाता है। जो हित की प्राप्ति तथा अहित के परिहार में समर्थ होता है, उसे ही 'प्रमाण' कहते हैं, ऐसा वह प्रमाण 'ज्ञान' ही हो सकता है (अन्य सन्निकर्ष आदिक नहीं)।

० मा अन्तरङ्गबहिरङ्गानन्तज्ञानप्रातिहार्यादिश्रीः, अण्यते शब्द्यते येनार्थोऽसावणः शब्दः, मा चाणश्च माणौ प्रकृष्टौ महेश्वराद्यसम्भविनौ माणौ यस्याऽसौ प्रमाणो भगवान् सर्वज्ञो दृष्टेष्टाऽविरुद्ध-वाक् च।

(प्र.क.मा. 1/1)

'मा' का अर्थ है–अन्तरंग व बहिरंग अनन्तज्ञान व प्रातिहार्य आदि रूप लक्ष्मी। जो अणित, शब्द रूप में प्रकट हो, वह 'अण' है, जिसका अर्थ है– (दिव्य) शब्द। 'मा' और 'अण' जिसके प्रकृष्ट हों, अर्थात् जो महेश्वर आदि (अन्यतीर्थिक देव) में सम्भव न हों, वह 'प्रमाण' होता है, ऐसे 'प्रमाण' हैं –भगवान् सर्वज्ञ, जिनकी वाणी प्रत्यक्ष व अभीष्ट से विरुद्ध नहीं होती।

० परनिरपेक्षतया वस्तुतथाभावप्रकाशकं हि प्रमाणम्।

(प्र.क.मा. 1/3)

किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा न रखते हुए वस्तु को यथार्थ रूप से जानना, यही 'प्रमाण' है।

० प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदलक्षणेन मीयते परिच्छिद्यते येनाऽर्थः तत् प्रमाणम्।

(न्या.कु. 1/3)

जिसके द्वारा प्रकृष्ट रूप से, संशय आदि के निराकरण द्वारा, मान, परिच्छेदन (ज्ञान) हो, वह 'प्रमाण' होता है।

० स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्।।

(प्र.न.त. 1/2; जै.त.भा.प्र.परि., पृ. 1)

स्व और पर को निश्चित रूप से जानने वाला ज्ञान 'प्रमाण' कहलाता है।

० सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्।।

(प्र.मी. 1/1/2)

पदार्थ का सम्यक् निश्चय 'प्रमाण' कहलाता है।

० प्रमितिः प्रमाणमिति भावव्युत्पत्त्या सम्यक् ज्ञानमेव प्रमाणम्।

(प्र.प्र. 1/2)

प्रमिति ही प्रमाण है इस भावव्युत्पत्ति के अनुसार सम्यक् ज्ञान ही प्रमाण है।

० पदार्थयाथात्म्यनिश्चयः प्रमाणम्।

(प्र.प्र. 1/2)

पदार्थ के वास्तविक स्वरूप के निश्चय को (यथार्थ ज्ञान को) 'प्रमाण' कहते हैं।

० प्रकर्षेण संशयाद्यभावस्वभावेन, मीयते परिच्छिद्यते वस्तु येन तत् प्रमाणम्।

(र.करा. 1/1)

विशेष रूप से संशयादि का अभाव होने से, वस्तु का जो स्पष्ट ज्ञान होता है, वह 'प्रमाण' है।

० प्रमीयते परिच्छिद्यतेऽनेकान्तविशिष्टोऽनेन इति प्रमाणम्।

(स्या.मं. 28)

जिसके द्वारा अनन्तधर्मात्मक पदार्थ जाना जाता है, उसे 'प्रमाण' कहते हैं।

० प्रमाणं तु सम्यगर्थनिर्णयलक्षणं सर्वनयात्मकम्। स्याच्छब्दलाञ्छितानां नयानामेव प्रमाणव्यपदेशभाक्त्वात्। तथा च श्रीविमलनाथस्तवे श्रीसमन्तभद्रः– "नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे रसोपविद्धा इव लोहधातवः।
भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः।।" इति।

(स्या.मं. 28)

सम्यक् प्रकार से अर्थ के निर्णय को 'प्रमाण' कहते हैं। प्रमाण सर्वनय रूप होता है। नय वाक्यों में 'स्यात्' शब्द लगाकर बोलने को 'प्रमाण' कहते हैं। श्री समन्तभद्र ने स्वयंभूस्तोत्र में विमलनाथ का स्तवन करते हुए कहा है– "जिस प्रकार रसों के संयोग से लोहा भी अभीष्ट फल का देने वाला बन जाता है, इसी तरह नयों में 'स्यात्' शब्द लगाने से भगवान् के द्वारा प्रतिपादित वे नय अभीष्ट फल को देते हैं, इसीलिए अपना हित चाहने वाले आर्य लोग भगवान् के समक्ष प्रणत हैं।"

० सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्।

(न्या.दी. 1/8)

सम्यग् (सच्चे) ज्ञान को 'प्रमाण' कहते हैं।

० स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणमिति प्रकर्षेण संशयाभावस्वभावेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तु येन तत्प्रमाणम्।

(षड्.समु.टी. 54/290)

स्व-अपने स्वरूप तथा परपदार्थों का व्यवसाय (निश्चय) करने वाला ज्ञान 'प्रमाण' है। प्र-प्रकर्ष से अर्थात् संशय, विपर्यय आदि का निराकरण करके वस्तुतत्त्व जिसके द्वारा जाना जाता है, उसे 'प्रमाण' कहते हैं।

० स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकफलाव्यवहितपूर्ववृत्तित्वे सति तादृशव्यवसायाभिन्नत्वं प्रमाणसामान्य-लक्षणं फलितम्।

(प्र.रत्ना. 1/1)

स्व व अपूर्व अर्थ के निश्चय रूप फल से अव्यवहितपूर्व होने के साथ-साथ, जो उक्त निश्चय से अभिन्न हो—यह प्रमाण का सामान्य लक्षण फलित होता है।

० यथार्थनिर्णायि ज्ञानं प्रमाण्।

(जै.सि.दी. 9/1)

यथार्थनिर्णायक (संशय, विपर्यय व अनध्यवसाय से रहित) ज्ञान को 'प्रमाण' कहते हैं।

० यथार्थज्ञानं प्रमाणम्।

(भि.न्या. 1/10)

यथार्थ ज्ञान को 'प्रमाण' कहा जाता है।

(द्रष्टव्य : ज्ञान, सम्यक् अनेकान्त, सकलादेश)

प्रमाण (नयात्मक)

० प्रमाणं तु सम्यगर्थनिर्णयलक्षणं सर्वनयात्मकम्। स्याच्छब्दलांछितानां नयानामेव प्रमाणव्यपदेश-भाक्त्वात्।

(स्या.मं. 28)

सम्यक् प्रकार से अर्थ का निर्णय—यह प्रमाण का लक्षण है। यह प्रमाण सर्वनयात्मक होता है। स्यात्पद से युक्त नय ही 'प्रमाण' पद से अभिहित होने के योग्य है।

प्रमाण के भेद

० चउव्विहे पमाणे पण्णत्ते, तं जहा—
दव्वप्पमाणे, खेत्तप्पमाणे, कालप्पमाणे, भावप्पमाणे।

(ठा.सू. 4/125; अनु.सू. 9/369)

प्रमाण चार प्रकार का होता है—द्रव्य-प्रमाण (द्रव्य की माप), क्षेत्र-प्रमाण (क्षेत्र की माप), काल-प्रमाण (काल की माप), भाव-प्रमाण (प्रत्यक्ष आदि प्रमाण)।

० पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—पच्चक्खे अणुमाणे ओवम्मे आगमे।

(भ.सू. 5/4/97)

प्रमाण चार प्रकार का बताया गया है—प्रत्यक्ष, अनुमान, औपम्य और आगम।

० (मतिज्ञानं, श्रुतज्ञानम्, अवधिज्ञानं, मनःपर्ययज्ञानं, केवलज्ञानमित्येतन्मूलविधानतः पञ्चविधं ज्ञानम्।) तदेतत्पञ्चविधमपि ज्ञानं द्वे प्रमाणे भवतः, परोक्षं प्रत्यक्षं च।

(तत्त्व.भा. 1/9–10)

(मूलभेदों की अपेक्षा ज्ञान पांच प्रकार का है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः-पर्ययज्ञान और केवलज्ञान।) यह पांच प्रकार का ज्ञान 'प्रमाण' है, और उसके दो भेद हैं, एक परोक्ष और दूसरा प्रत्यक्ष।

० प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्विधा।

(न्यायाव. 1)

प्रमाण दो प्रकार का है–1. प्रत्यक्ष और 2. परोक्ष।

० (तत्र प्रमाणं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च।)

(स.सि. 1/6/24)

प्रमाण के दो भेद हैं–स्वार्थ और परार्थ।

० तं जहा–णामपमाणं ट्ठवणपमाणं संखपमाणं दव्व-पमाणं खेत्तपमाणं कालपमाणं णाणपमाणं चेदि।

(ज.ध. 1, पृ. 34)

प्रमाण सात प्रकार का है–नाम प्रमाण, स्थापना प्रमाण, संख्याप्रमाण, द्रव्य प्रमाण, क्षेत्र प्रमाण, काल प्रमाण और ज्ञान प्रमाण।

० तत्परोक्षं भवत्येकं प्रत्यक्षमपरं पुनः।

(तत्त्वा. 1/15)

प्रमाण के दो भेद कहे हैं–एक परोक्ष प्रमाण और दूसरा प्रत्यक्ष प्रमाण।

० तद्द्वेधा सविकल्पेतरभेदात्।

(आ.प. 178)

सविकल्प और निर्विकल्प के भेद से प्रमाण दो प्रकार का होता है।

० तद् द्वेधा प्रत्यक्षेतरभेदात्।

(प.मु. 2/1–2)

प्रमाण के दो भेद हैं–प्रत्यक्ष और परोक्ष।

० तद् द्विभेदं प्रत्यक्षं च परोक्षं च।।

(प्र.न.त. 2/1)

प्रमाण दो प्रकार का है–प्रत्यक्ष और परोक्ष।

० तच्च भावप्रमाणं करणप्रमाणमिति द्विविधम्।

(प्र.प्र. 1/2)

उसके (प्रमाण) के दो प्रकार हैं–भाव प्रमाण तथा करण प्रमाण।

प्रमाण फल

० प्रमाणस्य फलं साक्षादज्ञानविनिवर्त्तनम्। केवलस्य सुखोपेक्षे शेषस्यादानहानधीः।।

(न्यायाव. 28)

प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञान का नाश है। सर्वज्ञ के ज्ञान का फल केवल सुख और उपेक्षा (मध्यस्थवृत्तिता) है, शेष जो साधारण लोग हैं उनके प्रमाण का फल आदेय (ग्रहण करने योग्य) का ग्रहण और हेय–छोड़ने योग्य का छोड़ना है।

० अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्।।

(प.मु. 5/1)

प्रमाण का साक्षात् फल-अज्ञान की निवृत्ति (नाश) है तथा परम्परा फल-हान (त्याग), उपादान (ग्रहण) और उपेक्षा (उदासीनता) है।

० यत्प्रमाणेन प्रसाध्यते तदस्य फलम्।

(प्र.न.त. 6/1)

प्रमाण के द्वारा जो साधा जाय–निष्पन्न किया जाय, वह प्रमाण का फल होता है।

० तद् द्विविधम्-आनन्तर्येण पारम्पर्येण च। तत्रानन्तर्येण सर्वप्रमाणानामज्ञाननिवृत्तिः फलम्। पारम्पर्येण केवलज्ञानस्य तावत्फलमौदासीन्यम्। शेषप्रमाणानां पुनरूपादानहानोपेक्षाबुद्धयः।।

(प्र.न.त. 6/2–5; स्या.मं. 17)

(प्रमाण का) फल दो प्रकार का है—अनन्तर (साक्षात्) फल, और परम्परा फल (परम्परा)। पदार्थ-विषयक अज्ञान की निवृत्ति सभी प्रमाणों का साक्षात् फल है। केवलज्ञान का परम्परा फल है—उदासीनता। केवलज्ञान के अतिरिक्त शेष प्रमाणों का परम्परा फल है—इष्टानिष्ट पदार्थों का छोड़ना, ग्रहण करना या उनकी उपेक्षा करना।

० फलमर्थप्रकाशः।..... अज्ञाननिवृत्तिर्वा।

(प्र.मी. 1/1/34, 38)

(प्रमाण का अव्यवहित-साक्षात्) फल है—अर्थ का प्रकाशित होना। अथवा अज्ञान की निवृत्ति होना—यह भी (प्रमाण का साक्षात्) फल है।

० हानादिबुद्धयो वा। हानोपादानोपेक्षाबुद्धयो वा प्रमाणस्य फलम्।

(प्र.मी. 1/1/40)

हान आदि, अर्थात् (हान), उपादान व उपेक्षा बुद्धि—ये प्रमाण के (व्यवहित, परम्परया) फल हैं।

० प्रमितिः प्रमाणस्य फलमिति।

(न्या.दी. 1/12)

प्रमिति प्रमाण का फल (कार्य) है।

० प्रमाणस्य फलमर्थबोधः।

(भि.न्या. 6/12)

अर्थबोध को 'प्रमाण का फल' कहा जाता है।

प्रमाणफलाभास

० फलाभासः प्रमाणादभिन्नं भिन्नमेव वा।।

(प.मु. 6/66; प्र.रत्ना. 6/66)

प्रमाण से उसके फल को सर्वथा भिन्न ही या सर्वथा अभिन्न ही मानना 'प्रमाणफलाभास' है। अभिन्नमेव भिन्नमेव वा प्रमाणात् फलं तस्य तदाभासम्।।

(प्रन.त. 6/87)

प्रमाण से सर्वथा अभिन्न या सर्वथा भिन्न प्रमाण का फल है, वह कहना 'फलाभास' है।

प्रमाणवाक्य

० स्यादस्तीति सकलवस्तुग्राहकत्वात्प्रमाणवाक्यम्।

(पंचा.ता.वृ. 14)

'स्यात् है'—यह सकलवस्तु का ग्राहक होने से 'प्रमाण वाक्य' है।

० अभेदवृत्त्यभेदोपचाराभ्यां कृत्वा प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः समसमयं यदभिधायकं वाक्यं स सकलादेशः प्रमाणवाक्यापरपर्यायः।

(स्या.मं. 23)

प्रमाण द्वारा प्रतिपन्न अनन्तधर्मात्मक वस्तु का, अभेदवृत्ति व अभेदोपचार द्वारा, युगपत् प्रतिपादन करने वाला वाक्य सकलादेश होता है, इस ही 'प्रमाण वाक्य' कहते हैं।

० सप्तभङ्ग्यात्मकं वाक्यं प्रमाणं पूर्णबोधकृत्। स्यात्पदाद् अपरोल्लेखि वचो यच्चैकधर्मगम्।।

(नयो. 6)

जो सप्तभङ्गी-रूप वाक्य (सप्तविध जिज्ञासा की निवृत्ति करते हुए) पूर्ण बोध कराने वाला हो, वह 'प्रमाण वाक्य है' है। और जो एकधर्म-विषयक वाक्य हो, किन्तु स्यात्—पद के द्वारा इतर (अविवक्षित अनन्त) धर्मों का भी संग्रह किया गया हो, वह भी 'प्रमाण वाक्य' है। (द्रष्टव्य : सकलादेश)

प्रमाणवाक्य (सप्तभङ्गी)

० तस्य एकस्य जीवस्य अनेकात्मकस्य प्रत्यायने शब्दः प्रवर्तमानो द्विधा व्यवतिष्ठते-क्रमेण यौगपद्येन वा, न तृतीयो वाक्पथोऽस्ति.....तत्र तदा यौगपद्यं तदा सकलादेशः, स एव प्रमाणम्– इत्युच्यते। .....एकगुणमुखेन अशेषवस्तु रूपसंग्रहात् सकलादेशः।.....तत्र एतस्मिन् सकलादेशे आदेशवशात् सप्तभङ्गी प्रतिपदं वेदितव्या। तद्यथा– 'स्याद् अस्ति एव जीवः'.. इत्यादि।.....जीवशब्दो द्रव्यवचनः, विशेष्यत्वात्, अस्ति इति गुणवचनो विशेषणत्वात्। तयोस्सामान्यार्थाविच्छेदेन विशेषणविशेष्य-सम्बन्धावद्योतनार्थमेवकारः। तेनेतरनिवृत्तिप्रसङ्गे तत्सम्भवप्रदर्शनार्थः स्यात्-शब्दप्रयोगः।

(रा.वा. 4/42/12–15)

इस अनेकान्तात्मक जीव का कथन शब्दों से दो रूपों में होता है–एक क्रमशः, दूसरा युगपत्, तीसरा कोई वचन-मार्ग नहीं है। जब युगपत् कथन होता है तो वह सकलादेश होता है, वही प्रमाण कहा जाता है।.....एक गुण रूप से सम्पूर्ण वस्तु–धर्मों का अखण्ड रूप से ग्रहण करना 'सकलादेश' होता है।.....एक गुण रूप से सम्पूर्ण वस्तु–धर्मों का अखण्ड भाव से ग्रहण करना 'सकलादेश है।.....इस सकलादेश में आदेश (विवक्षा) के अनुसार प्रत्येक धर्म में सप्तभङ्गी होती है। जैसे–'स्याद् अस्ति एव जीवः' इस वाक्य में जीव शब्द विशेष्य होने से द्रव्यवाची है और 'अस्ति' शब्द विशेषण होने से गुणवाची है। इन दोनों में सामान्य अर्थ का अविच्छेद न करते हुए विशेषण–विशेष्य भाव का द्योतन करने के लिए 'एव' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

० स्याद् अस्ति.....वस्तु इति प्रमाण सप्तभङ्गी सकलविरोधवैधुर्यात् सिद्धा।

(तत्त्व.श्लो. 1/6/55)

वस्तु 'स्याद् अस्ति' है.....इत्यादि प्रमाण-सप्तभङ्गी है, यह समस्त विरोधों से रहित होने से सिद्ध है।

० स्याद् अस्ति इति सकलवस्तुग्राहकत्वात् प्रमाण-वाक्यम्।

(पंचा.ता.वृ. 14)

'स्यात् अस्ति' यह प्रमाणवाक्य है, क्योंकि यह सकल वस्तु का ग्राहक है।

० स्यात्–इति प्रमाणम्।.....स्यात् सत् इति, स्यात् कथञ्चित् सद् वस्तु इति प्रमाणम्।

(स्या.मं. 28)

'स्यात् सत् (अस्ति) है'–यह प्रमाणवाक्य है। स्यात् सत् है, यानी किसी अपेक्षा से वह सद्रूप (अस्तिरूप) है, इसलिए यह कथन 'प्रमाण' है।

(द्रष्टव्यः सकलादेश)

प्रमाणविषयाभास

० विषयाभासः सामान्यं विशेषो द्वयं वा स्वतन्त्रम्।

(प.मु. 6/61)

केवल सामान्य (पर्याय) को ही, केवल विशेष (द्रव्य) को ही अथवा दोनों रूप पदार्थ को ही स्वतंत्रता से एक-एक को प्रमाण का विषय मानना 'प्रमाणविषयाभास' है।

प्रमाणसंख्याभास

० प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादि संख्याभासम्।।

(प.मु. 6/55)

प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है—ऐसा कथन 'प्रमाणसंख्याभास' है।

प्रमाणसप्तभंगी

० सकलादेशस्वभावा तु प्रमाणसप्तभङ्गी यथावद्वस्तुरूपप्ररूपकत्वात्।

तथा हि—स्यादस्ति जीवादिवस्तु स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया।

स्यान्नास्ति परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया। स्यादुभयं क्रमार्पितद्वयापेक्षया।

स्यादवक्तव्यं सहार्पितद्वयापेक्षया। एवमवक्तव्योत्तरास्त्रयो भङ्गाः प्रतिपत्तव्याः।

(प्र.क.मा. 6/73)

यथावत् वस्तु-स्वरूप (पूर्ण वस्तु) की प्ररूपक होने से 'प्रमाण सप्तभङ्गी' सकलादेश स्वभाव वाली होती है। प्रमाण सप्तभङ्गी का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं –

1. स्यात् अस्ति जीवादि वस्तु, स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल–भाव की अपेक्षा से,
2. स्यात् नास्ति जीवादि वस्तु, पर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से,
3. स्यात् अस्ति नास्ति जीवादि वस्तु, क्रमार्पित-स्वद्रव्यादि-एवं परद्रव्यादि की अपेक्षा से,
4. स्यात् जीवादि वस्तु अवक्तव्य, सहअर्पित स्वपरद्रव्यादि-अपेक्षा, से,
5. स्यात् जीवादि वस्तु अस्ति अवक्तव्य स्वद्रव्यादि और अक्रम की अपेक्षा से,
6. स्यात् जीवादि वस्तु नास्ति, अवक्तव्य, परद्रव्यादि और अक्रम की अपेक्षा से,
7. स्यात् जीवादिवस्तु अस्ति नास्ति अवक्तव्य, स्वद्रव्यादि और परद्रव्यादि तथा अक्रम की अपेक्षा से। इस प्रकार 'प्रमाण सप्तभंगी' को समझना चाहिए।

(द्रष्टव्य : सकलादेश, सप्तभंगी के भेद)

प्रमाणांश (नय)

० प्रमाणैकदेशाश्च नयाः।

(स.सि. 1/32/240)

प्रमाण के एकदेश (विषय करने वाले अभिप्राय) को 'नय' कहते हैं।

० स्वार्थनिश्चायकत्वेन प्रमाणं नय इत्यसत्।..... नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते यतः। नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते।

(तत्त्व.श्लो. 1/6/5)

अपना और अर्थ का निश्चय कराने वाला होने के कारण नयज्ञान भी प्रमाण है। नय के द्वारा विषय किया गया वस्तु का अंश न तो पूरी वस्तु है और न वस्तु से सर्वथा पृथक् अवस्तु, किन्तु वस्तु का एकदेश कहा जाता है जैसे कि समुद्र का एक अंश पूर्ण समुद्र नहीं है, और घट या नदी, सरोवर के समान वह असमुद्र भी नहीं है, किन्तु वह समुद्र का एक अंश कहा जाता है।

० तदवयवा नयाः।

(आ.प. 39)

प्रमाण के अवयव को 'नय' कहते हैं।

० नयाः प्रमाणैकदेशत्वात् तेषां ततो भेदः। यथा समुद्रैकदेशो न समुद्रो नाप्यसमुद्रस्तथा नया अपि न प्रमाणं न वाऽप्रमाणम्।

(जै.त.भा.नय. परि., 59)

नय 'प्रमाण' का एक अंश है। यही प्रमाण और नय में अन्तर है। जैसे समुद्र का एक अंश न समुद्र कहा जा सकता है और न असमुद्र ही, इसी प्रकार नय न प्रमाण है और न अप्रमाण है (वह प्रमाण का एक अंश है)।

० न समुद्रोऽसमुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते।
नाप्रमाणं प्रमाणं वा प्रमाणांशस्तथा नयः।।
(नयो. 9)
जैसे समुद्र का अंश न तो समुद्र होता है, और न ही असमुद्र, वैसे ही नय प्रमाण का अंश होता है, न तो वह प्रमाण होता है और न ही अप्रमाण।
(द्रष्टव्यः अंशग्राही ज्ञान ,नय)

प्रमाणाभास

० सम्यगनेकान्तः प्रमाणं, मिथ्यानेकान्तः प्रमाणाभासः।
(स.भं.त. 105)
सम्यक् अनेकान्त प्रमाण है और मिथ्या अनेकान्त 'प्रमाणाभास' है।
(द्रष्टव्य : मिथ्या अनेकान्त)

प्रमाता

० प्रमाता प्रत्यक्षादिप्रसिद्ध आत्मा।।
(प्र.न.त. 7/55)
प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध आत्मा 'प्रमाता' कहलाता है।

० स्वपराभासी परिणाम्यात्मा प्रमाता।
(प्र.मी. 1/1/42)
स्व और परको जानने वाला तथा परिणमनशील आत्मा 'प्रमाता' है।

० प्रत्यक्षादिप्रसिद्ध आत्मा प्रमाता।
(जै.सि.दी. 9/40)
प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से प्रसिद्ध आत्मा को 'प्रमाता' कहते हैं।

० स्वपरावभासी प्रत्यक्षादिप्रसिद्ध आत्मा प्रमाता।
(भि.न्या. 7/1)
स्वप्रकाशी एवं परप्रकाशी तथा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से प्रसिद्ध आत्मा को 'प्रमाता' कहा जाता है।

प्रमेय (प्रमाण का विषय)

० सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः।
(प.मु. 4/1)
सामान्य और विशेष स्वरूप अर्थात् द्रव्य और पर्याय स्वरूप वस्तु प्रमाण का विषय होती है।

० तस्य विषयः सामान्यविशेषाद्यनेकान्तात्मकं वस्तु।।
(प्र.न.त. 5/1)
सामान्य-विशेष आदि अनेक धर्मों वाली वस्तु प्रमाण का विषय है।

० प्रमाणस्य विषयो द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु।।
(प्र.मी. 1/1/30)
द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु प्रमाण का विषय है।

० ''द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु प्रमेयम्'' इति तु समीचीनं लक्षणम् सर्वसंग्राहकत्वात्।
(स्या.मं. 10)
''द्रव्य और पर्याय रूप वस्तु ही प्रमेय है'' यही प्रमेय का लक्षण सर्वसंग्राहक होने से समीचीन है।

० प्रमाणेन परिच्छेद्यं प्रमेयं प्रणिगद्यते।
(द्रव्य.तर्क. 11/3)
जो प्रमाण से जानने में आता है, वह 'प्रमेय' है।

० द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु प्रमेयम्।।

(जै.सि.दी. 9/27)

द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु को प्रमेय (प्रमाण का विषय) कहते हैं।

० प्रमाणस्य विषयः सदसन्नित्यानित्यसामान्य-विशेषवाच्यावाच्याद्यनेकान्तात्मकं वस्तु।

(भि.न्या. 6/1)

सत्-असत्, नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष, वाच्य-अवाच्य आदि अनंतधर्मात्मक वस्तु प्रमाण का विषय (प्रमेय) होती है।

(द्रष्टव्य : अर्थ, पदार्थ, वस्तु)

प्रमेयत्व

० प्रमेयस्य भावः प्रमेयत्वम्, प्रमाणेन स्वपररूपं परिच्छेद्यं प्रमेयम्।

(आ.प. 98)

प्रमाण के द्वारा जानने के योग्य जो स्व और परस्वरूप है, वह 'प्रमेय' है। उस प्रमेय के भाव को 'प्रमेयत्व' कहते हैं।

० प्रमाणविषयता-प्रमेयत्वम्

(जै.सि.दी.स्वो.व्या. 1/42)

प्रमाण का विषय होना, यह 'प्रमेयत्व' है।

प्रमेयाभास

(द्रष्टव्य : प्रमाणविषयाभास)

प्रवचन

० पवयणं सिद्धंतो बारहंगाइं। ..... आगमट्ठस्स पवयणमिदि सण्णा।

(ध. 8, पृ. 90–91)

बारह अंगस्वरूप सिद्धान्त (श्रुत) का नाम 'प्रवचन' है। आगमार्थ का नाम भी 'प्रवचन' है।

० उच्यते भण्यते कथ्यते इति वचनं शब्दकलापः, प्रकृष्टं वचनं प्रवचनम्। कुतः प्रकृष्टता ? पूर्वापर-विरोधादिदोषाभावात् निरवद्यार्थप्रतिपादनात् अविसंवादात् प्रकृष्टत्वम्।

(ध. 13, पृ. 280)

'उच्यते, भण्यते, कथ्यते–इति वचनम्' –इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो कहा जाता है, वह वचन है। इस प्रकार वचन पद से शब्दों का समुदाय लिया जाता है। और जो प्रकृष्ट वचन है, वह 'प्रवचन' है। वह प्रकृष्टता कैसे है ? (उत्तर–) पूर्वापरविरोध आदि दोष से रहित होने के कारण, निर्दोष अर्थ का कथन करने के कारण और अविसंवाद (विसंवादरहित) होने के कारण (वह प्रकृष्ट है)।

० प्रकर्षेण कुतीर्थ्यानालीढतया उच्यन्ते जीवादयः पदार्था अनेनेति प्रवचनं वर्णपंक्त्यात्मकं द्वादशाङ्गम्। अथवा, प्रमाणाद्यविरोधेन उच्यतेऽनेन करणभूतेनेति प्रवचनं द्वादशाङ्गं भावश्रुतम्।

(ध. 13, पृ. 283)

यह प्रकृष्टता से, अर्थात् कुतीर्थिकों द्वारा स्पर्श नहीं किये जाने के स्वरूप से जीवादि पदार्थों का निरूपण करता है, इसलिए वर्ण-पंक्ति रूप द्वादशांग को प्रवचन कहते हैं। अथवा, करणभूत ज्ञान के द्वारा प्रमाण आदि के अविरोध रूप से जीव आदि पदार्थ कहे जाते हैं, इसलिए द्वादशांग भावश्रुत को 'प्रवचन' कहते हैं।

(द्रष्टव्य : आगम, शास्त्र)

प्रवाद

० प्रकर्षेण उद्यते प्रतिपाद्यते स्वाभ्युपगतोऽर्थो यैरिति प्रवादाः।.....प्रवादा दर्शनानि।

(स्या.मं. 30)

जिसके द्वारा इष्ट अर्थ को उत्तमता से प्रतिपादन किया जाय, उसे 'प्रवाद' कहते हैं।. ....प्रवाद अर्थात् दर्शन (दार्शनिक मतमतान्तर)। (द्रष्टव्य : नयवाद, परसमय)

प्रश्न

० प्राश्निकनिष्ठजिज्ञासाप्रतिपादकवाक्यं हि प्रश्न इत्युच्यते।

(स.भं.त. 6)

प्रश्नकर्त्ता के जानने की जो इच्छा है, उस इच्छा का प्रतिपादक जो वाक्य हैं, उनको ही 'प्रश्न' कहते हैं।

प्रश्न के भेद

० छव्विहे पट्ठे पण्णत्ते, तं जहा–संसयपट्ठे,वुग्गह पट्ठे, अणुजोगी, अणुलोम्मे, तहणाणे, अतहणाणे।

(ठा.सू. 6/111)

प्रश्न छह प्रकार के होते हैं–

1. संशय प्रश्न-संशय मिटाने के लिये पूछा जाने वाला।
2. व्युद्ग्रहप्रश्न-मिथ्या अभिनिवेश से दूसरे को पराजित करने के लिये पूछा जाने वाला।
3. अनुयोगी-व्याख्या के लिये पूछा जाने वाला।
4. अनुलोम-कुशलकामलना से पूछा जाने वाला।
5. तथाज्ञान-स्वयं जानते हुए भी दूसरों के ज्ञान की वृद्धि के लिये पूछा जाने वाला।
6. अतथाज्ञान-न जानने की स्थिति में स्वयं द्वारा पूछा जाने वाला।

प्रसंगसमा जाति (दूषणाभास, जात्युत्तर के भेद)

० अतिप्रसङ्गापादनेन प्रत्यवस्थानं प्रसङ्गसमा जातिः। यथा यद्यनित्यत्वे कृतकत्वं साधनं कृतकत्वे इदानीं किं साधनम्? तत्साधनेऽपि किं साधनमिति?

(प्र.मी. 2/1/29)

अतिप्रसंग को उपस्थापन करके खण्डन करना 'प्रसंगसमा' जाति (दूषणाभास) है। जैसे–यदि शब्द की अनित्यता सिद्ध करने के लिये कृतकत्व हेतु प्रयोग करते हो तो कृतकत्व को सिद्ध करने के लिये क्या हेतु है? और उस हेतु को सिद्ध करने के लिये भी कौन से हेतु का प्रयोग करते हो?

० प्रमाणादिप्रश्नानवस्थानं प्रसङ्गसमा जातिः।

(प्र.प्र. 1/57)

प्रमाण आदि के प्रश्नों से अनवस्था प्रसंग उपस्थित करना (एक के बाद दूसरे प्रश्न को उपस्थित करते जाना)–वह 'प्रसंगसमा' जाति है।

प्रागभाव

० कार्यद्रव्यमनादि स्यात्प्रागभावस्य निह्नवे।

(आ.मी. 10)

प्रागभाव का यदि लोप किया जाय, तो वह कार्यरूप द्रव्य अनादि ठहरता है (जो दोषपूर्ण स्थिति है)।

० कार्यस्यात्मलाभात्प्रागभवनं प्रागभावः।

(अष्टस. 10, पृ. 97)

कार्य के उत्पन्न होने से पूर्व जो उसका अभाव रहता है, उसे 'प्रागभाव' कहते हैं।

० यन्निवृत्तावेव कार्यस्य समुत्पत्तिः सोऽस्य प्रागभावः।। यथा–मृत्पिण्डनिवृत्तावेव समुत्पद्यमानस्य घटस्य मृत्पिण्डः।।

(प्र.न.त. 3/59–60)

जिस पदार्थ के नाश होने पर ही कार्य की उत्पत्ति हो, वह पदार्थ उस कार्य का 'प्रागभाव' है।

जैसे मिट्टी के पिण्ड का नाश होने पर ही उत्पन्न होने वाले घट का प्रागभाव 'मिट्टी का पिण्ड' है।

० उत्पत्तेः पूर्वं कारणे कार्यस्याऽसत्त्वं प्राक्।

(भि.न्या. 3/30)

उत्पत्ति से पूर्व कारण में कार्य असत् होता है, उसका नाम 'प्रागभाव' है।

(द्रष्टव्य : अभाव)

प्रातिभ (ज्ञान)

० प्रातिभं च ज्ञानं शब्दलिङ्गाक्षव्यापारानपेक्षं 'श्वो मे भ्राता आगन्ता' इत्याद्याकारमनागतातीन्द्रिय-कालविशेषणार्थ-प्रतिभासं जाग्रद्दशायां स्फुटतर-मनुभूयते।

(प्र.क.मा. 2/12)

एक प्रातिभ ज्ञान होता है जिसमें हेतु, आगम, इन्द्रियादि की अपेक्षा नहीं रहती। जैसे "कल मेरा भाई आयेगा" इत्यादि रूप प्रातिभज्ञान होता है। यह ज्ञान अनागत को विषय कर रहा होता है, तथा अतीन्द्रिय काल विशेषणार्थ का प्रतिभास कराता हुआ जाग्रत दशा में ही स्पष्ट रूप से अनुभव में आता है।

प्रातिभवाद

० स्यात् पद्यगद्यभाषाणां मिश्रामिश्रादिभेदतः। नियतेश्चाक्षरादीनां प्रातिभोऽनेकवर्त्मनः।।

(प्र.प्र. 1/96)

पद्य, गद्य, भाषा, मिश्र, अमिश्र अक्षर आदि के नियमों से अनेक प्रकार का 'प्रातिभवाद' होता है।

(द्रष्टव्यः वाद के भेद)

प्राप्ति अप्राप्तिसमा जाति (दूषणाभास, जात्युत्तर के भेद)

० प्राप्त्यप्राप्तिविकल्पाभ्यां प्रत्यवस्थानं प्राप्त्य-प्राप्तिसमे जाती। यथा यदेतत् कृतकत्वं त्वया साधनमुपन्यस्तं तत्किं प्राप्य साधयत्प्राप्य वा? प्राप्य चेत्; द्वयोर्विद्यमानयोरेव प्राप्तिर्भवति, न सदसतोरिति। द्वयोश्च सत्त्वात् किं कस्य साध्यं साधनं वा? अप्राप्य तु साधनत्व-मयुक्तमतिप्रसङ्गादिति।

(प्र.मी. 2/1//29)

प्राप्ति और अप्राप्ति का विकल्प खड़ा करके हेतु का खण्डन करना 'प्राप्तिसमा' और 'अप्राप्तिसमा' जातियाँ (दूषणाभास) हैं। यथा आपने कृतकत्व हेतु का जो प्रयोग किया है, वह साध्य को प्राप्त करके साधता है या बिना प्राप्त किये ही? यदि प्राप्त करके साधता है, ऐसा कहो तो प्राप्ति तो दो विद्यमान पदार्थों की ही होती है–एक विद्यमान हो और दूसरा अविद्यमान हो तो प्राप्ति नहीं होती, और जब दोनों विद्यमान हैं तो कौन किसका साधन होगा? कहें कि कृतकत्व हेतु साध्य को प्राप्त किये बिना ही सिद्ध करता है तो

यह कथन अनुचित है। प्राप्त किये बिना कोई किसी को साध नहीं सकता–ऐसा न मानें तो अतिप्रसंग दोष होगा।

० हेतोः प्राप्त्या प्रत्यवस्थानं प्राप्तिसमा जातिः।

(प्र.प्र. 1/56)

हेतु के (साध्य को) प्राप्त होने की आपत्ति को उपस्थित करना प्राप्तिसमा जाति (दूषणाभास) है।

प्रामाण्य

० अर्थतथात्वपरिच्छेदरूपा शक्तिः प्रामाण्यम्।

(प्र.क.मा. 1/13)

पदार्थ की यथार्थता का ज्ञान होना रूप 'भाव' ही 'प्रामाण्य' है।

० ज्ञानस्य प्रमेयाव्यभिचारित्वं प्रामाण्यम्। तदितरत्त्वप्रामाण्यम्।

(प्र.न.त. 1/18)

प्रमेय से अव्यभिचारी होना–अर्थात् प्रमेय पदार्थ जैसा है, उसे वैसा ही जानना, यही ज्ञान की 'प्रमाणता' है।

० प्रमीयमाणार्थाऽव्यभिचरणशीलत्वं यद् ज्ञानस्य तत् प्रामाण्यमित्यर्थः।।

(र.करा. 1/18)

प्रमेय पदार्थ अव्यभिचारी रूप से जैसा है, उसे वैसा ही जानना–यही ज्ञान का 'प्रामाण्य' है।

० सर्वं ज्ञानं स्वापेक्षया प्रमाणमेव; न प्रमाणाभासम्, बहिरर्थापेक्षया तु किञ्चित् प्रमाणम्, किञ्चित् प्रमाणाभासम्।

(र.करा. 1/19)

सभी ज्ञान अपनी अपेक्षा से प्रमाण ही होते हैं, प्रमाणाभास नहीं होते, किन्तु बाह्य पदार्थ की अपेक्षा रखकर निरूपण करें तो कोई ज्ञान प्रमाण होता है, कोई प्रमाणाभास होता है।

० किमिदं प्रमाणस्य प्रामाण्यं नाम? प्रतिभात-विषयाव्यभिचारित्वम्।

(न्या.दी. 1/18)

यह प्रमाण का प्रामाण्य आखिर क्या है? प्रतिभात (ज्ञात) विषय में व्यभिचार (अन्यथापन) का न होना–यह प्रामाण्य है (अर्थात् ज्ञान के द्वारा पदार्थ का जैसा ज्ञान हुआ, वह वैसा ही प्राप्त हो–यही उस ज्ञान की प्रमाणता-प्रामाण्य है)।

प्रामाण्य (स्वतःपरतः)

० तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च।।

(प.मु. 1/13)

प्रामाण्य (की ज्ञप्ति, अर्थात्–ज्ञाता को अपने ज्ञान की प्रमाणता का निश्चयात्मक अनुभव) स्वतः व परतः होता है।

० प्रामाण्यमुत्पत्तौ परत एव। ज्ञप्तौ स्वकार्ये च स्वतः परतश्च अभ्यासानभ्यासापेक्षया।

(प्र.क.मा. 1/13)

(यहां उत्पत्ति, ज्ञप्ति और प्रवृत्ति–इन तीन क्षेत्रों को लेकर प्रामाण्य का विचार प्रस्तुत है–) ज्ञान की उत्पत्ति प्रमाण रूप में जो होती है, वह (प्रामाण्य) (अपनी कारणसामग्री की निर्दोषता पर निर्भर) होती है। प्रामाण्य की ज्ञप्ति (अभ्यास-दशा में) स्वतः और (अनभ्यास–दशा में) परतः होती है। प्रामाण्य की प्रवृत्ति (प्रमाण ज्ञान होने पर, हान-उपादान रूप प्रवृत्ति ज्ञप्ति के अनुरूप) स्वतः या परतः होती है।

० तदुभयमुत्पत्तौ परत एव, ज्ञप्तौ तु स्वतः परतश्च।।

(प्र.न.त. 1/19)

प्रमाणता और अप्रमाणता की उत्पत्ति (कारण-सामग्री की निर्दोषता व सदोषता पर निर्भर होने से) परतः ही होती है तथा प्रमाणता और अप्रमाणता की ज्ञप्ति (अभ्यास दशा में) स्वतः और (अनभ्यास दशा में) परतः (दोनों प्रकार की) होती है।

० प्रमाणनिश्चयः क्वचित् स्वतः यथाऽभ्यासदशापन्ने स्वकरतलादिज्ञाने, स्नानपानावगाहनोदन्योपशमादावर्थक्रियानिर्भासे वा प्रत्यक्षज्ञाने। नहि तत्र परीक्षाकाङ्क्षास्ति प्रेक्षावताम्, तथाहि जलज्ञानम्, ततो दाहपिपासार्त्तस्य तत्र प्रवृत्तिः, ततस्तत्प्राप्तिः, ततः स्नानपानादीनि, ततो दाहोदन्योपशम इत्येता-वतैव भवति कृती प्रमाता; न पुनर्दाहोदन्योपशमज्ञानमपि परीक्षते इत्यस्य स्वतः प्रामाण्यम्।.....क्वचित् परतः प्रामाण्यनिश्चयः, यथा अनभ्यासदशापन्ने प्रत्यक्षे। नहि तद् अर्थेन गृहीताव्यभिचारमिति तदेकविषयात् संवादकात् ज्ञानान्तराद्वा, अर्थक्रियानिर्भासाद्वा, नान्तरीयार्थदर्शनाद्वा तस्य प्रामाण्यं निश्चीयते।

(प्र.मी. 1/1/8)

ज्ञान की प्रमाणता का निश्चय कभी स्वतः और कभी परतः होता है। जब हमें अपनी हथेली आदि अभ्यस्त वस्तु का प्रत्यक्ष होता है, अथवा स्नान, पान, अवगाहन, पिपासा की उपशान्ति आदि अर्थक्रिया का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, तब प्रत्यक्ष की प्रमाणता का स्वतः निश्चयः हो जाता है। बुद्धिमानों को ऐसे ज्ञानों के प्रामाण्य की परीक्षा करने की आवश्यकता नहीं रहती। दाह या प्यास से पीड़ित मनुष्य को जब जल का ज्ञान होता है तो वह 'जल' है ऐसा ज्ञान होते ही उसमें प्रवृत्ति करता है, उसे जल की प्राप्ति होती है, जल प्राप्ति होने पर उससे स्नान करता है, प्यासा हो तो उसे पीता है, और उसकी दाह या प्यास बुझ जाती है। इसी से प्रमाता कृतार्थ हो जाता है। वह दाह या प्यास बुझने के ज्ञान की प्रमाणता की परीक्षा नहीं करता। अर्थात् वह दाह या पिपासा शांत होने का अनुभव करता है और उस अनुभव की सच्चाई का निश्चय करने के लिये दूसरे प्रमाण की खोज नहीं करता, उसे अपने उस अनुभव की प्रामाणिकता स्वतः ही प्रतीत होती है।

कहीं–कहीं प्रामाण्य का निश्चय परतः (दूसरे ज्ञान से) भी होता है। जब किसी अनभ्यस्त वस्तु का प्रत्यक्ष होता है, तब उस प्रत्यक्ष का पदार्थ के साथ अव्यभिचार निश्चित नहीं होता, ऐसी स्थिति में किसी अन्य ज्ञान से ही उसकी प्रमाणता का निश्चय हो सकता है। वह दूसरा ज्ञान या तो प्रथम ज्ञान के विषय को जानने वाला हो, उसका पोषक हो, अर्थक्रिया का ज्ञान हो अथवा (प्रथम ज्ञान द्वारा प्रदर्शित पदार्थ के) अविनाभावी पदार्थ का दर्शन हो। इन तीनों ज्ञानों की प्रमाणता का निश्चय स्वतः ही होता है।

० अभ्यस्ते विषये स्वतः, अनभ्यस्ते तु–परतः।.... परिचितस्वग्रामतटाकजलादिरभ्यस्तः,तद्व्यतिरिक्तोऽनभ्यस्तः।.....ज्ञानज्ञापकादेव प्रामाण्यज्ञप्तिः स्वतइति। ततोऽतिरिक्ताज्ज्ञप्तिः परत इति।

(न्या.दी. 1/20)

प्रामाण्य अभ्यस्त विषय में तो स्वतः होता है और अनभ्यस्त विषय में पर से होता है।..... ज्ञान का निश्चय कराने वाले कारणों के द्वारा ही प्रामाण्य का निश्चय होना 'स्वतः' है और उससे भिन्न कारणों से होना 'परतः' है।

० प्रामाण्यनिश्चयः स्वतः परतो वा।

(भि.न्या. 1/15)

प्रमाण की यथार्थता का निश्चय स्वतः और परतः दोनों प्रकार से होता है।

प्रावचन

० प्रवचने प्रकृष्टशब्दकलापे भवं ज्ञानं द्रव्यश्रुतं वा प्रावचनं नाम।

(ध. 13, पृ. 280)

प्रवचन अर्थात् प्रकृष्ट शब्दकलाप में होने वाला ज्ञान या द्रव्यश्रुत 'प्रावचन' कहलाता है।

प्राश्निक/सभ्य

० प्राश्निकाः सभ्याः–

स्वसमयपरसमयज्ञाः कुलजाः पक्षद्वयेप्सिताः क्षमिणः।

वादपथेष्वभियुक्तास्तुलासमाः प्राश्निकाः प्रोक्ताः।।

(प्र.मी. 2/1/30)

प्राश्निक/सभ्य का लक्षण इस प्रकार कहा गया है–स्व-पर सिद्धान्त के ज्ञाता, कुलीन, दोनों पक्षों के द्वारा स्वीकृत, क्षमावान्, वाद पक्ष में निपुण और तुला के समान निष्पक्ष न्याय करने वाले 'प्राश्निक' (सभ्य) कहे गये हैं।

ब

बहिर्व्याप्ति

(द्रष्टव्यः व्याप्ति के भेद)

बहुज्ञान (अवग्रह)

० प्रकृष्टश्रोत्रेन्द्रियावरण-वीर्यान्तराय क्षपोपशमाङ्गोपाङ्गनामोपष्टम्भात् संभिन्नसंश्रोतान्यो वा युगपत्तत-वितत-घन-सुषिरादिशब्दश्रवणाद् बहुशब्दमवगृह्णाति।

(रा.वा. 1/16/2)

संभिन्नश्रोतृत्व ऋद्धि का धारक अथवा अन्य भी कई श्रोता श्रोत्रेन्द्रियावरण और वीर्यान्तराय के उत्कृष्ट क्षयोपशम के साथ अंगोपांगनाम-कर्म के उदय होने पर जो तत, वितत, घन और सुषिर आदि शब्दों को सुनकर बहुत शब्दों को एक साथ ग्रहण करता है, वह श्रोत्रेन्द्रियजन्य बहु-अवग्रह कहलाता है।

० बहोः संख्याविशेषस्यावग्रहो विपुलस्य वा। क्षपोपशमतो नुः स्यात्.....।

(तत्त्व.श्लो. 1/16/2)

आत्मा के क्षयोपशम होने से संख्याविशेष बहुत का अथवा अधिक परिमाण वाले विपुल पदार्थ आदि का जो ग्रहण होता है, उसे बहु अवग्रह' कहते हैं।

बहुविधज्ञान (अवग्रह)

० प्रकृष्टश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमादिसन्निधाने सति, ततादिशब्दविकल्पस्य प्रत्येकमेकद्वि-

त्रिचतुःसंख्येया-सख्येयानन्तगुणस्य अवग्राह-कत्वात् बहुविध-मवगृह्णाति।

(रा.वा. 1/16/16)

श्रोत्रेन्द्रियावरण और वीर्यान्तराय के उत्कृष्ट क्षयोपशम के साथ अंगोपांग नाम कर्म के उदय का सहकार होने पर तत–विततादि शब्दों का एक दो तीन आदि संख्यात, असंख्यात व अनन्तगुणे विकल्पों से संयुक्त ग्रहण करना, इसका नाम बहुविध अवग्रह (श्रोत्रेन्द्रियजनित) है।

० बहुपयाराणं हय-हत्थि-गो-महिसादीणं गहणं बहुविहावग्गहो।

(ध. 6, पृ. 19–20)

बहुत प्रकार के घोड़ा, हाथी, गाय और भैंस आदि का जो ग्रहण होता है, इसे 'बहुविध-अबग्रह' कहा जाता है।

० विधग्रहणं प्रकारार्थः। बहुविधं बहुप्रकारमित्यर्थः। जातिगतभूयःसंख्याविषयः प्रत्ययो बहुविधः।

(ध. 9, पृ. 151)

'विध' शब्द का ग्रहण 'प्रकार' (अर्थ) के ग्रहण हेतु किया गया है। अतः बहुविध का अर्थ है– बहुत प्रकार। जाति में रहने वाली बहु संख्या को अर्थात् अनेक जातियों को विषय करने वाला प्रत्यय 'बहुविध' कहलाता है।

० प्रकारार्थे विधशब्दः, बहुविधं बहुप्रकारमित्यर्थः जातिगतभूयःसंख्याविशिष्टवस्तुप्रत्ययो बहुविधः।

(ध. 13, पृ. 236–237)

'विध' शब्द प्रकार का वाचक है। बहुविध का अर्थ है–बहुप्रकार। जातिगत बहुत संख्या-विशिष्ट पदार्थों का ज्ञान 'बहुविध' ज्ञान होता है।

बाधितविषय

० (द्रष्टव्य : अकिंचित्कर हेत्वाभास)

बुद्धि

० ऊहितोऽर्थो बुद्ध्यते अवगम्यते अनया इति बुद्धिः।

(ध. 13, पृ. 243)

जिसके द्वारा ऊहित अर्थ 'बुद्धयते' अर्थात् जाना जाता है, वह 'बुद्धि' है।

० बुद्धिशब्देन ज्ञानमुच्यते।

(स्या.मं. 8)

बुद्धि का अर्थ 'ज्ञान' है।

(द्रष्टव्य : अवाय)

बौद्ध दर्शन

० सुद्धोअणतणअस्स उ परिसुद्धो पज्जवविअप्पो।

(सन्मति. 3/48)

शुद्धोदन-पुत्र का (बौद्ध) दर्शन तो परिशुद्ध पर्यायास्तिक नय का विकल्प है।

० सर्वथा द्रव्यापलापी तदाभासः। यथा–तथागतमतम्।।

(प्र.न.त. 7/30–31)

द्रव्य का एकान्त निषेध करने वाला अभिप्राय ऋजुसूत्रनयाभास कहलाता है। जैसे–बौद्ध दर्शन।

० केचिच्च विशेषरूपमेव वाच्यं निर्वचन्ति। ते च पर्यायास्तिकनयानुसारिणः सौगताः।

(स्या.मं. 14)

कुछ दार्शनिक, जैसे बौद्ध दर्शन के अनुयायी, मात्र विशेष (पर्याय) को ही वाच्य मानते हैं, वे पर्यायास्तिक नय का अनुसरण करने वाले हैं।

० ऋजुसूत्राकूतप्रवृत्तबुद्धयः ताथागताः।

(स्या.मं. 28)

ऋजुसूत्र के अभिप्राय को लेकर विचार प्रकट करने वाले बौद्ध दार्शनिक हैं।

० सर्वथा द्रव्यापलापी तदाभासः। यथा– ताथागतमतम्।

(स्या.मं. 28)

मात्र पर्याय को ही सत् मानते हुए द्रव्य का सर्वथा निषेध करना–ऋजुसूत्रनयाभास है, जैसे– बौद्ध मत।

० वर्तमानपर्यायाभ्युपगन्ता सर्वथा द्रव्यापलापी ऋजुसूत्राभासः, यथा–ताथागतं मतम्।

(जै.त.भा.नय परि., पृ. 66)

मात्र वर्तमान पर्याय को स्वीकार करने वाला एवं द्रव्य का सर्वथा निषेध करने वाला 'ऋजुसूत्राभास' नय होता है, जैसे –बौद्ध मत।

० मिथ्यात्वबुद्धिकृन्नूनं तदेतदपि दर्शनम्।
क्षणिके कृतहानिर्यत् तथात्मन्यकृतागमः।।

(अध्या. 13/34)

निश्चय ही यह बौद्ध दर्शन मिथ्यात्व की वृद्धि करने वाला है, क्योंकि आत्मा को क्षणिक मानने पर किये हुए कर्मों का नाश और नहीं किये हुए कर्मों की प्राप्ति रूप दोष आते हैं।

(द्रष्टव्य : मिथ्याश्रुत, सर्वनयात्मक)

ब्रह्मवाद

० (द्रष्टव्य : अद्वैतवादी)

भ

भवप्रत्यय (अवधिज्ञान)

० भव उत्पत्तिः प्रादुर्भावः, स प्रत्ययः कारणं यस्य अवधिज्ञानस्य तद् भवप्रत्ययकम्।

(ध. 13, पृ. 290)

भव, उत्पत्ति, और प्रादुर्भाव –ये पर्याय नाम हैं। जिस अवधिज्ञान का प्रत्यय अर्थात् कारण 'भव' होता है, वह 'भवप्रत्यय' अवधिज्ञान है।

० भवपच्चइगो सुरणिरयाणं तित्थेवि सव्वअंगुत्थो।

(गो.सा.जी. 371)

भवप्रत्यय अवधिज्ञान देवों व नारकियों और चरम शरीर तीर्थंकरों के होता है जो समस्त अंगों (सर्वांग) से उत्पन्न होता है।

भव्यस्वभाव

० भाविकाले परस्वरूपाकारभवनाद् भव्यस्वभावः।

(आ.प. 114)

भावी काल के पर (आगामी पर्याय) स्वरूप होने से 'भव्यस्वभाव' है।

भाव (गुण–पर्याय)

० .....भावः स्याद्गुण-पर्ययौ।

(तत्त्व.अनु. 100)

गुण तथा पर्याय दोनों भाव रूप है।

भाव (पदार्थ)

० भावस्स णत्थि णासो।

(पंचा. 15)

भाव का कमी नाश नहीं होता।

० भावाः खलु कालकलितपञ्चास्तिकायविकल्परूपा नव पदार्थाः।

(पंचा.त.प्र. 107)

काल सहित पंचास्तिकाय के विकल्प भेद रूप नव पदार्थ 'भाव' हैं।

भाव (परिणाम)

० भावो खलु परिणामो।

(ध. 1, पृ. 160)

पदार्थों के परिणाम को 'भाव' कहते हैं।

० भावो णाम किं? दव्वपरिणामो।

(ध. 5, पृ. 187)

'भाव' नाम किसका है? द्रव्य के परिणाम को 'भाव' कहते हैं।

० परिणाममात्रलक्षणो भावः।

(प्र.सा.तत्त्वप्र. 129)

भाव का लक्षण 'परिणाम' मात्र है।

भाव (परिणाम) के पर्याय

० भावः परिणाममयः शक्तिविशेषोऽथवा स्वभावः स्यात्।
प्रकृतिः स्वरूपमात्रं लक्षणमिह गुणाश्च धर्मश्च।।

(पं. 1/479)

भाव, परिणाम, शक्ति, विशेष, स्वभाव, प्रकृति, स्वरूप, लक्षण, गुण, धर्म –ये सब 'भाव' के नामान्तर हैं।

भावनिक्षेप

० वर्तमानतत्पर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः।

(स.सि. 1/5/22)

वर्तमान पर्याय से युक्त द्रव्य को 'भाव' (निक्षेप) कहते हैं।

० तथोपयोगलक्षणो भावनिक्षेपः।

(लघी.वि. 7/74)

जो वस्तु जैसी है, उसी रूप में उपयुक्त होना 'भावनिक्षेप' है।

० वट्टमाणपज्जाएण उवलक्खियं दव्वं भावो णाम।

(ज.ध. 1, पृ. 236)

वर्तमान पर्याय से उपलक्षित द्रव्य को 'भाव' कहते हैं।

० वर्तमानेन यत्नेन पर्यायेणोपलक्षितम्।
द्रव्यं भवति भावं तं वदन्ति जिनपुंगवाः।।

(तत्त्वा. 1/13)

वर्तमान पर्याय से उपलक्षित द्रव्य को जिनेन्द्र भगवान् 'भाव निक्षेप' कहते हैं। अर्थात् जो पदार्थ वर्तमान में जिस पर्याय रूप है, उसे उसी प्रकार कहना 'भाव निक्षेप' है।

० तत्पर्यायो भावो यथा जिनः समवसरणसंस्थितिकः।
घातिचतुष्टयरहितो ज्ञानचतुष्टययुतो हि दिव्यवपुः।।

(पं. 1/744)

वर्तमान में जिसकी जो पर्याय हो, उसको उसी पर्याय वाला कहना 'भावनिक्षेप' है। जैसे समवसरण में विराजमान, चार घातीकर्मों से रहित, अनन्तज्ञान आदि चतुष्टय से युक्त और दिव्य परम औदारिक शरीर वाले 'अरहंत' को 'जिन' कहना 'भावनिक्षेप' है।

० विवक्षितक्रियानुभूतिविशिष्टं स्वतत्त्वं यन्निक्षिप्यते स भावनिक्षेपः। यथा इन्दनक्रियापरिणतो भावेन्द्र इति।

(जै.त.भा.नि.परि., पृ. 70)

विवक्षित क्रिया की अनुभूति से युक्त जो स्वतत्त्व निक्षिप्त किया जाता है, वह 'भाव निक्षेप' है। जैसे–वर्तमान में इन्दनक्रिया करने वाला भावेन्द्र है।

० विवक्षितक्रियापरिणतो भावः।

(जै.सि.दी. 9/16)

विवक्षित अर्थ की क्रिया में परिणत (और उपयुक्त) को 'भाव निक्षेप' कहते हैं।

(द्रष्टव्य : निक्षेप)

भावप्रमाण के भेद

० भावप्पमाणे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा–गुणप्पमाणे, नयप्पमाणे, संखप्पमाणे।

(अनु.सू. 11/506)

भावप्रमाण के तीन भेद हैं। जैसे–गुणप्रमाण, नयप्रमाण, और संख्याप्रमाण।

(द्रष्टव्य : प्रमाण के भेद)

भावमन

० वीर्यान्तरायनोइन्द्रियावरणक्षयोपशमापेक्षया आत्मनो विशुद्धिर्भावमनः।

(स.सि. 2/11/282)

वीर्यान्तराय और नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा रखने वाले आत्मा की विशुद्धि को 'भावमन' कहते हैं।

० भावमनस्तु तदावरणीयकर्मक्षयोपशमात्मा लब्धिरात्मनश्चार्थग्रहणोन्मुखो व्यापारविशेषः।

(प्र.मी. 1/1/24)

मन को आवृत करने वाले कर्म का क्षयोपशम होना 'लब्धि भावमन है' तथा आत्मा का अर्थ-ग्रहण की ओर उन्मुख होने वाला व्यापार 'उपयोग भावमन' है।

(द्रष्टव्य : अनिन्द्रिय, द्रव्यमन, मन)

भाविनैगम नय

० भाविनि भूतवत्कथनं यत्र स भाविनैगमो यथा अर्हन् सिद्ध एव।

(आ.प. 66)

जहाँ भविष्यत् पर्याय में भूतकाल के समान कथन किया जाता है, वह 'भाविनैगम' नय है। जैसे अरिहंत सिद्ध ही है।

भूतचतुष्टयवाद

० पृथ्वी जलं तथा तेजो वायुर्भूतचतुष्टयम्।

(षड्.समु. 83)

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु–ये चार भूत (ही तत्त्व) हैं।

० एतेषां चार्वाकाणां मते.....भूतचतुष्टयं प्रमाणभूमिः प्रमाणगोचरः तात्त्विकः।

(षड्.समु.टी. 83)

इन चार्वाकों के मत में भूतचतुष्टय ही प्रमाण भूमि अर्थात् प्रमाण-विषय हैं अर्थात् प्रमेय हैं, तत्त्व हैं।

भूतचैतन्यवाद

० चार्वाकास्तावत् चर्चयाऽचकुः कायाकारपरिणाम-दशायाम् अभिव्यक्तचैतन्यधर्मकाणि पृथिव्यप्ते-जेवायुसंज्ञकानि चत्वार्येव भूतानि तत्त्वम्, न तु तद्व्यतिरिक्तः कश्चिद् भवान्तरानुसरण-व्यसनवान् आत्मा। यदुवाच बृहस्पतिः– 'पृथिव्यपस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदाये शरीरविषयेन्द्रिय-संज्ञाः, तेभ्यश्चैतन्यम्' इति।

(र.करा. 7/55)

चार्वाक ऐसा कथन करते हैं–पृथिवी, जल, अग्नि, वायु–इन नामों वाले चार ही तत्त्व हैं, ये जब शरीर के आकार में परिणत होते हैं, तब चैतन्य धर्म की अभिव्यक्ति हो जाती है, इनसे अतिरिक्त कोई आत्मा नामक पदार्थ नहीं है जो जन्मान्तर में अनुसरण करने का व्यसनी (स्वभाव वाला) हो। बृहस्पति ने कहा भी है– पृथिवी, जल, अग्नि व वायु–ये तत्त्व हैं, उनके समुदित रूप में शरीर और इन्द्रियां और उनमें चैतन्य की उत्पत्ति होती है।

भूतनैगम नय

० अतीते वर्तमानारोपणं यत्र, स भूतनैगमः, यथा अद्य दीपोत्सवदिने श्री वर्द्धमानस्वामी मोक्षं गतः।

(आ.प. 65)

जहाँ पर अतीत काल में वर्तमान को संस्थापन किया जाता है, वह 'भूत–नैगम' नय है। जैसे आज दीपावली के दिन श्री महावीर स्वामी मोक्ष गये हैं।

भेदस्वभाव

० गुणगुण्यादिसंज्ञादिभेदाद् भेदस्वभावः।

(आ.प. 112)

गुण-गुणी आदि में संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा भेद होने से 'भेदस्वभाव' है।

भेदाभेदवृत्ति

० यदा वक्ष्यमाणैः कालादिभिः अस्तित्वादीनां धर्माणां भेदेन विवक्षा, तदैकस्य शब्दस्य अनेकार्थप्रत्यायनशक्त्यभावात् क्रमः। यदा तु तेषामेव धर्माणां कालादिभिरभेदेन वृत्तमात्म-रूपमुच्यते, तदैकेनापि शब्देन एकधर्म-प्रत्यायनमुखेन तदात्मकत्वमापन्नस्य अनेका-शेषरूपस्य प्रतिपादनसम्भवात् यौगपद्यम्।.....के पुनस्ते कालादयः? (1) कालः, (2) आत्मरूपम् (3) अर्थः, (4) सम्बन्धः, (5) उपकारः, (6) गुणिदेशः, (7) संसर्गः, (8) शब्दः इति।

(रा.वा. 4/42/13, 15)

जब अस्तित्वादि अनेक धर्म कालादि की अपेक्षा भिन्न-भिन्न विवक्षित होते हैं, उस समय एक शब्द में अनेक धर्मों का प्रतिपादन करने की शक्ति का अभाव होने से प्रतिपादन क्रम से होता है। इसे 'विकलादेश' कहते हैं। परन्तु जब उन्हीं अस्तित्वादि धर्मों की कालादि की दृष्टि से अभेद विवक्षा होती है अर्थात् अभेद रूप से उनका स्वरूप कहा जाता है, तब एक ही शब्द के द्वारा धर्म की मुख्यता से तादात्म्य रूप से एकत्व को प्राप्त सभी धर्मों के (अनेक अशेष धर्मों के) प्रतिपादन के संभव होने से अखण्ड रूप से युगपद् कथन हो जाता है, यह 'यौगपद्य' है।.....वे कालादि कौन-कौन से है? वे कालादि आठ हैं–(1) काल,

(2) आत्मरूप, (3) अर्थ, (4) सम्बन्ध, (5) उपकार, (6) गुणिदेश, (7) संसर्ग, और (8) शब्द।

० के पुनः कालादयः। कालः आत्मरूपम् अर्थः सम्बन्धः उपकारः गुणिदेशः संसर्गः शब्दः। 1. तत्र स्याद् जीवादिवस्तु अस्त्येव इत्यत्र यत्काल-मस्तित्वं तत्कालाः शेषानन्तधर्मा वस्तुन्येकत्रेति तेषां कालेनाभेदवृत्तिः। 2. यदेव चास्तित्वस्य तद्गुणत्वमात्मरूपं तदेव अन्यानन्तगुणा-नामपीति आत्मरूपेणाभेदवृत्तिः। 3. य एव चाधारोऽर्थो द्रव्याख्योऽस्तित्वस्य स एवान्य-पर्यायाणामित्यर्थेनाभेदवृत्तिः। 4. य एव चाविष्वग्भावः कथञ्चित्ता-दात्म्यलक्षणः सम्बन्धोऽस्तित्वस्य स एव शेषविशेषाणामिति सम्बन्धेनाभेदवृत्तिः। 5. य एव चोपकारोऽस्तित्वेन स्वानुरक्तत्वकरणं स एव शेषैरपि गुणैरित्युपकारेणाभेदवृत्तिः। 6 य एवगुणिनः सम्बन्धी देशः क्षेत्रलक्षणोऽस्तित्वस्य स एवान्य-गुणानामितिगुणिदेशेनाभेदवृत्तिः। अविष्वग्भावेऽभेदः प्रधानम् भेदो गौणः, संसर्गे तु भेदः प्रधानम् अभेदो गौण इति विशेषः। 8 य एव चास्तीति शब्दोऽस्तित्वधर्मात्मकस्य वस्तुनो वाचकः, स एव शेषानन्तधर्मात्मकस्या-पीति शब्देनाभेदवृत्तिः, पर्यायार्थिकनयगुणभावे द्रव्यार्थिकनयप्राधान्याद् उपपद्यते।।

द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्ये तु न गुणानामभेदवृत्तिः सम्भवाद्। समकालमेकत्र नानागुणानामसम्भवात्, सम्भवे वा तदाश्रयस्य तावद्वा भेदप्रसङ्गात्। नानागुणानां सम्बन्धिन आत्मरूपस्य च भिन्नत्वात्, आत्मरूपाभेदे तेषां भेदस्य विरोधात्। स्वाश्रयस्यार्थस्यापि नानात्वाद्, अन्यथा नानागुणाश्रयत्वस्य विरोधात्। सम्ब-न्धस्य च सम्बन्धिभदेन भेददर्शनाद् नानासम्ब-न्धिभिरेकत्र सम्भवाघटनात्। तैः क्रियमाणस्यो-पकारस्य च प्रतिनियतरूपस्यानेकत्वात् अनेकैरूप-कारिभिः क्रियमाणस्योपकारस्य विरोधात्। गुणि-देशस्य प्रतिगुणं भेदात् तदभेदे भिन्नार्थगुणाना-मपि गुणिदेशाभेदप्रसङ्गात्। संसर्गस्य च प्रतिसंसर्गिभेदात् तदभेदे संसर्गिभेदविरोधात्। शब्दस्य प्रतिविषयं नानात्वात् सर्वगुणानामेक-शब्दवाच्यतायां सर्वार्थानामेकशब्दवाच्यतापत्तेः शब्दान्तरवैफल्यापत्तेः।

(स्या.मं. 23; स.भं.त. 50; जै.त.भा.प्र.परि., पृ. 56–58)

वे काल आदि कौन से हैं? वे हैं–काल, आत्मरूप, अर्थ (आधार), सम्बन्ध, उपकार, गुणिदेश, संसर्ग व शब्द। (इनके आधार पर भेद-वृत्ति या अभेदवृत्ति होती है, इनके उदाहरण–)

(1) काल–'जीव आदि पदार्थ कथंचित् अस्ति रूप ही हैं' यह कहने पर जिस समय जीव में अस्तित्व आदि धर्म मौजूद रहते हैं, उस समय जीव में और भी अनन्त धर्म पाये जाते हैं, अतएव काल की अपेक्षा अस्तित्व आदि धर्म एक हैं। (2) आत्मरूप (स्वभाव) –जिस प्रकार जीवका अस्तित्व स्वभाव है, उसी प्रकार अन्य धर्म भी जीव के स्वभाव हैं। इसलिए स्वभाव की अपेक्षा अस्तित्व आदि आदि अभिन्न हैं। (3) अर्थ (आधार)–जिस प्रकार द्रव्य अस्तित्व का आधार है, वैसे ही और धर्म भी द्रव्य के आधार हैं। अतएव आधार की अपेक्षा अस्तित्व आदि धर्म अभिन्न हैं। (4) सम्बन्ध –जिस प्रकार कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध अस्तित्व में रहता है,उसी तरह उक्त सम्बन्ध अन्य धर्मों में भी रहता है, इसलिए

सम्बन्ध की अपेक्षा अस्तित्व आदि धर्म अभिन्न हैं। (5) उपकार –जो उपकार अस्तित्व के द्वारा अपने स्वरूप मं अनुराग उत्पन्न करता है, वही उपकार अन्य धर्मों के द्वारा भी अनुराग पैदा करता है, अतएव उपकार की अपेक्षा अस्तित्व आदि धर्मों में अभेद है। (6) गुणिदेश (द्रव्य का आधार)–जो क्षेत्र द्रव्य से सम्बन्ध रखने वाले अस्तित्व का है, वही क्षेत्र अन्य धर्मों का है, अतएव अस्तित्व आदि धर्मों में अभेद भाव है। (7) संसर्ग–एक वस्तु की अपेक्षा से जो संसर्ग अस्तित्व का है, वही संसर्ग अन्य धर्मों का भी है, इसलिए संसर्ग की अपेक्षा अस्तित्व आदि धर्मों में अभेद है। सम्बन्ध में अभेद की प्रधानता और भेद की गौणता, तथा संसर्ग में भेद की प्रधानता और अभेद की गौणता होती है। (8) शब्द–जिस 'अस्ति' शब्द से अस्तित्व धर्म का ज्ञान होता है, उसी 'अस्ति' शब्द से अन्य धर्म भी जाने जाते हैं, अतएव शब्द की अपेक्षा अस्तित्व आदि धर्म परस्पर- अभिन्न हैं। इस प्रकार, जिस समय पर्यायार्थिक नय की गौणता और द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता होती है, उस समय पदार्थों के धर्मों में अभेद भाव का ज्ञान होने से अभेदवृत्ति होती है। द्रव्यार्थिक नय की गौणता और पर्यायार्थिक नय की प्रधानता होने पर पदार्थाश्रित गुणों की अभेद रूप से स्थिति नहीं हो तो (1) विभिन्न गुण एक काल में एक स्थान पर नहीं रह सकते। यदि विभिन्न गुण एक काल में, एक वस्तु में, एक साथ रहें तो गुणों के आश्रित द्रव्यों में भी उतने ही भेद मानने चाहिएं। (2) विभिन्न गुणों का अपने–अपने स्वरूप (आत्मरूप) वाले स्वभिन्न गुण के स्वरूप से भेद है, क्योंकि वे एक दूसरे के स्वरूप में नहीं रहते, इसलिए गुणों में अभेद नहीं है। यदि गुणों में परस्पर भेद न हो, तो गुणों को भिन्न–भिन्न नहीं मानना चाहिए। (3) गुणों के आश्रयभूत पदार्थ (अर्थ) भी अनेक हैं, यदि गुणों के आधार अनेक न हों तो वे नाना गुणों के आश्रित नहीं कहे जा सकते। (4) सम्बन्धियों के भिन्न–भिन्न होने के कारण सम्बन्ध का भेद दिखाई देने से भी गुणों में अभिन्नता संभव नहीं, क्योंकि एक सम्बन्ध से भिन्न-भिन्न सम्बन्धियों के साथ सम्बन्ध नहीं बन सकता। (5) उपकार की अपेक्षा भी गुण परस्पर अभिन्न नहीं है। अनेक उपकारियों में से प्रत्येक उपकारी द्वारा किये जाने वाले उपकार में अन्य उपकारी द्वारा किये जाने वाले उपकार में विरोध है। (6) गुणि-देश की अपेक्षा से भी गुण अभिन्न नहीं हैं, अन्यथा प्रत्येक गुण का आश्रयभूत गुणिरूप देश तथा स्वभिन्न गुण के आश्रयभूत गुणिरूप देश में भेद न होने पर, भिन्न पदार्थों के गुणों के भी जो गुणिरूप देश हैं, उनका पूर्वोक्त गुणिरूप देश के साथ अभेद का प्रसंग आ जायेगा। (7) संसर्ग की अपेक्षा भी गुण भिन्न हैं। अन्यथा एक पदार्थ के साथ जितने संसर्ग करने वाले होते हैं, उतने ही संसर्गों के परस्पर भिन्न होने पर भी, उन संसर्गों को अभिन्न मानने पर, संसर्ग करने वालों में भेद उपस्थित हो जायेगा। (8) तथा शब्द की अपेक्षा से भी गुण भिन्न है। अन्यथा सभी गुणों की एक शब्द के द्वारा वाच्यता

होने पर, उनके आश्रयभूत सभी पदार्थों की एक शब्द द्वारा वाच्यता होने की आपत्ति उपस्थित हो जाने से उन सभी पदार्थों में से प्रत्येक पदार्थ के वाचक शब्दों की निष्फलता का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। (द्रष्टव्य : नयवाक्य, प्रमाणवाक्य, विकलादेश, सकलादेश)

म

मतानुज्ञा निग्रहस्थान

० स्वपक्षे परापादितदोषमनुद्धृत्य तमेव परपक्षे प्रतीपमापादयतो मतानुज्ञा नाम निग्रहस्थानं भवति।

(प्र.मी. 2/1/34)

वादी के स्वपक्ष में दिए गये दोष का निराकरण न करके, उलटे उसी दोष को परपक्ष में बतलाना 'मतानुज्ञा' निग्रहस्थान है।

० स्वपक्षोक्तदोषमपरिहृत्य परपक्षे दोषमुद्भावयतो मतानुज्ञा नाम निग्रहस्थानम्।

(प्र.प्र. 1/83)

अपने पक्ष के कथित दोष (के निवारण) को छोड़कर, दूसरे के पक्ष में दोष प्रकट करना– यह 'मतानुज्ञा' नामक निग्रहस्थान है।

मतिअज्ञान

० मिथ्यादृष्टिपरिगृहीता मतिर्मत्यज्ञानम्।

(तत्त्व.भा.वृ. 1/32)

मिथ्यादृष्टि से परिगृहीत मति को 'मति-अज्ञान' कहा जाता है।

० मइअन्नाणं मिच्छद्दिट्ठिस्स.....।

(विशे.भा. 114)

मिथ्यादृष्टि का मतिज्ञान 'मति-अज्ञान' है।

० मिथ्यात्वसमवेतमिन्द्रियजज्ञानं मत्यज्ञानम्।

(ध. 1, पृ. 360)

इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले मिथ्यात्व-समवेत ज्ञान को 'मति-अज्ञान' कहा जाता है।

० विसजंतकूडपंजरबंधादिसु विणुवएसकरणेण। जा खलु पवट्टइ मई मइअण्णाणेत्ति णं बेंति।।

(गो.सा.जी. 303)

जीवों को मारने और बन्धन में हेतु विष, यन्त्र, कूट, पंजर, बन्ध आदि में बिना परोपेदेश के, मति (ज्ञान) प्रवर्तित होती है, वह 'मति-अज्ञान' है, ऐसा अर्हन्त भगवान् कहते हैं। (द्रष्टव्य : अज्ञान, मिथ्याज्ञान)

मतिज्ञान

० तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्।

(त.सू. 1/14)

(पांच) इन्द्रियों और अनिन्द्रिय (मन) से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान होता है।

० इन्द्रियैर्मनसा च यथास्वमर्थो मन्यते, अनया मनुते, मननमात्रं वा मतिः।

(स.सि. 1/9/164)

इन्द्रिय और मन के द्वारा यथायोग्य पदार्थ जिसके द्वारा मनन किये जाते हैं, जो मनन करता है या मनन मात्र 'मति' कहलाता है।

० तदावरणकर्मक्षयोपशमे सति इन्द्रियानिन्द्रिया-पेक्षमर्थस्य मननं मतिः।.....मनुते अर्थात् मन्यतेऽनेन इति वा मतिः।

(रा.वा. 1/9/1)

मत्यावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर इन्द्रिय और मन की सहायता से अर्थों का मनन 'मति' है। जो जानता है अथवा जिसके द्वारा जाना जाता है, वह 'मति' है।

० मत्यावरणविच्छेदविशेषान्मन्यते यथा।
मननं मन्यते यावत्स्वार्थं मतिरसौ मता।।
(तत्त्व.श्लो. 1/9/3)
मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम रूप विशेष के विच्छेद हो जाने से जिसके द्वारा अवबोधा किया जाता है, वह 'मतिज्ञान' है।

० पञ्चभिरिन्द्रियैर्मनसा च यदर्थग्रहणं तन्मतिज्ञानम्।
(ध. 1, पृ. 356)
पांच इन्द्रियों और मन से जो पदार्थ का ग्रहण होता है उसे 'मतिज्ञान' कहते है।

० जे पंचिदियमणेहिंतो उप्पज्जइ णाणं तं मदिणाणं णाम।
(ज.ध. 1, पृ. 12)
जो ज्ञान पाँच इन्द्रियों और मन से उत्पन्न होता है, वह 'मतिज्ञान' है।

० इंदिय-णोइंदिएहिं सद्द-परिस-रूव-रस-गंधादिविसएसु ओग्गह-ईहावाय-धारणाओ मदिणाणं।
(ज.ध. 1, पृ. 38)
इन्द्रिय और मन के निमित्त से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धादिक विषयों में अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा रूप जो ज्ञान होता है, वह 'मतिज्ञान' है।

० परोक्षस्यापि मतिज्ञानस्येन्द्रियानिन्द्रियजन्यत्वे सति स्वार्थाकारव्यवसायात्मकत्वं स्वरूपम्।
(स.भं.त. 67)
इन्द्रिय व अनिन्द्रिय (मन) से जनित होते हुए अपने व अर्थ (ज्ञेय) का निश्चित रूप होना –यह परोक्ष मतिज्ञान का स्वरूप है।

० तत्रेन्द्रियमनोनिमित्तं श्रुताननुसारि ज्ञानं मतिज्ञानम्।
(जै.त.भा.प्र.परि., पृ. 5)
जो ज्ञान इन्द्रिय और मन के निमित्त से हो, किन्तु श्रुत का अनुसरण न करता हो, वह 'मतिज्ञान' कहलाता है।

० इन्द्रियमनोनिबन्धनं मतिः।
(भि.न्या. 3/3)
इन्द्रिय और मन के निमित्त से जो ज्ञान होता है, वह 'मति' है।
(द्रष्टव्य : आभिनिबोधिकज्ञान, इन्द्रियप्रत्यक्ष, सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष)

मतिज्ञान के भेद

० चउव्विहा मई पण्णत्ता, तं जहा–
उग्गहमती, ईहामती, अवायमती, धारणामती।
(ठा.सू. 4/607)
मति (ज्ञान) चार प्रकार का होता है–
अवग्रहमति, ईहामति, अवायमति, धारणामति।

० अवग्रहेहापायधारणाः।।
बहुबहुविधक्षिप्रानिश्रितानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम्।।
अर्थस्य।। व्यञ्जनस्यावग्रहः।।
न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्।।
(त.सू. 1/15–19)
अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा–ये मतिज्ञान

के चार भेद हैं। बहु, एक, बहुविध, एकविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, अनिःसृत, निःसृत, अनुक्त, उक्त, ध्रुव और अध्रुव–इन बारह प्रकार के अर्थों के अवग्रह आदि होते हैं। अर्थ के (वस्तु के) अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा–ये चारों मतिज्ञान होते हैं। व्यंजन का अवग्रह ही होता है। चक्षु और मन से व्यंजनावग्रह नहीं होता।

० अवग्रहादयो मतिज्ञानविकल्पा अर्थस्य भवन्ति। व्यञ्जनस्यावग्रह एव भवति नेहादयः। एवं द्विविधोऽवग्रहो व्यञ्जनस्यार्थस्य च। ईहादयस्त्वर्थस्यैव। चक्षुषा नोइन्द्रियेण च व्यञ्जनावग्रहो न भवति। चतुर्भिरिन्द्रियैः शेषैर्भवतीत्यर्थः। एवमेतन्मतिज्ञानं द्विविधं चतुर्विधम्, अष्टाविंशतिविधम्, अष्टषष्ट्युत्तरशतविधम्, षट्त्रिंशत्त्रिशतविधं च भवति।

(तत्त्व.भा. 1/17–19)

अवग्रहआदिक मतिज्ञान के जो भेद बताये हैं, वे अर्थ (व्यक्त वस्तु) के हुआ करते हैं। व्यंजन (अस्पष्ट) पदार्थ का (व्यंजन) अवग्रह ही होता है, ईहा आदिक नहीं होते, इस तरह से अवग्रह तो दोनों ही प्रकार के पदार्थ का हुआ करता है–व्यंजन का भी और अर्थ का भी (जिन्हें क्रम से व्यंजनावग्रह तथा अर्थावग्रह कहते हैं)। ईहा आदि मतिज्ञान के शेष तीन विकल्प अर्थ के ही होते हैं, व्यंजन के नहीं होते। यह व्यंजनावग्रह चक्षुरिन्द्रिय और मन–इनके द्वारा नहीं हुआ करता है। तात्पर्य यह है, कि वह केवल स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र–इन चार इन्द्रियों के द्वारा ही हुआ करता है। इस प्रकार से इस मतिज्ञान के दो भेद, अथवा चार भेद, अथवा अट्ठाईस भेद, या एक सौ अड़सठ भेद, अथवा तीन सौ छत्तीस भेद होते हैं।

(**विशेषार्थ**–*मतिज्ञान ज्ञान का एक विशिष्ट प्रकार है। चूंकि यह पांच इन्द्रियों और मन द्वारा होता है, इसलिए इसके दो भेद हैं–इन्द्रियजन्य मतिज्ञान और मनोजन्य मतिज्ञान। मतिज्ञान के चार भेद हैं–अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा। इन्द्रियों द्वारा यथायोग्य विषयों का जो अव्यक्त रूप से आलोचनात्मक अवधारण–ग्रहण होता है, वह अवग्रह है। अवग्रह द्वारा गृहीत वस्तु का विशेष रूप निश्चित करने हेतु जो चेष्टा है, वह ईहा है। ईहा द्वारा ज्ञात वस्तु का विशेष रूप से निश्चय हो जाना–यह अवाय है। ज्ञात पदार्थ के अधिक काल तक स्थिर रहने को धारणा कहते हैं। अवग्रह दो प्रकार का है–व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह। रसना, श्रोत्र, घ्राण, स्पर्श–इन चार इन्द्रियों से व्यंजनावग्रह (अस्पष्ट ज्ञान, तदनन्तर) अर्थावग्रह (स्पष्ट ज्ञान) दोनों होते हैं, साथ ही ईहा, अवाय व धारणा भी होते हैं । चक्षु व मन–से मात्र अर्थावग्रह ही होता है, व्यंजनावग्रह नहीं होता। इसका कारण यह है कि चक्षु व मन –ये दोनों अप्राप्यकारी हैं, ये वस्तु को प्राप्त या उससे सम्बद्ध न होकर भी उस वस्तु को व्यक्त रूप से जान लेते हैं, अर्थात् व्यंजनावग्रह किये बिना ही अर्थावग्रह कर लेते हैं, जबकि अन्य चार इन्द्रियां व्यंजनावग्रह व अर्थावग्रह दोनों करती हैं। मतिज्ञान के अट्ठाईस भेद इस प्रकार हैं–छहों इन्द्रियों से होने वाला अर्थावग्रह, छहों इन्द्रियों से होने वाली ईहा, इसी तरह छः प्रकार के अवाय और छः प्रकार की धारणा– ये कुल 24 अर्थावग्रह हुए। चार इन्द्रियों से होने वाले*

व्यंजनावग्रह के चार भेद इसमें जोड़ें तो कुल मतिज्ञान अट्ठाईस प्रकार का हुआ।

एक सौ अड़सठ एवं तीन सौ छत्तीस भेद–*उक्त अट्ठाईस प्रकार के मतिज्ञान में प्रत्येक के बहु–बहुविध आदि छः भेद या बारह भेद होते हैं।*

1. बहु (बहुत पदार्थ का ज्ञान), 2. बहुविध (अनेक प्रकार के पदार्थ का ज्ञान), 3. क्षिप्र (शीघ्रगामी पदार्थ का ज्ञान), 4. अनिःसृत (पदार्थ के एक भाग को देखकर सम्पूर्ण का ज्ञान), 5. अनुक्त (बिना कहे वस्तु का ज्ञान), 6. ध्रुव (बहुत समय तक स्थायी ज्ञान) इन छहों के विपरीत, अर्थात् 7. एक (एक पदार्थ का ज्ञान), 8. एकविध (एक तरह के पदार्थों का ज्ञान), 9. अक्षिप्र (मन्दगामी पदार्थों का ज्ञान), 10. निःसृत (प्रकट पदार्थ का ज्ञान), 11. उक्त (कहे गये ही पदार्थ का ज्ञान), 12. अध्रुव (बहुत समय तक न रहने वाला ज्ञान)–इस प्रकार छः या बारह भेद भी होते हैं। यदि उक्त अवग्रहों के 28 भेदों को छः (बहु आदि) से गुणा करें तो एक सौ अड़सठ भेद होते हैं। बारह भेदों से गुण करें तो तीन सौ छत्तीस भेद हो जाते हैं।)

० तत् सामान्यादेकम्। इन्द्रियानिन्द्रियभेदाद् द्विधा। अवग्रहादिभेदाच्चतुर्धा। तैरिन्द्रियगुणितैश्चतुर्विंशति-विधम्। तैरेव व्यंजनावग्रहाधिकैरष्टाविंशतिविधम्। तैरेव मूलभङ्गाधिकैर्द्रव्यादिसहितैर्वा द्वात्रिंशद्विधम्। त एते त्रयो विकल्पा बह्वादिभिःषड्भिरितरान-पेक्षैर्गुणिताः चतुश्चत्वारिंशं शतम्, अष्टषष्ट्युत्तरं शतम्, द्वानवत्यधिकं शतमिति च भवन्ति। त एव बह्वादिभिः द्वादशभिर्गुणिता द्वे शते अष्टाशीत्युत्तरे, त्रीणि शतानि षट्त्रिंशानि, चतुरशीत्यधिकानि त्रीणि शतानि च भवन्ति।

(रा.वा. 1/19/9)

सामान्य से मतिज्ञान एक है। इन्द्रियज और अनिन्द्रियज के भेद से दो प्रकार का है। अवग्रह आदि के भेद से चार प्रकार का है। अर्थावग्रह आदि चार छहों इन्द्रियों से होते हैं, अतः उनके चौबीस भेद हो जाते हैं। चार इन्द्रियों से चार व्यंजनावग्रह भी होते हैं, अतः इन्हें मिलाकर 28 प्रकार के भेद हो जाते हैं। इन्हीं अट्ठाईस में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव या अवग्रहादि चार को मिलाने से 32 प्रकार के भेद हो जाते हैं। इस तरह इन 24, 28, 32 प्रकारों को बहु आदि 6 भेदों से गुणा करने पर क्रमशः 144, 168, 192 भेद हो जाते है और बहु आदि 12 से गुणा करने पर 288, 336 और 384 भेद हो जाते हैं।

(द्रष्टव्य : श्रुतनिश्रित के भेद)

मन

मनुतेऽर्थान् मन्यन्तेऽर्थाः अनेनेति वा मनः।

(जै.त.भा.प्र.परि., पृ. 10)

जो पदार्थों का मनन करता है या जिसके द्वारा पदार्थों का मनन किया जाता है, वह 'मन' कहलाता है।

० सर्वार्थग्राहि त्रैकालिकं मनः।

(भि.न्या 2/21)

जिसके द्वारा सब विषयों का ग्रहण किया जाता है और जो त्रैकालिक संज्ञान है, उसे 'मन' कहा जाता है।

० सर्वार्थग्रहणम् – आलोचनात्मकं मनः।

(जै.सि.दी. 2/30)

जिसके द्वारा सब विषयों का ग्रहण किया जा सके और जो आलोचना करने में समर्थ हो, उसे 'मन' कहते हैं।

(द्रष्टव्य : अनिन्द्रिय, द्रव्यमन, भावमन)

मन के पर्याय

० अनिन्द्रियं मनः अन्तःकरणमित्यनर्थान्तरम्।

(स.सि. 1/14/186)

अनिन्द्रिय, मन और अन्तःकरण–ये एकार्थवाची नाम हैं।

मनःपर्ययज्ञान

(क) मनोगत अर्थ-साक्षात्कार

० चिंताए अचिंताए अद्धचिन्ताए विविहभेयगयं।
जं जाणइ णरलोए तं चिय मणपज्जवं णाणं।।

(ति.प. 4/973)

चिन्ता, अचिन्ता या अर्धचिन्ता के विषयभूत अनेक भेद रूप पदार्थ को जो ज्ञान 'नर लोक' के भीतर जानता है, वह 'मनःपर्ययज्ञान' है।

० परकीयमनोगतोऽर्थो मनः इत्युच्यते। साहचर्यात्तस्य पर्ययणं परिगमनं मनःपर्ययः।

(स.सि. 1/9/164)

दूसरे के मनोगत अर्थ को 'मन' कहते हैं। चूंकि मन और मनोगत पदार्थ सहचर हैं, अतः इसी साहचर्य से उस मनोगत पदार्थों का पर्ययण, परिज्ञान करना–यह मनःपर्यय ज्ञान है।

० वीर्यान्तरायमनःपर्ययज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनाम-लाभावष्टम्भाद् आत्मनः परकीयमनः-सम्बन्धेन लब्धवृत्तिरुपयोगो मनःपर्ययः।

(स.सि. 1/23/218)

'वीर्यान्तराय' और 'मनःपर्यय ज्ञानावरण' के क्षयोपशम और अंगोपांग नामकर्म के आलम्बन से आत्मा में जो दूसरे के मन के सम्बन्ध से जो उपयोग जन्म लेता है, उसे 'मनःपर्यय ज्ञान' कहते हैं।

० तदावरणकर्मक्षयोपशमादि-द्वितीयनिमित्तवशात् परकीयमनोगतार्थज्ञानं मनःपर्ययः।

(रा.वा. 1/9/4)

मनःपर्यय ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमादि रूप सामग्री के निमित्त से परकीय मनोगत अर्थ को जानना 'मनःपर्ययज्ञान' है।

० मनः प्रतीत्य प्रतिसंधाय वा ज्ञानं मनःपर्ययः। तदावरणकर्मक्षयोपशमादि-द्वितयनिमित्तत्वात् परकीयमनोगतार्थज्ञानं मनःपर्ययः।

(रा.वा. 1/9/4)

दूसरे के मन का आश्रय लेकर किया जाने वाला ज्ञान 'मनःपर्यय' है। अर्थात् मनःपर्यय ज्ञानावरण के क्षयोपशम आदि एवं परकीय 'मन' का आश्रयण–इन द्विविध सामग्री के निमित्त से होने वाला परकीय मनोगत अर्थ का ज्ञान 'मनःपर्यय' ज्ञान कहलाता है।

० यन्मनःपर्ययावारपरिक्षयविशेषतः।
मनःपर्ययणं येन मनः पर्येति योऽपि वा।।
स मनःपर्ययो ज्ञेयो मनोऽत्रार्था मनोगताः।
परेषां स्वमनो वापि तदालम्बनमात्रकम्।।

(तत्त्व.श्लो. 1/9/6–7)

जो ज्ञान मनःपर्ययज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमरूप विशेष परिक्षय से अपने या दूसरे के मन में स्थित पदार्थों को जान लेते हैं या मनोगत पदार्थों का जिसे द्वारा अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान कर लिया जाता है, वह 'मनःपर्यय' ज्ञान है।

० मणपज्जवणाणं णाम परमणोगयाइं मुत्ति-दव्वाइं तेण मणेण सह पच्चक्खं जाणदि।

(ध. 1, पृ. 95)

जो दूसरों के मनोगत मूर्तिक द्रव्यों को उस मन के साथ प्रत्यक्ष जानता है, उसे 'मनःपर्यय ज्ञान' कहते हैं।

० साक्षात्मनः समादाय मानसार्थानां साक्षात्करणं मनःपर्ययज्ञानम्।

(ध. 1, पृ. 360)

मन का आश्रय लेकर मनोगत पदार्थों के साक्षात्कार करने वाले ज्ञान को 'मनःपर्ययज्ञान' कहते हैं।

० परकीयमनोगतोऽर्थो मनः, तस्य पर्यायाः विशेषाः मनःपर्यायाः, तान् जानातीति मनःपर्ययज्ञानम्।

(ध. 6, पृ. 28; ध. 13, पृ. 212)

दूसरे व्यक्ति के मन में स्थित पदार्थ 'मन' कहलाता है। उसकी पर्यायों अर्थात् विशेषों को 'मनःपर्यय' कहते हैं। उनको जो ज्ञान जानता है वह 'मनःपर्ययज्ञान' कहलाता है।

० परकीयमनोगतोऽर्थो मनः। परि समन्तात् अयः विशेषः (पर्ययः), मनसः पर्ययः मनःपर्ययः। मनः-पर्ययस्य ज्ञानं मनःपर्ययज्ञानम्।

(ध. 13. पृ. 328)

परकीयमनोगत अर्थ की 'मन' संज्ञा है। परि यानी सब ओर, और अय का अर्थ विशेष है। मन (मनोगत पदार्थ) के पर्यय (पर्याय) का ज्ञान—यह 'मनःपर्ययज्ञान' है।

० मणेण माणसं पडिविंदइत्ता (71 सू.), मणेण मदिणाणेण माणसं णोइंदियं मणोवग्गणखंध-णिव्वत्तिदं, पडिविंदइत्ता घेत्तूण पच्छा मणपज्ज-वणाणेण जाणदि।.....अथवा मणेण मदिणाणेण माणसं मदिणाणविसयं पडिविंदइत्ता उवलंभिय पच्छा मण-पज्जवणाणं पयट्टदि त्ति वत्तव्वं।

(ध. 13, पृ. 340–341)

मन के द्वारा मानस को जानकर (मनःपर्यय ज्ञान प्रवृत्त होता है) मन अर्थात् मतिज्ञान के द्वारा मानस को अर्थात् मनोवर्गणास्कन्धों से निष्पन्न हुई नो—इन्द्रिय (मन) को ग्रहण करके पश्चात् मनःपर्यय ज्ञान के द्वारा जानता है।. ....अथवा मन अर्थात् मतिज्ञान के विषय को ग्रहण करके पश्चात् मनःपर्ययज्ञान प्रवृत्त होता है—ऐसा कथन करना चाहिए।

० परकीयमनःस्थार्थज्ञानमन्यानपेक्षया।
स्यान्मनःपर्ययो भेदो तस्यर्जुविपुले मती।।

(तत्त्वा. 1/28)

अन्य पदार्थ की अपेक्षा के बिना दूसरे के मन में स्थित पदार्थ को जानना मनःपर्यय ज्ञान है। इसके ऋजुमति और विपुलमति—ये दो भेद कहे गये हैं।

० यत्तदावरणक्षयोपशमादेव परमनोगतं मूर्तद्रव्यं विकलं विशेषेणावबुध्यते तन्मनःपर्यायज्ञानम्।

(पंचा.त.प्र. 41)

ज्ञानावरण के क्षयोपशम से अन्य जीव के मनोगत मूर्तीक द्रव्य को एकदेश प्रत्यक्ष जिस ज्ञान के द्वारा जाने, उसका नाम 'मनःपर्ययज्ञान' कहा जाता है।

० चिंतियमचिंतियं वा अद्धं चिंतियमणेयभेयगयं।
मणपज्जवं ति उच्चइ जं जाणइ तं खु णरलोए।।

(गो.सा.जी. 438)

चिन्तित—जिसका पूर्व में चिन्तन किया था,

अचिन्तित–जिस आगामी काल में चिन्तन करेगा, अर्धचिन्तित जिसका पूर्णरूप में चिन्तन नहीं किया, इत्यादि अनेक प्रकार के जो अर्थ दूसरे के में स्थित हैं, उसको जो ज्ञान जानता है, वह 'मनःपर्यय' कहा जाता है। इस ज्ञान की उत्पत्ति और प्रवृत्ति मनुष्य क्षेत्र में ही होती है, इसके बाहर नहीं।

० इंदियणोइंदियजोगादि पेक्खित्तु उजुमदी होदि। णिरवेक्खिय विउलमदी ओहिं वा होदि णियमेण।।

(गो.सा.जी. 446)

ऋजुमतिमनः पर्यय अपने और अन्य जीवों के स्पर्शन आदि इन्द्रियों, मन, और मन-वचन-काय योगों की अपेक्षा से ही उत्पन्न होता है। और विपुलमतिमनःपर्यय अवधिज्ञान की तरह उनकी अपेक्षा के बिना ही उत्पन्न होता है।

० परमनसि स्थितमर्थं मनसा पर्येति जानातीति मनःपर्यायज्ञानम्।

(प्र.प्र. 1/8)

दूसरे के मन में स्थित अर्थ–विचार आदि को मन से जो प्राप्त करे अर्थात् जाने–वह 'मनःपर्याय' ज्ञान है।

० मनःपर्ययज्ञानावरणक्षयोपशमाद् वीर्यान्तरायक्षयोपशमाच्च स्वकीयमनोऽवलम्बनेन परकीयमनोगतं मूर्त्तमर्थमेकदेशप्रत्यक्षेण सविकल्पं जानाति तदीहामतिज्ञानपूर्वकं मनःपर्ययज्ञानम्।

(बृ.द्र.सं.वृ. 5)

मनःपर्ययज्ञानावरण के क्षयोपशम से और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से अपने मन के अवलम्बन द्वारा पर के मन में प्राप्त हुए मूर्त पदार्थ को एकदेशप्रत्यक्ष से सविकल्प जानता है, वह ईहामतिज्ञान पूर्वक 'मनःपर्ययज्ञान' कहलाता है।

० मनःपर्ययज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशम-समुत्थं परमनोगतार्थविषयं मनःपर्ययज्ञानम्।

(न्या.दी. 2/13)

मनःपर्ययज्ञानावरण और वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुए और दूसरे के मन में स्थित पदार्थ को जानने वाले ज्ञान को 'मनःपर्यय ज्ञान' कहते हैं।

(ख) मनःसाक्षात्कार

० पज्जवणं पज्जयणं पज्जाओ वा मणंम्मि मणसो वा।
तस्स व पज्जायादिन्नाणं मणपज्जवं नाणं।।

(विशे.भा. 83)

मन में, या मन से सम्बन्धित पर्यवन, पर्ययन या पर्याय को अथवा (उक्त) पर्याय आदि के ज्ञान को 'मनःपर्यव ज्ञान' कहा जाता है।

० परि-सव्वतोभावेण गमणं पज्जवणं पज्जवः, मणसि मणसो वा पज्जवो मणपज्जवो, स एव नाणं मणपज्जवनाणं। तहा पज्जयणं पज्जयः, मणसि मणसो वा पज्जयः मनःपर्ययः, स एव नाणं मणपज्जयणाणं। तहा आयो पावणं लाभो इत्यनर्थान्तरम्, सव्वतो आतो पज्जातो, मणसि मणसो वा पज्जायो मणपज्जायो, स एव नाणं मणपज्जव (पज्जाय)णाणं। अहवा मणसि मणसो वा पज्जवा, मणपज्जवा, तेसिं तेसु वा नाणं मणपज्जयनाणं। तहा मणसि मणसो वा पज्जया {मणपज्जया}, तेसिं तेसु वा नाणं मणपज्जयनाणं।

(न.चू. 7, पृ. 13)

'परि' अर्थात् सर्वतोभावेन पर्यवण (ज्ञान) या मन में या मन का पर्यय (ज्ञान)–'मनःपर्यय' है। वह ज्ञान रूप में 'मनःपर्यवज्ञान' कहा जाता है। इसी प्रकार, पर्यवण (ज्ञान) ही पर्यय है, मन में या मन का 'पर्यव' ही ज्ञान रूप में मनःपर्ययज्ञान है। इसी तरह, आय, प्राप्ति, लाभ –ये समानार्थक है। सर्वतोभावेन आय ही पर्याय है। मन में, या मन का जो पर्याय है, वह ज्ञान रूप में मनःपर्यव (मनःपर्याय) ज्ञान है। अथवा मन में या मन के पर्यव उनका या उनमें जो ज्ञान है, वह मनःपर्याय ज्ञान है। अथवा मन के या मन में जो पर्याय हैं, उनका या उनमें होने वाला ज्ञान 'मनःपर्याय' ज्ञान है।

० अथवा–इण् गतौ, अयनं आयः लाभः प्राप्तिरिति पर्यायाः। परिस्तथैव, समन्तादायः पर्यायः।..... मनसि ग्राहः, मनसो वा ग्राह्यस्य पर्यायो मनः-पर्यायः, स चासौ ज्ञानं च मनःपर्यायज्ञानम्।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 83)

(अथवा) इण, धातु से 'आय' बना है। आय, अयन, लाभ, प्राप्ति–ये परस्पर पर्याय हैं। परि का अर्थ वही है–सर्वतोभाव से। अतः सम्पूर्ण रूप से होने वाली जो आय या प्राप्ति है, वह पर्याय है। वह पर्याय ग्राह्य मन में होती है, अतः उसे 'मनःपर्याय' ज्ञान कहते हैं। अथवा मन- सम्बन्धी जो पर्याय है, वह भी मनःपर्याय है, वह ज्ञान रूप में मनःपर्याय ज्ञान कहलाता है।

० 'अव गत्यादिषु' इति वचनादवनं गमनं वेदन-मित्यवः, परिः सर्वतोभावे, पर्यवनं समन्तात् परिच्छेदनं पर्यवः।.....मनसि मनोद्रव्यसमुदाये ग्राह्ये, मनसो वा ग्राह्यस्य सम्बन्धी पर्यवो मनःपर्यवः, स चासौ ज्ञानं च मनःपर्यवज्ञानम्।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 83)

अव धातु का गति आदि अर्थ होते हैं। अतः 'अव' का अर्थ है–अवन, गमन, ज्ञान। पर्यव का अर्थ हुआ–पर्यवन, यानी सम्पूर्ण रूप में जान लेना।.....ग्राह्य मन में या मन से सम्बन्धित होकर उत्पन्न होने वाली पर्यव, वही ज्ञान 'मनःपर्यव' ज्ञान कहा जाता है।

० (अथवा) 'अय वय मय' इत्यादिदण्डकधातुः, अयनं गमनं वेदनमित्ययः, परिः सर्वतोभावे, पर्ययनं सर्वतः परिच्छेदनं पर्ययः। मनसि ग्राह्ये, मनसो वा ग्राह्यस्य सम्बन्धी पर्ययो मनः पर्ययः स चासौ ज्ञानं च मनःपर्ययज्ञानम्।

(विशे.भा.शि.हि.वृ. 83)

(अथवा) अय, वय मय –इस दण्डक (पंक्तिबद्ध) धातुपाठ में पठित 'अय' धातु (जिसका अर्थ है– गमन, ज्ञान, वेदन) से निष्पन्न शब्द है– 'अय'। पर्यय का अर्थ है–परि यानी सम्पूर्णतया पर्ययन अर्थात् सम्पूर्ण रूप से होने वाला ज्ञान।.....ग्राह्य मन में, या ग्राह्य मन से सम्बन्धित होकर उत्पन्न होने वाली 'पर्यय' जो ज्ञान रूप हैं, उसे मनःपर्यय ज्ञान कहते हैं।

० तस्य मनसो ग्राह्यस्य सम्बन्धिनो बाह्यवस्तु-चिन्तनानुगुणा ये पर्यायाः, पर्यवाः, पर्ययास्तेषां तेषु वा 'इदमित्थंभूतमनेन चिन्तितम्' इत्येवंरूपं ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानं, मनःपर्यवज्ञानं, मनःपर्ययज्ञानं चेति ज्ञानशब्देन सह व्यधिकरणः समासः।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 83)

उस ग्राह्य मन के सम्बन्धी, अर्थात् मन में होने वाले बाह्य वस्तु के चिन्तन रूप पर्याय, पर्यव या पर्यय हैं, उनका या उनमें 'इस व्यक्ति द्वारा यह इस प्रकार सोचा गया है', इस रूप में जो ज्ञान होता है, वह मनःपर्याय, मनःपर्यव या मनःपर्यय ज्ञान होता है। इस प्रकार यहां 'ज्ञान' शब्द के साथ 'मनःपर्यय' में मन का व्यधिकरण समास हुआ है।

० संयमविशुद्धिनिबन्धनाद्, विशिष्टावरणविच्छेदाज्जातं, मनोद्रव्यपर्यायालम्बनं मनःपर्यायज्ञानम्।

(प्र.न.त. 2/22)

जो ज्ञान संयम की विशिष्ट शुद्धि से उत्पन्न होता है, तथा मनःपर्याय ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है और मन सम्बन्धी पर्याय का आलम्बन लेकर उत्पन्न होता है, उसे 'मनःपर्ययज्ञान' कहते हैं।

० मनसो द्रव्यरूपस्य पर्यायाश्चिन्तनानुगुणाः परिणामभेदाः तद्विषयं ज्ञानं 'मनःपर्यायः'।

(प्र.मी. 1/1/18)

चिन्तन के अनुसार बदलने वाले मन के पर्यायों को जानने वाला ज्ञान 'मनःपर्याय ज्ञान' कहलाता है।

० विशिष्टचारित्रवशेन योऽसौ मनःपर्यायज्ञानावरणक्षयोपशमस्तस्यामुद्भूतं मानुषक्षेत्रवर्ति संज्ञिजीवगृहीतमनोद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारि यज्ज्ञानं तन्मनःपर्यायज्ञानमित्यर्थः।

(र.करा. 2/22)

विशिष्ट चारित्र के बल से होने वाले मनःपर्याय- ज्ञानावरण-क्षयोपशम से उत्पन्न ज्ञान—जो मनुष्य क्षेत्र के अन्दर विद्यमान संज्ञी (समनस्क) जीवों द्वारा गृहीत मनोद्रव्य-पर्यायों का साक्षात्कार कर सकता है, वह मनःपर्याय ज्ञान है—यह भाव है।

० मनोमात्रसाक्षात्कारि मनःपर्यवज्ञानम्।

(जै.त.भा.प्र.परि., पृ. 22)

केवल मन का साक्षात्कार करने वाला ज्ञान (मनःपर्यय या) 'मनःपर्यव' ज्ञान कहलाता है।

० मनोद्रव्यपर्यायप्रकाशि मनःपर्यायः।

(जै.सि.दी. 2/17)

मनोवर्गणा के अनुसार जो मानसिक अवस्थाओं को जानता है, उसे 'मनःपर्याय' ज्ञान कहते हैं।

० मनोद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारि मनःपर्यायः।

(भि.न्या. 2/6)

मनोद्रव्य के पर्यायों का साक्षात् करने वाला 'मनःपर्याय' ज्ञान है।

मनःपर्ययज्ञान के भेद

० तं च दुविहं उप्पज्जइ, तं जहा-उज्जुमई य विउलमई य।।

(नन्दी. 2/24)

मनःपर्ययज्ञान दो स्वरूपों में उत्पन्न होता है, जैसे—1. ऋजुमति और 2. विपुलमति।

० ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः।।

(त.सू. 1/23 दिग.)

ऋजुमति और विपुलमति—ये दो मनःपर्ययज्ञान हैं।

० आद्यस्त्रेधा ऋजुमनोवाक्कायविषयभेदात्।
द्वितीयः षोढा ऋजुवक्रमनोवाक्कायविषयभेदात्।
(रा.वा. 1/23/7-8)
(मनःपर्यय ज्ञान के दो भेदों में) प्रथम (ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान) के तीन भेद इस प्रकार हैं–1. ऋजुमनस्कृतार्थज्ञ, 2. ऋजुवाक्-कृतार्थज्ञ और 3. ऋजुकायकृतार्थज्ञ।
दूसरा (विपुलमति मनःपर्ययज्ञान) ऋजु और वक्र दोनों प्रकार के मन, वचन और काय को विषय करता है, इसलिये इसके छह भेद इस प्रकार हैं–
1. ऋजुमनस्कृतार्थज्ञ, 2. ऋजुवाक्कृतार्थज्ञ,
3. ऋजुकायकृतार्थज्ञ, 4. वक्रमनस्कृतार्थज्ञ
5. वक्रवाक्कृतार्थज्ञ, 6. वक्रकायकृतार्थज्ञ।

० तं च मणपज्जवणाणं दुविहं उजुमइविउलमइभेएण।
(ध. 6, पृ. 28)
मनःपर्ययज्ञान दो प्रकार का है–ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान और विपुलमति मनःपर्ययज्ञान।

० मणपज्जवं च दुविहं उजुविउलमदित्ति।
(गो.सा.जी. 439)
मनःपर्ययज्ञान भेद की विवक्षा से दो प्रकार का है–ऋजुमतिमनःपर्यय ज्ञान और विपुलमति-मनःपर्यय ज्ञान।

० दव्वं खेत्तं कालं भावं पडि जीवलक्खियं रूविं।
उजुविउलमदी जाणदि अक्खरं मज्झिमं च तहा।।
(गो.सा.जी. 450)
द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव को लेकर जीव के द्वारा चिन्तित पुद्गल द्रव्य और उससे सम्बद्ध जीव द्रव्य को जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट भेद को लिए हुए ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्यय जानते हैं।

महासत्ता

० शुद्धसंग्रहनयविवक्षायामेका महासत्ता।
(पंचा.त.प्र. 8)
शुद्ध संग्रहनय की अपेक्षा से सर्वपदार्थव्यापिनी महासत्ता निज-निज एक पदार्थ की अपेक्षा से एक-एक पदार्थ में रहती है और जो वह महासत्ता सकलस्वरूप है, वह एकरूप ही है।

० तत्र सर्वपदार्थसार्थव्यापिनी सादृश्यास्तित्व-सूचिका महासत्ता।
(पंचा.त.प्र. 8)
जो सत्ता उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप त्रिलक्षण-संयुक्त है और एक है तथा समस्त पदार्थों में रहती है, समस्तरूप है और अनन्तपर्यायात्मक है, वह 'महासत्ता' है।

० किन्तु सदित्यभिधानं यत्स्यात्सर्वार्थसार्थसंस्पर्शि।
सामान्यग्राहकत्वात् प्रोक्ता सन्मात्रतो महासत्ता।।
(पं. 1/265)
किन्तु सब पदार्थों में अन्वय रूप से जो 'सत्' इस प्रकार कथन किया जाता है, उसे सामान्य मात्र का ग्राहक होने से सत्सामान्य की अपेक्षा 'महासत्ता' कहते हैं।
(द्रष्टव्य : अवान्तर सत्ता)

मानस प्रत्यक्ष

० आत्मावधानेन सहकृतात् मानसात् जातं मानस-प्रत्यक्षम्।
(प्र.प्र. 1/5)

आत्मा के अवधान की सहकारिता से मन द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह 'मानस प्रत्यक्ष' है।

मार्गणा

० अवगृहीतार्थविशेषो मृग्यते अन्विष्यते अनया इति मार्गणा।

(ध. 13, पृ. 242)

अवग्रह के द्वारा ग्रहण किये अर्थ के विशेष की जिसके द्वारा मार्गणा अर्थात् अन्वेषणा की जाती है, वह 'मार्गणा' है।

(द्रष्टव्य : ईहा)

मिथोविरोध (तर्क-दोष)

० अनिष्टापादकव्याप्तेः आपाद्यानिष्टस्य च विरोधो मिथोविरोधः।

(प्र.प्र. 1/44)

अनिष्ट बात को सिद्ध करने वाली व्याप्ति में तथा (उस व्यक्ति से) सिद्ध होने वाली अनिष्ट बात में (परस्पर) विरोध होना यह मिथः विरोध नाम का दूसरा दोष है।

मिथ्या

० (द्रष्टव्य : विपर्यय)

मिथ्या अनेकान्त

० तदतत्स्वभाववस्तुशून्यपरिकल्पितानेकात्मकं केवलं वाग्विज्ञानं मिथ्याऽनेकान्तः।

(रा.वा. 1/6/7)

वस्तु को तत् व अतत् आदि स्वभाव से शून्य कह कर, उसमें अनेक धर्मों की मिथ्या कल्पना करना अर्थशून्य वचन-विलास 'मिथ्या अनेकान्त' है।

० प्रत्यक्षादिविरुद्धानेकधर्मपरिकल्पनं मिथ्यानेकान्तः इति।

(स.भं.त. 105)

प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से विरुद्ध जो एक वस्तु में अनेक धर्मों की कल्पना करता है, वह 'मिथ्या अनेकान्त' है।

मिथ्या एकान्त

० एकात्मावधारणेन अन्याशेषनिराकरणप्रवणप्रणिधिर्मिथ्यैकान्तः।

(रा.वा. 1/6/7)

एक धर्म को ही प्रमुखता देते हुए अन्य समस्त धर्मों के निराकरण में तत्पर (एकान्तवाद) 'मिथ्या एकान्त' कहलाता है।

० मिथ्यैकान्तस्त्वेकधर्ममात्रावधारणेनान्याशेषधर्मनिराकरणप्रवणः।.....मिथ्यैकान्तो नयाभासः।

(स.भं.त. 105)

पदार्थ के एक ही धर्म का निश्चय करके अन्य सम्पूर्ण धर्मों के निषेध करने में जो तत्पर है, वह 'मिथ्या एकान्त' है। मिथ्या एकान्त नयाभास है।

(द्रष्टव्य : नयाभास)

मिथ्याज्ञान

० आद्यत्रयमज्ञानमपि भवति मिथ्यात्वसंयुक्तम्।

(प्रशम. 227)

आदि के तीन ज्ञान (मति, श्रुत व अवधि) मिथ्यात्व से संयुक्त होने पर मिथ्याज्ञान होते है।

० विपर्ययो मिथ्येत्यर्थः।.....कुत एषां विपर्ययः ? मिथ्यादर्शनेन सह एकार्थसमवायात् सरजस्ककटुकालाबुगतदुग्धवत्।

(स.सि. 1/31)

(मति, श्रुत, अवधि–इनका) विपरीत रूप यानी मिथ्या होना।.....इन (तीनों ज्ञानों) का विपरीत ज्ञान कैसे सम्भव है? (उत्तर–) मिथ्यादर्शन के साथ एक आत्मा में इनका समवाय पाया जाता है, जैसे रज सहित कड़वी तूंबड़ी में रखा हुआ दूध कड़वा हो जाता है, उसी प्रकार मिथ्या दर्शन के निमित्त से ये ज्ञान मिथ्या हो जाते हैं।

० बौद्ध-नैयायिक-सांख्य-मीमांसक-चार्वाक-वैशेषिकादिदर्शनरूच्यनुविद्धं ज्ञानं मिथ्याज्ञानम्।

(ध. 12, पृ. 286)

बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, मीमांसक, चार्वाक, वैशेषिक आदि दर्शनों की रूचि से सम्बद्ध ज्ञान 'मिथ्याज्ञान' है।

० ज्ञानावृत्युदयादर्थेष्वन्यथाऽधिगमो भ्रमः।
अज्ञानं संशयश्चेति मिथ्याज्ञानमिदं त्रिधा।।

(तत्त्व.अनु. 10)

ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से (यथावस्थित) पदार्थों में जो उनके यथावस्थित स्वरूप से भिन्न जो अन्यथा ज्ञान होता है, वह 'मिथ्याज्ञान' है। और यह मिथ्याज्ञान संशय, भ्रम (विपर्यय) व अज्ञान (अनध्यवसाय)–इन तीन भेदों वाला है।

० तत्रैवावस्तुनि वस्तुबुद्धिर्मिथ्याज्ञानम्.....अथवा स्वात्मपरिज्ञानविमुखत्वमेव मिथ्याज्ञान.....।

(नि.सा.ता.वृ. 91)

उसी (अर्हन्तमार्ग से प्रतिकूल मार्ग में) कही हुई अवस्तु में वस्तुबुद्धि 'मिथ्याज्ञान' है, अथवा निजात्मा के परिज्ञान से विमुखता 'मिथ्याज्ञान' है।

० ण सुणइ वत्थुसहावं अह विवरीयं णिरवेक्खदो मुणइ। तं इह मिच्छणाणं।

(बृ.न.च. 240)

जो वस्तु-स्वरूप को नहीं जानता या निरपेक्ष रूप से विपरीत जानता है, वह 'मिथ्याज्ञान' है।

० अष्टविकल्पमध्ये मतिश्रुतावधयो मिथ्यात्वोदय-वशाद् विपरीताभिनिवेशरूपाणि अज्ञानानि भवन्ति।

(बृ.द्र.सं.वृ. 5)

आठ प्रकार के ज्ञानों में मति, श्रुत, अवधि–ये तीन ज्ञान मिथ्यात्व के उदय से विपरीत अभिनिवेश रूप 'अज्ञान' होते हैं।

(द्रष्टव्य : अज्ञान)

मिथ्यादर्शन (मिथ्यात्व)

० अनधिगमविपर्ययौ तु मिथ्यात्वम्।(स्वोपज्ञ टीका) –एतद् द्विप्रकारं सम्यग्दर्शनम्..... एतद्विपरीतं मिथ्यात्वम् अनधिगमलक्षणं तत्त्वार्थाश्रद्धानम्। अतत्त्वबुद्धिरिति विपर्ययः।

(प्रशम.टी. 224)

तत्त्वार्थ का श्रद्धान न करना अथवा विपरीत श्रद्धान करना मिथ्यात्व है। (टीका–) यह दो प्रकार का जो सम्यग्दर्शन है, उससे विपरीत मिथ्यात्व होता है। तत्त्वार्थ का अश्रद्धान करना 'अधिगम मिथ्यात्व' है और तत्त्व में अतत्त्व बुद्धि का होना 'विपर्यय मिथ्यात्व' है।

० तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं तच्चाण होइ अत्थाणं।

(भ.आ. 55)

जीवादि पदार्थों का श्रद्धान न करना 'मिथ्यात्व' है।

० मिथ्यादर्शनकर्मण उदयात्तत्त्वार्थाश्रद्धानपरिणामो मिथ्यादर्शनम्।

(स.सि. 2/6/265)

मिथ्यात्वकर्म के उदय से जो तत्त्वों का अश्रद्धान रूप परिणाम होता है, वह 'मिथ्यादर्शन' है।

० दर्शनमोहोदयात्तत्त्वार्थाश्रद्धानपरिणामो मिथ्यादर्शनम्। तथार्थरूचिस्वभावस्यात्मनः तत्प्रतिबन्धकारणस्य दर्शनमोहस्योदयात् तत्त्वार्थेषु निरूप्यमाणेष्वपि न श्रद्धानमुत्पद्यते, तन्मिथ्यादर्शनमौदयिकमित्याख्यायते।

(रा.वा. 2/6/4)

दर्शनमोह के उदय से तत्त्वार्थ में अश्रद्धान परिणाम 'मिथ्यादर्शन' है। तत्त्वार्थरूचिस्वभावी आत्मा के उक्त स्वभाव के प्रतिबन्ध का कारण 'दर्शनमोह' का उदय हो जाता है, तब तत्त्वार्थों के निरूपित किये जाने पर भी श्रद्धान की उत्पत्ति नहीं होती है, वह 'मिथ्यादर्शन है, जो औदयिक (भाव) है।

० मिथ्यादर्शने अदर्शनस्यावरोधो भवति। निद्रानिद्रादीनामपि दर्शनसामान्यावरणत्वात्तत्रैवान्तर्भावः। ननु च तत्त्वार्थाश्रद्धानं मिथ्यादर्शनमित्युक्तम्, सत्यमुक्तम्, सामान्यनिर्देशे विशेषान्तर्भावात्, सोऽप्येको विशेषः। अयमपरो विशेषः—अदर्शनमप्रतिपत्तिर्मिथ्यादर्शनमिति।

(रा.वा. 2/6/9)

मिथ्यादर्शन में दर्शनावरण के उदय से होने वाले अदर्शन, निद्रा-निद्रा आदि का भी अन्तर्भाव हो जाता है, क्योंकि वहां 'दर्शन सामान्य' का आवरण है। (शंका—) तत्त्वार्थ के अश्रद्धान को मिथ्यादर्शन' कहते हैं, उसमें दर्शनावरण का अन्तर्भाव कैसे हो सकता है? (समाधान यद्यपि मिथ्यादर्शन तत्त्वार्थाश्रद्धान रूप है, तथापि सामान्य में विशेषों का अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिए सामान्य में, मिथ्यादर्शन सामान्य में 'अदर्शन' विशेष का भी अन्तर्भाव हो जाता है। तत्त्वार्थ—अश्रद्धान भी एक विशेष है। दूसरा विशेष है—अदर्शन, जो अप्रतिपत्ति रूप है, मिथ्यादर्शन रूप भी है।

० भगवदर्हत्परमेश्वरमार्गप्रतिकूलमार्गाभासमार्गश्रद्धानं मिथ्यादर्शनम्।

(नि.सा.ता.वृ. 91)

भगवान् अर्हन्त परमेश्वर के मार्ग से प्रतिकूल मार्गाभास में 'मार्ग' का श्रद्धान करना मिथ्यादर्शन' है।

० विपरीताभिनिवेशोपयोगविकाररूपं शुद्धजीवादिपदार्थविषये विपरीतश्रद्धानं मिथ्यात्वमिति।

(स.सा.ता.वृ. 88)

विपरीत अभिनिवेश के उपयोग-विकाररूप, जो शुद्ध जीवादि पदार्थों के विषय में विपरीत श्रद्धान होता है, उसे 'मिथ्यादर्शन' कहते हैं।

मिथ्यादर्शन (मिथ्यात्व) के भेद

० एयंतविणयविवरियसंसयमण्णाणमिदि हवे पंच।

(बा.अ. 48)

मिथ्यात्व पांच प्रकार का है—एकान्त, विनय, विपरीत, संशय और अज्ञान।

० संसइयमभिग्गहियं अणभिग्गहियं च तं तिविहं।।

(भ.आ. 55)

वह (मिथ्यात्व) संशयित, अभिगृहीत और अनभिगृहीत के भेद से तीन प्रकार का है।

० मिथ्यादर्शनं द्विविधम्, नैसर्गिकं परोपदेशपूर्वकं च।

(स.सि. 8/1/731)

मिथ्यादर्शन दो प्रकार का है–नैसर्गिक और परोपदेशपूर्वक।

० पञ्चविधं मिथ्यादर्शनम्-एकान्तमिथ्यादर्शनम्, विपरीतमिथ्यादर्शनम्, संशयमिथ्यादर्शनं, वैनयिक-मिथ्यादर्शनम्, अज्ञानिकमिथ्यादर्शनं चेति।

(स.सि. 8/1/731)

मिथ्यादर्शन पांच प्रकार का है–एकान्तमिथ्यादर्शन, विपरीत मिथ्यादर्शन, संशयमिथ्यादर्शन, वैनयिक मिथ्यादर्शन, और अज्ञानिक मिथ्यादर्शन।

० त एते मिथ्योपदेशभेदाः त्रीणि शतानि त्रिषष्ट्युत्तराणि।

(रा.वा. 8/1/12)

मिथ्या उपदेश (मिथ्यादर्शन) के तीन सौ तिरसठ भेद हैं।

० एवं परोपदेशनिमित्तमिथ्यादर्शनविकल्पा अन्ये च संख्येया योज्याः ऊह्याः, परिणामविकल्पात् असंख्येयाश्च भवन्ति, अनन्ताश्च अनुभागभेदात्। यन्नैसर्गिकं मिथ्यादर्शनं तदप्येकद्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रिय-तिर्यङ्म्लेच्छशबरपुलिन्दादिपरिग्रहादनेकविधम्।

(रा.वा. 8/1/27)

परोपदेशनिमित्तक मिथ्यादर्शन के अन्य भी संख्यात विकल्प होते हैं। इसके परिणामों की दृष्टि से असंख्यात और अनुभाग की दृष्टि से अनन्त भी भेद होते हैं। नैसर्गिक मिथ्यादर्शन भी एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, तिर्यंच, म्लेच्छ, शबर, पुलिन्द आदि स्वामियों के भेद से अनेक प्रकार का है।

० मिच्छत्तं पुण दुविहं मूढत्तं तह सहावणिरवेक्खं।

(बृ.न.च. 303)

मिथ्यादर्शन दो प्रकार का है–एक मूढता रूप और दूसरा स्वभावनिरपेक्ष (अर्थात् परोपदेशपूर्वक)। (द्रष्टव्य : समयमूढ)

मिथ्यानय

० निरपेक्षा नया मिथ्या, सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्।

(आ.मी. 108)

निरपेक्ष नय मिथ्या हैं, सापेक्ष नय वस्तु (सत्) स्वरूप हैं।

० तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा।
जहऽणेयलक्खणगुणा वेरुलियाई मणी विसंजुत्ता।
रयणावलिववएसं न लहन्ति महग्घमुल्ला वि।।
तह णिययवायसुविणिच्छया वि अण्णोण्ण-पक्खणिरवेक्खा।
सम्मद्दंसणसद्दं सव्वे वि णया ण पावेंति।।

(सन्मति. 1/21–23)

सभी नय यदि अपने-अपने पक्ष से ही जुड़े रहने वाले हों तो वे मिथ्यादृष्टि-मिथ्या नय होते हैं। जैसे अनेक लक्षण व गुण वाले वैडूर्य आदि रत्न बहुत मूल्यवान् होने पर भी यदि बिखरे हुए हों तो रत्नावली या हार का नाम नहीं पाते। उसी तरह सभी नय अपने-अपने पक्ष में अधिक निश्चित होने पर भी परस्पर एक दूसरे से निरपेक्ष होने के कारण 'सम्यक्दर्शन' व्यवहार नहीं पा सकते।

० मिच्छारूवा हु ते हि णिरवेक्खा।

(बृ.न.च. 249)

निरपेक्ष नय मिथ्या रूप होते हैं।

(द्रष्टव्य : नयाभास, मिथ्याएकान्त)

मिथ्यार्थ

० ततः (तत्त्वार्थात्) अन्यस्तु सर्वथैकान्तवादिभिरभिमन्यमानो मिथ्यार्थः तस्य प्रमाणनयैस्तथार्यमाणत्वाभावादिति।

(तत्त्व.श्लो. 1/2/5)

(सर्वथा नित्यादि) एकान्तवादियों के द्वारा अभिमान्य (कथित) तत्त्व 'मिथ्यार्थ' हैं, क्योंकि उसके प्रमाण और नय के द्वारा वस्तुस्थिति-अनुरूप ज्ञायमानत्व (समीचीन रूप में जाने हुए होने) का अभाव है।

मिथ्याश्रुत

० मिच्छसुतं जं इमं अण्णाणिएहिं मिच्छदिट्ठिएहिं सच्छंदबुद्धि-मतिवियप्पियं।

(नन्दी. 4/67)

अज्ञानी एवं मिथ्यादृष्टियों द्वारा स्वच्छंद और विपरीत बुद्धि द्वारा कल्पित किये गये ग्रंथ 'मिथ्याश्रुत' हैं।

० लोइयं तु मिछसुयं।

(विशे.भा. 527)

लौकिक श्रुत 'मिथ्याश्रुत' है।

० मिथ्यादर्शनोपहतेन्द्रियमतेर्मतिश्रुतावधयोऽप्यज्ञानमेव भवन्तीति।

(रा.वा. 1/32/1)

मिथ्यादर्शन से आच्छादित (प्रभावित) इन्द्रिय वाले मिथ्यादृष्टि के मति, श्रुत व अवधि ज्ञान –ये तीनों अज्ञान ही हो जाते हैं।

० विपर्ययान्मिथ्यादृष्टिपरिगृहीतं च सम्यक्श्रुतमपि मिथ्याश्रुतमेवेति।

(जै.त.भा.प्र.परि., पृ. 20)

मिथ्यादृष्टि द्वारा ग्रहण किया हुआ सम्यक्श्रुत भी 'मिथ्याश्रुत' बन जाता है, क्योंकि वह यथार्थ रूप से उसकी योजना नहीं करता।

(द्रष्टव्य : परसमय, प्रवाद)

मिथ्याश्रुत के भेद

० मिच्छसुयं.....तं जहा–भारहं रामायणं हंभीमासुरत्तं कोडिल्लयं सगभद्दियाओ घोडमुहं कप्पासियं नामसुहुमं कणगसत्तरी वइसेसियं बुद्धवयणं वेसियं कविलं लोगायतं सट्ठितंतं माढरं पुराणं वागरणं णाडगादी, अहवा बावत्तरिकलाओ चत्तारि य वेदा संगोवंगा।

(नन्दी. 4/67)

मिथ्याश्रुत हैं, जैसे–(1) भारत, (2) रामायण, (3) भंभी, (4) आसुरोक्त, (5) कौटिल्य, (6) शकटभद्रिका, (7) घोटमुख, (8) कार्पासिक, (9) नागसूक्ष्म, (10) कनकसप्तति, (11) वैशेषिक, (12) बुद्धवचन, (13) वैशिक (त्रैराशिक), (14) कापिल, (15) लोकायत, (16) षष्टितंत्र, (17) माठर, (18) पुराण, (19) व्याकरण, (20) नाटक आदि। अथवा बहत्तर कलाएं और अंगोपाङ्ग- सहित चार वेद। (ये सभी मिथ्याश्रुत के भेद हैं।)

(द्रष्टव्य : अद्वैत, चार्वाक, न्याय, बौद्ध, मीमांसक, वैशेषिक, सांख्य दर्शन)

मीमांसक

० द्रव्यास्तिकनयानुपातिनो मीमांसकभेदाः।

(स्या.मं. 14)

केवल द्रव्यास्तिक नय को मानने वाले मीमांसक हैं।

(द्रष्टव्य : मिथ्याश्रुत, सर्वनयात्मक)

मीमांसा

० मीमांस्यते विचार्यते अवगृहीतोऽर्थो विशेषरूपेण अनया इति मीमांसा।

(ध. 13, पृ. 242)

अवग्रह के द्वारा ग्रहण किया गया अर्थ विशेषरूप से जिसके द्वारा मीमांसित किया जाता है अर्थात् विचारा जाता है, वह 'मीमांसा' है।

(द्रष्टव्य : ईहा)

मुख्य

० विवक्षितो मुख्यम् इतीष्यते.....।

(स्वयम्भू. 53)

प्रकृत में जिसकी विवक्षा की जाती है, उसे 'मुख्य' कहा जाता है।

(द्रष्टव्य : अर्पित)

मुख्यप्रत्यक्ष

० मुख्यमतीन्द्रियज्ञानम्।

(लघी.वि. 1/4)

अतीन्द्रियज्ञान को 'मुख्य प्रत्यक्ष' कहते हैं।

० सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रिय-मशेषतो मुख्यम्।

(प.मु. 2/11)

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप सामग्री की पूर्णता (एकता या मिलना) के कारण समस्त आवरणों से रहित, इन्द्रियों की सहायता से रहित और पूर्णतया विशद ज्ञान को 'मुख्यप्रत्यक्ष' कहते हैं।

० तत्सर्वथावरणविलये चेतनस्य स्वरूपाविर्भावो मुख्यं केवलम्।

(प्र.मी. 1/1/15)

आवरण (ज्ञानावरण) के सर्वथा नष्ट हो जाने पर जो आत्मस्वरूप का आविर्भाव होता है, उसे 'मुख्यप्रत्यक्ष' कहते हैं, जो केवलज्ञान स्वरूप है।

(द्रष्टव्य : केवलज्ञान)

मूर्तत्व

० मूर्तस्य भावो मूर्तत्वं रूपादिमत्त्वम्।

(आ.प. 103)

मूर्त के भाव को अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श से युक्त होने को 'मूर्तत्व' कहते हैं।

मूलशैथिल्य (तर्क-दोष)

० तत्र तर्कस्य मूलभूतव्याप्तेर्व्यभिचारो मूलशैथिल्यम्।

(प्र.प्र. 1/44)

तर्क की मूलभूत व्याप्ति गलत होना यह मूल में शिथिलता नाम का पहला दोष है।

मेधा

० मेध्यति परिच्छिनत्ति अर्थमनया इति मेधा।

(ध. 13, पृ. 242)

पदार्थ 'मेध्यति अनया' अर्थात् जिससे जाना जाता है, वह 'मेधा' है।

(द्रष्टव्य : अवग्रह)

य

याथात्म्य

० चेतनोऽचेतनो वाऽर्थो यो यथैव व्यवस्थितः।
तथैव तस्य यो भावः, याथात्म्यं तत्त्वमुच्यते।।

(तत्त्व.अनु. 111)

जो चेतन या अचेतन पदार्थ जिस प्रकार से व्यवस्थित है, उसका उसी प्रकार से जो भाव है–उसे 'याथात्म्य' या 'तत्त्व' कहते हैं।

युतसिद्धि

० युतप्रत्ययहेतुत्वाद् युतसिद्धिः।

(आप्त. 49)

युत (पृथक्) होने (रहने) की प्रतीति का हेतु 'युतसिद्धि' है।

योगिप्रत्यक्ष

० ध्यानविशेषादावरणक्षयात् विशुद्धात्मान्तःकरण-संयोगात् जातः सकलपदार्थस्पष्टावभासः योगि-प्रत्यक्षम्।

(प्र.प्र. 1/7)

विशिष्ट ध्यान से (ज्ञान के) आवरण का क्षय होने पर विशुद्ध आत्मा का अन्तःकरण से संयोग होने पर जो सभी पदार्थों का स्पष्ट ज्ञान होता है, उसे 'योगिप्रत्यक्ष' कहते हैं।

योग्यता

० स चात्मविशुद्धिविशेषो ज्ञानावरण-वीर्यान्तराय-क्षयोपशमभेदः स्वार्थप्रमितौ शक्तिर्योग्यतेति च स्याद्वादवेदिभिरभिधीयते।

(प्र.प., पृ. 52)

ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम-विशेषरूप आत्मा की शुद्धिविशेष का नाम 'योग्यता' है। यह योग्यता स्व और अर्थ के ग्रहण की 'शक्ति' रूप होती है।

० स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यता.....।

(प.मु. 2/9)

स्वावरण (कर्मों) का क्षयोपशम 'योग्यता' है।

० का नाम योग्यता इति ? उच्यते– स्वावरण-क्षयोपशमः।

(न्या.दी. 2/5)

आखिर योग्यता क्या है ? बता रहे हैं–वह स्वावरणक्षयोपशम रूप होती है।

ल

लक्षण

० किं पुनर्लक्षणम्? परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते, तल्लक्षणम्, हेमश्यामिकयोः वर्णादिविशेषवत्।

(तत्त्व.श्लो. 2/8/1)

लक्षण किसे कहते हैं ? (उत्तर–) परस्पर में एक–दूसरे से बन्ध रूप या अबन्ध रूप सम्मिश्रण हो जाने पर विवक्षित पदार्थ की अन्य पदार्थों से अन्यता या भिन्नता जिसके द्वारा प्रदर्शित की जाती है, वह 'लक्षण' होता है। जैसे सुवर्ण व कालिमा के सम्मिश्रित होने पर वर्णादिविशष के आधार पर सुवर्ण को पृथक् जाना जाता है।

० किं लक्खणं ? जस्साभावे दव्वस्साभावो होदि तं तस्स लक्खणं, जहा पोग्गलदव्वस्स रूवरसगंधफासा, जीवस्स उवजोगो।

(ध. 7, पृ. 96)

लक्षण किसे कहते हैं ? (उत्तर) जिसके न होने पर (लक्ष्य भूत) द्रव्य का अभाव हो जाए, वही उसका लक्षण होता है। जैसे–पुद्गल द्रव्य का लक्षण-रूपरसगन्धस्पर्श (वाला होना) है और जीव का लक्षण 'उपयोग' (चैतन्य-अनुगत परिणाम वाला) होता है।

० (प्रमाता तावत् प्रमेयस्वरूपं लक्षणेन निश्चिनोति।) तच्च स्वजातीय-विजातीयव्यवच्छेदाद् आत्मलाभं लभते। यथा घटस्य सजातीया मृन्मयपदार्थाः, विजातीयश्च पटादयः। तेषां व्यवच्छेदः तल्लक्षणम्। पृथुबुघ्नोदराद्याकारः कम्बुग्रीवो जलधारणाहरणादिक्रियासमर्थः पदार्थविशेषो घट इत्युच्यते। तेषां च सजातीयविजातीयानां स्वरूपं तत्र बुद्धया आरोप्य व्यवच्छिधते।

(स्या.मं. 14, पृ. 129–130)

० व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणम्।

(न्या.दी. 1/3)

मिली हुई अनेक वस्तुओं में से किसी एक वस्तु को अलग करने वाले हेतु को (चिन्ह को) 'लक्षण' कहते हैं।

० व्यवच्छेदकधर्मो लक्षणम्।

(भि.न्या. 1/5)

एक वस्तु को दूसरी वस्तुओं से पृथक् करने वाला धर्म 'लक्षण' है।

लक्षण के भेद

० तद् द्विविधम्–आत्मभूतानात्मभूतविकल्पात्। *तत्रात्मभूतं लक्षणमग्नेरुष्णगुणवत्, अनात्मभूतं* देवदत्तस्य दण्डवत्।

(तत्त्व.श्लो. 2/8/1)

वह लक्षण दो प्रकार का है–आत्मभूत व अनात्मभूत। अग्नि की उष्णता उसका आत्मभूत लक्षण है और देवदत्त का दण्ड उस (देवदत्त) का अनात्मभूत लक्षण है।

० द्विविधं लक्षणम् आत्मभूतमनात्मभूतं चेति। तत्र यद्वस्तुस्वरूपानुप्रविष्टं तदात्मभूतम्, यथाऽग्नेरौष्ण्यम्।.....तद्विपरीतमनात्मभूतम्, यथा दण्डः पुरुषस्य।

(न्या.दी. 1/4)

लक्षण के दो भेद हैं–आत्मभूत और अनात्मभूत लक्षण। जो वस्तु के स्वरूप में मिला हुआ हो उसे आत्मभूत लक्षण कहते हैं। जैसे–अग्नि की उष्णता। जो वस्तु के स्वरूप में मिला हुआ न हो–उससे पृथक हो उसे अनात्मभूत लक्षण कहते हैं। जैसे–दण्डी पुरुष का दण्ड।

लक्षणाभास (लक्षणदोष) के भेद

० अव्याप्त-अतिव्याप्त-असम्भविनस्तदाभासाः।

(भि.न्या. 1/6)

अव्याप्त, अतिव्याप्त और असभ्भवी–ये तीन लक्षणाभास हैं।

० तथा हि-त्रयो लक्षणाभासभेदाः, अव्याप्त-मतिव्याप्त- मसम्भवि चेति।

(न्या.दी. 1/5)

लक्षणाभास के तीन भेद हैं:–(1) अव्याप्त, (2) अतिव्याप्त, (3) असम्भवि।

(द्रष्टव्यः अतिव्याप्त, अव्याप्त, असंभवी)

लब्धि (भावेन्द्रिय)

० लम्भनं लब्धिः। का पुनरसौ ? ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमविशेषः।

(स.सि. 2/18/296)

'लब्धि' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है–लम्भनं लब्धिः–प्राप्त होना। लब्धि किसे कहते हैं ? ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमविशेष को 'लब्धि' कहते हैं।

लब्ध्यक्षर

० से किं तं लद्धिअक्खरं? लद्धिअक्खरंअक्खरलद्धियस्स लद्धिअक्खरं समुप्पज्जइ, तं जहा-सोइंदियलद्धिअक्खरं, चक्खिंदियलद्धिक्खरं, घाणिंदियलद्धिअक्खरं रसणिंदियलद्धिअक्खरं, फासिंदियलद्धिअक्खरं, नोइंदियलद्धिअक्खरं। से त्तं लद्धिअक्खरं।

(नन्दी. 4/59)

वह लब्धि अक्षर क्या है?

(उत्तर) जिसे अक्षर-ज्ञान की योग्यता प्राप्त होती है, उस जीव के 'लब्धि अक्षर' का विकास होता है—जैसे—श्रोत्रइन्द्रिय-लब्धिअक्षर, चक्षुरिन्द्रिय-लब्धिअक्षर, घ्राणइन्द्रिय-लब्धिअक्षर, रसनइन्द्रिय-लब्धिअक्षर, स्पर्शनइन्द्रिय-लब्धिअक्षर, नोइन्द्रिय-लब्धिअक्षर। यह सब 'लब्धि अक्षर' है।

० जो अक्खरोवलंभो सा लद्धी, तं च होइ विण्णाणं।
इंदिय—मणोनिमित्तं जोयावरणक्खओवसमो।।
तस्स उ अणंतभागो निच्चुग्घाडो य सव्वजीवाणं।
भणियो सुयम्मि केवलिवज्जाणं तिविहभेओ वि।।
सो पुण सव्वजहन्नो चेयण्णं नावरिज्जइ कयाइ।
उक्कोसावरणम्मि वि जलयच्छन्नक्कभासो व्व।।

(विशे.भा. 466, 497—498)

जो अक्षर का उपलम्भ, लाभ या लब्धि है, वह 'लब्ध्यक्षर' है। वह इन्द्रिय व मन के निमित्त से होने वाला विज्ञान (अर्थात् श्रुतज्ञानोपयोग) है, वह भी तदावरणक्षयोपशम रूप ही है, ये दोनों (श्रुतज्ञानोपयोग व तदावरणक्षयोपशम) ही 'लब्ध्यक्षर' हैं। (466)

वह लब्ध्यक्षर जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट आदि तीन भेदों वाला है केवली को छोड़कर सभी जीवों के उस लब्ध्यक्षर का अनन्तवां भाग नित्य ही उद्घाटित रहता है—ऐसा श्रुत में कहा गया है। उस लब्ध्यक्षर का अनन्तवां सर्वजघन्य भाग, भले ही आवरण कितना ही उत्कृष्ट हो, कभी उसी प्रकार आवृत नहीं होता, जिस प्रकार मेघों से आच्छादित सूर्य का प्रकाश। (497—498)

० तत्थ जं तं लद्धिअक्खरं तं सुहुमणिगोदअपज्जत्तप्पहुडि जाव
सुदकेवली त्ति ताव जे खओवसमा तेसिं लद्धिअक्खरमिदि सण्णा।।

(ध. 13, पृ. 264—265)

सूक्ष्मनिगोद लब्ध्यपर्याप्तक से लेकर श्रुतकेवली तक जीवों के जितने क्षयोपशम होते हैं, उन सबकी 'लब्ध्यक्षर' संज्ञा होती है।

लिङ्ग

० किंलक्खणं लिङ्गं ? अण्णहाणुववत्तिलक्खणं।

(ध. 13, पृ. 245)

लिंग का क्या लक्षण है ? लिंग का लक्षण 'अन्यथानुपपत्ति' है।

० लीनं तिरोहितमर्थं गमयतीति लिंगम्।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 1550)

लीन यानी तिरोहित (छिपे) अर्थ को ज्ञात कराने वाले को 'लिंग' कहते हैं।

० लिङ्ग्यते गम्यतेऽतीन्द्रियार्थोऽनेनेति लिङ्गम्।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 1550)

जिससे अतीन्द्रिय परोक्ष पदार्थ का लिङ्गन अर्थात् ज्ञान होता है, उसे लिङ्ग कहा जाता है।

(द्रष्टव्य : साधन, हेतु)

लोकायत/लोकायतिक दर्शन

० (द्रष्टव्य : चार्वाक दर्शन)

लोकोत्तर शब्दलिंगजश्रुतज्ञान

०

असच्चकारणविणिम्मुक्कपुरिसवयणविणिग्गय-वयणकलावजणियसुदणाणं लोउत्तरियसुदणाणं।

(ज.ध. 1, पृ. 310)

असत्य बोलने के कारणों से रहित पुरुष के मुख से निकले हुए वचन-समुदाय से जो श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है, वह 'लोकोत्तर शब्दलिंगज श्रुतज्ञान' हैं।

लौकिक शब्दलिंगज श्रुतज्ञान

०

सामण्णपुरिसवयणविणिग्गयवयणकलावजणि-यणाणं लोइयसद्दजं।

(ज.ध. 1, पृ. 310)

सामान्य पुरुष के मुख से निकले हुये वचन-समुदाय से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह 'लौकिक शब्द लिंगज श्रुतज्ञान' है।

व

वचन

० वर्णपदवाक्यात्मकं वचनम्।

(प्र.न.त. 4/8)

वर्ण, पद व वाक्य रूप 'वचन' कहा जाता है।

वर्ण

० अकारादिः पौद्गलिको वर्णः।

(प्र.न.त. 4/9)

(भाषावर्गणा से बने हुए) पौद्गलिक' अकार आदि 'वर्ण' होते हैं।

वर्ण्यसमा-अवर्ण्यसमा जाति (दूषणाभास, जात्युत्तर के भेद)

० वर्ण्यावर्ण्याभ्यां प्रत्यवस्थानं वर्ण्यावर्ण्यसमे जाती। ख्यापनीयो वर्ण्यस्तद्विपरीतः अवर्ण्यः। तावेतौ वर्ण्यावर्ण्यौ साध्यदृष्टान्तधर्मौ विपर्यस्यन् वर्ण्या-वर्ण्यसमे जाती प्रयुङ्क्ते–यथाविधः शब्दधर्मः कृतकत्वादिर्न तादृग्घटधर्मो यादृग्घट-धर्मो न तादृक् शब्दधर्म इति।

(प्र.मी. 2/1/29)

वर्ण्य और अवर्ण्य के द्वारा खण्डन करना 'वर्ण्यसमा' और 'अवर्ण्यसमा' जातियाँ हैं। सिद्ध करने योग्य साध्यधर्म वर्ण्य कहलाता है और दृष्टान्त का धर्म अवर्ण्य कहलाता है। इस साध्य और दृष्टान्त के धर्मों को उलटपलट करने वाला वर्ण्यसमा और अवर्ण्यसमा जाति का प्रयोग करता है। जैसे–जिस प्रकार का कृतकत्व शब्द का धर्म है, उस प्रकार का घट का धर्म नहीं है और जैसा घट का धर्म है, वैसा शब्द का धर्म नहीं है।

० साध्यस्य यथा हेतुसाध्यत्वं तथा दृष्टान्तस्यापि हेतुसाध्यत्वेन भवितव्यमित्युक्ते वर्ण्यसमा जातिः।

(प्र.प्र. 1/52)

जिस प्रकार साध्य हेतु से सिद्ध किया जाता है, उसी प्रकार दृष्टान्त भी हेतु से सिद्ध किया जाना चाहिए–ऐसा कहना 'वर्ण्यसमा' जाति (दूषणाभास) है।

वर्तना

० वृत्तेर्णिजन्तात्कर्मणि भावे वा युटि स्त्रीलिङ्गे वर्तनेति भवति। वर्त्यते वर्तनमात्रं वा वर्तना इति।

(स.सि. 5/22/569; रा.वा. 5/22/2)

णिजन्त में वृत्, धातु से कर्म या भाव में युट् पत्यय करने पर स्त्रीलिंग में 'वर्तना' शब्द बनता है, जिसकी व्युत्पति 'वर्त्यते' या 'वर्तनमात्रम्' होती है।

० प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्नीतैकसमया स्वसत्तानुभूतिर्वर्तना।

(रा.वा. 5/22/4)

प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक पर्याय में प्रतिसमय जो निज सत्ता की अनुभूति करता है, उसे 'वर्तना' कहते हैं।

० पदार्थपरिणतेर्यत्सहकारित्वं सा वर्तना भण्यते।

(बृ.द्र.सं.वृ. 21)

पदार्थ की परिणति में जो सहकारीपना या सहायता है, उसको 'वर्तना' कहते हैं।

वर्तमान नैगम नय

० कर्तुमारब्धमीषन्निष्पन्नमनिष्पन्नं वा वस्तु निष्पन्नवत्कथ्यते यत्र स वर्तमाननैगमः यथा ओदनः पच्यते।

(आ.प. 67)

करने के लिए प्रारम्भ की गई ऐसी ईषत् निष्पन्न (थोड़ी बनी हुई) अथवा अनिष्पन्न (बिल्कुल नहीं बनी हुई) वस्तु को निष्पन्नवत् कहना, वह 'वर्तमाननैगम' नय है। जैसे–भात पकाया जा रहा है।

वस्तु

० तदतद् वस्तु।

(आ.मी. 110)

वस्तु तत् व अतत्–दोनों रूप (परस्पर-विरुद्ध धर्म वाली) होती है।

० नानात्मतामप्रजहत्तदेकमेकात्मतामप्रजहच्च नाना।
अङ्गाङ्गिभावात्तव वस्तु यत्तत् क्रमेण वाग्वाच्यमनन्तरूपम्।।

(युक्त्य. 49)

आपके शासन में वस्तु एक है, वह नानात्मकता का त्याग न करती हुई ही वस्तु तत्त्व को प्राप्त होती है। जो वस्तु नानात्मक प्रसिद्ध है, वह एकात्मकता को नहीं छोड़ती हुई ही आपके मत से वस्तुत्व रूप से अभिमत है। वस्तु जो अनन्त रूप है, वह अंग–अंगी भाव (गौण–मुख्य भाव) के कारण क्रम से वचनगोचर होती है।

० द्रव्यपर्यायात्मकं जीवादि वस्तु।

(अष्टस. 11, पृ. 113)

द्रव्य-पर्यायात्मक जीव आदि पदार्थ 'वस्तु' हैं।

० ततः सूक्तम् त्रिकालवर्तिनयोपनयविषयपर्यायविशेषसमूहो द्रव्यमेकानेकात्मकं जात्यन्तरं वस्त्विति।

(अष्टस. 107, पृ. 290)

अतः यह ठीक ही कहा गया है कि त्रिकालवर्ती एवं नय व उपनय के विषयभूत विशेष-विशेष पर्याय का समूहात्मक रूप वस्तु एकात्मक-अनेकात्मक है, और वह 'जात्यन्तर' रूप है।

० प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयभूतं विरुद्धधर्माध्यासलक्षणं वा विरुद्धं वस्तु।

(अष्टस., 110, पृ. 292)

जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की विषय हो तथा परस्पर-विरुद्ध दिखने वाले, जैसे एक–अनेक

व नित्य-अनित्य आदि धर्मों से अधिष्ठित हो, वह 'वस्तु' कहलाती है।

० यदर्थक्रियाकारि तद् वस्तु।

(ध. 1, पृ. 175)

जो अर्थक्रिया करने में समर्थ है, वह 'वस्तु' है।

० सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्तंवस्तुजातमखिलज्ञैः।

(पु.सि. 23)

सर्वज्ञ देव ने इस समस्त वस्तु–समूह को अनेकान्तात्मक कहा है।

० वस्तुनो हि भेदः पर्यायरूपतैव, अभेदस्तु द्रव्य-रूपत्वमेव, भेदाभेदौ तु द्रव्यपर्यायस्वभावावेव। न खलु द्रव्यमात्रं पर्यायमात्रं वा वस्तु; उभयात्मनः समुदायस्य वस्तुत्वात्। द्रव्यपर्याययोस्तु न वस्तुत्वं नाप्यवस्तुता; किन्तु वस्त्वेकदेशता। यथा समुद्रांशो न समुद्रः, नाप्यसमुद्रः, किन्तु समुद्रैकदेश इति।

(प्र.क.मा. 4/10)

चूंकि पर्याय की दृष्टि से वस्तु में भेद है, और द्रव्यरूप से अभेद है, द्रव्य और पर्याय स्वभाव ही भेदाभेदरूप हुआ करते हैं, वस्तु न द्रव्य मात्र है और न पर्याय मात्र ही है, किन्तु उभयात्मक समुदाय ही वस्तु है। द्रव्य और पर्याय को अकेले–अकेले वस्तु नहीं कहते, न अवस्तु ही कहते हैं, किन्तु वस्तु को एकदेश कहते हैं, जैसे समुद्र का अंश न समुद्र है और न असमुद्र ही है, किन्तु समुद्र का एकदेश है।

० वत्थु अणेयंतं।

(कार्ति. 225)

वस्तु अनेकान्त रूप है।

० दव्वगुणपज्जयाणं एयत्तं वत्थु परमत्थं।

(कार्ति. 242)

द्रव्य, गुण और पर्यायों का एकत्व ही परमार्थ से 'वस्तु' है।

० भावाभावात्मकत्वाद् वस्तुनः।। प्रमाणस्य विषयो द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु।

(प्र.मी. 1/1/12,30)

वस्तु भावाभावात्मक होती है (1/1/12)। वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है, और वही प्रमाण का विषय है। (1/1/30)

० अर्थक्रियासामर्थ्यात्।। तल्लक्षणत्वाद् वस्तुनः।

(प्र.मी. 1/1/31–32)

अर्थक्रिया ही वस्तु का लक्षण है।

० स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु।

(अन्ययो. 5)

प्रत्येक वस्तु स्याद्वाद की मुद्रा का उल्लंघन नहीं करती।

० ण हु तं वत्थू भणियं जं रहियं अत्थकिरियाहिं।

(बृ.न.च. 45)

जो अर्थक्रिया से रहित है, उसे वस्तु नहीं कहा जाता है।

० द्रव्यपर्यायात्मको भावः पदार्थः वस्तु इति।

(पंचा.ता.वृ. 12)

द्रव्यपर्यायात्मक भाव ही पदार्थ या वस्तु होती है।

० वस्तुनः तावद् अर्थक्रियाकारित्वं लक्षणम्।

(स्या.मं. 5)

अर्थक्रियाकारित्व ही वस्तु का लक्षण है।

० वसन्ति गुणपर्याया अस्मिन् इति वस्तु धर्माधर्माकाशपुद्गलकालजीवलक्षणं द्रष्टव्यम्।

(स्या.मं. 23)

जिसमें गुण व पर्यायें होती हैं, वह वस्तु है, जो धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, काल, जीव–ये छः द्रव्यरूप होती हैं।

० इदमेव निखिललोकाबाधितं प्रमाणप्रसिद्धं कियत्काल भाविस्थूलतामाबिभ्राणमुदकाद्याहरणाद्यर्थक्रियानिर्वर्तनक्षमं घटादिकं वस्तुरूपं पारमार्थिकम्।

(स्या.मं. 28)

समस्त लोक में अबाधित, प्रमाणप्रसिद्ध, कुछ काल स्थायी रहने वाली स्थूल पर्याय धारण करने वाले तथा जल आदि ले आने आदि अर्थक्रिया के सम्पादन में समर्थ यह जो घट आदि वस्तु हैं, वे ही परमार्थसत् हैं।

० सापेक्षयोः सामान्यविशेषयोः कथंचित् तादात्म्याभ्युपगमेन एकत्र अभिन्नं वस्तुनि स्याद्वादिभिरङ्गीकरणात्, तस्यैव प्रमेयत्वस्य सिद्धत्वात्।

(प्र.प्र.क. 2/33)

सापेक्ष सामान्य व विशेष में कथंचित् तादात्म्य स्वीकार कर उनकी एक वस्तु में अभिन्न रूप से स्थिति है–ऐसा स्याद्वादी मानते हैं और वही 'प्रमेय' रूप में सिद्ध होता है।

(द्रष्टव्य : अनन्तधर्मात्मक, अर्थ, अवस्तु, जात्यन्तर, तत्त्व, द्रव्य, पदार्थ, प्रमेय, सत्)

वस्तु के पर्याय

० सत्ता सत्त्वं सद् वा सामान्यं द्रव्यमन्वयो वस्तु। अर्थो विधिरविशेषाद् एकार्थवाचका अमी शब्दाः।।

(पं. 1/143)

सत्ता, सत्त्व, सत्, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु, अर्थ, विधि–ये नौ शब्द एकार्थवाचक हैं।

वस्तु के भेद

० जीवादि वस्तु तिष्ठति, स्थितं, स्यास्यति, विनश्यति, विनष्टं, विनंक्ष्यति, उत्पद्यते, उत्पन्नम्, उत्पत्स्यते च.....तथा चैतेषां नवानामपि विकल्पानां प्रत्येकं नवविकल्पतोपपत्तेः एकाशीतिविकल्पं वस्तु ऊह्यम्।

(अष्टस. 11, पृ. 113)

(1) (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक) तिष्ठति जीव आदि वस्तु के नौ भेद हैं–(1) तिष्ठति (विद्यमान है) (2) स्थितम् (विद्यमान थी), (3) स्थास्यति (विद्यमान रहेगी), (4) विनश्यति (नष्ट होती है), (5) विनष्टम् (नष्ट हुई), (6) विनंक्ष्यति (नष्ट होगी), (7) उत्पद्यते (उत्पन्न है), (8) उत्पन्नम् (उत्पन्न हुई), (9) उत्पत्स्यते (उत्पन्न होगी)। अब इन नौ विकल्पों में से प्रत्येक के नौ-नौ भेद होते हैं (जैसे–1-3 स्वकालापेक्षया तिष्ठति, स्थितम्, स्थास्यति, (4-6) स्वोत्तरकालापेक्षया स्थास्यति, उत्पत्स्यते, विनंक्ष्यति, (7-9) स्वपूर्वकालपेक्षया स्थितम्, उत्पन्नं, विनष्टम्)। इस प्रकार, (9 x 9 = 81) प्रत्येक वस्तु इक्यासी विकल्पों (भेदों) वाली हो जाती है–ऐसा मानना चाहिए।

वस्तुत्व

० सामान्य-विशेषात्मकत्वं वस्तुत्वलक्षणम्।

(अष्टस. 19, पृ. 147)

सामान्य-विशेषात्मकता वस्तुत्व का लक्षण है।

० वस्तुनो भावो वस्तुत्वम्, सामान्यविशेषात्मकं वस्तु।

(आ.प. 95)

वस्तु सामान्य-विशेषात्मक होती है। उस वस्तु का जो भाव है, 'वस्तुत्व' है।

० स्वपररूपोपादानापोहनव्यवस्थाप्यं हि वस्तुनो वस्तुत्वम्।

(स.भं.त. 53)

अपने स्वरूप के ग्रहण और अन्य के स्वरूप के त्याग से ही वस्तु का वस्तुत्व व्यवस्थित होता है।

वाक्छल

० तत्र साधारणे शब्दे प्रयुक्ते वक्तुरभिप्रेतादर्थादर्थान्तरकल्पनया तन्निषेधो वाक्छलम्।

(प्र.मी. 2/1/29; स्या.मं. 10)

वक्ता ने किसी साधारण–जिसका दूसरा भी अर्थ हो सकता है–शब्द का प्रयोग किया। प्रतिवादी उसके अभीष्ट अर्थ को छोड़कर दूसरे अर्थ की कल्पना करके उसके वचन का खण्डन करता है तो यह 'वाक्छल' है।

० अनेकवाचके शब्दे प्रयुक्ते ऋजुवादिना।
वक्तुर्मनःस्थादन्यस्य प्रतिषेधो हि वाक्छलम्।।

(प्र.प्र. 1/46)

सरल भावना से युक्त वादी द्वारा अनेक अर्थों के वाचक किसी शब्द का प्रयोग किये जाने पर उसके मन में विवक्षित अर्थ (को छोड़कर उस) से भिन्न अर्थ (की कल्पना करके उस) का निषेध करना वाक्छल है।

वाक्य

० पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यम्।

(अष्टस. 103, पृ. 285)

परस्पर अपेक्षा रखने वाले पदों के निरपेक्ष समुदाय को 'वाक्य' कहा जाता है।

० पदानां तु तदपेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यमिति।

(प्र.क.मा. 3/101)

परस्पर-सापेक्ष पद-समूह का नाम 'वाक्य' है।

० पदानां तु वाक्यम्।

(प्र.न.त. 4/10)

परस्पर सापेक्ष पदों के समूह को 'वाक्य' कहा जाता है।

वाच्य

० वाग्गोचरं वाच्यम्।

(जै.सि.दी. 9/35)

जो कहा जा सके, उसे 'वाच्य' कहते हैं।

वाद

० प्रत्यनीकव्यवच्छेदप्रकारेणैव सिद्धये।
वचनां साधनादीनां वादः सोऽयं जिगीषतोः।।

(न्या.वि. 2/382)

विजय की इच्छा वाले दो व्यक्तियों का परस्पर मत का खण्डन करते हुए अपने मत की सिद्धि के लिए जो हेतु आदि (से युक्त वाक्य) का कथन होता है, वह 'वाद' कहलाता है।

० विरुद्धयोर्धर्मयोरेकधर्मव्यवच्छेदेन स्वीकृततदन्यधर्म-व्यवस्थापनार्थं साधनदूषणवचनं वादः।।

(प्र.न.त. 8/1)

परस्पर-विरोधी दो धर्मों में से, एक का निषेध करके अपने मान्य दूसरे धर्म की सिद्धि के लिये साधन और दूषण का प्रयोग करना 'वाद' है।

० तत्त्वसंरक्षणार्थं प्राश्निकादिसमक्षं साधनदूषणवदनं वादः।।

(प्र.मी. 2/1/30)

तत्त्व का संरक्षण करने के लिये सभ्यों आदि के समक्ष साधन और दूषण का कथन करना 'वाद' है।

० विवादपदमुद्दश्य वचोभिर्युक्तयुक्तिभिः।
अङ्गीकृतागमार्थानां वचनं वाद उच्यते।।

(प्र.प्र. 1/86)

विवाद के विषय को लेकर उचित युक्तियों के वाक्यों द्वारा अपने द्वारा स्वीकृत आगम (शास्त्र) के अर्थ का वर्णन करना 'वाद' कहलाता है।

० प्रतिवाद्यभिवांछया एवंविधयुक्तियुक्तभाषाभिः अभिप्रेतार्थवादनं वादः।

(प्र.प्र. 1/86)

युक्तिसंगत भाषाओं द्वारा प्रतिवादी की इच्छानुसार अपने संयत अर्थ को कहना 'वाद' है।

० साधनं दूषणं चापि सम्यगेव प्रयुज्यते।
पक्षवैपक्षयोर्यस्मिन् स वादः परिकीर्तितः।।

(प्र.प्र. 1/103)

जिसमें पक्ष में और विपक्ष में योग्य साधनों और योग्य दूषणों का ही प्रयोग किया जाता है, उसे 'वाद' कहते हैं।

० यस्मिन् विचारे पक्षविपक्षयोर्यथाक्रमम् सम्यक्-साधनदूषणे एव प्रयुज्येते स विचारो वाद इति परिकीर्त्यते।

(प्र.प्र. 1/103)

जिस विचार-विमर्श में अपने पक्ष में योग्य साधनों का ही प्रयोग किया जाता है तथा प्रतिपक्ष में योग्य दूषण ही दिये जाते हैं, उसे 'वाद' कहते हैं।

० वादिप्रतिवादिनोः स्वमतस्थापनार्थं जयपराजय-पर्यन्तं परस्परं प्रवर्त्तमानो वाग्व्यापारो विजिगीषुकथा। .....तत्र विजिगीषुकथा वाद इति।

(न्या.दी. 3/34)

वादी और प्रतिवादी में अपने पक्ष को स्थापित करने के लिये जीत-हार होने तक जो परस्पर (आपस) में वचन-प्रवृत्ति (चर्चा) होती है वह विजिगीषु कथा कहलाती है। विजिगीषु कथा को 'वाद' कहते हैं।

वाद के अंग

० सभापतिः सभ्यजनः प्रवादी वादी च।

(प्र.प्र. 1/90)

वाद के चार अंग हैं—सभापति, सभ्यजन, प्रतिवादी तथा वादी।

वाद के अवयव

० वादस्य स्वपक्षसाधनं साधनसमर्थनं परपक्षदूषणं दूषणसमर्थनं शब्ददोषवर्जनमिति अवयवाः पंच।

(प्र.प्र. 1/86)

वाद के पाँच अवयव हैं—अपने पक्ष की सिद्धि करना, उसके साधनों का समर्थन करना, प्रतिपक्ष के दूषण बतलाना, उन दूषणों का समर्थन करना तथा शब्द के दोषों से दूर रहना।

वाद के भेद

० वादं त्रिधा वदिष्यन्ति व्याख्यागोष्ठीविवादतः।
गुरुविद्वज्जिगीषूणां शिष्यशिष्टप्रवादिभिः।।
(प्र.प्र. 1/86)

वाद के तीन प्रकार हैं–व्याख्यावाद–जो गुरु शिष्य के साथ करता है। गोष्ठीवाद–जो विद्वान् शिष्ट लोगों के साथ करता है तथा विवादवाद– जो विजय की इच्छा करने वाला वादी प्रतिवादी के साथ करता है।

० तात्त्विकः प्रातिभश्चैव नियतार्थः परार्थनः।
यथाशास्त्रं प्रवृत्तोऽयं विवादः स्याच्चतुर्विधः।।
(प्र.प्र. 1/95)

शास्त्र के अनुसार होने वाला यह विवाद चार प्रकार का होता है–तात्त्विक, प्रातिभ, नियतार्थ तथा परार्थन।

वादछल के भेद

० प्रश्निकेश्वरसौमुख्यं धारणा क्षेपकौशलम्।
सहिष्णुता परं धाष्ट्र्यमिति वादच्छलानि षट्।।
(सिद्ध.द्वा. 12/31)

ये छः वाद-छल हैं (जिनका ज्ञान करणीय है)–
(1) प्राश्निक (मध्यस्थ) के प्रति संमुख होना,
(2) ईश्वर (सभापति) के प्रति संमुख होना,
(3) धारणा (प्रतिपक्ष के कथन की यथार्थता–अयथार्थता समझने) की कुशलता,
(4) प्रतिपक्षी पर आक्षेप करने की कुशलता,
(5) सहिष्णुता, और
(6) धृष्टता।

[प्रतिपक्ष के कथन को अनसुना कर मध्यस्थ या सभापति की ओर मुख कर उनसे चर्चा करने लगना, प्रतिपक्ष की किसी कमजोरी को पढ़ लेना, और उस पर केन्द्रित हो जाना, दूसरे पर आक्षेप करने का छलपूर्ण प्रयास, अपनी पराजय से उद्विग्न न होना और जो कुछ भी बोलते जाना –ये वाद-छल हैं।]

वाददोष (विशेष)

० दसविधे विसेसे पण्णत्ते, तं जहा–
वत्थु तज्जातदोसे य, दोसे एगट्ठिएति य।
कारणे य पडुप्पण्णे, दोसे णिच्चेहिय अट्ठमे।।
अत्तणा उवणीते य, विसेसे ति य ते दस।।
(ठा.सू. 10/95)

वाद-दोष (विशेष) के दस प्रकार हैं–

1. वस्तुदोष विशेष-पक्ष-दोष के विशेष प्रकार।
2. तज्जातदोषविशेष-वादकाल में प्रतिवादी से प्राप्त क्षेत्र-दोष के विशेष प्रकार।
3. दोषविशेष-अतिभंग आदि दोषों के विशेष प्रकार।
4. एकार्थिकविशेष-पर्यायवाची शब्दों में निर्युक्ति-भेद से होने वाला अवैशिष्ट्य।
5. कारणदोष विशेष-कारण के विशेष प्रकार से सम्बद्ध दोष।
6. प्रत्युत्पन्नदोषविशेष-वस्तु को क्षणिक मानने पर कृतनाश और अकृतयोग नामक दोष।
7. नित्यदोषविशेष-वस्तु को सर्वथा नित्य मानने पर प्राप्त होने वाले दोष के विशेष प्रकार।
8. अधिकदोषविशेष-वादकाल में दृष्टान्त, निगमन आदि का अतिरिक्त प्रयोग।
9. आत्मना उपनीतविशेष-उदाहरणदोष का एक प्रकार।
10. विशेष-वस्तु के भेदात्मक धर्म से सम्बद्ध दोष।

वाद-दोष (सामान्य)

० दसविहे दोसे पण्णत्ते, तं जहा–तज्जातदोसे मतिभंगदोसे, पसत्थारदोसे परिहरणदोसे। सलक्खण-क्कारण-हेउदोसे, संकामणं णिग्गह- वत्थुदोसे।

(ठा.सू. 10/94)

वाद-दोष के दस प्रकार हैं–

1. तज्जातदोष-वादकाल में प्रतिवादी से क्षुब्ध होकर मौन हो जाना।
2. मतिभंगदोष-तत्त्व की विस्मृति हो जाना।
3. प्रशास्तृदोष-सभ्य या सभानायक की ओर से होने वाला दोष।
4. परिहरण दोष-वादी द्वारा उपन्यस्त हेतु का छल या जाति से परिहार करना।
5. स्वलक्षण दोष-वस्तु के निर्दिष्ट लक्षण में अव्याप्त, अतिव्याप्त, असंभव दोष का होना।
6. कारणदोष-कारण-सामग्री के एकांश को कारण मान लेना; पूर्ववर्ती होने मात्र से कारण मान लेना।
7. हेतुदोष-असिद्ध, विरुद्ध, अनेकान्तिक आदि दोष।
8. संक्रमणदोष-प्रस्तुत प्रमेय को छोड़ अप्रस्तुत प्रमेय की चर्चा करना।
9. निग्रहदोष-छल आदि के द्वारा प्रतिवादी को निगृहीत करना।
10. वस्तु दोष-पक्ष के दोष।

वादाभास

० तदाभासो वितण्डादिरभ्युपेताव्यवस्थितेः।

(न्या.वि. 2/384)

वितण्डा आदि (न्याय दर्शन सम्मत) वादाभास हैं, क्योंकि उससे अभ्युपेत (स्वीकृत) पक्ष की व्यवस्था (सिद्धि) नहीं होती है।

वादी

० वादिना उभयं कर्त्तव्यम्-स्वपक्षसाधनं परपक्ष-दूषणम्।

(सि.वि.वृ. 5/10)

वादी के दोनों कार्य होते हैं–स्वपक्ष की सिद्धि और परपक्ष में दूषण-उद्भावन।

० विजिगीषुणोभयं कर्त्तव्यम् स्वपक्षसाधनं परपक्ष-दूषणम् इति।

(सि.वि.वृ. 5/11)

वादी या जीत की इच्छा करने वाले विजिगीषु के दो कर्त्तव्य हैं–स्वपक्ष में हेतु देना और परपक्ष में दूषण देना।

० 'वादी' पूर्वपक्षस्थितः।

(प्र.मी. 2/1/18)

पूर्वपक्ष का आश्रय लेने वाला 'वादी' कहलाता है।

० विदितस्वपरैतिह्यः कविताप्रतिपत्तिमान् क्षमी वाग्मी।
अनुयुक्ते प्रतिवक्ता कृतपक्षपरिग्रहो वादी।।

(प्र.प्र. 1/94)

वादी उसे कहते हैं, जो अपने तथा दूसरे (प्रतिपक्षी) के वृत्तान्त को जानने वाला, कविता को समझने वाला, सहनशील, बोलने में निपुण, प्रश्न किये जाने पर उत्तर देने वाला तथा किसी पक्ष का जिसने स्वीकार किया है।

(द्रष्टव्य : वाद, वाददोष)

वादित्व

० शक्रादिष्वपि प्रतिबन्धिषु सत्स्वप्रतिहततया निरुत्तराभिधानं पररन्ध्रापेक्षणं च वादित्वम्।

(रा.वा. 3/36/3)

यदि इन्द्र भी आ कर वाद करे तो उसे भी निरुत्तर कर देना और वादी के दोषों को जान लेना–यह 'वादित्व' है।

विकलप्रत्यक्ष

० तत्र कतिपयविषयं (पारमार्थिकप्रत्यक्षं) विकलम्।

(न्या.दी. 2/13)

इन (पारमार्थिक प्रत्यक्षों) में जो कुछ एक (असर्व) विषय वाले हैं, वे 'विकलप्रत्यक्ष' हैं। (द्रष्टव्य : अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष)

विकलादेश

० निरंशस्यापि गुणभेदादंशकल्पना विकलादेशः। स्वेन तत्त्वेनाप्रविभागस्यापि वस्तुनो विविक्तं गुणरूपं स्वरूपोपरञ्जकमपेक्ष्य प्रकल्पितमंशभेदं कृत्वा अनेकात्मकैकत्वव्यवस्थायां नरसिंहसिंहत्ववत् समुदायात्मकम् आत्मरूपमभ्युपगम्य कालादिभिरन्योन्यविषयानुप्रवेशरहितांशकल्पनं विकलादेशः।

(रा.वा. 4/42/16)

निरंश पदार्थ में भी गुण भेद के आधार पर अंश-कल्पना 'विकलादेश' है। निजी (ध्रुव) तत्त्व की दृष्टि से अविभक्त (अखण्ड) वस्तु उसके स्वरूप के आधायक विविध 'गुणों' की अपेक्षा रख कर काल्पनिक अंश-भेद करना अर्थात् अनेकत्व व एकत्व की व्यवस्था (परस्पर- संगति) के लिए मूलतः नरसिंह में सिंहत्व की तरह समुदायात्मक वस्तुस्वरूप को स्वीकार करके ही काल आदि की दृष्टि से परस्पर विभिन्न अंशों की कल्पना करना 'विकलादेश' है।

० विकलादेशस्तु क्रमेण भेदोपचारेण भेदप्राधान्येन वा तस्य नयायत्तत्वात्।

(तत्त्व.श्लो 1/6/54)

विकलादेश तो नय के अधीन होता है, अतः वह क्रमशः या भेदोपचार अथवा भेद-प्रधानता करते हुए वस्तु का प्रतिपादन करता है।

० विकलादेशो नयाधीनः।

(ध. 9, पृ. 164)

विकलादेश नय के अधीन है।

० अस्त्येव, नास्त्येव, अवक्तव्य एव, अस्ति नास्त्येव, अस्त्यवक्तव्य एव, नास्त्यवक्तव्य एव, अस्ति नास्त्यवक्तव्य एव घट इति विकलादेशः। कथमेतेषां दुर्नयानां विकलादेशत्वम्? न, एकधर्मविशिष्टस्यैव वस्तुनः प्रतिपादनात्।

(ज.ध. 1, पृ. 186)

(1) घट है ही, (2) घट नहीं ही है, (3) घट अवक्तव्य ही है (4) घट है ही, नहीं ही है, (5) घट है ही, और अवक्तव्य ही है, (6) घट नहीं ही है, और अवक्तव्य ही है, (7) घट है ही नहीं, है ही है, और अवक्तव्य ही है–यह 'विकलादेश' है। इन सातों दुर्नय-वाक्यों की विकलादेशता कैसे है? ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ये सातों वाक्य एकधर्मविशिष्ट वस्तु का ही प्रतिपादन करते हैं, इसलिए वे विकलादेश रूप हैं।

० अयं च विकलादेशो नयाधीनो नयायत्तो नयवशादुत्पद्यत इति यावत्।

(ज.ध. 1, पृ. 186)

यह विकलादेश नयाधीन है अर्थात् नय के वशीभूत है या नय से उत्पन्न होता है।

० तद्विपरीतस्तु विकलादेशः।

(प्र.न.त. 4/45)

सकलादेश से विपरीत 'विकलादेश' (सप्तभङ्गी का एक भेद) होता है।

० नयविषयीकृतस्य वस्तुधर्मस्य भेदवृत्तिप्राधान्याद्, भेदोपचाराद्वा क्रमेण यदभिधायकं वाक्यम्, स विकलादेशः।

(र.करा. 4/45; जै.त.भा.प्र.परि., पृ. 56)

नय के विषयभूत वस्तु-धर्म का भेदवृत्ति की प्रधानता रखकर या भेद-उपचार करते हुए क्रम से कथन करने वाला जो वाक्य (सप्तभङ्गी) होता है, वह 'विकलादेश' होता है।

० वैकल्यमेकान्तः धर्मान्तराविवक्षातः।.....'स्याद् अस्ति एव जीवः' इत्युक्ते एकान्तविषयः स्यात्शब्दः।

(लघी.वृ 62)

विकलादेशता यानी एकान्त (वस्तु-अंश का) कथन, क्योंकि वहां धर्मान्तर (विवक्षित धर्म से इतर धर्म) की विवक्षा नहीं होती।

० एकधर्मात्मकवस्तुविषयकबोधजनकवाक्यत्वम् विकलादेशत्वम् इत्याहुः।

(स.भं.त. 23)

वस्तु के सत्त्व, असत्त्व, अवक्तव्यत्व आदि ध र्मों में से किसी एक धर्म का ज्ञान उत्पन्न कराने वाला वाक्य 'विकलादेश' है।

० विकलादेशस्तु क्रमेण भेदप्राधान्येन भेदोपचारेण वा सुनयैकान्तात्मकं घटादिरूपमर्थं प्रतिपादयति। विकलादेशस्य नयस्वरूपत्वात्।

(स.भं.त. 48)

विकलादेश अर्थात् नयरूप सप्तभङ्गी तो क्रमशः भेद की प्रधानता से अथवा भेद के उपचार से नय द्वारा एकान्तरूप घट-पट आदि पदार्थों को प्रतिपादित करता है, क्योंकि विकलादेश 'नयरूप' होता है।

(द्रष्टव्य : नयवाक्य, प्रमाणवाक्य, भेदाभेदवृत्ति, सकलादेश, सप्तभङ्गी-भेद, सम्यक् नय)

विकल्प

० अभ्यन्तरे सुख्यहं दुःख्यहम् इत्यादि हर्षविषाद-परिणामो विकल्पः।

(पंचा.ता.वृ. 7)

'मैं सुखी हूं' अथवा 'मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार जो अन्तरंग में हर्ष-विषाद रूप परिणाम होता है, वह 'विकल्प' कहलाता है।

विकल्पसमा जाति (दूषणाभास, जात्युत्तर के भेद)

० धर्मान्तरविकल्पेन प्रत्यवस्थानं विकल्पसमा जातिः। यथा कृतकं किंचिन्मृदु दृष्टं राङ्कवश-य्यादि, किंचित्कठिनं कुठारादि, एवं कृतकं किंचिदनित्यं भविष्यति घटादि किंचिन्नित्यं शब्दादीति।

(प्र.मी. 2/1/29)

धर्मान्तर का विकल्प करके खण्डन करना 'विकल्पसमा' जाति (दूषणाभास) है। यथा– कृतक पदार्थ कोई-कोई मृदु देखा जाता है, जैसे–रांकव (मृगचर्म की) शय्या और कोई-काई कठिन होता है जैसे–कुठार आदि। इसी प्रकार कोई कृतक पदार्थ अनित्य भी होंगे। जैसे घट आदि और कोई नित्य होंगे, जैसे शब्द आदि।

० दृष्टान्ते धर्मविकल्पप्रदर्शनेन दार्ष्टान्तिके धर्मान्तरापादनं विकल्पसमा जातिः।

(प्र.प्र. 1/53)

दृष्टान्त में गुणधर्मों का विकल्प बताकर दार्ष्टान्तिक (दृष्टान्त पर आधारित साध्य) में दूसरे गुणधर्म की कल्पना करना विकल्पसमा जाति (दूषणाभास) है।

विक्षेप निग्रहस्थान

० कार्यव्यासङ्गात् कथाविच्छेदो विक्षेपः नाम निग्रहस्थानं भवति।

(प्र.मी. 2/1/34)

किसी कार्य का व्यासंग (उपयोगितादि) बतलाकर कथा का विच्छेद करना–बीच में से ही उसे समाप्त करना, 'विक्षेप' निग्रहस्थान है।

० व्यासङ्गाद् भीतेः अप्रतिभादेः वा प्रारब्धकथाविच्छेदो विक्षेपो नाम निग्रहस्थानम्।

(प्र.प्र. 1/83)

(अन्य विषय में) रूचि होने से, (पराजय के) डर से या उत्तर न सूझने से शुरू की हुई चर्चा को रोक देना–यह 'विक्षेप' नाम का निग्रहस्थान होता है।

विजातिअसद्भूतव्यवहार नय

० विजात्यसद्भूतव्यवहारो यथा मूर्तं मतिज्ञानं यतो मूर्तद्रव्येण जनितम्।

(आ.प. 86)

विजाति असद्भूतव्यवहार नय, जैसे मतिज्ञान मूर्त है क्योंकि मूर्तद्रव्य से उत्पन्न हुआ है।

विजिगीषुकथा

० (द्रष्टव्य : वाद)

विज्ञप्ति

० विशेषरूपेण ज्ञायते तर्कितोऽर्थोऽनया इति विज्ञप्तिः।

(ध. 13, पृ. 243)

जिसके द्वारा तर्कसंगत अर्थ विशेष रूप से जाना जाता है, वह 'विज्ञप्ति' है।

(द्रष्टव्य : अवाय)

विज्ञानव्यक्ति

० विज्ञानव्यक्तिर्यत्किञ्चित् ज्ञानं तदानीं विद्यमानम्।

(र.करा. 5/7)

जिस किसी भी ज्ञान का अपने क्षण में विद्यमान रहना–इसे 'विज्ञान-व्यक्ति' (आत्मा का एक सहभावी तात्कालिक गुण या धर्म) कहते हैं।

(द्रष्टव्य : विशेष के भेद)

वितण्डा

० विपक्षस्थापनाहीनौ वादजल्पौ प्रकीर्तितौ।
वितण्डे इति शास्त्रेषु न्यायमार्गेषु सद्बुधैः।।

(प्र.प्र. 1/104)

जिस वाद और जल्प में प्रतिपक्ष की स्थापना नहीं की जाती उन्हें, अच्छे विद्वान न्यायमार्ग के शास्त्रों में 'वितण्डा' कहते हैं।

० प्रतिपक्षस्थापनाहीनं वाक्यम्। वितण्ड्यते आहन्यतेऽनया प्रतिपक्षसाधनमिति व्युत्पत्तेः।.....वस्तुतस्त्वपरामृष्टतत्त्वातत्त्वविचारं मौखर्यं वितण्डा।

(स्या.मं. 10)

जिसमें प्रतिपक्ष अर्थात् प्रतिवादी द्वारा प्रदत्त दोषों का खण्डन कर अपने पक्ष की स्थापना न की जा सके, वह वाक्य 'वितण्डा' है।

वितण्डा की निर्युक्ति भी यह है कि जिसमें मात्र प्रतिपक्ष की सिद्धि का खण्डन किया जाता है, वह 'वितण्डा' है। वास्तव में तत्त्व व अतत्त्व का विचार न करके खाली बकवास करने को 'वितण्डा' कहते हैं।

(द्रष्टव्य : वैतण्डिक)

वितर्क

० वितर्कः श्रुतम्।

(त.सू. 9/43)

श्रुतज्ञान के सहारे किये जाने वाले चिन्तन को 'श्रुत' कहते हैं, और उसी का नाम 'वितर्क' है।

(द्रष्टव्य : श्रुत)

विधि-प्रतिषेध

० (द्रष्टव्य : अंश)

विधिसाधक विरुद्धानुपलब्धि (हेतु) के भेद

० विरुद्धानुपलब्धिस्तु विधिप्रतीतौ पंचधा।।
विरुद्धकार्यकारणस्वभाव–
व्यापकसहचरानुपलम्भभेदात्।।

(प्र.न.त. 3/103–104)

विधि को सिद्ध करने वाली विरुद्धानुपलब्धि के पांच भेद हैं–

1. विरुद्धकार्यानुपलब्धि
2. विरुद्धकारणानुपलब्धि,
3. विरुद्धस्वभावानुपलब्धि
4. विरुद्धव्यापकानुपलब्धि
5. विरुद्धसहचरानुपलब्धि।

विपक्ष

० साध्यविरुद्धधर्मा धर्मी विपक्षः। यथा तत्रैव ह्रदः।।

(न्या.दी. 3/37)

साध्य से विरुद्ध धर्म जहां रहता हो, ऐसा धर्मी 'विपक्ष' कहलाता है, जैसे (पर्वत अग्निवाला है, धूंए वाला होने से–इस) उदाहरण में 'जलाशय' (जो अग्नि रूप साधन से विरुद्ध धर्म जल का आश्रय है) विपक्ष है।

विपक्ष-व्यावृत्ति

० साध्यविरुद्धधर्मा धर्मी विपक्षः, यथा तत्रैव ह्रदः, तस्मात्सर्वस्माद् व्यावृत्तत्वं हेतोर्विपक्षाद् व्यावृत्तिः।

(न्या.दी. 3/37)

साध्य से विरोधी धर्म वाले धर्मी को विपक्ष कहते हैं। जैसे अग्नि के अनुमान करने में ही तालाब विपक्ष है। उन सभी विपक्षों से हेतु का व्यावृत्त होना अर्थात् उनमें नहीं रहना 'विपक्ष व्यावृत्ति' है।

विपरिणाम

० सत एवावस्थान्तरावाप्तिर्विपरिणामः।

(रा.वा. 4/42/4)

सत् का अवस्थान्तर की प्राप्ति करना 'विपरिणाम' है।

विपरीतव्यतिरेक दृष्टान्ताभास

० अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्, यत्कृतकं तन्नित्यं यथाऽऽकाशम्, इति विपरीतव्यतिरेकः।

(प्र.न.त. 6/79)

शब्द अनित्य है, क्योंकि कृतक है। जो कृतक

होता है, वह नित्य होता है, जैसे आकाश। यहाँ 'आकाश' दृष्टान्त 'विपरीतव्यतिरेक दृष्टान्ताभास' है (क्योंकि यहां व्यतिरेकव्याप्ति विपरीत रूप से बताई गई है।)।

विपरीतान्वय दृष्टान्ताभास

० अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्, यदनित्यं तत्कृतकं, घटवदिति विपरीतान्वयः।।

(प्र.न.त. 6/68)

शब्द अनित्य है, क्योंकि कृतक है; जो अनित्य होता है वह कृतक होता है; जैसे घट। यह 'विपरीतान्वय दृष्टान्ताभास' है।

विपर्यय

० विपर्ययो मिथ्येत्यर्थः।

(स.सि. 1/31/234)

विपर्यय का अर्थ 'मिथ्या' है।

० अयथार्थचिन्ता विपर्ययः।

(ध.13, पृ. 340)

अयथार्थ का चिन्तन का नाम 'विपर्यय' है।

० अतस्मिंस्तदेवेति विपर्ययः।

(प्र.मी. 1//1/7)

अतद्रूप वस्तु में तद्रूपता का निश्चय हो जाना 'विपर्यय' ज्ञान कहलाता है।

० यत् ज्ञाने प्रतिभासते तद्रूपरहिते वस्तुनि 'तदेव' इति प्रत्ययो विपर्यासरूपत्वाद्विपर्ययः।

(प्र.मी. 1/1/7)

ज्ञान में जो वस्तु प्रतीत हो रही है वह वास्तव में न हो, फिर भी उसकी निश्चयात्मक प्रतीति होना 'विपर्यय' ज्ञान है।

० साधारणाकारदर्शनात् विशेषादर्शनात् विपरीत-विशेषस्मरणात् विपर्ययः।

(प्र.प्र. 1/10)

साधारण आकार के देखने से, विशेष के न देखने से तथा विरुद्ध विशेष के स्मरण से जो ज्ञान होता है, उसे 'विपर्यय' कहते हैं।

० विपरीताया अन्यथास्थिताया एकस्या एव कोटे-र्वस्त्वंशस्य निष्टङ्कनं निश्चयनं विपर्ययः।

(र.करा. 1/9)

विपरीतरूप से अथवा अन्यथा रूप से वस्तु के एक ही, कोटी यानी अंश का ज्ञान अथवा निश्चय होना 'विपर्यय' है।

० विपरीतैककोटिनिश्चयो विपर्ययः, यथा शुक्ति-कायामिदं रजतमिति ज्ञानम्।

(न्या.दी. 1/9)

विपरीत एक पक्ष का निश्चय करने वाले ज्ञान को 'विपर्यय' कहते हैं। जैसे–सीप में 'यह चाँदी है' इस प्रकार का ज्ञान होना विपर्यय है।

० अतत्त्वे तत्ताध्यवसायो विपर्ययः।

(भि.न्या. 1/12)

अतत् में तत् का अध्यवसाय करना 'विपर्यय' है।

(द्रष्टव्य : अज्ञान, समारोप,)

विपर्यय मिथ्यादर्शन

० सग्रन्थो निर्ग्रन्थः, केवली कवलाहारी, स्त्री सिद्ध्यतीत्येवमादिः विपर्ययः।

(स.सि. 8/1/731)

सग्रन्थ को निर्ग्रन्थ मानना, केवली को कवलाहारी मानना और स्त्री सिद्ध होती है, इत्यादि मानना 'विपर्यय मिथ्यादर्शन' है।
(द्रष्टव्य : मिथ्यादर्शन)

विपर्यय में अपर्यवसान (तर्कदोष)

० व्याप्त्या परस्यानिष्टमापाद्य तद्विपर्यये पर्यवसानाकरणं विपर्ययेऽपर्यवसानम्।

(प्र.प्र. 1/44)

व्याप्ति के द्वारा प्रतिपक्षी के लिए अनिष्ट बात को बतलाकर फिर उसकी विरुद्ध बात को पूरा न करना–यह 'विपर्यय में अपर्यवसान' नाम का (तर्क का) चौथा दोष होता है।
(द्रष्टव्यः तर्क के दोष)

विपर्यस्त

० शुक्तिकाशकले रजताध्यवसायलक्षणविपर्यासगोचरस्तु विपर्यस्तः।

(प्र.क.मा. 3/21)

सीप के टुकड़े में जो चांदी का निश्चय होता है, उसकी विषयभूत वस्तु को 'विपर्यस्त' कहते हैं।

० विपर्यस्तं तु विपरीतावभासि विपर्ययज्ञानविषयभूतम्।

(प्र.र.मा. 3/17)

यथार्थ से विपरीत वस्तु का निश्चय करने वाले 'विपर्यय ज्ञान' के विषयभूत 'सीप में चांदी आदिक' पदार्थ 'विपर्यस्त' कहलाते हैं।
(द्रष्टव्य : प्रत्यक्षाभास)

विपुलमति मनःपर्ययज्ञान

० द्वितीयःषोढा ऋजुवक्रमनोवाक्कायविषयभेदात् ऋजुविकल्पाः पूर्वोक्ताः, वक्रविकल्पाश्च तद्विपरीता योज्याः। तथा आत्मनः परेषां च चिन्ताजीवितमरणसुखदुःखलाभालाभादीन् अव्यक्तमनोभिर्व्यक्तमनोभिश्च चिन्तितान् अचिन्तितान् जानाति विपुलमतिः, कालतो जघन्येन सप्ताष्टानि भवग्रहणानि, उत्कर्षेऽसंख्येयानि गत्यागतिभिः प्ररूपयति। क्षेत्रतो जघन्येन योजनपृथक्त्वम्, उत्कर्षेण मानुषोत्तरशैलाभ्यन्तरं न बहिः।

(रा.वा. 1/23/8)

विपुलमति ऋजु के साथ ही साथ कुटिल मन, वचन, काय सम्बन्धी प्रवृत्तियों को भी जानता है, अतः छह प्रकार का हो जाता है। अर्थात् यह अपने या पर के व्यक्त मन से या अव्यक्त मन से चिन्तित या अचिन्तित या अर्धचिन्तित सभी प्रकार से चिन्तन, जीवन, मरण, सुख-दुःख एवं लाभ-अलाभ आदि को जानता है। विपुलमति मनःपर्ययज्ञान की अपेक्षा जघन्यरूप से सात–आठ भव तथा उत्कृष्ट रूप से गत्यागति की दृष्टि से असंख्यात भवों को जानता है। क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य रूप से योजन-पृथक्त्व को और उत्कृष्ट रूप से मानुषोत्तर पर्वत के भीतर जानता है, बाहर नहीं।

० .....भूदभविस्सं च विउलमदी।।

(गो.सा.जी. 441)

त्रिकालवर्ती पुदग्ल द्रव्य को जिसका भूतकाल में चिन्तन किया गया हो, भविष्यत् काल में चिन्तन किया जाने वाला हो या वर्तमान में चिन्तन किया जाता हो, विपुलमति 'मनःपर्ययज्ञान' जान लेता है।

० .....अप्पडिवादी हु होदि बिदिया हु।
.....सुद्धतरो बिदियबोहो दु।।
(गो.सा.जी. 447)
दूसरा मनःपर्ययज्ञान 'विपुलमति' अप्रतिपाती होता है (कभी उसका पतन नहीं होता) और (ऋजुमति की अपेक्षा) वह विशुद्धतर होता है।

० चितियमचिंतियं वा अद्धं चिंतियमणेयभेयगयं।
ओहिं वा विउलमदी लहिऊण विजाणए पच्छा।।
(गो.सा.जी. 449)
चिन्तित, अचिन्तित, अथवा अर्द्धचिन्तित इत्यादि अनेक भेद रूप दूसरे के मनोगत अर्थ को पहले प्राप्त करके पीछे विपुलमतिमनःपर्यय अवधिज्ञान की तरह प्रत्यक्ष जानता है।

विपुलमति मनःपर्ययज्ञान के भेद

० विउलमदीवि य छद्धा उजुगाणुजुवयणकाय-चित्तगयं।
अत्थं जाणदि जम्हा सद्दत्थगया हु ताणत्था।।
(गो.सा.जी. 440)
विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान छह प्रकार का है–क्योंकि वह सरल और कुटिल मन-वचन-काय से किये गये मनोगत अर्थ को जानता है। अतः 1. ऋजुमनोगत अर्थ को विषय करने वाला, 2. ऋजुवचनगत अर्थ को विषय करने वाला, 3. ऋजुकायगत अर्थ को विषय करने वाला, 4. कुटिल मनोगत अर्थ को विषय करने वाला, 5. कुटिल वचनगत अर्थ को विषय करने वाला, तथा 6. कुटिल कायगत अर्थ को विषय करने वाला–इस तरह छह प्रकार का है। उन ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्ययज्ञान के विषय शब्दगत और अर्थगत होता है।

विप्रतिपत्ति

० विपरीता कुत्सिता विगर्हणीया प्रतिपत्तिः विप्रतिपत्तिः-साधनाभासे साधनबुद्धिर्दूषणाभासे च दूषणबुद्धिः।
(प्र.मी. 2/1/34)
विपरीत–कुत्सित या विगर्हणीय प्रतिपत्ति को अर्थात् विपरीत समझ को 'विप्रतिपत्ति' कहते हैं। साधनाभास को साधन समझ बैठना और दूषणाभास को वास्तविक दूषण समझ लेना–यह 'विप्रतिपत्ति' है।

विभंगज्ञान

० सम्यग्दृष्टीनामवधिः मिथ्यादृष्टीनां विभङ्गो वेदितव्यः।
(रा.वा. 1/21/6)
सम्यग्दृष्टियों को अवधिज्ञान होता है, किन्तु मिथ्यादृष्टियों के उसी अवधिज्ञान को 'विभङ्ग ज्ञान' रूप से जानना चाहिए।

० मिथ्यादर्शनोदयसहचरितमवधिज्ञानमेव विभङ्ग-ज्ञानमिति।
(पंचा.त.प्र. 41)
मिथ्यादर्शन के उदय से सहचरित अवधिज्ञान को ही 'विभङ्ग ज्ञान' कहा जाता है।

० विवरीयमोहिणाणं खओवसमियं च कम्मबीजं च।
वेभंगोत्ति पउच्चइ समत्तणाणीण समयम्मि।।
(गो.सा.जी. 305)
मिथ्यादृष्टि जीव के अवधिज्ञानावरण व वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले अवधिज्ञान को केवली-प्रतिपादित आगम में 'विभंग' ज्ञान कहा गया है।
(द्रष्टव्य : अज्ञान, कुअवधिज्ञान, मिथ्याज्ञान)

विभज्यवाद

० संकेज्ज याऽसंकितभाव भिक्खू। विभज्जवायं च वियागरेज्जा।

(सूत्र.सू. 1/14/22)

भिक्षु किसी पदार्थ के प्रति अशंकित हो, फिर भी सत्य के प्रति विनम्र होकर प्रतिपादन करे। प्रतिपादन में विभज्यवाद (भजनीयवाद या स्याद्वाद) का प्रयोग करे।

० दव्वट्ठियस्स वत्तव्वं सामण्णं पज्जवस्स य विसेसो।
एए समोवणीआ विभज्जवायं विसेसेंति।।

(सन्मति. 3/57)

द्रव्यास्तिक नय का वक्तव्य 'सामान्य' है तो पर्यायास्तिक नय का वक्तव्य 'विशेष' है। ये दोनों (सापेक्ष रूप से) संयोजित किये जाएं तो 'विभज्यवाद' को (अर्थात् अनेकान्तवाद को) विशिष्ट बनाते हैं, अर्थात् उसे खड़ा करते हैं। (और यदि निरपेक्ष भाव से संयोजित किये जाएं तो वे एकान्तवाद को विशिष्ट बनाते हैं, उसका अंग बनते हैं।)

० विभज्यवादो नाम अनेकान्तवादः, स यत्र यथा युज्यते, तथा वक्तव्यः, तद्यथा-नित्यानित्यमस्तित्वं वा प्रतीत्यादि।

(सूत्र.चू., पृ. 235)

विभज्यवाद का अर्थ है–अनेकान्तवाद। जहां जैसा उपयुक्त हो, वहां अपेक्षा का सहारा लेकर वैसा प्रतिपादन करे–अमुक अपेक्षा से नित्य है, अमुक अपेक्षा से अनित्य है, इस प्रकार उसको सिद्ध करे।

० विभज्यवादः स्याद्वादस्तं सर्वत्र अस्खलितं लोकव्यवहाराविसंवादितया सर्वव्यापिनं स्वानुभवसिद्धं वदेत्, अथवा सम्यगर्थान् विभज्य-पृथक् कृत्वा तद्वादं वदेत्, तद्यथानित्यवादं द्रव्यार्थतया पर्यायार्थतया त्वनित्यवादं वदेत्, तथा स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः सर्वेऽपि पदार्थाः सन्ति, परद्रव्यादिभिस्तु न सन्ति।

(सूत्र.सू.वृत्ति, 256–57)

विभज्यवाद का अर्थ है–स्याद्वाद। भिक्षु सर्वत्र अस्खलित, लोकव्यवहार-अविरूद्ध, सर्वव्यापक व स्वानुभवसिद्ध स्याद्वाद का कथन करे। अथवा विभज्यवाद से तात्पर्य है अर्थों का सम्यक् विभाजन करने वाला वाद। जैसे–द्रव्य की अपेक्षा से नित्यवाद, पर्याय की अपेक्षा से अनित्यवाद, इसी तरह स्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव (स्वचतुष्टय) की अपेक्षा से है, पर द्रव्यक्षेत्र भाव से नहीं है–ऐसा भिक्षु प्रतिपादित करे।

(द्रष्टव्य : अनेकान्तवाद, त्रिभङ्गी, स्याद्वाद)

विभाग

० (द्रष्टव्य : पर्याय)

विभ्रम

० विभ्रमो ह्यज्ञानत्वमेव।

(नि.सा.ता.वृ. 51)

(वस्तुस्वरूप का) अज्ञानपना या अजानपना 'विभ्रम' ही है।

० विभ्रमोऽनेकान्तात्मकवस्तुनो नित्य-क्षणिकैकान्तादिरूपेण ग्रहणम्।

(बृ.द्र.सं.वृ. 42)

अनेकान्तात्मक वस्तु का सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक रूप में जो ग्रहण किया जाता है, यह 'विभ्रम' का लक्षण है।

० अनेकान्तात्मकवस्तुनो नित्यक्षणिकैकान्तादिरूपेण ग्रहणं विभ्रमः।
तत्र दृष्टान्तः शुक्तिकायां रजतविज्ञानम्।

(बृ.द्र.सं.वृ. 42)

अनेकान्तात्मक वस्तु को 'यह नित्य ही है, या अनित्य ही है' ऐसे एकान्तरूप जानना 'विभ्रम' है। जैसे कि सीप में चांदी का और चांदी में सीप का ज्ञान हो जाना।
(द्रष्टव्य : अज्ञान, एकान्त, मिथ्या एकान्त मिथ्यादर्शन)

विमोह

० विमोहः परस्परसापेक्षनयद्वयेन द्रव्यगुणपर्यायादिपरिज्ञानाभावः।

(बृ.द्र.स.वृ. 42)

परस्पर-सापेक्ष दोनों (द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक) नयों के अनुसार द्रव्य, गुण, पर्याय आदि को नहीं जानना –यह 'विमोह' है।

विरुद्ध उत्तरचरोपलब्धि (हेतु)

० विरुद्धोत्तरचरोपलब्धिर्यथा नोदगान्मुहूर्त्तात्पूर्वं मृगशिरः, पूर्वफल्गुन्युदयात्।।

(प्र.न.त. 3/91)

एक मुहूर्त्त पहले मृगशिर नक्षत्र का उदय नहीं हुआ, क्योंकि अभी पूर्वफल्गुनी का उदय है। यह 'विरुद्ध उत्तरचरोपलब्धि' का उदाहरण है।

विरुद्धकारणानुपलब्धि (हेतु)

० विरुद्धकारणानुपलब्धिर्यथा, विद्यतेऽत्र प्राणिनि कष्टमिष्टसंयोगाभावात्।

(प्र.न.त. 3/106)

इस प्राणी को कष्ट है, क्योंकि इष्ट–संयोग का अभाव है। यह 'विरुद्ध कारणोपलब्धि' हेतु का उदाहरण है।

विरुद्धकारणोपलब्धि (हेतु)

० विरुद्धकारणोपलब्धिर्यथा-नास्य महर्षेरसत्यं समस्ति,रागद्वेषकालुष्याऽकलंकितज्ञानसम्पन्नत्वात्।

(प्र.न.त. 3/89)

इस महर्षि में असत्य नहीं है, क्योंकि वह रागद्वेष रूपी कलंक से रहित ज्ञान वाले हैं। यह 'विरुद्ध कारणोपलब्धि' हेतु का उदाहरण है।

विरुद्धकार्यानुपलब्धि (हेतु)

० विरुद्धकार्यानुपलब्धिर्यथा-अत्र प्राणिनि रोगातिशयः समस्ति, नीरोगव्यापारानुपलब्धेः।।

(प्र.न.त. 3/102)

इस प्राणी में रोग का अतिशय है, क्योंकि नीरोग चेष्टा नहीं देखी जाती। अतः यह विरुद्ध कार्यानुपलब्धि हेतु का उदाहरण है।

विरुद्धकार्योपलब्धि (हेतु)

० विरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा-न विद्यतेऽस्य क्रोधाद्युपशान्तिर्वदनविकारादेः।।

(प्र.न.त. 3/88)

इस पुरुष के क्रोध आदि शांत नहीं हैं, क्योंकि चेहरे पर विकार आदि पाये जाते हैं। यह 'विरुद्ध कार्योपलब्धि' हेतु का उदाहरण है।

विरुद्धधर्मत्वशक्ति

० तदतद्रूपमयत्वलक्षणा विरुद्धधर्मत्वशक्तिः।

(स.सा.आ.ख्या. स्याद्वादाधिकार)

तद्रूपमयता और अतद्रूपमयता जिसका लक्षण है, ऐसी विरुद्धधर्मत्वशक्ति होती है।

विरुद्धपूर्वचरोपलब्धि (हेतु)

० विरुद्धपूर्वचरोपलब्धिर्यथा नोद्गमिष्यति मुहूर्त्तान्ते पुष्यतारा, रोहिण्युद्गमात्।।

(प्र.न.त. 3/90)

एक मुहूर्त्त पश्चात् पुष्य नक्षत्र का उदय नहीं होगा, क्योंकि रोहिणी नक्षत्र का उदय है। यह 'विरुद्ध पूर्वचरोपलब्धि' हेतु का उदाहरण है।

विरुद्धव्यापकानुपलब्धि (हेतु)

० विरुद्धव्यापकानुपलब्धिर्यथा अस्त्यत्र छाया, औष्ण्यानुपलब्धेः।

(प्र.न.त. 3/108)

यहाँ छाया है, क्योंकि उष्णता की अनुपलब्धि है। (यहां छायारूपी साध्य से विरुद्ध व्यापक उष्णता की) अनुपलब्धि होने से यह 'विरुद्ध व्यापकानुपलब्धि' हेतु का उदाहरण है।

विरुद्धव्याप्तोपलब्धि (हेतु)

० विरुद्धव्याप्तोपलब्धिर्यथा–नास्त्यस्य पुंसस्तत्त्वेषु निश्चयस्तत्र सन्देहात्।।

(प्र.न.त. 3/87)

इस पुरुष को तत्त्वों में निश्चय नहीं है, क्योंकि उसे तत्त्वों में संदेह है। यह 'विरुद्ध व्याप्तोपलब्धि' हेतु का उदाहरण है।

विरुद्धसहचरानुपलब्धि (हेतु)

० विरुद्धसहचरानुपलब्धिर्यथा-अस्त्यस्य मिथ्याज्ञानं सम्यग्दर्शनानुपलब्धेः।।

(प्र.न.त. 3/109)

इस पुरुष में मिथ्याज्ञान है, क्योंकि सम्यग्दर्शन की अनुपलब्धि है। (यहां साध्य मिथ्याज्ञान से विरुद्ध सहचर सम्यज्ञान की अनुपलब्धि होने से) यह विरुद्ध सहचरानुपलब्धि' हेतु का उदाहरण है।

विरुद्धसहचरोपलब्धि (हेतु)

० विरुद्धसहचरोपलब्धिर्यथा-नास्त्यस्य मिथ्याज्ञानं सम्यग्दर्शनात्।।

(प्र.न.त. 3/92)

इस पुरुष का ज्ञान मिथ्या नहीं हैं, क्योंकि इसके सम्यग्दर्शन है। (यहाँ प्रतिषेध्य मिथ्याज्ञान है, उससे विरुद्ध सम्यग्ज्ञान है। अतः (और साधक मिथ्याज्ञान से विरुद्ध सहचर सम्यग्ज्ञान की अनुपलब्धि होने से) यह 'विरुद्ध सहचरोपलब्धि' है।

विरुद्धस्वभावानुपलब्धि (हेतु)

० विरुद्धस्वभावानुपलब्धिर्यथा वस्तुजातमनेकान्तात्मकम्, एकान्तस्वभावानुपलम्भात्।।

(प्र.न.त. 3/107)

वस्तु-समूह अनेकान्तरूप है, क्योंकि एकान्त स्वभाव की अनुपलब्धि है। (यहां अनेकान्तरूप साध्य से विरुद्ध एकान्त स्वभाव की अनुपलब्धि है, अतः) यह 'विरुद्ध स्वभावानुपलब्धि' हेतु का उदाहरण है।

विरुद्ध हेत्वाभास

० विपरीतनिश्चितविनाभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वात्।।

(प.मु. 6/29)

साध्य से विपरीत (विपक्ष) के साथ जिस हेतु की व्याप्ति हो, उस हेतु को विरुद्धहेत्वाभास कहते हैं। जैसे शब्द अपरिणामी (नित्य) होता है, क्योंकि वह कृतक (किया गया) है। यहाँ 'किया जाना' हेतु अपने साध्यभूत नित्यत्व से विपरीत अनित्यत्व के साथ रहता है, इसलिये यह 'विरुद्ध हेत्वाभास' है।

० साध्यस्वरूपाद्विपरीतेन प्रत्यनीकेन निश्चितोऽविनाभावो यस्यासौ विरुद्धः।

(प्र.क.मा. 6/29)

विपरीत अर्थात् साध्य से विपरीत जो विपक्ष है, उसमें जिस हेतु का अविनाभाव निश्चित है, वह हेतु–विरुद्ध हेत्वाभास कहलाता है।

० साध्यविपर्ययेणैव यस्यान्यथानुपपत्तिरध्यवसीयते स विरुद्धः।। यथा नित्य एव पुरुषोऽनित्य एव वा, प्रत्यभिज्ञानादिमत्त्वात्।।

(प्र.न.त. 6/52–53)

साध्य से विपरीत पदार्थ के साथ जिसकी व्याप्ति निश्चित हो, वह विरुद्ध हेत्वाभास कहलाता है। जैसे–पुरुष सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य ही है, क्योंकि वह प्रत्यभिज्ञान आदि वाला है। (यहां जो हेतु है वह विरुद्ध हेत्वाभास है।)

० पक्षविपक्षयोरेव वर्तमानो हेतुः विरुद्धः।

(प्र.प्र. 1/30)

जो हेतु पक्ष में तथा विपक्ष में ही हो (सपक्ष में न हो) वह 'विरुद्ध हेत्वाभास' होता है।

० साध्यविपरीते निश्चितव्याप्तिको हेतुः विरुद्धः।

(प्र.प्र. 1/32)

जिसकी व्याप्ति साध्य के विरुद्ध पक्ष में निश्चित हो, उस हेतु को 'विरुद्ध हेत्वाभास' कहते हैं।

० विरुद्धं प्रत्यक्षादिबाधितम्।

(न्या.दी. 3/21)

प्रत्यक्षादि से बाधित को 'विरुद्ध' हेत्वाभास कहते हैं।

० साध्यविपरीतव्याप्तो विरुद्धः, यथा–नित्यः शब्दः कृतकत्वात् इति।

(न्या.दी. 3/40; भि.न्या. 3/18)

साध्य से विपरीत-साध्याभाव के साथ जिस हेतु की व्याप्ति हो, वह 'विरुद्ध' हेत्वाभास है। जैसे–शब्द नित्य है, क्योंकि वह कृतक है (किया जाता है)।

० साध्यविपरीतव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः। यथाऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वादिति।

(न्या.दी. 3/61)

जिस हेतु की साध्य से विरुद्ध (साध्याभाव) के साथ व्याप्ति हो, वह 'विरुद्ध' हेत्वाभास है। जैसे–'शब्द अपरिणमनशील है, क्योंकि किया जाता (कृतक) है।'

विरुद्धानुपलब्धि (हेतु) के भेद

० विरूद्धानुपलब्धिस्तु विधिप्रतीतौ पञ्चधा। विरुद्धकार्यकारणस्वभावव्यापकसहचरानुपलम्भभेदात्।।

(प्र.न.त. 3/103–104)

विधि को सिद्ध करने वाले विरूद्धानुपलब्धि (हेतु) के पांच भेद होते हैं–

1. विरुद्ध कार्यानुपलब्धि,
2. विरुद्धकारणानुपलब्धि,
3. विरुद्ध- स्वभावानुपलब्धि,
4. विरुद्धव्यापकानुपलब्धि,
5. विरुद्धसहचरानुपलब्धि।

विरुद्धोपलब्धि (हेतु) के भेद

० विरुद्धोपलब्धिस्तु प्रतिषेधप्रतिपत्तौ सप्तधा।। तत्राद्या स्वभावविरुद्धोपलब्धिः।। प्रतिषेध्यविरुद्धव्याप्तादीनामुपलब्धयः षट्।।

(प्र.न.त. 3/83–84–86)

निषेध सिद्ध करने वाले विरुद्धोपलब्धि हेतु के सात भेद होते हैं। उसमें पहला भेद स्वभाव-विरुद्धोपलब्धि है। अन्य छः भेद इस प्रकार हैं–

1. विरुद्धव्याप्तोपलब्धि,
2. विरुद्धकार्योपलब्धि,
3. विरुद्धकारणोपलब्धि,
4. विरुद्धपूर्वचरोपलब्धि,
5. विरुद्धउत्तरचरोपलब्धि,
6. विरुद्धसहचरोपलब्धि।

विरोध

० परस्परपरिहारेण ये वर्तेते, तयोः शीतोष्णवत् सहानवस्थानलक्षणो विरोधः।

(स्या.मं. 24)

जिस प्रकार उष्ण का परिहार करके शीत अस्तित्वरूप होता है, और शीत का परिहार करके उष्ण अस्ति रूप होता है, अर्थात् शीत और उष्ण एक पदार्थ में एक साथ नहीं रहते- उसी प्रकार जो एक दूसरे का परिहार करके अस्ति रूप रहते हैं, उन दोनों में 'सहानवस्था' विरोध होता है।

विवक्षा

० प्राश्निकप्रश्नज्ञानेन प्रतिपादकस्य विवक्षा जायते, विवक्षया च वाक्यप्रयोगः।

(स.भं.त. 3)

प्रश्नकर्त्ता के प्रश्नज्ञान से ही प्रतिपादन करने वाले की विवक्षा होती है, और विवक्षा से वाक्य प्रयोग होता है।

विवर्त

० परि यन्ति उत्पादविनाशधर्माणो भवन्ति–इति पर्याया विवर्ताः।

(प्र.मी. 1/1/30)

परितः, यानी उत्पाद व विनाश धर्म वाले जो होते हैं, वे पर्याय हैं, उन्हें ही 'विवर्त' कहा गया है।

विवाद

० विरुद्धः परस्परलक्ष्यीकृतपक्षाधिक्षेपदक्षः, वादो वचनोपन्यासो विवादः। तथा च भगवान् हरिभद्रसूरिः-लब्धिख्यात्यर्थिना तु स्याद् दुःस्थितेनामहात्मना। छलजातिप्रधानो यः स विवाद इति स्मृतः।।

(स्या.मं. 10)

विरुद्ध वाद को 'विवाद' कहते हैं। विरुद्ध वह है जिसमें परस्पर एक दूसरे के पक्ष (प्रतिज्ञा) का खण्डन करने की कुशलता प्रदर्शित होती है। वाद से तात्पर्य है–वचन का उपस्थापन। आचार्य भगवान् हरिभद्रसूरि

ने (अष्टकप्रकरण 12/4) कहा भी है–"लाभ और ख्याति के चाहने वाले कलुषित और नीच लोग छल और जाति से युक्त जो कुछ कथन करते हैं, वह 'विवाद' है।"

विवाद के भेद

० छव्विहे विवादे पण्णत्ते, तं जहा–
ओसक्कइत्ता, उस्सक्कइत्ता, अणुलोमइत्ता, पडिलोमइत्ता, भइत्ता, भेलइत्ता।

(ठा.सू. 6/67)

विवाद (विकृत वाद या वाद–दोष) के छह अंग हैं (वादी अपनी विजय के लिये इनका सहारा लेता है)–

1. वादी के तर्क का उत्तर ध्यान में न आने पर कालक्षेप करने के लिये प्रस्तुत विषय से हट जाना।
2. पूर्ण तैयारी होने के बाद ही वादी को पराजित करने के लिये आगे आना।
3. विवादाध्यक्ष को अपने अनुकूल बना लेना अथवा प्रतिपक्षी के पक्ष का एक बार समर्थन कर उसे अपने अनुकूल बना लेना।
4. पूर्ण तैयारी होने पर विवादाध्यक्ष तथा प्रतिपक्षी की उपेक्षा कर देना।
5. सभापति की सेवा कर उसे अपने पक्ष में कर लेना।
6. निर्णायकों में अपने समर्थकों का बहुमत करना।

विवादवाद

० (द्रष्टव्य : वाद के भेद, विवाद)

विशद ज्ञान

० (द्रष्टव्य : प्रत्यक्ष वैशद्य)

विशेष

० विशिष्यतेऽर्थोऽर्थान्तरादिति विशेषः।

(स.सि. 6/8/624)

जिससे एक अर्थ दूसरे अर्थ से विषेषता को प्राप्त हो, वह 'विशेष' है।

० विशिष्यते यतो यस्य विशेषः सः।

(तत्त्व.श्लो. 1/24/5)

जिसके द्वारा (विशेष्य-वस्तु) विशेषता प्राप्त करती है, वह 'विशेष' होता है।

० स एव चेतरेभ्यः सजातीयविजातीयेभ्यो द्रव्य-क्षेत्रकालभावैरात्मानं व्यावर्तयन् विशेष-व्यपदेशमश्नुते।

(स्या.मं. 4)

यही (घट पदार्थ) दूसरे सजातीय और विजातीय पदार्थों से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से अपनी व्यावृत्ति करता हुआ 'विशेष' कहा जाता है।

० विशेषो हि नाम व्यावृत्तिलक्षणो धर्मः।

(प्र.प्र.क. 2/29)

'विशेष'–यह पदार्थ का धर्म है जो पर–पदार्थ से व्यावृत्ति (भेद) कराता है।

० भिन्ना प्रतीतिर्विशेषः।

(जै.सि.दी. 9/30)

भिन्न (पृथक्–पृथक् है), ऐसी प्रतीति को 'विशेष' कहते हैं।

० भेदप्रतीतेर्निमित्तं विशेषः।

(भि.न्या. 6/7)

भेदप्रतीति के निमित्त को 'विशेष' कहा जाता है।

विशेष के भेद

० विशेषो द्विरूपो-गुणः पर्यायश्च।।
गुणः सहभावी धर्मो, यथा आत्मनि विज्ञान-व्यक्तिशक्त्यादयः।। पर्यायस्तु क्रमभावी, यथा–तत्रैव सुखदुःखादि।।

(प्र.न.त. 5/6–8)

विशेष दो प्रकार का है–गुण और पर्याय। सहभावी अर्थात् सदा साथ रहने वाले धर्म को 'गुण' कहते हैं। जैसे–वर्तमान में विद्यमान कोई ज्ञान (विज्ञान व्यक्ति) और भावी ज्ञान रूप परिणाम की योग्यता (विज्ञान शक्ति)। एक द्रव्य में क्रम से होने वाले परिणामी को 'पर्याय' कहते हैं, जैसे आत्मा में सुख दुःख आदि।
(द्रष्टव्य : गुण, पर्याय)

विशेषसंग्रह नय

० विशेषसंग्रहः, यथा सर्वे जीवाः परस्परमविरोधिनः।

(आ.प. 70)

विशेषसंग्रह नय, जैसे–सर्वजीव परस्पर में अविरोधी हैं।
(द्रष्टव्य : व्यवहार नय)

विशेषसंग्रहभेदकव्यवहार नय

० विशेषसंग्रहभेदको व्यवहारः, यथा जीवाः संसारिणो मुक्ताश्च।

(आ.प. 72)

विशेष संग्रह नय के विषयभूत पदार्थ को भेद रूप से ग्रहण करने वाला विशेष संग्रह भेदक व्यवहार नय है, जैसे जीव के संसारी और मुक्त ऐसे दो भेद करना।
(द्रष्टव्य : व्यवहारनय के भेद)

विषय

० विषयस्तावत् द्रव्य-पर्यायात्मार्थः।

(न्या.कु. 1/5)

द्रव्य पर्याय रूप अर्थ को (प्रमाण का) 'विषय' कहा जाता है।
(द्रष्टव्य : अर्थ, प्रमेय, वस्तु)

विसंवादन

० विसंवादनमन्यथाप्रवर्तनम्।.....परगतं विसंवादनम्। सम्यगभ्युदय-निःश्रेयसार्थासु क्रियासु प्रवर्तमानमन्यं तद्विपरीतकायवाङ्मनोभिर्विसंवादयति मैवं कार्षीरेवं कुर्विति।

(स.सि. 6/22/625)

अन्यथा प्रवृत्ति करना 'विसंवादन' होता है। .....विसंवादन 'परगत' होता है। स्वर्ग व मोक्षादि की साधक समीचीन क्रियाओं में प्रवर्तमान किसी दूसरे को मन, वचन व काय की कुटिलता से 'ऐसा मत करो, ऐसा करो' इस प्रकार से भ्रमित करने को 'विसंवादन' कहा जाता है।

० विसंवादनमन्यथाप्रवर्तनम्। अन्येन प्रकारेण प्रवर्तनं प्रतिपादनं विसंवादनमिति विज्ञायते।... ..सम्यगभ्युदय-निश्रेयसार्थासु क्रियासु प्रवर्तमानमन्यं कायवाङ्मनोभिर्विसंवादयति मैवं कार्षीरेवं कुर्विति कुटिलतया प्रवर्तनं विसंवादनम्।

(रा.वा. 6/22/2–3)

विसंवादन का अर्थ है–अन्यथा प्रवृत्ति कराना। अन्य प्रकार से प्रवर्तन का प्रतिपादन–इसे

विसंवादन माना गया है।.....(कोई पुरुष) सम्यक् अभ्युदय और निःश्रेयस की कारणभूत क्रियाओं में प्रवृत्ति कर रहा है, उसे मन, वचन व शरीर द्वारा 'ऐसा मत करो, यह करो' आदि से कुटिल प्रवृत्ति कराना 'विसंवादन' है।

वीतराग कथा

० गुरुशिष्याणां विशिष्टविदुषां वा रागद्वेषरहितानां तत्त्वनिर्णयपर्यन्तं परस्परं प्रवर्त्तमानो वाग्व्यापारो वीतरागकथा।

(न्या.दी. 3/34)

गुरु तथा शिष्यों में अथवा राग-द्वेष रहित विशेष विद्वानों में तत्त्व (वस्तुरूप) के निर्णय होने तक जो आपस में चर्चा की जाती है, वह 'वीतरागकथा' है।

वृद्धि

० अनिवृत्तपूर्वस्वभावस्य भावान्तरेण आधिक्यं वृद्धिः।

(रा.वा. 4/42/4)

पूर्व स्वभाव को न छोड़कर भावान्तर से आधिक्य हो जाना 'वृद्धि' है।

वेदांग

० (द्रष्टव्यः आगम)

वैतण्डिक

० अभ्युपेत्य पक्षं यो न स्थापयति स वैतण्डिक इत्युच्यते।

(स्या.मं. 10)

अपने पक्ष को स्वीकार करके जो स्वपक्ष की स्थापना न कर पाए, वह 'वैतण्डिक' कहा जाता है।

(द्रष्टव्य : वितण्डा)

वैधर्म्य दृष्टान्त

० साध्ये निवर्तमाने तु साधनस्याप्यसम्भवः।
ख्याप्यते यत्र दृष्टान्ते वैधर्म्येणेति स स्मृतः।।

(न्यायाव. 19)

साध्य के निवर्तमान (अभाव) होने पर साधन का भी असंभव (अभाव) जहाँ कहा जाता है, वह 'वैधर्म्य दृष्टान्त' है।

० यत्र तु साध्याभावे साधनस्यावश्यमभावः प्रदर्श्यते, स वैधर्म्यदृष्टान्तः।
न भवत्येव धूमः, यथा जलाशये। यथा–अग्न्यभावे।

(प्र.न.त. 3/47–48)

जहाँ साध्य के अभाव में साधन का अवश्य अभाव दिखाया जाता है, वह 'वैधर्म्य दृष्टान्त' है।
जैसे–जहाँ अग्नि का अभाव होता है, वहाँ धूम का अभाव होता है; जैसे तालाब।

० साध्यधर्मनिवृत्तिप्रयुक्तसाधनधर्मनिवृत्तियोगी वैधर्म्यदृष्टान्तः।

(प्र.मी. 1/2/23)

साध्य धर्म के अभाव के कारण जहाँ साधन धर्म का अभाव प्रदर्शित हो, वह 'वैधर्म्य दृष्टान्त' कहलाता है।

० वैधर्म्यं च साध्याभावाधिकरणावृत्तित्वेन निश्चितत्वम्।

(स.भं.त. 74)

साध्य के अभाव के अधिकरण में जिसका अवृत्तित्व अर्थात् न रहना निश्चित हो, उसको वैधर्म्य कहते हैं।

(द्रष्टव्य : दृष्टान्त)

वैधर्म्य दृष्टान्ताभास के भेद

० वैधर्म्येणापि दृष्टान्ताभासो नवधा।। असिद्धसाध्यव्यतिरेकः, असिद्धसाधन-व्यतिरेकोऽसिद्धोभयव्यतिरेकः, संदिग्धसाध्य-व्यतिरेकः, संदिग्धसाधनव्यतिरेकः, संदिग्धोभय-व्यतिरेकः, अव्यतिरेकः, अप्रदर्शितव्यतिरेकः, विपरीतव्यतिरेकश्च।।

(प्र.न.त. 6/69–70)

वैधर्म्य दृष्टान्ताभास नौ प्रकार का है–

1. असिद्धसाध्यव्यतिरेक,
2. असिद्धसाधनव्यतिरेक,
3. असिद्धउभयव्यतिरेक,
4. संदिग्धसाध्यव्यतिरेक,
5. संदिग्धसाधनव्यतिरेक,
6. संदिग्धोभयव्यतिरेक,
7. अव्यतिरेक,
8. अप्रदर्शितव्यतिरेक,
9. विपरीतव्यतिरेक।

वैधर्म्यसमा जाति (दूषणाभास, जात्युत्तर के भेद)

० वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानमं वैधर्म्यसमा जातिः। यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वादित्यत्रैव प्रयोगे स एव प्रतिहेतुर्वैधर्म्यः प्रयुज्यते नित्यः शब्दो निरवयवत्वात्; अनित्यं हि सावयवं दृष्टं घटादीति। न चास्ति विशेषहेतुर्घट-साधर्म्यात्कृतकत्वादनित्यः शब्दो न पुनस्तद्वैधर्म्यान्निरवयवत्वान्नित्य इति।

(प्र.मी. 2/1/29)

विसदृशता दिखाकर खण्डन करना 'वैधर्म्यसमा' जाति है। जैसे–शब्द अनित्य है, क्योंकि कृतक है, जैसे घट, ऐसा प्रयोग करने पर वही विरोधी हेतु प्रयुक्त करता है–शब्द नित्य है क्योंकि निरवयव है, जो अनित्य होता है वह सावयव देखा जाता है, जैसे–घटादि, कोई विशेष कारण नहीं कि घट के समान कृतक होने से यदि शब्द अनित्य है तो घट से विपरीत निरवयव होने से नित्य न हो।

० तत्र स्थापनाहेतौ प्रयुक्ते वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं वैधर्म्यसमा जातिः।

(प्र.प्र. 1/50)

(किसी साध्य को) स्थापित करने वाले हेतु का प्रयोग करने पर तथा उससे भिन्नता बतलाकर कोई आक्षेप उपस्थित करना–यह 'वैधर्म्यसमा' जाति (दूषणाभास) है।

(द्रष्टव्य : जात्युत्तर)

वैनयिक मिथ्यादर्शन

० सर्वदेवतानां सर्वसमयानां च समदर्शनं वैनयिकम्।

(स.सि. 8/1/731)

सब देवता और सब मतों को एक समान मानना 'वैनयिक मिथ्यादर्शन' है।

(द्रष्टव्य : मिथ्यादर्शन)

वैलक्षण्य प्रत्यभिज्ञान

० (द्रष्टव्य : प्रत्यभिज्ञान)

वैशद्य

० अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्। तद्वैशद्यं मतं बुद्धेः.....।।

(लघी. 4)

अनुमान आदि की अपेक्षा जो अधिक प्रतिभास होता है, इसे ज्ञान का 'वैशद्य' कहा जाता है।

० प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम्।।

(प.मु. 2/21)

दूसरे ज्ञान के व्यवधान से रहित और विशेषता से होने वाले प्रतिभास को 'वैशद्य' कहते हैं।

० सविशेषवर्णसंस्थानादिग्रहणं वैशद्यम्।

(प्र.र.मा. 2/4)

वस्तु के वर्ण, गन्धादि तथा संस्थान (आकार-प्रकार) आदि विशेषताओं के द्वारा होने वाले विशिष्ट प्रतिभास को 'वैशद्य' कहते हैं।

(द्रष्टव्य : प्रत्यक्ष, विशुद्ध ज्ञान, स्पष्टत्व)

वैशेषिक दर्शन

० दोहि वि णएहि णीअं सत्थमुलूएण तह वि मिच्छत्तं।
जं सविसअप्पहाणत्तणेण अण्णोण्ण–णिरवेक्खा।।

(सन्मति. 3/49)

उलूक (कणाद के वैशेषिक) दर्शन ने दोनों (द्रव्यास्तिक व पर्यायास्तिक) नयों द्वारा अपने शास्त्र (दर्शन) की प्ररूपणा की है, फिर भी वह मिथ्यात्व (अर्थात् अप्रमाण, मिथ्याश्रुत) है, क्योंकि ये दोनों नय अपने-अपने विषय की प्रधानता के कारण परस्पर एक-दूसरे से निरपेक्ष हैं (अतः दुर्नय, मिथ्यानय है)।

० अपरे च परस्परनिरपेक्षपदार्थपृथग्भूतसामान्य-विशेषयुक्तं वस्तु वाच्यत्वेन निश्चिन्वते। ते च नैगमनयानुरोधिनः काणादाः।

(स्या.मं. 14)

कुछ दार्शनिक सामान्य व विशेष–इन दोनों को परस्पर-निरपेक्ष व भिन्न मानते हुए वस्तु का निर्णय करते हैं, वे कणाद दर्शन के अनुयायी नैगम-नय का अनुसरण करने वाले हैं।

० धर्मिधर्मादीनामेकान्तिकपार्थक्याभिसन्धिः नैगमाभासः। यथा.....वैशेषिकदर्शनम्।

(जै.त.भा.नय परि., पृ. 65–66)

धर्मी व धर्म (द्रव्य व गुण) आदि में एकान्त भेद स्वीकार करने वाला 'नैगमाभास' नय है, जैसे–वैशेषिक दर्शन।

(द्रष्टव्य : मिथ्याश्रुत, सर्वनयात्मक)

व्यञ्जन

० व्यञ्जनं शब्दप्रकाशनम्।

(भ.आ.टी. 112)

शब्द के प्रकाशन को 'व्यंजन' कहा जाता है।

० व्यज्यते प्रकटीक्रियतेऽर्थो येन, दीपेनेव घटः, तद् व्यञ्जनम्।
.....तच्च व्यञ्जनमुपकरणेन्द्रियशब्दादिपरिणत-द्रव्यसम्बन्धः।.....अपरं च, इन्द्रियेणाप्यर्थस्य व्यज्यमानत्वात् तदपि व्यञ्जनमुच्यते। तथा शब्दादिपरिणतद्रव्यनिकुरम्बमपि व्यज्यमानत्वाद् व्यञ्जनमभिधीयते इति।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 194)

जिस प्रकार दीपक से घट प्रकाशित होता है, उसी प्रकार जिससे पदार्थ अभिव्यक्त या प्रकट होता है, वह 'व्यञ्जन' है। वह (व्यञ्जन) है– उपकरण-इन्द्रियों और (उनके विषय) शब्दादि–परिणत द्रव्य–इन दोनों का परस्पर-सम्बन्ध।.....इसके अलावा, इन्द्रियों को भी 'व्यंजन' कहा जाता है, क्योंकि उनके द्वारा भी अर्थ व्यज्यमान (प्रकट) होता है।

साथ ही, जो व्यक्त किया जाता है, उस शब्दादि-परिणत द्रव्य-समूह को भी 'व्यञ्जन' कहा जाता है।

० व्यज्यतेऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जनं वाचकशब्दः।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 2252)

जिससे अर्थ अभिव्यक्त होता है, वह वाचक शब्द 'व्यञ्जन' है।

व्यञ्जननय

० व्यञ्जनभेदेन वस्तुभेदाध्यवसायिनो व्यञ्जननयाः।

(ध. 1, पृ. 87)

व्यंजन (शब्द) के भेद से वस्तु में भेद का निश्चय करने वाले नय 'व्यञ्जननय' कहलाते हैं।

० ऋजुसूत्रवचनविच्छेदोपलक्षितस्य वस्तुनो वाचकभेदेन भेदको व्यञ्जननयः।

(ज.ध. 1, पृ. 203)

वर्तमानकाल से उपलक्षित वस्तु में वाचक शब्द के भेद से भेद करने वाला 'व्यञ्जननय' होता है।

व्यञ्जनपर्याय

० जो सो वंजणपज्जाओ सो जहण्णुक्कस्सेहि अंतोमुहुत्तासंखेज्जलोगमेत्तकलावट्ठाणो अणाइ-अणंतो वा।

(ध. 9, पृ. 243)

जो व्यञ्जनपर्याय है, वह जघन्य और उत्कृष्ट रूप से क्रमशः अन्तर्मुहूर्त और असंख्यात लोकमात्र काल तक रहने वाली अथवा अनादि-अनन्त होती है।

० तिर्यक्सामान्यं तु प्रतिव्यक्तिसदृशपरिणामलक्षणं व्यञ्जनपर्याय एव।

(र.करा. 7/5)

प्रत्येक वस्तु-विशेष में सादृश्य-परिणाम स्वरूप जो व्यंजनपर्याय है, वही तिर्यक्सामान्य है।

० व्यञ्जनं व्यक्तिः प्रवृत्तिनिवृत्तिनिबन्धनं जलानयनाद्यर्थं क्रियाकारित्वम्, तेनोपलक्षितः पर्यायो व्यञ्जनपर्यायः, मृदादेः (यथा) पिण्डस्थासकोश-कुशूल-घट-कपालादयः पर्यायाः।

(न्या.दी. 3/77)

व्यक्ति-अभिव्यक्ति का नाम व्यंजन है, और जो प्रवृत्ति-निवृत्ति में कारणभूत जल के ले आने आदिरूप अर्थक्रियाकारिता है, वह व्यक्ति है, उस व्यक्ति से युक्त पर्याय को 'व्यंजन पर्याय' कहते हैं। अर्थात् जो पदार्थों में प्रवृत्ति और निवृत्तिजनक जलानयन आदि अर्थक्रिया करने में समर्थ पर्याय है, उसे 'व्यंजनपर्याय' कहते हैं। जैसे–मिट्टी आदि का पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल, घट और कपाल आदि पर्याय हैं।

० स्थूलःकालान्तरस्थायी शब्दानां संकेतविषयो व्यञ्जनपर्यायः।

(जै.सि.दी.स्वो.व्या. 1/44)

जो पर्याय स्थूल होती है, कालान्तरस्थायी होती है और जिसे शब्दों के द्वारा बताया जा सकता है, वह 'व्यंजनपर्याय' कहलाती हैं।

व्यञ्जनावग्रह

० न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्।

चक्षुषा नोइन्द्रियेण च व्यञ्जनावग्रहो न भवति।

(त.सू. 1/19; तत्त्व.भा. 1/19)

चक्षुरिन्द्रिय और मन–इनके द्वारा व्यंजनावग्रह नहीं होता है। (अर्थावग्रह ही होता है।)

० एवं श्रोत्रादिष्विन्द्रियेषु शब्दादिपरिणताः पुदगला द्वित्रादिषु समयेषु गृह्यमाणा न व्यक्तीभवन्ति, पुनः पुनरवग्रहे सति व्यक्तीभवन्ति, अतो व्यक्तग्रहणात्प्राग्व्यञ्जनावग्रहः।

(स.सि. 1/18/200)

श्रोत्र आदि इन्द्रियों के द्वारा किये गये शब्दादिरूप पुद्गल स्कन्ध दो-तीन समयों में व्यक्त नहीं होते हैं, किन्तु पुनः-पुनः ग्रहण होने पर व्यक्त हो जाते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि व्यक्त ग्रहण से पहले-पहले व्यंजनावग्रह होता है और व्यक्त ग्रहण का नाम अर्थावग्रह है।. ....'चक्षु और मन को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों का व्यञ्जनावग्रह होता है।

० वंजिज्जइ जेणत्थो घडोव्व दीवेण वंजणं तं च। उवगरणिंदियसद्दाइपरिणयद्दव्वसंबंधो।।

(विशे.भा. 194)

जिस प्रकार दीपक द्वारा घट (पदार्थ) अभिव्यंजित होता है (घट प्रकाशित या प्रकट होता है और दीपक उसमें कारण है), उसी प्रकार जिस (अवग्रह) के द्वारा अर्थ व्यक्त (प्रकाशित) हो, वह व्यंजनावग्रह है। उपकरण-इंद्रियों का शब्दादि (विषयों के रूप में) परिणत द्रव्यों के साथ जो परस्पर सम्बन्ध होता है, वह 'व्यञ्जन' है (उससे अर्थ का प्रकाशन व्यञ्जनावग्रह है)।

० वंजणाणं अवग्गहो वंजणावग्गहो, एत्थ वंजणग्गहणेण सद्दाइपरिणता दव्वा घेत्तव्वा। वंजणे अवग्गहो वंजणावग्गहो, एत्थ वंजणग्गहणेण दव्विंदियं घेत्तव्वं। एतेसिं दोण्ह वि समासाणं इमो अत्थो-जेण करणभूतेण अत्थो वंजिज्जइ तं वंजणं, जहा पदीवेण घडो। एवं सद्दादिपरिणतेहिं दव्वेहि उवकरणिंदियपत्तेहिं चित्तेहिं संबद्धेहिं संपसत्तेहिं जम्हा अत्थो वंजिज्जइ त्ति तम्हा ते दव्वा वंजणावग्गहो भण्णति।

(न.चू. 49, पृ. 35)

व्यञ्जनों का अवग्रह व्यञ्जनावग्रह है। यहां 'व्यंजन' शब्द से शब्दादि परिणत द्रव्यों का ग्रहण करना चाहिए। (अथवा) व्यंजन जो अवग्रह, वह व्यञ्जनावग्रह है। यहां व्यंजन शब्द से द्रव्येन्द्रिय का ग्रहण करना चाहिए। उक्त दोनों प्रकार के समासों में अर्थ इस प्रकार होगा–जिस कारणभूत इन्द्रियों से अर्थ व्यंजित होता है, जैसे प्रदीप द्वारा घट (प्रकट, ज्ञात) होता है, इस प्रकार शब्द आदि परिणत द्रव्य चूंकि उपकरणेन्द्रिय से तथा मन से सम्बद्ध व संप्रसक्त होते हैं, तब अर्थ व्यक्त होता है, इसलिए वे द्रव्य व्यञ्जनावग्रह कहे जाते हैं।

० व्यञ्जनमव्यक्तं शब्दादिजातं तस्यावग्रहो भवति।

(रा.वा. 1/18)

व्यंजन-अव्यक्त शब्दादि पदार्थ, इन्द्रियों से सम्बन्ध होकर अवग्रह (व्यंजनावग्रह) होता है।

० व्यक्तग्रहणमर्थावग्रहः। अव्यक्तग्रहणं व्यञ्जनावग्रहः कथं? अभिनवशरावत्। यथा सूक्ष्मजलकणद्वित्रसिक्तः शरावोऽभिनवो नार्द्रीभवति, स एव पुनः-पुनः सिच्यमानः शनैस्तिम्यति,

तथा आत्मनः शब्दादीनामव्यक्तग्रहणात् प्राक् व्यञ्जनावग्रहः, व्यक्त-ग्रहणमर्थावग्रहः।..... चक्षुर्मनसी वर्जयित्वा शेषाणामिन्द्रियाणां व्यञ्जनावग्रहः।

(रा.वा. 1/18/2)

व्यक्त ग्रहण 'अर्थावग्रह' कहलाता है और अव्यक्त ग्रहण 'व्यंजनावग्रह'। जैसे नया मिट्टी का सकोरा पानी को दो-तीन बिन्दु डालने तक गीला नहीं होता, पर लगातार जल-बिन्दुओं के डालते रहने पर, धीरे-धीरे गीला हो जाता है, उसी तरह व्यक्त ग्रहण के पहले का अव्यक्तज्ञान 'व्यञ्जनावग्रह' है और व्यक्तग्रहण 'अर्थावग्रह'।.....'चक्षु व मन को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों का व्यञ्जनावग्रह होता है।

० पत्तत्थग्गहणं वंजणावग्गहो।

(ध. 6, पृ. 16; ध. 9, पृ. 153)

प्राप्त अर्थात् स्पष्ट अर्थ ग्रहण को 'व्यञ्जनावग्रह' कहते हैं।

० ततश्चेन्द्रियलक्षणेन व्यञ्जनेन शब्दादिपरिणतद्रव्य-संबन्धस्वरूपस्य व्यञ्जनस्याऽवग्रहो व्यञ्जनाऽवग्रहः, अथवा तेनैव व्यञ्जनावग्रहः इत्युभयत्राऽप्येकस्य व्यञ्जनशब्दस्य लोपं कृत्वा समासः।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 194)

इस प्रकार, इन्द्रियरूप व्यंजन से शब्दादिपरिणत द्रव्य के साथ जो व्यंजन रूप सम्बन्ध है, उसका अवग्रहण 'व्यंजनावग्रह' होता है। अथवा, उसी व्यञ्जन से शब्दादिपरिणत द्रव्यरूप व्यंजनों का अवग्रहण 'व्यंजनावग्रह' है। इस प्रकार, (व्यञ्जन से व्यञ्जन का अवग्रहण–इस अर्थ को लें, या व्यंजन से व्यंजनों का अवग्रहण इस अर्थ को लें) उक्त दो व्यंजन पदों में से एक व्यञ्जन पद का लोप मान कर समास किया गया है।

व्यतिरेक

० तत्र व्यतिरेकः स्यात् परस्पराभावलक्षणेन यथा। अंशविभागः पृथगिति सदृशांशानां सतामेव।।

(पं. 1/172)

व्यतिरेक वहां होता है जहां, द्रव्यों के सदृश अंशों में परस्पर के अभाव रूप से पृथक्-पृथक् अंश-विभाग किया जाता है।
(द्रष्टव्य : पर्याय)

व्यतिरेक दृष्टान्त

० साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेक-दृष्टान्तः।

(प.मु. 3/45)

जिस साध्य का अभाव दिखाकर साधन का अभाव दिखाया जाता है, उसे 'व्यतिरेक-दृष्टान्त' कहते हैं।

० साध्याभावे साधनाभावो यत्र वीक्ष्यते, स व्यतिरेकदृष्टान्तः।

(प्र.प्र. 1/20)

साध्य के न होने पर साधन का न होना जिसमें देखा जाय, वह 'व्यतिरेक दृष्टान्त' है।

० व्यतिरेकव्याप्तिप्रदर्शनप्रदेशो व्यतिरेकदृष्टान्तः।

(न्या.दी. 3/32)

जहाँ व्यतिरेक व्याप्ति दिखाई जाती है, उसे 'व्यतिरेक दृष्टान्त' कहते हैं।

० साध्याभावे साधनाभावनिरूपणं व्यतिरेकी।

(भि.न्या. 3/24)

साध्य के अभाव में साधन के अभाव का निरूपण करने वाला दृष्टान्त 'व्यतिरेकी दृष्टान्त' कहलाता है।

(द्रष्टव्य : परार्थानुमान के अवयव)

व्यतिरेकदृष्टान्ताभास के भेद

० असिद्धसाध्यसाधनोभयाः संदिग्धसाध्यसाधनोभया विपरीतव्यतिरेकश्च व्यतिरेकिदृष्टान्ताभासाः।

(भि.न्या. 3/26)

व्यतिरेकी दृष्टान्ताभास के सात प्रकार हैं– 1. असिद्धसाध्य, 2. असिद्ध साधन, 3. असिद्धोभय, 4. संदिग्धसाध्य, 5. संदिग्ध-साधन, 6. संदिग्धोभय, 7. विपरीतव्यतिरेक।

व्यतिरेकव्याप्ति

० - विपक्षे भूयः साध्याभावदर्शने साधनाभावदर्शनेन निश्चिता व्यतिरेकव्याप्तिः।

व्यतिरेकदृष्टान्ताभास के भेद (प्र.प्र. 1/15)

विरुद्ध पक्ष में बार-बार साध्य का अभाव देखने पर साधन का भी अभाव देखने से जिसका निश्चय हो वह 'व्यतिरेक व्याप्ति' होती है।

० व्यतिरेके साध्यसाधनोभयाव्यावृत्ता आश्रयहीना-प्रदर्शितव्याप्तिविपरीतव्याप्तयश्च।

(प्र.प्र. 1/40)

व्यतिरेक दृष्टान्त के आभास छः प्रकार के होते हैं–साध्याव्यावृत्तः, साधनाव्यावृत्त, उभयाव्यावृत्त, आश्रयहीन, अप्रदर्शितव्याप्ति तथा विपरीत व्याप्ति।

व्यतिवृत्ति

० व्यतिवृत्तिः व्यावृत्तिः, सजातीयविजातीयेभ्यः सर्वथा व्यवच्छेदः।

(स्या.मं. 4)

व्यतिवृत्ति का अर्थ है–व्यावृत्ति। सजातीय और विजातीय पदार्थों से सर्वथा अलग होने वाली प्रतीति को 'व्यावृत्ति' अथवा 'विशेष' कहते हैं।

व्यभिचार

० अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं व्यभिचारः।

(रा.वा. 1/12/1)

अतत् को तत् रूप से ग्रहण करना 'व्यभिचार' है।

व्यभिचारी हेत्वाभास

० (द्रष्टव्यः अनैकान्तिक हेत्वाभास)

व्यय

० तथा पूर्वभावविगमनं व्ययः, यथा घटोत्पत्तौ पिण्डाकृतेः।

(स.सि. 5/30/584)

पूर्व अवस्था के त्याग को 'व्यय' कहते हैं, जैसे घट की उत्पत्ति होने पर पिण्डरूप आकार का त्याग।

० पूर्वभावविगमो व्ययनं व्ययः। तेन प्रकारेण तथा स्वजात्यपरित्यागेन इत्यर्थः, पूर्वभावविगमो व्ययनं व्यय इति कथ्यते, यथा घटोत्पत्तौ पिण्डाकृतेः।

(रा.वा. 5/30/2)

पूर्व अवस्था के त्याग को 'व्यय' कहते हैं। जैसे, घट की उत्पत्ति होने पर पिण्ड रूप आकार का त्याग हो जाता है।

० स्वजातेरविरोधेन द्रव्यस्य द्विविधस्य हि।
विगमः पूर्वभावस्य व्यय इत्यभिधीयते।।
(तत्त्वा. 3/7)
अपनी जाति का विरोध न करते हुए, चेतन या अचेतन द्रव्य की पूर्वपर्याय का जो नाश है, वह 'व्यय' कहलाता है।

० भूत्वा चाभवनं व्ययः।
(आ.पु. 24/110)
होकर नहीं (नष्ट) हो जाना–यह 'व्यय' है।
(द्रष्टव्य : उत्पाद, उत्पाद-व्यय)

व्यवसाय

० व्यवसीयते निश्चीयते अन्वेषितोऽर्थोऽनेनेति व्यवसायः।
(ध. 13, पृ. 243)
जिसके द्वारा अन्वेषित अर्थ 'व्यवसीयते' अर्थात् निश्चित किया जाता है, वह 'व्यवसाय' है।

० तत्र निर्णयः संशयाऽनध्यवसायाविकल्पकत्वरहितं ज्ञानम्।
(प्र.मी. 1/1/2)
निर्णय (व्यवसाय) का अर्थ है–संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय व निर्विकल्पता से रहित ज्ञान का होना।
(द्रष्टव्य : अवाय, निर्णय, निश्चय)

व्यवसायात्मकता (ज्ञानगत/प्रमाणगत)

० स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः।
अर्थस्येव तदुन्मुखतया।।
(प.मु. 1/6–7)
ज्ञान जब अपने स्वयं की ओर उन्मुख होकर प्रतिभासित होता है, यही उसका 'स्वव्यवसाय' है, इसे उसी प्रकार समझना चाहिए जिस प्रकार ज्ञान पदार्थ की ओर उन्मुख होता है, तो वही उसका 'पर व्यवसाय' (या अर्थ-व्यवसाय) होता है। (तात्पर्य है कि ज्ञान स्व-व्यवसायात्मक और परव्यवसायात्मक दोनों होता है।)

० स्वमात्मा ज्ञानस्य स्वरूपम्; परः स्वस्मादन्यः, अर्थ इति यावत्; तौ विशेषेण यथाऽवस्थितस्वरूपेण, अवस्यति निश्चिनोतीत्येवंशीलं यत् तत् स्वपरव्यवसायि।
(र.करा. 1/2)
स्व यानी स्वयं ज्ञान का स्वरूप, पर यानी अपने (ज्ञान) से भिन्न पदार्थ–इन दोनों को विशेष करके, अर्थात् जो जैसा है उसे उसी रूप में, जो निश्चयात्मक रूप से जानता है, वह 'स्वपरव्यवसायी' कहलाता है।

० तद् व्यवसायस्वभावम्, समारोपपरिपन्थित्वात् प्रमाणत्वाद् वा।।
तत् प्रमाणत्वेन संमतं ज्ञानम्, व्यवसायस्वभावं निश्चयात्मकमित्यर्थः, समारोपः संशयविपर्ययानध्यवसायस्वरूपः....., तत्परिपन्थित्वं तद्विरुद्धत्वम्, यथावस्थितवस्तुग्राहकत्वमिति यावत्; प्रमाणत्वाद् वा तत् तथाविधम्, वाशब्दो विकल्पार्थः, तेन प्रत्येकमेव अमू हेतू प्रमाणत्वाभिमतज्ञानस्य व्यवसायस्वभावत्वसिद्धौ समर्थावित्यर्थः।
(र.करा. 1/6)
वह (ज्ञानरूप प्रमाण) व्यवसाय स्वभाव वाला है (अर्थात् व्यवसायात्मक है) क्योंकि वह 'समारोप' से विरुद्ध (रहित) होता है और उसमें 'प्रमाणत्व' होता है।

वह अर्थात् प्रमाणरूप से स्वीकृत ज्ञान, व्यवसाय-स्वभावी अर्थात् निश्चयात्मकता लिये हुये होता है। संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय–इन तीनों स्वरूपों वाले समारोप से.....वह परिपन्थी अर्थात् विरुद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि वह जो वस्तु जैसी है उसको उसी रूप में ग्रहण करने वाला होता है। अथवा इसके अतिरिक्त यह भी कारण है कि वह प्रमाणता लिये हुए होता है (अर्थात् प्रमाणत्व वाला होना ही उसकी संशयादिहीनता को प्रमाणित करता है।)। समारोप से विरुद्ध होना और प्रमाणत्व वाला होना–ये दोनों हेतु प्रमाण रूप से स्वीकृत ज्ञान की व्यवसायात्मकता को सिद्ध करने में समर्थ है।

(द्रष्टव्य : समारोप)

व्यवहार

० लौकिकसम उपचारप्रायो विस्तृतार्थो व्यवहारः।

(तत्त्व.भा. 1/35)

लोकव्यवहार के अनुसार उपचरित अर्थ को बताने वाले विस्तृत अर्थ को 'व्यवहार' कहते हैं।

(द्रष्टव्य : सांव्यवहारिक)

व्यवहार नय

० वच्चई विणिच्छियत्थं, ववहारो सव्वदव्वेसु।।

(अनु.सू. 13/715(2))

व्यवहार नय सब द्रव्यों के विनिश्चित अर्थ का अनुगमन करता है।

० लौकिकसम उपचारप्रायो विस्तृतार्थो व्यवहारः। .....तेष्वेव लौकिकपरीक्षकग्राह्येषूपचारगम्येषु यथा स्थूलार्थेषु संप्रत्ययो व्यवहारः। समुदाय-व्यक्त्याकृतिसत्तासंज्ञादिनिश्चयापेक्षम्। लोको-पचारनियतं व्यवहारं विस्तृतं विद्यात्।।

(तत्त्व.भा. 1/35)

लौकिक जनों के समान जो उपचार की बहुलता से कथन किया करता है, वह 'व्यवहार नय' है, (ज्ञेय विषयों की अनेकता के कारण) इसे विस्तृतार्थ भी कहते हैं। लौकिक परीक्षक लोग जिसका व्यवहार में उपचार किया करते हैं और जो उपचारगम्य है, ऐसे स्थूल पदार्थों का जो ज्ञान होता है, वह 'व्यवहार नय' है। समुदाय, व्यक्ति, आकृति, सत्ता, संज्ञा आदि से सम्बन्धित विषयों के निश्चय की अपेक्षा रखते हुए प्रवृत्त होने वाले अध्यवसाय को 'व्यवहार नय' कहते हैं और (उपचरित व अनुपचरित–दोनों ही प्रकार के पदार्थों का आश्रय लेने के कारण) यह 'विस्तृत' कहलाता है।

० संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः।

(स.सि. 1/33/244)

संग्रह नय के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थों का विधिपूर्वक अवहरण अर्थात् भेद करना 'व्यवहार नय' है।

० वच्चई विणिच्छियत्थं ववहारो सव्वदव्वेसु।

(विशे.भा. 2183)

व्यवहार नय समस्त द्रव्यों में विनिश्चित लोकव्यवहारानुरूप अर्थ को कहता है।

० ववहरणं ववहरए स तेण व वहीरए व सामन्नं। ववहारपरो व जओ विसेसओ तेण ववहारो।।

(विशे.भा. 2212)

व्यवहरण व्यवहार होता है, या जो व्यवहार करता है, वह व्यवहार है, जिससे विशेषतया सामान्य का अवहरण अर्थात् निराकरण किया जाता है, वह व्यवहार है। जिससे लोक विशेषतया व्यवहार-तत्पर होता है, अतः वह नय व्यवहार नय है।

० अतो विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः। एतस्माद् अतः। कुतः। संग्रहात् संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः। को विधिः? संग्रह-गृहीतोऽर्थस्तदानुपूर्व्येणैव व्यवहारः प्रवर्तते इत्ययं विधिः।

(रा.वा. 1/33/6)

(इसलिए) विधिपूर्वक अवहरण (भेद करना) व्यवहार है, इस व्यवहार के कारण वह नय व्यवहार नय है। कैसे ? (उत्तर) संग्रह नय से आक्षिप्त (गृहीत) पदार्थ के भेद रूप से जो वस्तु में भेद करता है, वह 'व्यवहार' नय है। विधि से क्या तात्पर्य है ? संग्रहनय द्वारा गृहीत जैसा अर्थ है, उसकी आनुपूर्वी के साथ व्यवहार किया जाना–इसे विधि कहते हैं।

० संग्रहेण गृहीतानामर्थानां विधिपूर्वकः।
योऽवहारो विभागः स्याद्व्यवहारो नयः स्मृतः।।

(तत्त्व.श्लो. 1/33/58)

संग्रह नय द्वारा गृहीत पदार्थों का विधिपूर्वक अवहार यानी विभाग करना–है व्यवहार नय माना गया है।

० संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं भेदनं व्यवहारः, व्यवहारपरतन्त्रो व्यवहारनय इत्यर्थः।

(ध. 1, पृ. 85)

संग्रह नय से ग्रहण किये गये पदार्थों के विधिपूर्वक अवहरण करने को अर्थात् भेद करने को 'व्यवहार' कहते हैं। उस व्यवहार के अधीन चलने वाले नय को 'व्यवहार नय' कहते हैं।

० संग्रहेण गृहीतानामर्थानां विधिपूर्वकः।
व्यवहारो भवेद्यस्माद् व्यवहारनयस्तु सः।।

(तत्त्वा. 1/46)

संग्रह नय के द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थों में विधिपूर्वक भेद करना 'व्यवहार नय' है।

० संग्रहेण गृहीतार्थस्य भेदरूपतया वस्तु व्यवह्रियत इति व्यवहारः।

(आ.प. 198)

संग्रह नय से ग्रहण किये हुए पदार्थ को भेद रूप से व्यवहार करता है, ग्रहण करता है, वह 'व्यवहार नय' है।

० संग्रहगृहीतार्थानां बिधिपूर्वकमवहरणं विभाजनं भेदेन प्ररूपणं व्यवहारः।

(प्र.क.मा. 6/74)

संग्रहनय द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थों में विधिपूर्वक विभाग करना–भेद रूप से प्ररूपण करना 'व्यवहारनय' है।

० जं संगहेण गहिदं विसेस-रहिदं पि भेददे सददं।
परमाणूपज्जंतं ववहार-णओ हवे सो हु।।

(कार्ति. 273)

जो नय संग्रह के द्वारा अभेद रूप से गृहीत वस्तुओं का परमाणुपर्यन्त भेद करता है, वह 'व्यवहार' नय है।

० व्यवहरणं व्यवहारः, व्यवहरति स इति वा व्यवहारः। विशेषतोऽवह्रियते निराक्रियते सामान्यं तेन इति व्यवहारः। लोको व्यवहारपरो वा विशेषतो यस्मात् तेन व्यवहारः इति।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 2212)

व्यवहार में आना 'व्यवहार' है। या जो व्यवहार करता है, वह 'व्यवहार' है। जिससे विशेष के ग्रहण द्वारा सामान्य का अवहरण-निराकरण किया जाता है, वह (भी) 'व्यवहार' है। चूंकि जिसके कारण लोग विशेष रूप से व्यवहार करते हैं, इसलिए इसे 'व्यवहार नय' कहा जाता है।

० जं संगहेण गहियं भेयइ अत्थं असुद्ध सुद्धं वा। सो ववहारो।।

(बृ.न.च. 209)

जो संग्रह नय के द्वारा गृहीत शुद्ध अथवा अशुद्ध अर्थ का भेद करता है, वह व्यवहार-नय है।

० संग्रहेण गोचरीकृतानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं येनाभिसन्धिना क्रियते स व्यवहारः। यथा यत् सत् तद् द्रव्यं पर्यायो वा।

(स्या.मं. 28; जै.त.भा.नय परि., पृ. 61)

संग्रहनय के विषयभूत पदार्थों में विधिपूर्वक भेद करने वाला अभिप्राय 'व्यवहार नय' है। यथा जो सत् है वह या तो द्रव्य होता है या पर्याय।

० लोकप्रसिद्धार्थानुवादपरो व्यवहारः।

(भि.न्या. 5/19)

लोकप्रसिद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने वाले विचार को 'व्यवहार नय' कहा जाता है।

० भेदग्राही व्यवहारः।

(भि.न्या. 5/8)

भेदग्राही (विशेषग्राही) विचार को 'व्यवहार नय' कहा जाता है।

० लोकप्रतीतार्थाम्नायी व्यवहारः। यथा–भ्रमरः कृष्णवर्णः।

(जै.सि.दी.स्वो.व्या. 9/26)

लोकप्रसिद्ध अर्थ को मानने वाले विचार को 'व्यवहार नय' कहते हैं, जैसे–भौंरा काला है।

व्यवहार (अध्यात्म) नय

० व्यवहारनयो भिन्नकर्तृकर्मादिगोचरः।

(तत्त्व.अनु. 29)

जिसमें कर्ता, कर्म आदि का व्यक्तित्व एक दूसरे से भिन्न होता है, वह 'व्यवहार नय' होता है।

० .....व्यवहारो भेदविषयः।

(आ.प. 216)

व्यवहार नय भेद को विषय करता है।

व्यवहार (अध्यात्म) नय के भेद

० व्यवहारोऽपि द्वेधा।।

सामान्यसंग्रहभेदको व्यवहारो यथा द्रव्याणि जीवाजीवाः।

विशेषसंग्रहभेदको व्यवहारो यथा जीवाः संसारिणो मुक्ताश्च।।

(आ.प. 71–72)

व्यवहार नय भी दो प्रकार का है–1. सामान्य और 2. विशेष।

सामान्यसंग्रह नय के विषयभूत पदार्थ में भेद करने वाला सामान्यसंग्रहभेदक व्यवहारनय है। जैसे द्रव्य के दो भेद हैं–जीव और अजीव।

विशेषसंग्रहनय के विषयभूत पदार्थ को भेदरूप से ग्रहण करने वाला विशेषसंग्रहभेदक व्यवहार नय है, जैसे–जीव के संसारी और मुक्त–ऐसे दो भेद करना।

० व्यवहारो द्विविधः सद्भूतव्यवहारोऽसद्भूत-व्यवहारश्च।

(आ.प. 220)

सद्भूतव्यवहार नय और असद्भूतव्यवहार नय के भेद से व्यवहार नय दो प्रकार का होता है।

० दुविहो असुद्धसुद्धत्थभेयकरो।

(बृ.न.च. 209)

व्यवहार नय (अध्यात्म) के दो भेद हैं–अशुद्ध अर्थ का भेद करने वाला और शुद्ध अर्थ का भेद करने वाला।

(द्रष्टव्यः नय)

व्यवहारनयाभास

० कल्पनारोपितद्रव्यपर्यायप्रविभागमभिप्रैति स व्यवहाराभासः।

(प्र.क.मा. 6/74)

जो कवेल कल्पनामात्र से आरोपित द्रव्य पर्यायों में विभाग करता है, वह 'व्यवहाराभास' है।

० यः पुनरपारमार्थिकद्रव्यपर्यायविभागमभिप्रैति स व्यवहाराभासः।। यथा–चार्वाकदर्शनम्।।

(प्र.न.त. 7/25)

जो नय द्रव्य और पर्याय का अवास्तविक भेद स्वीकार करता है, वह 'व्यवहारनयाभास' है। जैसे–चार्वाक दर्शन।

० काल्पनिको भेदस्तदाभासः।

(प्र.र.मा. 6/74)

जैसा भेद संभव नहीं है, उस प्रकार के काल्पनिक भेद का निरूपण करना, यह 'व्यवहारनयाभास' का लक्षण है।

व्याख्यावाद

० (द्रष्टव्य : वाद के भेद)

व्याप्ति

० व्याप्तिर्हि साध्यसाधनयोरविनाभावः।

(न्या.कु. 3/10)

साध्य और साधन में जो अविनाभाव होता है, उसका नाम 'व्याप्ति' है।

० व्याप्तिर्व्यापकस्य व्याप्ये सति भाव एव व्याप्यस्य वा तत्रैव भावः।।

(प्र.मी. 1/2/6)

व्यापक का व्याप्य के होने पर होना ही, अथवा व्याप्य का व्यापक के होने पर ही होना 'व्याप्ति है।

० साधनसामान्यस्य साध्यसामान्येन अव्यभिचारः सम्बन्धो व्याप्तिः।

(प्र.प्र. 1/15)

साधन के सामान्य स्वरूप का साध्य के सामान्य स्वरूप से कभी न बदलने वाला जो सम्बन्ध होता है उसे 'व्याप्ति' कहते हैं।

० त्रिकालीकलितयोः कालत्रयीवर्त्तिनोः साध्य-साधनयोर्गम्यगमकयोः सम्बन्धोऽविनाभावो व्याप्ति-रित्यर्थः।

(र.करा. 3/7)

साध्य और साधन तथा सम्बन्ध और सम्बन्धी में जो त्रिकालवर्ती अविनाभाव होता है, उसे 'व्याप्ति' कहते हैं।

० व्याप्तिर्हि साध्ये वह्न्यादौ सत्येव साधनं धूमादिरस्ति, असति तु नास्तीति साध्यसाधननियमसाहचर्यलक्षणा। एतामेव साध्यं विना साधनस्याभावादविनाभावमिति च व्यपदिशन्ति।

(न्या.दी. 3/64)

साध्य अग्नि आदि के होने पर ही साधन धूमादिक होते हैं तथा उनके नहीं होने पर नहीं होते, इस प्रकार के साहचर्य रूप साध्य-साधन के नियम को 'व्याप्ति' कहते हैं। इस व्याप्ति को ही–साध्य के बिना साधन के न होने से– 'अविनाभाव' कहते हैं।

० व्याप्तित्वं साहचर्यस्य नियमः स यथा मिथः। सति यत्र यः स्यादेव न स्यादेवासतीह यः।।

(पं. 2/890)

परस्पर में साहचर्य सम्बन्ध का नाम 'व्याप्ति' है, जैसे जिसके होने पर जो होता ही है और जिसके नहीं होने पर जो नहीं ही होता है।

० साध्यसाधनयोर्नित्यसम्बन्धः व्याप्तिः।

(जै.सि.दी.स्वो.व्या. 9/13)

साध्य और साधन के नित्य सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं।

व्याप्ति के भेद

० अन्वयो व्याप्तिरभिधीयते। सा च त्रिधा-बहिर्व्याप्तिः, साकल्यव्याप्तिः, अन्तर्व्याप्तिश्चेति।

(प्र.क.मा. 3/15)

अन्वय को व्याप्ति कहते हैं। वह तीन प्रकार की होती है–1. बहिर्व्याप्ति, 2. साकल्य व्याप्ति, और 3. अन्तर्व्याप्ति।

० पक्षीकृत एव विषये साधनस्य साध्येन व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिः, अन्यत्र तु बहिर्व्याप्तिः।।
यथाऽनेकान्तात्मकं वस्तु सत्त्वस्य तथैवोपपत्तेरिति; अग्निमानयं देशो धूमवत्त्वात्, य एवं स एवं, यथा पाकस्थानमिति च।।

(प्र.न.त. 3/38–39)

पक्ष में ही साधन की साध्य के साथ व्याप्ति होना–यह 'अन्तर्व्याप्ति' है और पक्ष के बाहर व्याप्ति होना–यह 'बहिर्व्याप्ति' है।
(अन्तर्व्याप्ति) जैसे वस्तु अनेकान्त रूप है, क्योंकि वह सत् है, और (बहिर्व्याप्ति) यह स्थल अग्निवाला है, क्योंकि धूमवान् है, जो जो धूमवान् होता है, वह वह अग्निवाला होता है, जैसे–पाकशाला।

० सा चान्वयव्यतिरेकभेदात् द्वेधा।

(प्र.प्र. 1/15)

वह (व्याप्ति) दो प्रकार की हैं–अन्वय तथा व्यतिरेक।

व्याप्तिज्ञान

० (द्रष्टव्य : तर्क)

व्यावृत्ति

० व्यावृत्तिर्हि विवक्षितपदार्थे इतरपदार्थप्रतिषेधः।

(स्या.मं. 14)

विवक्षित पदार्थ में दूसरे पदार्थ के निषेध करने को 'व्यावृत्ति' कहा जाता है।

श

शब्द

० सद्दो खंधप्पभवो खंधो परमाणुसंगसंधादो।
पड्डेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादगो णियदो।।

(पंचा. 79)

शब्द स्कन्ध से उत्पन्न होता है, और अनन्त परमाणुओं के मिलाप का समूह यानी स्कन्ध होता है। उन स्कन्धों का परस्पर स्पर्श (टकराहट) होने पर निश्चित अन्य (शब्दयोग्य) वर्गणाओं को शब्दायमान करने वाला 'शब्द' उत्पन्न होता है।

० शपत्यर्थमाह्वयति प्रत्याययतीति शब्दः।

(रा.वा. 1/33/8)

जो शपन करता है, अर्थात् आमंत्रित करता है, या प्रतीति कराता है, वह 'शब्द' है।

० शब्दप्रमाणकाश्च वयमर्थाधिगमे।

(रा.वा. 4/42/15)

हम (जैन) अर्थ-ज्ञान में शब्द को प्रमाण (आधार) मान कर चलते हैं (वही अर्थ प्रमाण है, जो शब्द से सम्बद्ध है, असम्बद्ध नहीं)।

० यदा द्रव्यं प्राधान्येन विवक्षितं तदेन्द्रियेण द्रव्यमेव सन्निकृष्यते, न ततो व्यतिरिक्ताः स्पर्शादयः केचन सन्तीति एतस्यां विवक्षायां कर्मसाधनत्वं शब्दस्य युज्यत इति, शब्द्यत इति शब्दः। यदा तु पर्यायः प्राधान्येन विवक्षितस्तदा भेदोपपत्तेः औदासीन्यावस्थितभावकथनाद्भावसाधनः शब्दः, शब्दनं शब्द इति।

(ध. 1, पृ. 249–250)

जिस समय प्रधान रूप से द्रव्य विवक्षित होता है, उस समय इन्द्रियों के द्वारा द्रव्य का ही ग्रहण होता है। उससे भिन्न स्पर्शादिक कोई वस्तु नहीं है। इस विवक्षा में शब्द के कर्म-साधनपना बन जाता है। जैसे–'शब्द्यते' अर्थात् जो ध्वनिरूप है, वह शब्द है। तथा जिस समय प्रधान रूप से पर्याय विवक्षित होती है, उस द्रव्य से पर्याय का भेद सिद्ध हो जाता है। अतएव उदासीन रूप से अवस्थित भाव का कथन किये जाने से शब्द भावसाधन भी है। जैसे–'शब्दनम् शब्दः' अर्थात् ध्वनिरूप क्रिया धर्म को 'शब्द' कहते हैं।

० इह हि बाह्यश्रवणेन्द्रियावलम्बितो भावेन्द्रिय-परिच्छेद्यो ध्वनिः शब्दः।

(पंचा.त.प्र. 79)

द्रव्यकरणेन्द्रिय के आधार से भावकर्णेन्द्रिय के द्वारा जो ध्वनि सुनी जाय, उसे 'शब्द' कहते हैं।

० स खलु स्वरूपेणानन्तपरमाणूनामेकस्कन्धो नाम पर्यायः। बहिरङ्गसाधनीभूतमहास्कन्धेभ्यः तथा-विधपरिणामेन समुत्पद्यमानत्वात् स्कन्धप्रभवः। यतो हि परस्पराभिहतेषु महास्कन्धेषु शब्दः समुपजायते। किंच, स्वभावनिर्वृत्ताभिरेवानन्त-परमाणुमयीभिः शब्दयोग्यवर्गणाभिरन्योन्यमनुप्रविश्य समन्त-तोऽभिव्याप्य पूरितेऽपि सकले लोके यत्र बहिरङ्गकारणसामग्री समुदेति, तत्र तत्र ताः शब्दत्वेन स्वयं व्यपरिणमनो इति शब्दस्य नियतमुत्पाद्यत्वात् स्कन्धप्रभवत्वमिति।

(पंचा.त.प्र. 79)

वह शब्द स्वरूपतः अनन्त परमाणुओं से बना एक स्कन्ध नामक पर्याय होता है। बहिरंग साधन के रूप में अवस्थित महास्कन्धों से

शब्दात्मक परिणाम के रूप में यह उत्पन्न होता है, इसलिए यह स्कन्धों से उत्पन्न कहा जाता है। क्योंकि जब परस्पर महास्कन्धों का संघट्ट होता है, तब शब्द की उत्पत्ति होती है और स्वभाव ही से उत्पन्न अनन्त परमाणुओं का पिंड ऐसी शब्दयोग्य वर्गणायें परस्पर मिल कर इस लोक में सर्वत्र (फैल) रही हैं। जहां–जहां शब्द के उत्पन्न करने में बाह्य सामग्री का संयोग मिलता है, वहां-वहां वे शब्द-योग्य वर्गणाएं स्वयमेव ही शब्दरूप होकर परिणमित हो जाती हैं। अतः शब्द निश्चय से पुद्गल-स्कन्धों से ही उत्पन्न होता है।

० शब्दपर्यायस्याश्रयो भाषावर्गणा; न पुनराकाशम्।
(स्या.मं. 14)

शब्द-पर्याय का आश्रय (पौद्गलिक) भाषावर्गणाएं होती हैं, आकाश नहीं।

शब्द के भेद

० छव्विहो तद-विदद-घण-सुसिर-घोस-भासभेएण।
(ध. 13, पृ. 221)

शब्द के छह प्रकार हैं–तत, वितत, घन, सुषिर, घोष और भाषा।

० साक्षरोऽनक्षरश्चैव शब्दो भाषात्मको द्विधा।
प्रायोगिको वैस्रसिको द्विधाऽभाषात्मकोऽपि च।।
(तत्त्वा. 3/63)

शब्द भाषात्मक और अभाषात्मक भेद से दो प्रकार का है। उनमें भाषात्मक शब्द साक्षर और अनक्षर के भेद से दो प्रकार का है। संस्कृत, प्राकृतादि भाषारूप जो शब्द हैं, वे साक्षर शब्द कहलाते हैं तथा द्वीन्द्रियादिक जीवों के जो शब्द हैं वे अनक्षर शब्द हैं। अभाषात्मक शब्द भी प्रायोगिक और वैस्रसिक के भेद से दो प्रकार का होता है। मनुष्य के प्रयत्न से उत्पन्न भेरी, वीणा, बांसुरी तथा घंटा आदि का जो शब्द है, वह वैस्रसिक है।

० स च शब्दः किंविशिष्टः?
भाषात्मको भाषारहितश्चेति, भाषात्मको द्विविधोऽक्षरात्मकोऽनक्षरात्मकश्चेति। अक्षरात्मकः संस्कृतप्राकृतादिरूपेणार्यम्लेच्छभाषाहेतुः, अनक्षरात्मको द्वीन्द्रियादिशब्दरूपो दिव्यध्वनिरूपश्च। इदानीमभाषात्मकः कथ्यते। सोऽपि द्विविधो प्रायोगिको वैस्रसिकश्चेति। प्रायोगिकस्तु तत-विततं घनसुषिरादिः। तथा चोक्तं–"ततं वीणादिकं ज्ञेयं विततं पटहादिकं घनं तु कंसतालादि सुषिरं वंशादिकं विदुः।"
(पंचा.ता.वृ. 79)

वह शब्द किस विशेषता वाला है? ... अथवा वही शब्द भाषा व अभाषा के भेद से दो प्रकार का है। उनमें से भाषात्मक शब्द अक्षर व अनक्षर के भेद से दो प्रकार का है। संस्कृत, प्राकृत, आर्य, म्लेच्छादि भाषादि रूप जो शब्द हैं, वे सब अक्षरात्मक हैं। और द्वीन्द्रियादिक जीवों के शब्द तथा केवली की दिव्य ध्वनि अनक्षरात्मक शब्द हैं। अभाषात्मक शब्दों के भी दो भेद हैं–एक प्रायोगिक, दूसरा वैस्रसिक। प्रायोगिक तत, वितत, घन, सुषिरादि रूप होते हैं। तत शब्द उसे कहते हैं जो वीणादि से उत्पन्न हैं। वितत शब्द ढोल आदि से उत्पन्न होते हैं। और घन शब्द झांझ व करताल आदि से उत्पन्न होते हैं। फूंककर बजाये जाने वाले वंशी आदि वाद्यों के शब्द

सुषिर होते हैं। जो मेघादि से उत्पन्न होते हैं, वे वैस्रसिक अभाषात्मक शब्द होते हैं।

शब्ददोष के भेद

० अपशब्दापप्रयोगानन्वयदुरन्वयाप्रसिद्धपदानीति शब्ददोषाः पंच।

(प्र.प्र. 1/86)

शब्द के दोष पाँच प्रकार के हैं–अपशब्द, अपप्रयोग (गलत प्रयोग), अनन्वय (असंबद्ध प्रयोग), दुरन्वय (जिसका सम्बन्ध समझना कठिन हो वह प्रयोग) तथा अप्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग।

शब्दनय

० यथार्थाभिधानं शब्दः।

(तत्त्व.भा. 1/35)

जैसा पदार्थ का स्वरूप है, तदनुरूप ही उसका कथन करना 'शब्दनय' है।

० लिङ्गसंख्यासाधनादिव्यभिचारनिवृत्तिपरः शब्दनयः।

(स.सि. 1/33/246; रा.वा. 1/33/9)

लिंग, संख्या और साधन आदि के व्यभिचार की निवृत्ति करने वाला 'शब्द नय' है।

० इच्छइ विसेसियतरं पच्चुपन्नं नयो सद्दो।

(विशे.भा. 2184)

(ऋजुसूत्र नय की विषयभूत) प्रत्युत्पन्न (वर्तमान क्षणभावी) वस्तु को और भी विशेष रूप से शब्द नय विषय करता है।

० सवणं सपइ स तेणं व सप्पए वत्थु जं तओ सद्दो।
तस्सत्थपरिग्गहओ नओ वि सद्दो त्ति हेउव्व।।

(विशे.भा. 2227)

वस्तु का जो आह्वान है या जिसके द्वारा वस्तु का आह्वान किया जाता है, या जो वस्तु का आह्वान करता है, वह 'शब्द' है, उस 'शब्द' के वाच्य अर्थ को ग्रहण करने वाला नय 'शब्द नय' है। (उपचार से) उसका हेतु (वाचक) शब्द भी 'नय' है।

० स (शब्दः) च लिंगसंख्यासाधनादिव्यभिचार-निवृत्तिपरः। लिगं स्त्रीत्वपुंस्त्वनपुंसकत्वानि, संख्या एकत्वद्वित्वबहुत्वानि। साधनमस्मदादि। एवमादीनां व्यभिचारो न न्याय्य इति तन्निवृत्तिपरोऽयं नयः।

(रा.वा. 1/33/9)

वह शब्दनय लिंग, संख्या, साधन आदि से सम्बन्धित विचार की निवृत्ति करता है (अर्थात् उसकी दृष्टि में ये व्यभिचार हो ही नहीं सकते)। स्त्रीत्व, पुंस्त्व व नपुंसकत्व–ये लिंग हैं। एकवचन, द्विवचन, बहुवचन–ये संख्या हैं। 'मैं' (उत्तम पुरुष) आदि साधन हैं। इन प्रभृतियों का व्यभिचार न्यायोचित नहीं है, अतः उन व्यभिचारों की निवृत्ति करने वाला यह नय होता है।

० कालादिभेदतोऽर्थस्य भेदं यः प्रतिपादयेत्।
सोत्र शब्दनयः शब्दप्रधानत्वादुदाहृतः।।

(तत्त्व.श्लो. 1/33/68)

जो नय काल, कारक, लिंग आदि के भेद से अर्थ के भेद को समझा देता है, वह नय यहाँ शब्द की प्रधानता से 'शब्द नय' कहा गया है। (अर्थात्–शब्द के वाच्य अर्थ पर दृष्टि कराने की अपेक्षा यह शब्द नय है।)

० शब्दपृष्ठतोऽर्थग्रहणप्रवणः शब्दनयः।

(ध. 1, पृ. 87–88)

शब्द के आधार से अर्थ के ग्रहण करने में समर्थ 'शब्दनय' होता है।

० शपत्यर्थमाह्वयति प्रत्याययतीति शब्दः। लिंग-सङ्ख्या-काल-कारक-पुरुषोपग्रहव्यभिचार-निवृत्तिपरोऽयं नयः।

(ज.ध. 1, पृ. 213)

'शपति' अर्थात् जो पदार्थ को बुलाता है अर्थात् उसे कहता है या उसका निश्चय कराता है, उसे 'शब्दनय' कहते है। यह शब्दनय लिंग, संख्या, काल, कारक, पुरुष और उपग्रह के व्यभिचार को दूर करता है।

० लिङ्गसाधनसंख्यानां कालोपग्रहयोस्तथा।
व्यभिचारनिवृत्तिः स्याद्यतः शब्दनयो हि सः।।

(तत्त्वा. 1/48)

जिसमें लिंग, साधन, संख्या, काल और उपग्रह के व्यभिचार की निवृत्ति होती है, वह 'शब्द' नय है।

० शब्दनयो यथा दाराः भार्या कलत्रं जलम् आपः।

(आ.प. 77)

शब्द नय जैसे–द्वारा, भार्या कलत्र अथवा जल व आप एकार्थवाची हैं।

० शब्दात् व्याकरणात् प्रकृतिप्रत्ययद्वारेण सिद्धः शब्दः शब्दनयः।

(आ.प. 200)

जो नय शब्द अर्थात् व्याकरण से प्रकृति और प्रत्यय के द्वारा सिद्ध अर्थात् निष्पन्न शब्द को मुख्यतया विषय करता है, वह 'शब्दनय' है।

० कालकारकलिंगसंख्या-साधनोपग्रहभेदभिन्नमर्थं शपतीति शब्दो नयः, शब्दप्रधानत्वात्।

(प्र.क.मा. 6/74)

काल, कारक, लिंग, संख्या, साधन और उपग्रह के भेद से जो भिन्न अर्थ को कहता है, वह 'शब्द नय' है, इसमें शब्द की ही प्रधानता है।

० शप आक्रोशे, शपनमाह्वानमिति शब्दः, शपति इति वा आह्वयति इति शब्दः, शप्यते वा आहूयते वस्तु अनेन इति शब्दः। तस्य शब्दस्य यो वाच्योऽर्थः, तत्परिग्रहात् तत्प्रधानत्वाद् नयोऽपि शब्दः।.....शब्दवाच्यार्थपरिग्रहाद् उपचारेण नयोऽपि शब्दो व्यपदिश्यते इति भावः।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 2227)

शप् धातु का आक्रोश (जोर से बोलकर बुलाना) अर्थ होता है। जोर से बुलाना, आह्वान करना– यह शब्द का अर्थ है। अथवा जो जोर से बुलाता या आह्वान करता है, वह 'शब्द' है। अथवा जिसके द्वारा जोर से बुलाया जाता है या आह्वान किया जाता है, वह शब्द है। उस 'शब्द' का जो वाच्य अर्थ होता है, उसका परिग्रह करने तथा उसे प्रधानता देने के कारण 'शब्द' एक नय भी है।. ....शब्द वाच्य अर्थ का ग्राहक होने से उपचार से नय को 'शब्द' भी कहा जाता है।

० तदेव ऋजुसूत्रनयस्य मतमभीष्टं वर्तमानं वस्तु इच्छति असौ शब्दनयः।.....
यद् यस्मात् पृथुबुध्नोदराद्याकारकलितं मृन्मयं जलाहरणादिक्रियाक्षमं प्रसिद्धघटरूपं भावघटमेवेच्छत्यसौ, न तु शेषान् स्थापना द्रव्यरूपांस्त्रीन् घटानिति।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 2228)

जो ऋजुसूत्र नय को मान्य या अभीष्ट वर्तमान वस्तु होती है, उसे ही शब्दनय चाहता है (विषय करता है)।.....चूंकि 'पृथुबुध्नोदर' (मोटे–फैले हुए पेट वाले) आदि प्रसिद्ध घड़े रूप भावघट को ही वह नय अपनाता है, शेष नामघट, स्थापनाघट व द्रव्यघट –इन तीन रूपों को नहीं अपनाता है।

० प्रत्युत्पन्नः ऋजुसूत्रस्य अविशेषित एव सामान्येन कुम्भोऽभिप्रेतः, शब्दनयस्य तु स एव सद्भावादिभिः विशेषिततरः अभिमतः..तदेवं स्याद्वाददृष्टं सप्तभेदं घटादिकमर्थं यथाविवक्षम् एकेन केनापि भंगकेन विशेषिततरमसौ शब्दनयः प्रतिपद्यते, नयत्वाद्, ऋजुसूत्राद् विशेषिततर-वस्तुग्राहित्वाच्च.....।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 2231–32)

जहां ऋजुसूत्र नय को प्रत्युत्पन्न (वर्तमान-कालीन) एवं विशेषरहित घट (आदि) अभिप्रेत होता है, वहां शब्दनय को (वही घट) सत्त्व (असत्त्व, अवक्तव्य) आदि (धर्मों) से विशेषता को प्राप्त अभिमत (स्वीकृत) होता है।

.....इस प्रकार, स्याद्वाद (व सप्तभंगी) द्वारा दर्शित सात भेदों वाले (सत्, असत्, अवक्तव्य, सत् अवक्तव्य, असत्-अवक्तव्य व सत्-असत्-अवक्तव्य) घट आदि अर्थों में से किसी एक भंग से विशेषता को प्राप्त (घट आदि) को शब्द नय प्रतिपादित करता है, क्योंकि वह एक नय है और ऋजुसूत्र की अपेक्षा अधिक विशेषता को प्राप्त वस्तु का ग्राहक होता है।

० कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेदं प्रतिपद्यमानः शब्दः।। यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादिः।।

(प्र.न.त. 7/32–33)

काल आदि के भेद से वाच्य अर्थ में भेद मानने वाला नय 'शब्द नय' कहलाता है। जैसे–सुमेरु था, सुमेरु है, सुमेरु होगा।

० शब्दस्तु रूढितो यावन्तो ध्वनयः कस्मिंश्चिदर्थे प्रवर्तन्ते।

(स्या.मं. 28)

रूढि से सम्पूर्ण शब्दों के एक अर्थ में प्रयुक्त होने को 'शब्द नय' कहते हैं।

० कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेदं प्रतिपद्यमानः शब्दः। कालकारकलिङ्गसङ्ख्यापुरुषोपसर्गाः कालादयः। तत्र बभूव, भवति, भविष्यति सुमेरुरित्यत्रातीतादिकालभेदेन सुमेरोर्भेदप्रतिपत्तिः, करोति क्रियते कुम्भ इत्यादौ कारकभेदेन, तटस्तटी तटमित्यादौ लिङ्गभेदेन, दाराः कलत्रमित्यादौ संख्याभेदेन, यास्यसि त्वम्, यास्यति भवानित्यादौ पुरुषभेदेन, सन्तिष्ठते, अवतिष्ठते इत्यादावुपसर्गभेदेन।

(जै.त.भा.नय परि., पृ. 61)

काल, कारक, लिंग, वचन, पुरुष और उपसर्ग (प्र, पर, सम् आदि) का भेद होने से जो शब्द के अर्थ में भेद स्वीकार करता है, वह 'शब्द नय' कहलाता है। यथा–1. काल भेद-सुमेरु था, है और होगा, यहाँ अतीत, वर्तमान और भविष्यत् काल के भेद से यह नय सुमेरु को भिन्न-भिन्न मानता है। 2. कारक भेद-कुम्हार घट को बनाता है, कुम्हार के द्वारा घट बनाया जाता है; यहाँ कर्तृकारक और करणकारक के भेद से घट में भेद मानता है। 3. लिंगभेद–तट, तटी (या पोथा, पोथी), यहाँ पुलिंग और स्त्रीलिंग के भेद से तट और तटी में

भेद मानता है। 4. वचन भेद–'दारा' शब्द बहुवचनान्त है और 'कलत्रम्' एकवचनान्त है। यद्यपि दारा और कलत्र शब्द एक ही अर्थ पत्नी के वाचक हैं, मगर वचन-भेद के कारण यह नय दोनों का अर्थ पृथक्-पृथक् मानता है। 5. पुरुष भेद–'यास्यसि त्वम्, यास्यति भवान्' यहाँ मध्यमपुरुष और प्रथमपुरुष के भेद से यह नय भेद मानता है। 6. उपसर्ग भेद–'सन्तिष्ठते' 'अवतिष्ठते' इत्यादि पदों में मूलधातु एक ही होने पर भी 'सम' और 'अव' उपसर्गों के भेद के कारण शब्द नय अर्थ में भेद स्वीकार करता है।

० अन्त्यास्तु त्रयः प्राधान्येन शब्दगोचरत्वाच्छब्दनयाः।

(जै.त.भा.नय.परि., पृ. 63)

इन सात नयों में अंतिम तीन नय (शब्द, समभिरूढ़ व एवंभूत) शब्द नय हैं, क्योंकि वे मुख्य रूप से शब्द के सम्बन्ध में विचार करते हैं।

शब्द नय (नय–समूह) और उसके भेद

० (आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ।।)

शब्दः त्रिभेदः–साम्प्रतः समभिरूढ एवम्भूत इति। .....नामादिषु प्रसिद्धपूर्वाच्छब्दादर्थे प्रत्ययः साम्प्रतः। सत्स्वर्थेष्वसंक्रमः समभिरूढः। व्यञ्जनार्थयोरेवम्भूत इति।

(त.सू. 1/35, श्वे.)

(आद्य अर्थात् नैगम नय और शब्द नय–इनके क्रम से दो और तीन भेद होते हैं।।)

शब्द नय के तीन भेद हैं–साम्प्रत, समभिरूढ, एवंभूत।

... नाम आदि (चार निक्षेपों) में न्यस्त हुए किसी भी पदार्थ का जिस शब्द के साथ वाच्य-वाचक सम्बन्ध पहले से ही ज्ञात है, उस शब्द द्वारा ज्ञान होना 'साम्प्रत' नय है। घर आदि वर्तमान पर्याय वाले पदार्थों के विषय में शब्द का संक्रम न करते हुए उनका ग्रहण करना 'समभिरूढ' नय है। व्यंजन (वाचक शब्द) और अर्थ अभिधेयरूप पदार्थ–इन दोनों का यथार्थ संघटन करने वाला जो अध्यवसाय है, वह 'एवम्भूत नय' है।

० तिण्हं सद्दनयाणं (जाणए अणुवउत्ते अवत्थू)।

(अनु.सू. 2/35)

शब्द नय तीन (शब्द, समभिरूढ, एवंभूत) हैं. .... (इनकी अपेक्षा अनुपयुक्त 'अवस्तु' है)।

० शब्दनयः त्रिविधः–साम्प्रतः समभिरूढः एवम्भूत इति।

(तत्त्व.भा.वृ. 1/35)

शब्द नय के तीन भेद हैं–साम्प्रत, (ऋजुसूत्र), समभिरूढ और एवम्भूत नय।

० त्रयः शब्दनयाः शेषाः शब्दवाच्यार्थगोचराः।

(तत्त्व.श्लो. 1/33/81)

शेष तीन (शब्द, समभिरूढ और एवंभूत) शब्द नय हैं। इन तीनों की शब्द के वाच्य अर्थ में विशेष रूप से तत्परता रहती है।

० शेषास्तु त्रयः शब्दवाच्यार्थगोचरतया शब्दनयाः।।

(प्र.न.त. 7/45)

अंतिम तीन (शब्द, समभिरूढ़, एवंभूत) नय शब्द के वाच्य अर्थ को विषय करने वाले हैं, इस कारण उन्हें 'शब्द नय' कहते हैं।

० ये च शब्दविचारचतुरास्ते शब्दादिनयत्रये (अन्तर्भवन्ति)।

(स्या.मं. 28)

सात नयों में जो शब्द के आधार पर अर्थ का प्ररूपण करते हैं, वे नय शब्द (समभिरूढ व एवम्भूत) आदि तीन नयों में अन्तर्भूत हैं।

शब्दनयाभास

० अर्थभेदं विना शब्दानामेव नानात्वैकान्तस्तदाभासः।

(प्र.र.मा. 6/74)

अर्थ-भेद के विना केवल शब्दों के ही सर्वथा नानात्व को स्वीकार करना, यह 'शब्दनयाभास' का लक्षण है।

० तद्भेदेन तस्य तमेव समर्थयमानस्तदाभासः।। यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादयो भिन्न-कालाः शब्दा भिन्नमेवार्थमभिदधति, भिन्न-कालशब्दत्वात्, तादृक्सिद्धान्यशब्दवत् इत्यादि।।

(प्र.न.त. 7/34–35)

काल आदि के भेद से शब्द के वाच्य पदार्थ में एकांत भेद मानने वाला अभिप्राय 'शब्दनयाभास' है। जैसे–सुमेरु था, सुमेरु है और सुमेरु होगा, इत्यादि भिन्न कालवाचक शब्द सर्वथा भिन्न पदार्थों का कथन करते हैं, क्योंकि वे भिन्न कालवाचक शब्द हैं; जैसे भिन्न पदार्थों का कथन करने वाले दूसरे भिन्नकालीन शब्द अर्थात् आगच्छति, भविष्यति और पठति इत्यादि।

० कालादिभेदेनार्थभेदमेवाभ्युपगच्छन् शब्दाभासः, यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादयः शब्दा भिन्नमेवार्थमभिदधति, भिन्नकालशब्दत्वात् तादृक्सिद्धान्यशब्दवदिति।

(जै.त.भा.नय परि., पृ. 66)

कालादि के भेद से अर्थ–भेद को ही स्वीकार करने वाला और अभेद का निषेध करने वाला 'शब्दनयाभास' है, जैसे सुमेरु था, है और होगा; इत्यादि शब्द भिन्न अर्थ के ही प्रतिपादक हैं, क्योंकि वे भिन्न कालवाची शब्द हैं, जो भिन्न कालवाची शब्द होते हैं, वे भिन्नार्थक ही होते हैं; जैसे अगच्छत्, पठति, भविष्यति (गया, पढ़ता है, होगा) आदि शब्द।

शब्द प्रमाण

० (द्रष्टव्य : आगम, ऐतिह्य, शास्त्र)

शब्दब्रह्म

० श्रुतं हि तावत्सूत्रम्, तच्च भगवदर्हत्सर्वज्ञोपज्ञ-स्यात्कारकेतनं पौद्गलिकं शब्दब्रह्म।

(प्र.सा.तत्त्वप्र. 1/34)

श्रुत यानी सूत्र, वह सर्वज्ञ अर्हन्त भगवान् के पौद्गलिक वचन द्वारा उपदिष्ट है, 'स्यात्' पद रूपी ध्वजा से युक्त वही 'शब्दब्रह्म' कहा जाता है।

(द्रष्टव्य : स्याद्वादश्रुत)

शब्दलिंगज के भेद

० तत्थ जं सद्दलिंगजं तं दुविहं-लोइयं लोउत्तरियं चेदि।

(ज.ध. 1, पृ. 310)

जो शब्दलिंगज श्रुतज्ञान है, वह लौकिक और लोकोत्तर दो प्रकार का है।

शब्दाद्वैतवाद

० .....शब्दाद्वैतवादिनो निखिलप्रत्ययानां शब्दानुविद्धत्वेनैव सविकल्पकत्वं मन्यन्ते.....सकलं चेदं वाच्यवाचकतत्त्वं शब्दब्रह्मण एव विवर्तः, नान्यविवर्तः, नापि स्वतन्त्रम् इति।

(प्र.क.मा. 1/3)

.....शब्दाद्वैतवादी मानते हैं कि समस्त प्रतीतियां शब्दानुविद्ध रूप से ही सविकल्पक (प्रकाशित) होती हैं.....यह समस्त वाच्य-वाचक तत्त्व शब्दब्रह्म का ही विवर्त है, किसी अन्य का विवर्त नहीं, और न ही वह स्वतन्त्र है।

शब्दार्थ-सम्बन्ध

० सहजा स्वभावभूता योग्यता शब्दार्थयोर्वाच्य-वाचकशक्तिः, तस्याः संकेतस्तद्वशाद् हि स्फुटं शब्दादयः प्रागुक्तवस्तुप्रतिपत्तिहेतव इति।

(प्र.र.मा. 3/96)

सहज अर्थात् स्वाभाविक योग्यता जो शब्द और अर्थ की वाच्य-वाचक भावरूप शक्ति होती है, उसके होने पर 'इस पद से यह अर्थ जानना चाहिए' इस प्रकार के संकेत के वश से निश्चयतः पूर्वोक्त आप्त–प्रणीत शब्दादिक किसी वस्तु के ज्ञान कराने में कारण होते हैं।

शास्त्र (प्रमाण)

० आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्।।

(न्यायाव. 9)

जो आप्त के द्वारा आदि में जाना हुआ हो, किसी के भी द्वारा जिसका खण्डन न हो सके, किसी भी प्रमाण से जिसमें बाधा नहीं आती हो –ऐसे अर्थ का कहने वाला हो, जीवादि सप्त तत्त्वों के स्वरूप को प्रकाशित करने वाला हो, सबके लिये जो हितकारी हो और जितने कुमार्ग (तीर्थान्तर) हैं, उन सबका निराकरण करने वाला हो, तो उसे 'शास्त्र' कहते हैं। (द्रष्टव्य : आगम, प्रवचन)

शुद्धद्रव्यार्थिक नय

० सत्तादिना यः सर्वस्य पर्याय-कलङ्काभावेन अद्वैतत्वमध्यवस्यति शुद्धद्रव्यार्थिकः स संग्रहः।

(ध. 9, पृ. 170)

जो सत्ता आदि की अपेक्षा से पर्याय रूप कलंक का अभाव होने के कारण सबकी एकता को विषय करता है, वह शुद्ध द्रव्यार्थिक संग्रह है।

० कर्मोपाधिनिरपेक्षः शुद्धद्रव्यार्थिकः, यथा संसारी जीवः सिद्धसदृक् शुद्धात्मा।

(आ.प. 47)

शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय कर्मोपाधि की अपेक्षा रहित जीव द्रव्य है, जैसे संसारी जीव सिद्ध समान शुद्धात्मा है।

० उत्पादव्ययगौणत्वेन सत्ताग्राहकः शुद्धद्रव्यार्थिकः, यथा द्रव्यं नित्यम्।

(आ.प. 48)

उत्पाद व्यय को गौण करके सत्ता को ग्रहण करने वाला शुद्धद्रव्यार्थिक नय है। जैसे–द्रव्य नित्य है।

० भेदकल्पनानिरपेक्षः शुद्धो द्रव्यार्थिकः, यथा निजगुणपर्यायस्वभावाद् द्रव्यमभिन्नम्।

(आ.प. 49)

शुद्ध द्रव्यार्थिक नय भेदकल्पना की अपेक्षा से रहित है, जैसे निज गुण से, निज पर्याय से और निजस्वभाव से द्रव्य अभिन्न है।

० शुद्धद्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति शुद्धद्रव्यार्थिकः।

(आ.प. 185)

शुद्धद्रव्य जिसका प्रयोजन है, वह 'शुद्धद्रव्यार्थिक नय' है।

शुद्धनिश्चय (अध्यात्म) नय

० तत्र निरूपाधिकगुणगुण्यविषयकः शुद्धनिश्चयो यथा केवलज्ञानादयो जीव इति।

(आ.प. 218)

उनमें से जो नय कर्मजनित विकार से रहित गुण और गुणी को अभेद रूप से ग्रहण करता है, वह 'शुद्धनिश्चय' नय होता है। जैसे केवलज्ञान आदि स्वरूप जीव है। (अर्थात् जीव केवल-ज्ञानादिरूप है, क्योंकि ज्ञान जीव स्वरूप है।)

शुद्धपर्यायार्थिक नय

० शुद्धपर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति शुद्ध-पर्यायार्थिकः।

(आ.प. 194)

शुद्धपर्याय जिसका प्रयोजन है, वह 'शुद्ध-पर्यायार्थिक नय' होता है।

शुद्धसद्भूत व्यवहारनय

० शुद्धसद्भूतव्यवहारः यथा शुद्धगुणशुद्धगुणिनोः शुद्धपर्याय-शुद्धपर्यायिणोर्भेदकथनम्।

(आ.प. 82)

शुद्धगुण और शुद्धगुणी में तथा शुद्ध पर्याय और शुद्धपर्यायी में जो नय भेद का कथन करता है, वह 'शुद्धसद्भूत व्यवहार' नय है।

शून्य

० जस्स ण संति पदेसा पदेसमेत्तं तु तच्चदो णादुं। सुण्णं जाण तमत्थं अत्थंतरभूदमत्थीदो।।

(प्र.सा. 2/52)

जिस (द्रव्य) के प्रदेश (निर्विभाग अंश) नहीं हों और एक प्रदेश मात्र भी स्वरूपतः जिसका ज्ञात नहीं हो, तो उसे 'शून्य' (अस्तित्वहीन, अवस्तुभूत, असत्) जानो।

श्रुत (आगम)

० तदुपदिष्टं बुद्धयतिशयर्द्धियुक्तगणधरावधारितं श्रुतम्। तैर्व्यपगतरागद्वेषमोहैरुपदिष्टं बुद्धयति-शयर्द्धियुक्तैः गणधरैरवधारितं श्रुतमित्युच्यते।

(रा.वा. 6/13/2)

उन (केवली) के द्वारा उपदिष्ट तथा बुद्धयतिशय व ऋद्धियों से सम्पन्न गणधरों द्वारा धारण किया गया 'श्रुत' होता है। अर्थात् राग-द्वेष व मोह से रहित (वीतराग द्वेष) द्वारा उपदिष्ट तथा बुद्धयतिशय व ऋद्धि के धारक गणधरों ने जिसे धारण किया है, उसे 'श्रुत' कहा जाता है।

० श्रूयते स्मेति वागमः।।

(तत्त्व.श्लो. 1/9/4)

जो आप्त वाक्य द्वारा सुना जा चुका है, वह आगम रूप 'श्रुत' है।

श्रुत (आगम) के पर्याय

० पावयणं पवयणीयं पवयणट्ठो गदीसु मग्गणदा आदा परंपरलद्धी अणुत्तर पवयणं पवयणी

पवयणद्धा पवयणसण्णियासो णयविधी णयंतर-विधी भंगविधी भंगविधिविसेसो पुच्छाविधी पुच्छाविधिविसेसो तच्चं भूदं भव्वं भवियं अवितथं अविहदं वेदं णायं सुद्धं सम्माइट्ठी हेतुवादा णयवादो पवरवादो मग्गवादो सुदवादो परवादो लोइयवादो लोगुत्तरीयवादो अग्गं मग्गं जहाणुमग्गं पुव्वं जहाणुपुव्वं पुव्वादिपुव्वं चेदि। ऐदे सुदणाणस्स इगिदालीसं परियायसद्दा।

(ध.13, पृ. 280)

प्रावचन, प्रवचनीय, प्रवचनार्थ, गतियों में मार्गणता, आत्मा, परम्परालब्धि, अनुत्तर, प्रवचन, प्रवचनी, प्रवचनाद्धा, प्रवचनसंनिकर्ष, नयविधि, नयान्तर-विधि, भंग विधि, भंगविधिविशेष, पृच्छाविधि, पृच्छाविधिविशेष, तत्त्व, भूत, भव्य, भविष्यत्, अवितथ, अविहत, वेद, न्याय्य, शुद्ध, सम्यग्दृष्टि, हेतुवाद, नयवाद, प्रवरवाद, मार्गवाद, श्रुतवाद, परवाद, लौकिकवाद, लोकोत्तरीयवाद, अग्र्य, मार्ग, यथानुमार्ग, पूर्व, यथानुपूर्व और पूर्वातिपूर्व –ये श्रुतज्ञान (आगम) के इकतालीस पर्याय नाम हैं।

श्रुतअज्ञान

० मिच्छदिट्ठिस्स सुयं सुयअण्णाणं।

(नन्दी. 3/36)

मिथ्यादृष्टि का श्रुत 'श्रुतअज्ञान' होता है। (द्रष्टव्य : मिथ्याश्रुत)

० सुयं पि एमेव।

(विशे.भा. 114)

मिथ्यादृष्टि का श्रुतज्ञान भी उसी तरह (श्रुत-अज्ञान) होता है।

० आभीयमासुरक्खं भारहरामायणादि उबएसा। तुच्छा असाहणीया सुयअण्णाणेत्ति णं बेंति।।

(गो.सा.जी. 304)

तुच्छ (निस्सार), आभीत (सज्जनों द्वारा अनादरणीय), रामायण आदि के उपदेश (उनकी रचनाएं, उनका सुनना, उसके सुनने से उत्पन्न हुआ ज्ञान) –यह सब श्रुतअज्ञान है।

श्रुतकेवली

० जो हि सुदेण विजाणदि अप्पाणं जाणगं सहावेण। तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा।।

(प्र.सा. 1/33)

निज सहज स्वभाव से सब को जानने वाली आत्मा को अपने भावश्रुत ज्ञान द्वारा जो पुरुष विशेषतया जानता है, उस भावश्रुतज्ञानी को समस्त लोक को उद्योतित करने वाले ऋषियों ने 'श्रुतकेवली' कहा है।

० सम्पूर्णश्रुतकेवलिता चतुर्दशपूर्वित्वम्।

(रा.वा. 3/36/3)

चौदह पूर्वों का ज्ञानी होना– यह सम्पूर्ण 'श्रुतकेवलीपना' है।

श्रुतज्ञान

० श्रुतं मतिपूर्वम् .....।

(त.सू. 1/20)

श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है।

० श्रुतमिति च श्रूयते स्म श्रुतम्। एवंविधायां च कल्पनायां शब्दोऽभिधीयते न श्रुतिः, श्रुतं श्रवणमिति भावसाधनतामभ्युपैति। प्रकृतेन ज्ञानग्रहणेन श्रुतमिति ज्ञानं ग्राह्यं, न शब्दः,

ज्ञानविचारप्रस्तावात्। यदि तु श्रुतज्ञानस्यान्तर्वर्तिनः स शब्दो निमित्ततां प्रतिपद्यमानः श्रुतव्यपदेशमश्नुते न कश्चिद् दोषः, उपचारस्य व्यवहाराङ्गत्वात्। मुख्यया तु श्रुत-मित्यनेन ज्ञानमुच्यते।

(तत्त्व.भा.वृ. 1/20)

जो सुना गया है, वह 'श्रुत' है। ऐसी कल्पना में 'श्रुत' का अर्थ 'शब्द' होगा, न कि 'श्रुति'। 'सुनना' वह श्रुत है–ऐसा अर्थ करें तो श्रुतरूप भाव का जो साधन है, वह (शब्दात्मक) श्रुत होगा। किन्तु प्रकृत में 'ज्ञान' यह विशेषण (श्रुत का) है, इसलिए 'श्रुत' पद से ज्ञान का ही ग्रहण यहां करणीय है, शब्द का नहीं, क्योंकि ज्ञान का ही प्रकरण चल रहा है। यदि श्रुतज्ञान के अन्तर्गत परिगणित शब्दात्मक (आगम) 'श्रुतज्ञान' के निमित्त होने से 'श्रुत' नाम से अभिहित किया जाता है, तो भी कोई दोष नहीं, क्योंकि उपचार तो व्यवहार का अंग है। मुख्य रूप से तो 'श्रुत' से ज्ञान का ही कथन किया गया है।

० तदावरणक्षयोपशमे सति निरूप्यमाणं श्रूयतेऽनेन तत्, शृणोति श्रवणमात्रं वा श्रुतम्।

(स.सि. 1/9/164)

श्रुतावरण के क्षयोपशम के होने पर निरूपित किया जाने वाला तत्त्व जिसके द्वारा सुना जाता है उसे, अथवा जो उसे सुनता है उसे, अथवा सुनने मात्र को भी 'श्रुत' कहा जाता है।

० तं तेण तओ तम्मि व सुणेइ सो वा सुअं तेणं।

(विशे.भा. 81)

उसको, उसके द्वारा, उसके होने से या उसके होने पर (आत्मा द्वारा) सुना जाता है या (आत्मा) सुनता है, इस कारण से वह 'श्रुत' (कहा जाता) है।

० मइभेओ चेव सुयं .....।

(विशे.भा. 86)

मतिज्ञान का ही विशिष्ट भेद श्रुतज्ञान है।

० इंदिय-मणोनिमित्तं जं विण्णाणं सुयाणुसारेणं।
नियत्थुत्तिसमत्थं तं भावसुयं मई सेसं।।
सुयकारणं जओ सो सुयं च तक्कारणं ति तो तम्मि।
कीरइ सुओवयारो सुयं तु परमत्थओ जीवो।।

(विशे.भा. 100, 99)

'श्रुत' (शब्द) का अनुसरण कर इन्द्रिय व मन से उत्पन्न होने वाला विज्ञान–जिसमें स्वयं में निहित अर्थ को कहने की क्षमता होती है, वह 'भावश्रुत' है, शेष मतिज्ञान है।
चूंकि वह (शब्द या द्रव्यश्रुत) भावश्रुत का कारण होता है और (भाव) श्रुत भी शब्द (द्रव्यश्रुत) का कारण होता है, इसलिये शब्द में 'श्रुत' का 'उपचार' किया जाता है, परमार्थतः (वस्तुतः) तो जीव ही 'श्रुत' है।

० तच्छृणोति, तेण वा सुणेति, तम्हा वा सुणेति, तम्हि वा सुणेतीति सुतं। आत्मैव वा श्रुतोपयोग-परिणामादनन्यत्वाच्छृणोतीति श्रुतम्।

(न.चू. 7, पृ. 13)

जो सुनता है, जिससे सुनता है, जिसके कारण सुनता है, जिसमें सुनता है, वह 'श्रुत' है। श्रुतोपयोग परिणाम से अभिन्न होने के कारण आत्मा ही सुनता है, अतः वही 'श्रुत' है।

० श्रुतावरणक्षयोपशमाद्यन्तरङ्गबहिरङ्गहेतु–सन्निधाने सति श्रूयते स्मेति श्रुतम्। कर्तरि श्रुतपरिणत आत्मैव शृणोतीति श्रुतम्, भेदविवक्षायां श्रूयतेऽनेनेति श्रुतम्, श्रवणमात्रं वा।

(रा.वा. 1/9/2)

श्रुतावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर जो सुना जाय, वह 'श्रुत' है। कर्तृ-विवक्षा में श्रुतपरिणत आत्मा श्रुत है। करण-विवक्षा में जिससे सुना जाय, वह 'श्रुत' है। भाव-विवक्षा में श्रवण क्रिया 'श्रुत' है।

० अनिन्द्रियनिमित्तोऽर्थावगमः श्रुतम्। इन्द्रियानिन्द्रियबलाधानात् पूर्वमुपलब्धेऽर्थे नोइन्द्रियप्राधान्यात् यदुत्पद्यते ज्ञानं, तत् श्रुतम्।

(रा.वा. 1/9/27)

अनिन्द्रिय (मन) के निमित्त से होने वाला अर्थग्रहण श्रुत (ज्ञान) है। इन्द्रिय व अनिन्द्रय के बलाधान (निमित्त) से पूर्व में उपलब्ध अर्थ में नोइन्द्रिय की प्रधानता से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह 'श्रुत' है।

० किं विषयं तर्हि श्रुतम्? अपूर्वविषयम्। एकं घटम् इन्द्रियानिन्द्रियाभ्यां निश्चित्य 'अयं घटः' इति तज्जातीयम् अन्यम् अनेकदेशकालरूपादिविलक्षणम् अपूर्वमधिच्छति यत्, तत् श्रुतम्।

(रा.वा. 1/9/28)

तो फिर 'श्रुत' का विषय क्या है? वह 'अपूर्व' को विषय करता है। एक घड़े को इन्द्रिय व मन से (मतिज्ञान से) जान कर, 'यह घड़ा है' इस प्रकार उस जाति के अन्य विभिन्न देश व काल में स्थित रूप आदि विलक्षणता वाले अपूर्व (घट पदार्थ) को जो जानता है, वह 'श्रुतज्ञान' है।

० नानाप्रकारार्थप्ररूपणपरं यत् तद् वा श्रुतम्। अथवा इन्द्रियानिन्द्रियाभ्यामेकं जीवमजीवं चोपलभ्य, तत्र सत्-संख्या-क्षेत्र-स्पर्शन-कालान्तर-भावाल्प-बहुत्वादिभिः प्रकारैः अर्थप्ररूपणे कर्तव्ये यत्समर्थं तत् श्रुतम्।

(रा.वा. 1/9/29)

नाना प्रकार के पदार्थ की प्ररूपणा जो करता है, वह 'श्रुत' ज्ञान है। अथवा (अर्थात्) इन्द्रिय व मन से एक जीव या अजीव को उपलब्ध (ज्ञात) कर, वहां सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व आदि प्रकारों से अर्थ-प्ररूपणा करने में जो समर्थ होता है, वह 'श्रुतज्ञान' है।

० श्रुत्वा यदवधारयति तत् श्रुतमिति केचित् मन्यन्ते, तन्न युक्तम्, कुतः मतिज्ञानप्रसंगात्। तद्यपि शब्दं श्रुत्वा गोशब्दोऽयम् –इति प्रतिपद्यते।.....श्रुतं पुनः तस्मिन् इन्द्रियानिन्द्रियगृहीतागृहीतपर्यायसमूहात्मनि शब्दे तदभिधेये च श्रोत्रेन्द्रियव्यापारमन्तरेण जीवादौ नयादिभिः अधिगमोपायैः याथात्म्येन अवबोधः।

(रा.वा. 1/9/30)

सुन कर जो निश्चय करता है,वह श्रुतज्ञान है –ऐसा कुछ लोग मानते हैं, वह उपयुक्त नहीं हैं क्यों? उसके मतिज्ञान होने का प्रसंग है। जो शब्द सुनकर 'यह गो शब्द है' –वह तो मतिज्ञान है।.....वहां इन्द्रिय व अतिन्द्रिय से गृहीत व अगृहीत पर्याय समूह वाले शब्द या उसके अभिधेय अर्थ –जीव आदि में,श्रोत्रेन्द्रिय के व्यापर के बिना ही, अधिगम-उपाय 'नय' आदि के द्वारा जो ज्ञान होता है, श्रुतज्ञान तो वह है।

० श्रुतं शब्दानुयोजनात्।

(लघी. 3/11; तत्त्व.श्लो. 1/20/88)

शब्दयोजना होने पर (मतिज्ञान) श्रुतज्ञान होता है।

० श्रुतावरणविश्लेषविशेषाच्छ्रवणं श्रुतम्। शृणोति स्वार्थमिति वा।।

(तत्त्व.श्लो. 1/9/4)

श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जो स्वार्थ को सुनता है, अथवा सुनना मात्र जिसका स्वभाव है, वह 'श्रुत' कहलाता है।

० मतिर्हि बहिरङ्गं श्रुतस्य कारणम्। अन्तरङ्गं तु श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषः, स च स्मृत्यादेर्मतिविशेषणस्य नास्तीति न श्रुतत्वम्।

(तत्त्व.श्लो. 1/20/12)

मतिज्ञान द्रव्यश्रुत या भावश्रुत का बहिरंग कारण है। श्रुतज्ञान का अन्तरंग कारण तो श्रुतज्ञानावरण कर्म का विशेष क्षयोपशम होता है। वह श्रुतज्ञानावरण कर्म का विशेष क्षयोपशम स्मृति आदि के नहीं है, अतः स्मृति आदि को श्रुतपना नहीं है (स्मृति आदि ज्ञान मतिज्ञान ही है, श्रुतज्ञान नहीं)।

० अत्र प्रचक्षते केचित् श्रुतं शब्दानुयोजनात्।
तत्पूर्वनियमाद्युक्तं नान्यथेष्टविरोधतः।।
शब्दानुयोजनादेव श्रुतं हि यदि कथ्यते।
तदा श्रोत्रमतिज्ञानं न स्यान्नान्यमतौ भवम्।।
यद्यपेक्षवचस्तेषां श्रुतं सांव्यवहारिकम्।
स्वेष्टस्य बाधनं न स्यादिति संप्रतिपद्यते।।
न सोस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
इत्येकान्तं निराकर्तुं तथोक्तं तैरिहेति वा।।
ज्ञानमाद्यं स्मृतिः संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधिकम्।
प्राग्नामसंसृतं शेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात्।।

(तत्त्व.श्लो. 1/20/84–88)

शब्द की योजना से ही यदि 'श्रुत' समझा जाएगा, तब तो श्रोत्र मतिपूर्वक ज्ञान ही श्रुत ज्ञान होगा। चक्षु आदि मतिपूर्वक श्रुत नहीं हो सकेगा। किन्तु यह बात जैन सिद्धान्त के विरुद्ध पड़ती है। 'शब्द की योजना से ही श्रुत होता है'–इस प्रकार उन अकलंकदेव के वचन यदि समीचीन व्यावहारिक अपेक्षा करके कहे गये हैं, तब तो अपने इष्ट सिद्धान्त में बाधा नहीं आ सकती, क्योंकि अन्य इन्द्रियजन्य मतिज्ञानों को निमित्त कारण मानकर उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान जाना जा रहा है, अतः श्रुत में शब्द-योजना का नियम करना आवश्यक नहीं है। अवाच्य पदार्थों के अनेक श्रुतज्ञान होते हैं। स्पर्शन आदि इन्द्रियों से अर्थों का मतिज्ञान कर अनन्त अर्थान्तरों का ज्ञान होता है, वह सब श्रुत ही है।

लोक में ऐसा कोई भी ज्ञान नहीं है जो कि शब्द के अनुगम के बिना ही हो जाता हो। (सभी ज्ञान और ज्ञेय शब्द में अनुविद्ध होते हैं) –इस प्रकार के शब्दैकान्त का निराकरण करने के लिए अकलंकदेव ने इस प्रकार शब्द की योजना के पूर्व मतिज्ञान होता है और पीछे शब्द की योजना लगा देने से श्रुतज्ञान हो जाता है–ऐसा कहा है, वह ठीक ही है। अर्थात् इन्द्रियों द्वारा स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, शब्द, सुख आदि के तो मतिज्ञान हैं और 'यह उससे कोमल है', 'यह उससे अधिक मीठा है'– इत्यादि शब्द-योजना कर देने पर होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। अभिप्राय यह

है कि शब्द की योजना से पूर्व होने वाले अवग्रह आदि तथा स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध–ये सब मतिज्ञान स्वरूप ही हैं, किन्तु शब्द की अनुयोजना कर देने से 'नाम' के आश्रित हो जाने पर, वे अवग्रहादिज्ञान ही श्रुतज्ञानरूप हो जाते हैं।

० श्रुतज्ञानावरण-वीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषान्तरङ्गे कारणे सति बहिरङ्गे मतिज्ञाने च अनिन्द्रियविषयालम्बनम् अविशदं ज्ञानं श्रुतज्ञानम्।

(प्र.प., पृ. 58)

श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम रूप अन्तरंग कारण तथा मतिज्ञान रूप बहिरंग कारण के होने पर जो इन्द्रियातीत विषय के आलम्बन से अस्पष्ट ज्ञान होता है, उसे 'श्रुतज्ञान' कहा जाता है।

० अनिन्द्रियमात्रनिमित्तं श्रुतस्य स्वरूपम्।

(अष्टस. 15, पृ. 132)

जिसमें मात्र अनिन्द्रिय (मन) की निमित्तता हो, वह 'श्रुतज्ञान' का स्वरूप है।

० सुदणाणं णाम मदिपुव्वं मदिणाणपडिगाहियमत्थं मोत्तूणण्णत्थम्हि वावदं सुदणाणावरणीयक्खओवसमजणिदं।

(ध. 1, पृ. 94)

जो मतिज्ञान से ग्रहण किये गये पदार्थ को छोड़कर तत्सम्बन्धित दूसरे पदार्थ में व्यापार करता है और श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है, उसे 'श्रुतज्ञान' कहते हैं।

० अवग्गहिदत्थादो पुधभूदत्थालंबणाए लिंगजणिदबुद्धीए णिण्णयरूवाए सुदणाणत्तब्भुवगमादो।

(ध. 6, पृ. 18)

अवग्रह द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थ से पृथग्भूत अर्थ का अवलम्बन करने वाली, निर्णय रूप लिंग-जनित बुद्धि को श्रुतज्ञान रूप माना गया है।

० सुदणाणं णाम इंदिएहि गहिदत्थादो तदो पुधभूदत्थग्गहणं,
जहा सद्दादो घडादीणमुवलंभो धूमादो अग्गिस्सुवलंभो वा।

(ध. 6, पृ. 21)

इन्द्रियों से ग्रहण किये गये पदार्थ से उससे पृथग्भूत पदार्थ का ग्रहण करना श्रुतज्ञान है। जैसे–(घट) शब्द से घट आदि पदार्थ का जानना, अथवा धूम से अग्नि का ग्रहण करना।

० मदिणाणेण गहिदत्थादो जमुप्पज्जदि अण्णेसु अत्थेसु णाणं तं सुदणाणं णाम। धूमादो उप्पज्जमाणअग्गिणाणं, णदीपूरजणिदउवरिविट्ठिविण्णाणं, देसंतरसंपत्तीए जणिददिणयरगमणविसयविण्णाणं, सद्दादो सद्दत्थुप्पण्णणाणं च सुदणाणमिदि भणिदं होदि। सुदणाणादो जमुप्पज्जदि णाणं तं पि सुदणाणं चेव।

(ध. 13, पृ. 210)

मतिज्ञान के द्वारा ग्रहण किये गये अर्थ के निमित्त से जो अन्य अर्थ का ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है। धूम के निमित्त से उत्पन्न हुआ अग्नि का ज्ञान, नदीपूर (नदी में बाढ़) के निमित्त से उत्पन्न हुआ ऊपरी प्रदेश में

वृष्टि का ज्ञान, देशान्तर की प्राप्ति के निमित्त से उत्पन्न हुआ सूर्य का गमनविषयक ज्ञान और शब्द के निमित्त से उत्पन्न हुआ शब्दार्थ का ज्ञान श्रुतज्ञान है –यह उक्त कथन का तात्पर्य है। श्रुतज्ञान के निमित्त से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह भी श्रुतज्ञान ही होता है।

० अवग्गहादिधारणापेरंतमदिणाणेण अवगयत्थादो अण्णत्थावगमो सुदणाणं।

(ध. 13, पृ. 245)

अवग्रह से लेकर धारणा पर्यन्त मतिज्ञान के द्वारा जाने गये अर्थ के निमित्त से अन्य अर्थ का ज्ञान होना 'श्रुतज्ञान' है।

० मदिणाणजणिदं जं णाणं तं सुदणाणं णाम।.... मयिणाणपरिच्छिण्णत्थादो पुधभूदत्थावगमो सुदणाणं।

(ज.ध. 1, पृ. 309–10)

मतिज्ञान से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह श्रुतज्ञान कहलाता है।.....मतिज्ञान से जाने गये पदार्थ से भिन्न पदार्थ को जानने वाले ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा जाता है।

० मतिपूर्वं श्रुतं प्रोक्तमविस्पष्टार्थतर्कणम्।

(तत्त्वा. 1/24)

मतिज्ञान के बाद अस्पष्ट अर्थ की तर्कणा को लिये हुए जो ज्ञान होता है, उसे 'श्रुतज्ञान' कहते हैं।

० यत्तदावरणक्षयोपशमादनिन्द्रियावलम्बाच्च मूर्तामूर्तद्रव्यं विकलं विशेषेणावबुध्यते तत् श्रुतज्ञानम्।

(पंचा.त.प्र. 41)

ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से मन के अवलम्ब से किंचिन्मूर्त्तिक अमूर्तिक द्रव्य जिसके द्वारा जाना जाय, उसे 'श्रुतज्ञान' कहते हैं।

० सव्वं पि अणेयंतं परोक्ख-रूवेण जं पयासेदि। तं सुय-णाणं भण्णदि संसय-पहुदीहि परिचत्तं।।

(कार्ति. 262)

जो परोक्ष रूप से सब वस्तुओं को अनेकान्तरूप दर्शाता है, संशय आदि से रहित उस ज्ञान को 'श्रुतज्ञान' कहते हैं।

० न केवलं नामयोजनात् पूर्वं यदस्पष्टं ज्ञानमुपजायते तदेव श्रुतम्, किन्तु शब्दानुयोजनाच्च यदुपजायते, तदपि श्रुतम् इति संगृहीतं भवति।

(न्या.कु. 3/10)

न केवल नाम (अभिधान) की योजना से पूर्व जो अस्पष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है, वही 'श्रुत' ज्ञान है, अपितु शब्द की योजना से जो ज्ञान होता है, वह भी 'श्रुत' है–यह भी ज्ञात हो जाता है।

० अत्थादो अत्थंतरमुवलंभं तं भणंति सुदणाणं। आभिणिबोहियपुव्वं णियमेणिह सद्दजं पमुहं।।

(गो.सा.जी. 315)

मतिज्ञान के द्वारा निश्चित अर्थ का अवलम्बन लेकर उससे सम्बद्ध अन्य अर्थ को जानने वाले जीव के ज्ञान को –जो श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हो –मुनीश्वरों ने श्रुतज्ञान कहा है।

० इह च शब्दस्य श्रुतज्ञानकारणत्वात् क्षयोपशमस्य तद्धेतुत्वादात्मनश्च

कथञ्चित् तदव्यतिरेकादुपचारतः श्रुतं च तज्ज्ञानं च श्रुतज्ञानम्।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 81)

शब्द श्रुतज्ञान का कारण है, और तत्सम्बन्धी क्षयोपशम भी ज्ञान में हेतु है, और आत्मा व ज्ञान का कथंचित् अभेद है, इस दृष्टि से उपचार से ज्ञान को 'श्रुत' कह दिया जाता है, अतः 'श्रुत' जो ज्ञान, वह श्रुतज्ञान होता है।

० श्रूयत आत्मना तदिति श्रुतं शब्दः, अथवा श्रूयतेऽनेन श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमे, श्रूयते तस्मात् क्षयोपशमात्, श्रूयते तस्मिन् क्षयोपशमे सतीति श्रुतं क्षयोपशमः।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 81)

जो आत्मा द्वारा सुना जाये, उस शब्द को 'श्रुत' कहते हैं। अथवा जिससे सुना जाये, या जिसके (अव्यवहित अनन्तर) होने से सुना जाए, वह श्रुतज्ञानावरण-सम्बन्धी क्षयोपशम श्री 'श्रुत' कहा जाता है।

० यदि वा इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तद्वारेणोपजायमानं सर्वं मतिज्ञानमेव, केवलं परोपदेशादागम-वचनत्वाच्च भवन् विशिष्टः कश्चिद् मतिभेद एव श्रुतं नान्यत्।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 86)

इन्द्रिय व मन के निमित्त से उत्पन्न होने वाला श्रुतज्ञान मतिज्ञान ही है, अतः जो श्रुतज्ञान है, वह मात्र परोपदेश व आगम वचन के रूप में उपलब्ध होकर विशिष्टता को प्राप्त होता हुआ मतिज्ञान का ही भेद है, और कुछ नहीं।

० इन्द्रिय-मनोनिमितं च मतिज्ञानमपि भवति, अतस्तद्व्यवच्छेदार्थमाह श्रूयत इति श्रुतं द्रव्य-श्रुतरूपं शब्द इत्यर्थः, स च संकेतविषय-परोपदेशरूपः श्रुतग्रन्थात्मकश्चेह गृह्यते, तदनुसारेणैव यदुत्पद्यते तत् श्रुतज्ञानम्, नान्यत्। इदम् उक्तं भवति-संकेतकालप्रवृत्तं श्रुतग्रन्थ-सम्बन्धिनं वा घटादिशब्दमनुसृत्य वाच्य-वाचकभावेन संयोज्य 'घटो घटः' इत्याद्यन्त-र्जल्पाकारमन्तःशब्दोल्लेखान्वित मिन्द्रिया-दिनिमित्तं यज्ज्ञानमुदेति तच्छ्रुतज्ञानमिति। ... अयम् इह भावार्थः–शब्दोल्लेखसहितं विज्ञानमुत्पन्नं स्वप्रतिभासमानार्थप्रतिपादकं शब्दं जनयति, तेन च परः प्रत्याय्यते, इत्येवं निजकार्योक्तिसमर्थमिदं भवति, अभिलाप्यवस्तु-विषयमिति यावत्।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 100)

चूंकि इन्द्रियमनोनिमित्तक ज्ञान तो मतिज्ञान भी होता है, अतः जो सुना जाय, वह शब्द 'द्रव्यश्रुत' रूप है, वह (दो प्रकार का होता है–इसलिए) संकेत-विषयक परोपदेश रूप और शास्त्र रूप भी होता है। यहां श्रुत रूप से दोनों ही प्रकार ग्राह्य हैं। इस प्रकार से 'श्रुत' के अनुसार जो उत्पन्न होता है, वह श्रुतज्ञान है, अन्य कुछ (यानी मतिज्ञान) नहीं।

तात्पर्य यह है कि संकेत–समय प्रयुक्त शब्द का या फिर श्रुत–शास्त्र से सम्बन्धित घट आदि शब्द का अनुसरण कर (उसे सुनकर), (मन में) वाच्य–वाचक भाव से (अर्थात् सुने हुए शब्द का वाच्य अर्थ यह है, और इस अर्थ का वाचक अमुक शब्द है–इस प्रकार) संयोजित कर 'घट घट है' (यह घट शब्द है, यह घट पदार्थ उसका वाच्य है) इत्यादि आन्तरिक रूप से होने वाले 'अन्तर्जल्प' के आकार वाला, अन्तःकरण में शब्दोल्लेखसहित, इन्द्रियादि–निमित्तक जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह 'श्रुतज्ञान' है।

तात्पर्य यह है कि शब्दोल्लेख सहित जो विज्ञान उत्पन्न होता है, वह स्वयं में अन्तर्निहित प्रतीयमान अर्थ के प्रतिपादक शब्द को उत्पन्न करता है, जिससे दूसरा व्यक्ति (वक्ता के भाव को) समझता है, इस प्रकार यह ज्ञान अपने अर्थ की प्रतीति कराने में समर्थ होता है, अर्थात् उस ज्ञान का विषय उसका अपना कथनीय पदार्थ होता है।

० श्रुतं मतिगृहीतार्थशब्दैरन्यार्थबोधनम्।
धूमादेः पावकादेर्वा बोधोऽग्नेरग्निशब्दतः।।

(आ.सा. 4/34)

मतिज्ञान द्वारा गृहीत अर्थ या शब्द से अन्य अर्थ का बोध होना, जैसे–धूम से अग्नि का बोध या अग्नि शब्द से अग्नि का बोध–यह श्रुतज्ञान है।

० श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमान्नोइन्द्रियावलम्बनाच्च प्रकाशोपाध्यायादिबहिरंगसहकारिणाच्च मूर्त्तामूर्त्तवस्तुलोकालोकव्याप्तिज्ञानरूपेण यदस्पष्टं जानाति तत्परोक्षं श्रुतज्ञानं भण्यते।

(बृ.द्र.सं.वृ. 5)

श्रुतज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से तथा नोइन्द्रिय के अवलम्बन से प्रकाश और अध्यापक आदि सहकारी कारण के संयोग से मूर्त्त तथा अमूर्त्त वस्तु को लोक तथा अलोक की व्याप्तिरूप ज्ञान से जो अस्पष्ट जानता है, उसे 'परोक्ष श्रुतज्ञान' कहते हैं।

० श्रुतानुसारि च श्रुतज्ञानम्। श्रुतानुसारित्वं च संकेत- विषय-परोपदेशं श्रुतग्रन्थं वाऽनुसृत्य वाच्यवाचक-भावेन संयोज्य 'घटो घटः' इत्याद्यन्तर्जन्या(र्जल्पा) कारग्राहित्वम्।

(जै.त.भा.प्र.परि., पृ. 5)

(जो ज्ञान इन्द्रिय-मनोजन्य होते हुए) श्रुत का अनुसरण करे, वह श्रुतज्ञान कहलाता है। संकेत करने वाले परोपदेश अथवा श्रुतग्रन्थ का अनुसरण करके, वाच्य-वाचक भाव की संयोजना करके, 'घट, घट' इस प्रकार के अन्तर्जल्प के आकार को ग्रहण करने वाला ज्ञान 'श्रुतानुसारी' या 'श्रुत का अनुसरण करने वाला' कहलाता है।

० तदेव द्रव्यश्रुतानुसारेण परप्रत्यायनक्षमं श्रुतम्।

(जै.सि.दी. 2/13)

द्रव्यश्रुत के अनुसार दूसरों को समझाने में समर्थ हो जाय, ऐसे मतिज्ञान को 'श्रुत ज्ञान' कहते हैं।

० द्रव्यश्रुतम्-शब्दसंकेतादिरूपम्, तदनुसारेण परप्रत्यायनक्षमं ज्ञानं श्रुतमभिधीयते।

(जै.सि.दी.स्वो.व्या. 2/13)

द्रव्यश्रुत शब्द-संकेत आदिरूप होता है। तदनुसारी (द्रव्यश्रुतानुसारी) जो ज्ञान दूसरों को समझाने में समर्थ हो, वह 'श्रुतज्ञान' कहा जाता है।

० शब्दाद्यनुसारिणी मतिरेव श्रुतम्।

(भि.न्या. 4/1)

शब्द आदि के सहारे उत्पन्न होने वाला मतिज्ञान ही 'श्रुत' ज्ञान होता है।

श्रुतज्ञान के पर्याय

० तस्स णं इये एगट्ठिया नाणाघोसा नाणावंजणा नामधेज्जा भवंति, तं जहा–
सुयसुत्तगथंसिद्धंतसासणेआणवयण उवएसे।
पण्णवण आगमे य, एगट्ठा पज्जवा सुत्ते।।
(अनु.सू. 2/51)
उस श्रुत के ये नाना-घोष और नाना व्यंजन वाले एकार्थिक नाम होते हैं, जैसे–श्रुत, सूत्र, ग्रन्थ, सिद्धान्त, शासन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापना और आगम।

० श्रुतमाप्तवचनमागम उपदेश ऐतिह्यमाम्नायः प्रवचनं जिनवचनम् इत्यनर्थान्तरम्।
(तत्त्व.भा. 1/20)
श्रुत, आप्त-वचन, आगम, उपदेश, ऐतिह्य, आम्नाय, प्रवचन और जिनवचन–ये सब शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं।

० आगमो सिद्धंतो सुदणाणं पव्वयणमिदि एयट्ठे।
(ध. 1, पृ. 21–22)
आगम, सिद्धान्त, श्रुतज्ञान, प्रवचन–ये एकार्थक शब्द हैं।

० आगमो गंथो सुदणाणं दुवालसंगमिदि एयट्ठो।
(ध. 13, पृ. 203)
आगमग्रन्थ, श्रुतज्ञान व द्वादशांग–ये एकार्थक हैं।

श्रुतज्ञान के भेद

० सुयणाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा–
अंगपविट्ठे चेव, अंगबाहिरे चेव।
(ठा.सू. 2/104)
श्रुतज्ञान दो प्रकार का है–
1. अंगप्रविष्ट, 2. अंगबाह्य।

० से किं तं सुयनाणपरोक्खं? सुयनाणपरोक्खं चोद्दसविहं पण्णत्तं, तं जहा–
1. अक्खरसुयं, 2. अणक्खरसुयं, 3. सण्णिसुयं, 4. असण्णिसुयं, 5. सम्मसुयं, 6. मिच्छसुयं, 7. साइयं, 8. अणाइयं, 9. सपज्जवसियं, 10. अपज्जवसियं, 11. गमियं, 12. अगमियं, 13. अंगपविट्ठं, 14. अणंगपविट्ठं।।
(नन्दी. 4/55)
वह श्रुतज्ञान परोक्ष क्या है? श्रुतज्ञान चौदह प्रकार का प्रज्ञप्त है–
1. अक्षरश्रुत, 2. अनक्षरश्रुत, 3. संज्ञीश्रुत, 4. असंज्ञीश्रुत, 5. सम्यक्श्रुत, 6. मिथ्याश्रुत, 7. सादि, 8. अनादि, 9. सपर्यवसित, 10. अपर्यवसित, 11. गमिक, 12. अगमिक, 13. अंगप्रविष्ट, 14. अनंगप्रविष्ट।

० से समासओ चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा–
दव्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ।
(नन्दी. 5/127)
वह श्रुतज्ञान संक्षेपतः चार प्रकार का प्रज्ञप्त है। जैसे–द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतः, भावतः।

० श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम्।
(त.सू. 1/20)
मतिज्ञानपूर्वक होने वाले श्रुतज्ञान के दो, अनेक और बारह भेद होते हैं।

० तद्द्विविधमङ्गबाह्यमङ्गप्रविष्टं च। तत्पुनरनेकविधं द्वादशविधं च यथासंख्यम्। अङ्गबाह्यमनेकविधम् तद्यथा–सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवो वन्दनं प्रतिक्रमणं कायव्युत्सर्गः प्रत्याख्यानं दशवैकालिकं उत्तराध्यायाः दशाः कल्पव्यवहारौ

निशीथमृषिभाषितान्येवमादि। अङ्गप्रविष्टं द्वादश, तद्यथा-आचारः सूत्रकृतं स्थानं समवायः व्याख्याप्रज्ञप्तिः ज्ञातृधर्मकथा उपासकाध्ययन-दशाः अन्तकृद्दशाः अनुत्तरौपपादिकदशाः प्रश्नव्याकरणं विपाकसूत्रं दृष्टिपात इति।

(तत्त्व.भा. 1/20)

श्रुतज्ञान दो प्रकार का है, अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। इनमें अङ्गबाह्य के अनेक भेद हैं और अङ्गप्रविष्ट के बारह भेद हैं। अंङ्गबाह्य के भेद इस प्रकार हैं–सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायव्युत्सर्ग, प्रत्याख्यान, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, दशा, कल्पसूत्र, व्यवहारसूत्र, निशीथ व ऋषिभाषित इत्यादि। अंगप्रविष्ट के बारह भेद इस प्रकार हैं– आचाराङ्ग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययनदशांग, अन्तकृत्दशांग, अनुत्तरोप-पातिकदशांग, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिपात (वाद)।

० तं दुविहं–सद्दलिंगजं अत्थलिंगजं चेदि।

(ज.ध. 1, पृ. 310)

वह श्रुतज्ञान शब्दलिंगज और अर्थलिंगज के भेद से दो प्रकार का है।

० तत्पर्यायादिभेदेन व्यासाद्विंशतिधा भवेत्।

(तत्त्वा. 1/25)

विस्तार की अपेक्षा (पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षरसमास, पद, पदसमास, संघात, संघातसमास, प्रतिपत्तिक, प्रतिपत्तिकसमाज, अनुयोग, अनुयोगसमास, प्राभृतप्राभृत, प्राभृतप्राभृत-समास, प्राभृत, प्राभृतसमास, वस्तु, वस्तुसमास, पूर्व और पूर्वसमास आदि के भेद से) श्रुतज्ञान बीस तरह का होता है।

० श्रुतभेदा उच्यन्ते-श्रुतम् अक्षर-संज्ञि-सम्यक्-सादि-सपर्यवसित-गमिकाङ्गप्रविष्टभेदैः सप्रति-पक्षैश्चतुर्दश-विधम्।

(जै.त.भा.प्र.परि., पृ. 19)

श्रुतज्ञान चौदह प्रकार का है–1. अक्षरश्रुत, 2. अनक्षरश्रुत, 3. संज्ञिश्रुत, 4. असंज्ञिश्रुत, 5. सम्यक्श्रुत, 6. मिथ्याश्रुत, 7. सादिश्रुत, 8. अनादिश्रुत, 9. सपर्यवसितश्रुत, 10. अपर्य-वसितश्रुत, 11. गमिकश्रुत, 12. अगमिकश्रुत, 13. अंगप्रविष्टश्रुत, 14. अनंगप्रविष्ट– अंगबाह्यश्रुत।

श्रुतज्ञान प्रमाण

० (द्रष्टव्य : आगम)

श्रुतनिश्रित के भेद

० सुयनिस्सियं चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा– उग्गहे ईहा अवाओ धारणा।

(नन्दी. 3/39)

श्रुतनिश्रित (मतिज्ञान) चार प्रकार का कहा गया है, जैसे –

1. अवग्रह, 2. ईहा, 3. अवाय, 4. धारणा।

(द्रष्टव्य : मतिज्ञान के भेद)

श्रुतप्रमाण

० यथा विशकलितानां मुक्तामणीनामेक-सूत्रा-नुस्यूतानां हारव्यपदेशः एवं पृथगभिसन्धीनां नयानां स्याद्वादलक्षणैकसूत्रप्रोतानां श्रुताख्य-प्रमाणव्यपदेश इति।

(स्या.मं. 30)

जिस प्रकार बिखरे हुये मोतियों को एक सूत में पिरो देने से मोतियों का सुन्दर हार बन कर तैयार हो जाता है, उसी तरह भिन्न– भिन्न नयों को स्याद्वाद रूपी सूत में पिरो देने से सम्पूर्ण नय 'श्रुतप्रमाण' कहे जाते हैं।

श्रुतविकल्प (नय)

० श्रुतमूला नयाः सिद्धाः।

(तत्त्व.श्लो. 1/6/27)

नय श्रुतमूलक हैं–यह सिद्ध है।

० श्रुतविकल्पो वा नयः।

(आ.प. 9)

नय श्रुतज्ञान के विकल्प हैं।

० सुयणाणस्स वियप्पो सो वि णओ लिंगसंभूदो।

(कार्ति. 263)

नय श्रुत ज्ञान का विकल्प (भेद) है और वह लिंगजन्य अर्थात् युक्ति–हेतु पूर्वक ग्रहण किया (हुआ) होता है।

० जं णाणीण वियप्पं सुवासयं वत्थुअंससंगहणं। तं इह णयं पउत्तं.....।

(बृ.न.च. 173)

(श्रुत) ज्ञान के आश्रय को लिए हुए ज्ञानी का जो विकल्प वस्तु के अंश को ग्रहण करता है, उसे नय कहते हैं।

श्रुति

० (द्रष्टव्यः आगम-पर्याय)

स

संख्या

० (द्रष्टव्य : पर्याय)

संग्रहनय

० संगहिय–पिंडियत्थं संगहवयणं समासओ वेंति।

(अनु.सू. 13/715 (2))

संग्रह नय संगृहीत और पिण्डित अर्थ को संक्षेप में बताता है।

० अर्थानां सर्वैकदेशसंग्रहणं संग्रहः।

(तत्त्व.भा. 1/35)

पदार्थों के सर्वदेश और एकदेश–दोनों के ग्रहण करने का अभिप्राय 'संग्रहनय' है।

० स्वजात्यविरोधेन ऐकध्यमुपानीय पर्यायानाक्रान्त-भेदान् अविशेषेण समस्तग्रहणात् संग्रहः। सत् द्रव्यं घट इत्यादि। सत् इत्युक्ते सदिति वाग्-विज्ञानानुप्रवृत्ति-लिङ्गानुमित-सत्ताधारभूतानाम् अविशेषेण सर्वेषां संग्रहः। द्रव्यमित्युक्तेऽपि द्रवति गच्छति तांस्तान् पर्यायान् इत्युपलक्षितानां जीवा-जीवतद्भेदप्रभेदानां संग्रहः। तथा घट इत्युक्तेऽपि घटबुद्ध्यभिधानानुगम-लिङ्गानुमितसकलार्थ-संग्रहः। एवंप्रकारोऽन्योऽपि संग्रहनयस्य विषयः।

(स.सि. 1/31/243)

भेद रहित सब पर्यायों को अपनी जाति के अविरोध द्वारा एक मानकर सामान्य से सबको ग्रहण करने वाला नय 'संग्रहनय' है। यथा–सत्, द्रव्य और घट आदि। 'सत्' ऐसा कहने पर सत् इस प्रकार के वचन और

विज्ञान की अनुवृत्तिरूप लिंग से अनुमित सत्ता के आधारभूत सब पदार्थों का सामान्य रूप से संग्रह हो जाता है। 'द्रव्य' ऐसा कहने पर भी 'उन-उन पर्यायों को द्रवता है अर्थात् प्राप्त होता है'–इस प्रकार इस व्युत्पत्ति से युक्त जीव, अजीव और उनके सब भेद–प्रभेदों का संग्रह हो जाता है। तथा 'घट' ऐसा कहने पर भी घट इस प्रकार की बुद्धि और घट इस प्रकार के शब्द की अनुवृत्तिरूप लिंग से अनुमित सब घट पदार्थों का संग्रह हो जाता है। इस प्रकार अन्य भी संग्रह नय का विषय है।

० संगहियपिंडियत्थं संगहवयणं समासओ बिंति।
(विशे.भा. 2183)
संगृहीत व पिंडित अर्थ को संक्षेप में कथन करने वाला संग्रह नय (वचन) होता है।

० संगहणं संगिण्हइ संगिज्झंते व तेण जं भेया।
तो संगहो त्ति संगहियपिंडियत्थं वओ जस्स।।
(विशे.भा. 2203)
समस्त वस्तुओं का संग्रहण, या जो समस्त वस्तुओं का सामान्यतया संग्रह करता है, या जिससे सभी भेद सामान्यतया संगृहीत होते हैं, वह 'संग्रह' कहलाता है। संगृहीत (सामान्यतया गृहीत) तथा पिंडित (एक जाति के रूप में गृहीत)–ऐसी वस्तु या अर्थ को कहने वाला वचन जिस नय का होता है, वह 'संग्रह नय' है।

० स्वजात्यविरोधेन एकत्वोपनयात् समस्तग्रहणं संग्रहः।
(रा.वा. 1/33/5)
अपनी जाति के विरोधी सामान्य के द्वारा उन पदार्थों का संग्रह करने वाला 'संग्रह नय' होता है।

० एकत्वेन विशेषाणां ग्रहणं संग्रहो नयः।
सजातेरविरोधेन दृष्टेष्टाभ्यां कथंचन।।
(तत्त्व.श्लो. 1/33/49)
अपनी सत्ता रूप जाति से इष्ट व दृष्ट प्रमाणों से अविरोध रखते हुए, पदार्थ के सभी विशेषों का (कथंचित्) एकत्व रूप में ग्रहण करना 'संग्रह नय' है।

० विधिव्यतिरिक्तप्रतिषेधानुपलम्भाद्विधिमात्रमेव तत्त्वमित्यध्यवसायः समस्तस्य ग्रहणात्संग्रहः। द्रव्यव्यतिरिक्तपर्यायानुपलम्भाद् द्रव्यमेव तत्त्वमित्यध्यवसायः वा संग्रहः।
(ध. 1, पृ. 85)
विधि अर्थात् सत्ता को छोड़कर प्रतिषेध अर्थात् असत्ता भिन्न उपलब्ध नहीं होती है, इसलिए विधिमात्र ही तत्त्व है। इस प्रकार निश्चय करने वाले नय को 'संग्रह नय' कहते है। अथवा, द्रव्य को छोड़कर पर्यायें नहीं पाई जाती हैं, इसलिए द्रव्य ही तत्त्व है। इस प्रकार के निश्चय करने वाले नय को 'संग्रह नय' कहते हैं।

० व्यवहारमनपेक्ष्य सत्तादिरूपेण सकलवस्तुसंग्राहकः संग्रहनयः।
(ध. 13, पृ. 199)
व्यवहार की अपेक्षा न करके जो सत्तादिरूप से सकल पदार्थों का संग्रह करता है, वह 'संग्रह नय' है।

० भेदेनैक्यमुपानीय स्वजातेरविरोधतः।
समस्तग्रहणं यस्मात्स नयः संग्रहो मतः।।

(तत्त्वा. 1/45)

अपनी जाति का विरोध न करते हुए भेद द्वारा एकत्व को प्राप्त कर समस्त पदार्थों का ग्रहण जिससे होता है, वह 'संग्रह' नय कहा गया है।

० अभेदरूपतया वस्तुजातं संगृह्णातीति संग्रहः।

(आ.प. 197)

जो नय अभेद रूप से सम्पूर्ण वस्तु–समूह को विषय करता है, वह 'संग्रह नय' है।

० स्वजात्यविरोधेनैकध्यमुपनीयार्थानाक्रान्तभेदान् समस्तग्रहणात् संग्रहः।

(प्र.क.मा. 6/74)

जिनमें 'विशेष' अन्तर्भूत है, ऐसे (सत् रूप) स्वजाति से अविरुद्ध एकत्व को प्राप्त हुए पदार्थों को जो समग्र रूप से ग्रहण करे, वह 'संग्रह नय' कहलाता है।

० जो संगहेदि सव्वं देसं वा विविह-दव्व-पज्जायं।
अणुगम-लिगं-विसिट्ठं सो वि णओ संगहो होदि।।

(कार्ति. 272)

जो नय समस्त वस्तु का अथवा उसके एकदेश (भेद) का अनेक द्रव्यपर्याय सहित अन्वयलिंग-विशिष्ट संग्रह करता है, उसे 'संग्रह नय' कहते हैं।

० संग्रहणं सामान्यरूपतया सर्ववस्तूनामाक्रोडनं संग्रहः। अथवा सामान्यरूपतया सर्वं संगृह्णाति-इति संग्रहः अथवा यद् यस्मात् सर्वेऽपि भेदाः सामान्यरूपतया संगृह्यन्ते अनेन इति संग्रहः। संगृहीतं च तत् पिण्डितं च संगृहीतपिण्डितं तदेवार्थोऽभिधेयं यस्य तत् संगृहीतपिण्डितार्थम्, एवंभूतं वचो वचनं यस्य संग्रहस्येति।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 2203)

'संग्रह' का अर्थ है–सभी वस्तुओं का सामान्य रूप से संग्रहण या उन्हें अंगीकृत करना। अथवा जो समस्त वस्तुओं का सामान्य रूप से संग्रहण करता है, वह 'संग्रह' है। अथवा 'संग्रह' वह है जिसके द्वारा सभी भेद सामान्य रूप से संगृहीत होते हैं। इस प्रकार संगृहीत और पिण्डित (अखण्ड रूप से गृहीत) पदार्थ जिसका अभिधेय है, ऐसा वचन (कथन) जिस नय का होता है, वह 'संग्रह नय' होता है।

० सामान्यमात्रग्राही परामर्शः संग्रहः।

(प्र.न.त. 7/13; स्या.मं. 28)

मात्र 'सामान्य' स्वरूप को ग्रहण करने वाला अभिप्राय 'संग्रहनय' कहलाता है।

० सामान्यमात्रमशेषविशेषरहितं सत्त्वद्रव्यत्वादिकं गृह्णातीत्येवंशीलः, समेकीभावेन पिण्डीभूततया विशेषाणामेकरूपतया यद् ग्रहणं स संग्रह इति।

(र.करा. 7/13)

सम् अर्थात् एकीभाव या पिण्डीभूत रूप में विशेषों के समुदाय को ग्रहण करने से इस नय को संग्रहनय कहा जाता है और यह सामान्य मात्र एवं समस्त विशेषों से रहित तत्त्व, द्रव्यत्व आदि को ग्रहण करने वाला संग्रहनय होता है। (तात्पर्य यह है कि संग्रहनय स्वजातिगत विशेषों का प्रत्यक्ष-अविरूद्ध एवं प्रयोजन-अविरूद्ध रूप से ग्रहण करता है।)

० अभेदग्राही संग्रहः।

(भि.न्या. 5/6)

अभेदग्राही (सामान्यग्राही) विचार को 'संग्रह नय' कहा जाता है।

संग्रहनय के भेद

० संग्रहो द्वेधा।

(आ.प. 68)

सामान्य संग्रह और विशेष संग्रह नय के भेद से संग्रह नय दो प्रकार का है।

० अयमुभयविकल्पः—परोऽपरश्च। अशेषविशेषेष्वौदासीन्यं भजमानः शुद्धद्रव्यं सन्मात्रमभिमन्यमानः परसंग्रहः। विश्वमेकं सद् अविशेषाद् इति यथा।..... द्रव्यत्वादीनि अवान्तर-सामान्यानि मन्वानः तद्भेदेषु गजनिमीलिकामवलम्बमानः पुनरपरसंग्रहः। धर्माधर्माकाशकाल-पुद्गलजीवद्रव्याणामैक्यं द्रव्यत्वाभेदाद् इत्यादिर्यथा।।

(प्र.न.त. 7/14–16, 19–20; स्या.मं. 28; जै.त.भा.नय परि., 60–61)

संग्रह नय के दो भेद हैं—1. पर संग्रह, 2. अपर संग्रह।

समस्त विशेषों में उदासीनता रखने वाला और शुद्ध सत्ता मात्र द्रव्य को विषय करने वाला नय 'पर संग्रहनय' कहलाता है। जैसे सत्ता सब में पायी जाती है, अतः विश्व एकरूप है। द्रव्यत्व, पर्यायत्व आदि अपर सामान्यों को स्वीकार करने वाला और उन अपर सामान्यों के भेदों में उदासीनता रखने वाला नय 'अपर संग्रहनय' कहलाता है। जैसे—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव द्रव्य सब एक हैं, क्योंकि सब में एक द्रव्यत्व विद्यमान है—ऐसा मानना 'अपरसंग्रहनय' है।

(द्रष्टव्य : अपरसंग्रहनय, परसंग्रहनय,)

संग्रहनयाभास

० ब्रह्मवादस्तदाभासः स्वार्थभेदनिराकृतेः।

(लघी. 2/38)

ब्रह्माद्वैतवाद संग्रहाभास है, क्योंकि वह सन्मात्र तत्त्व के जीवादि भेदों का निराकरण करता है।

० सत्ताद्वैतं स्वीकुर्वाणः सकलविशेषान् निराचक्षाणः तदाभासः। सत्तैव तत्त्वं ततः पृथग्भूतानां विशेषाणा-मदर्शनात्। ...द्रव्यत्वादिकं प्रतिजानानस्तद्विशेषान् निह्नुवानस्तदाभासः। यथा द्रव्यत्वमेव तत्त्वं, ततोऽर्थान्तरभूतानां द्रव्याणामनुपलब्धेः।।

(प्र.न.त. 7/17–18, 21–22; स्या.मं. 28)

एकान्त सत्ता मात्र को स्वीकार करने वाला और घट आदि सब विशेषों का निषेध करने वाला अभिप्राय 'पर संग्रहनयाभास' है। जैसे—'सत्ता ही वास्तविक वस्तु है, क्योंकि उससे भिन्न घट आदि विशेष दृष्टिगोचर नहीं होतें। द्रव्यत्व आदि अपर सामान्यों को स्वीकार करने वाला और उनके भेदों का निषेध करने वाला अभिप्राय 'अपर संग्रह नयाभास' है। जैसे—द्रव्यत्व ही वास्तविक है, उससे भिन्न धर्म आदि द्रव्य उपलब्ध नहीं होते।

० सत्ताऽद्वैतं स्वीकुर्वाणः सकलविशेषान्निराचक्षाणः संग्रहाभासः।

(जै.त.भा.नय परि., पृ. 66)

एकमात्र सत्ता को अंगीकार करने वाला और समस्त विशेषों का निषेध करने वाला 'संग्रहनयाभास' होता है।

(द्रष्टव्य : अद्वैतवादी, अपरसंग्रह, परसंग्रह)

संदिग्ध

० तत्र सन्दिग्धं स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यनवधारणे-नोभयकोटिपरामर्शि संशयाकलितं वस्तु उच्यते।

(प्र.र.मा. 3/17)

यह स्थाणु है या पुरुष, इनमें से किसी एक का निश्चय न होने से उभय कोटियों की विषयभूत संशययुक्त वस्तु को 'संदिग्ध' कहते हैं।

संदिग्धउभयधर्म दृष्टान्ताभास

० नायं सर्वदर्शी रागादिमत्त्वान्मुनिविशेषवदित्युभय-धर्मा।

(प्र.न.त. 6/65)

यह पुरुष सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि रागादि वाला है, जैसे अमुक मुनि। यह 'संदिग्धउभयधर्म दृष्टान्ताभास' है। (क्योंकि अमुक मुनि में सर्वज्ञता का अभाव और रागादिमत्त्व दोनों का ही संदेह है।)

संदिग्धउभयव्यतिरेक दृष्टान्ताभास

० न वीतरागः कपिलः करुणास्पदेष्वपि परम-कृपयाऽनर्पितनिजपिशितशकलत्वात्, यस्तु वीत-रागः स करुणास्पदेषु परमकृपया समर्पितनिज-पिशितशकलस्तद्यथा तपनबन्धुरिति संदिग्धो-भयव्यतिरेकः।

(प्र.न.त. 6/76)

कपिल वीतराग नहीं है; क्योंकि उन्होंने दयापात्र व्यक्तियों को भी परम कृपा से प्रेरित होकर अपने शरीर के मांस के टुकड़े नहीं दिये हैं; जो वीतराग होता है, वह दयापात्र व्यक्तियों को परम कृपा से प्रेरित होकर अपने शरीर के मांस के टुकड़े दे देता है, जैसे बुद्ध। यहाँ बुद्ध दृष्टान्त 'संदिग्धउभयव्यतिरेक दृष्टान्ताभास' है।

संदिग्धसाधनधर्म दृष्टान्ताभास

० मरणधर्माऽयं रागादिमत्वान्मैत्रवदिति संदिग्ध-साधनधर्मा।।

(प्र.न.त. 6/64)

'यह पुरुष मरणशील है' क्योंकि रागादिवाला है, जैसे मैत्र। यहाँ मैत्र दृष्टान्त 'संदिग्ध-साधनधर्म दृष्टान्ताभास' है (क्योंकि मैत्र में रागादिमत्त्व हेतु संदिग्ध है)।

संदिग्धसाधनव्यतिरेक दृष्टान्ताभास

० अनादेयवचनः कश्चिद्विवक्षितः पुरुषो रागा-दिमत्त्वात्, यः पुनरादेयवचनः स वीतरागस्तद्यथा शुद्धोदनिरिति संदिग्धसाधनव्यतिरेकः, शौद्धोदनौ रागादिमत्त्वस्य निवृत्तेः संशयात्।

(प्र.न.त. 6/75)

कोई विवक्षित पुरुष अग्राह्य वचन वाला है, क्योंकि वह रागादि वाला है, जो ग्राह्य वचन वाला होता है वह वीतराग होता है; जैसे बुद्ध। यहाँ 'बुद्ध' दृष्टान्त 'संदिग्ध साधन-व्यतिरेक' (दृष्टान्ताभास) है क्योंकि बुद्ध में रागादिमत्त्व (साधन) के अभाव होने में संदेह है।

संदिग्धसाध्यधर्म दृष्टान्ताभास

० रागादिमानयं वक्तृत्वात्, देवदत्तवदिति संदिग्ध-साध्यधर्मा।।

(प्र.न.त. 6/63)

यह पुरुष राग आदि वाला है, क्योंकि वक्ता है, जैसे देवदत्त। यहाँ देवदत्त दृष्टान्त 'संदिग्ध-साध्यधर्मदृष्टान्ताभास'' है (क्योंकि देवदत्त में रागादिमत्त्व साध्य संदिग्ध है।)।

संदिग्धसाध्यव्यतिरेक दृष्टान्ताभास

० असर्वज्ञतोऽनाप्तो वा कपिलोऽक्षणिकैकान्त-वादित्वात्; यः सर्वज्ञ आप्तो वा स क्षणिकै-

कान्तवादी यथा सुगतः, इति संदिग्धसाध्य-व्यतिरेकः सुगते।।

(प्र.न.त. 6/74)

कपिल सर्वज्ञ अथवा आप्त नहीं है क्योंकि वह एकान्त नित्यवादी है, जो सर्वज्ञ अथवा आप्त होता है, वह एकान्त क्षणिकवादी होता है, जैसे सुगत (बुद्ध)। यहाँ 'सुगत' दृष्टान्त 'संदिग्धसाध्यव्यतिरेक दृष्टान्ताभास' है (क्योंकि सुगत में असर्वज्ञता या अनाप्तता संदिग्ध है)।

संयोग

० नैरन्तर्येणावयवप्राप्तिमात्रं संयोगः।

(तत्त्व.भा.वृ. 5/26)

निरन्तरता से परस्पर अवयव (आंशिक) की प्राप्ति होना –यही 'संयोग' है।

० युतसिद्धानाम् अप्राप्तिपूर्विका प्राप्तिः संयोगः।

(रा.वा. 1/1/14)

पृथक् पृथक् सत्ता वालों की जो अप्राप्तपूर्व प्राप्ति (एकत्र स्थिति) होती है, 'संयोग' कहा जाता है।

० को संजोगो ? पुधप्पसिद्धाण मेलणं संजोगो।

(ध. 15, पृ. 24)

संयोग किसे कहते हैं ? पृथक् प्रसिद्ध पदार्थों के मेल को 'संयोग' कहा जाता है।

(द्रष्टव्य : पर्याय)

संवृतिसत्य

० यल्लोके संवृत्या नीतं वचस्तत्संवृतिसत्यम्। यथा पृथिव्याद्यनेककारणत्वेऽपि सति पङ्के जातं पङ्कजम् इत्यादि।

(रा.वा. 1/20/12)

लोक में लोकरूढि से जो वचन व्यवहार में चला आता है, उसे 'संवृतिसत्य' कहते हैं। जैसे–कमल की उत्पत्ति में पृथ्वी आदि अनेक कारणों के होने पर भी, वह चूंकि कीचड़ में उत्पन्न होता है, इसलिए उसे 'पङ्कज' कहना, इत्यादि।

० सामग्रीकृतकायस्य वाचकत्वैकदेशतः।
वचः संवृतिसत्यं स्यात् भेरीशब्दादिकं यथा।।

(ह.पु. 10/102)

जिस वचन का शरीर (स्वरूप) अनेक कारण रूप सामग्री पर आधारित होता है, फिर भी वाचकता का एकदेश विद्यमान होने से जो वचन कहा जाता है, उसे 'संवृतिसत्य' जानना चाहिए। जैसे–भेरी का शब्द, यद्यपि भेरी के शब्द में भेरी के अतिरिक्त बांसुरी, वीणा आदि अनेक कारण होते हैं, फिर भी भेरी की प्रधानता से भेरी का शब्द कहा जाता है (जो संवृतिसत्य है)।

संव्यवहार

० समीचीनो व्यवहारः संव्यवहारः, प्रवृत्ति निवृत्ति-लक्षणः संव्यवहारो भण्यते।

(बृ.द्र.सं.वृ. 5)

प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप समीचीन व्यवहार को 'संव्यवहार' कहते हैं।

संशय

० सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशयः। तद्यथा–स्थाणुपुरुषोचिते देशे नाति-प्रकाशान्धकारकलुषायां वेलायामूर्ध्वत्वमात्रं सारूप्यं पश्यतो वक्रकोटर-वयोनिलयनादीन्

स्थाणुगतान् विशेषान् वस्त्रसंयमनशिरः-कण्डूयनशिखाबन्धनादीन् पुरुषगतांश्चाऽनुपलभमानस्य तेषां च स्मरतः संशय उत्पद्यते।

(रा.वा. 1/6/9)

वस्तु के सामान्य धर्म का प्रत्यक्ष हो, विशेष रूप धर्मों का प्रत्यक्ष न हो, किन्तु (उभय) विशेषों का स्मरण हो, तो 'संशय' होता है। जैसे–स्थाणु (ठूंठ वृक्ष) और पुरुष–इन दोनों के सद्भाव का औचित्य हो–ऐसे स्थान पर, अत्यन्त प्रकाश व अन्धेरा–ये दोनों ही स्थितियां न हो (अर्थात् धुंधलापन हो)–ऐसी (रात की) वेला में ऊंचाई आदि सामान्य धर्म की प्रत्यक्षता होने पर स्थाणु (ठूंठ पेड़) में पाये जाने वाले वक्र कोटर–पक्षि निवास आदि विशेष धर्मों के प्रत्यक्ष न होने से, पुरुषगत सिर खुजलाना, कपड़ा हिलना, चोटी बंधी होना आदि विशेष धर्मों के भी प्रत्यक्ष न होने से, किन्तु उभयगत विशेष धर्मों की स्मृति होने पर (ज्ञान की दो कोटियों में दोलायमान होने से) संशय की स्थिति होती है।

० अनेकार्थाऽनिश्चिताऽपर्युदासात्मकः संशयः। स्थाणु-पुरुषाद्यनेकार्थालम्बनसन्निधानादनेकार्थात्मकः संशयः।

(रा.वा. 1/15/9)

संशय जो होता है, वह (स्थाणु व पुरुष आदि) अनेक धर्मों में दोलायमान अनिश्चितता लिये हुए होता है और दो धर्मों में से किसी भी एक का निराकरण भी नहीं करता। (जैसे) स्थाणु व पुरुष आदि अनेक पदार्थों के आलम्बन लिये हुए होने के कारण संशय की स्थिति बनती है।

० किमेतदिति संदिग्धः प्रत्ययः संशयो मतः।।

(षड्.समु. 25)

'यह क्या है'–इस प्रकार के संदिग्ध प्रत्यय को 'संशय' कहा जाता है।

० दोलायमानप्रत्ययः संशयः।

(ध. 13, पृ. 340)

दोलायमान ज्ञान का नाम 'संशय' है।

० तत्र साधारणाकारदर्शनात् विशेषादर्शनात् उभयविशेषस्मरणात् संशयः।

(प्र.प्र. 1/10)

दो पदार्थों में सामान्य आकार के देखने से, उनके विशेष (अन्तर) के न देखने से तथा उन विशेषों के स्मरण से उत्पन्न होने वाला ज्ञान 'संशय' कहलाता है।

०

उल्लिख्यमानस्थाणुत्वपुरुषत्वाद्यनेकांशगोचर–योः साधकबाधकप्रमाणयोरनुपलम्भादनवधारितनानांशावलम्बिविधिप्रतिषेधयोरसमर्थं संवेदनं संशय इत्यर्थः।

(र.करा. 1/11)

उदाहरणस्वरूप उल्लिखित स्थाणु और पुरुष के अनेक अंशों को स्पर्श करने वाला ज्ञान 'संशय' है, इस ज्ञान के समय न ठूंठ को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण होता है और न पुरुष का निषेध करने वाला, अतः अनिश्चित अनेक अंशों को छूने वाला ज्ञान 'संशय' है।

० समिति समन्तात् सर्वप्रकारैः शेत इवेति व्युत्पत्तेः।

(र.करा. 1/11)

जो ज्ञान वस्तु के अनेक अंशों को लेकर मानो शयन करता है, वह 'संशय' है।

० विरुद्धानेककोटिस्पर्शि ज्ञानं संशयः, यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति। स्थाणुपुरुषसाधारणोर्ध्वतादि-धर्मदर्शनात्तद्विशेषस्य वक्रकोटरशिरःपाण्यादेः साधकप्रमाणाभावादनेककोट्यबलम्बित्वं ज्ञानस्य।

(न्या.दी. 1/9)

विरुद्ध अनेक पक्षों का अवगाहन करने वाले ज्ञान को 'संशय' कहते हैं। जैसे–यह स्थाणु है या पुरुष है? यहाँ 'स्थाणुत्व व स्थाणुत्वाभाव, पुरुषत्व व पुरुषत्वाभाव'– इन चार अथवा 'स्थाणुत्व और पुरुषत्व' इन दो पक्षों का अवगाहन होता है। प्रायः संध्या आदि के समय मंद प्रकाश होने के कारण दूर से मात्र स्थाणु और पुरुष दोनों में सामान्यरूप से रहने वाले ऊंचाई आदि साधारण धर्मों के देखने और स्थाणुगत टेढ़ापन, कोटरत्व (घोंसला) आदि तथा पुरुषगत शिर, पैर आदि विशेष धर्मों के साधक प्रमाणों का अभाव होने से नाना कोटियों को अवगाहन करने वाला यह 'संशय' ज्ञान होता है।

० अनिर्णायी विकल्पः संशयः।

(भि.न्या. 1/13)

निर्णयशून्य विकल्प का नाम 'संशय' है।

(द्रष्टव्य : प्रत्यक्षाभास, समारोप)

संशय मिथ्यादर्शन

० सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि किं मोक्षमार्गः स्याद् वा न वेत्यन्तरपक्षापरिग्रहः संशयः।

(स.सि. 8/1/731)

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र –ये तीनों मिलकर मोक्षमार्ग हैं या नहीं, इस प्रकार किसी एक पक्ष को स्वीकार नहीं करना 'संशय मिथ्यादर्शन' है।

(द्रष्टव्य : मिथ्यादर्शन)

संशयसमा जाति (दूषणाभास, जात्युत्तर के भेद)

० साधर्म्यवैधर्म्यसमा वा या जातिः पूर्वमुदाहृता सैव संशयेनोपसंहृियमाणा संशयसमा जाति-र्भवति। यथा किं घटसाधर्म्यात् कृतकत्वाद-नित्यः शब्द उत तद्वैधर्म्यादाकाशसाधर्म्याद्वा निरवयवत्वात् नित्य इति।

(प्र.मी. 2/1/29)

पहले जो साधर्म्यसमा और वैधर्म्यसमा जाति कही है, उसका उपसंहार यदि संशय के रूप में हो तो 'संशयसमा' जाति कहलाती है। यथा–घट के समान कृतक होने से शब्द अनित्य है या घट से विलक्षण आकाश के समान निरवयव होने से नित्य है।

० भूयोदर्शनात् निश्चितव्याप्तेः साधर्म्यवैधर्म्योपाधि-प्रतिकूलतर्कादिना पक्षे संदेहापादनं संशयसमा जातिः।

(प्र.प्र. 1/60)

बार-बार देखने से जिसकी व्याप्ति निश्चित हो चुकी है, उस पक्ष में भी समानता, भिन्नता, उपाधि, प्रतिकूल तर्क आदि के द्वारा संदेह व्यक्त करना यह 'संशयसमा' जाति (दूषणाभास) होती है।

संसर्ग

० संसर्गे तु भेदप्रधानोऽभेदो गौणः,..... अभेदविशिष्टभेदश्च संसर्ग इत्युच्यते।

(स्या.मं. 23; स.भं.त. 50)

संसर्ग में भेद की प्रधानता और अभेद की गौणता होती है, इसलिए अभेद सहित भेद को 'संसर्ग' कहा जाता है।

संस्कार

० संस्कारश्च कालान्तराविस्मरणकारणलक्षण-धारणारूपः।

(प्र.क.मा. 4/6)

कालान्तर में विस्मृत नहीं होना है –ऐसा जो 'धारणा' नाम प्रत्यक्ष ज्ञान है, उसे 'संस्कार' कहते हैं।

(द्रष्टव्य : धारणा)

संस्थान

० (द्रष्टव्य : पर्याय)

सकलप्रत्यक्ष

(द्रष्टव्य : अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष)

सकलादेश

० तथा चोक्तम्-सकलादेशः प्रमाणाधीनः (विकलादेशो नयाधीनः)।

(स.सि. 1/6/24)

(आगम में) कहा भी गया है–सकलादेश प्रमाण का विषय होता है (और विकलादेश नय का विषय होता है)।

० स्याद्वादः सकलादेशे।

(लघी. 62)

स्याद्वाद सकलादेशी है (अर्थात् वह समग्र अखण्ड वस्तु का अभिधायक होता है)।

० एकगुणमुखेन अशेषवस्तुरूपसंग्रहात् सकलादेशः। यदा अभिन्नमेकं वस्तु एकगुणरूपेण उच्यते, गुणिनां गुणरूपमन्तरेण विशेषप्रतिपत्तेरसम्भवात्। एको हि जीवोऽस्तित्वादिषु एकस्य गुणस्य रूपेण अभेदवृत्त्या अभेदोपचारेण वा निरंशः समस्तो वक्तुमिष्यते, विभागनिमित्तस्य प्रतियोगिनो गुणान्तरस्य तत्र अनाश्रयणात्, तदा सकलादेशः। कथमभेदवृत्तिः कथं वा अभेदोपचारः? द्रव्यार्थत्वेन आश्रयणे तदव्यतिरेकाद् अभेदवृत्तिः। पर्यायार्थत्वेन आश्रयणे परस्परव्यतिरेकेऽपि एकत्वाध्यारोपः, ततश्च अभेदोपचारः।

(रा.वा. 4/42/14; स.भं.त. 30)

एक गुण रूप से सम्पूर्ण वस्तु–धर्मों का अखण्ड रूप से ग्रहण करना 'सकलादेश' होता है। चूंकि 'गुणी' वस्तु का गुणों के बिना विशेष रूप से प्रतिपादन संभव नहीं होता, अतः जिस समय एक अभिन्न वस्तु को एक गुण के माध्यम से कहा जाता है, तब उस एक (अखण्ड) जीव को ही उसके अस्तित्व आदि (अनेक) धर्मों में से किसी एक गुण के द्वारा अभेदवृत्ति या अभेदोपचार से अखण्ड समस्त वस्तुरूप में ग्रहण करने की विवक्षा होती है और विभाग के कारणभूत प्रतियोगी अन्य गुण का आश्रय नहीं लिया जाता, तब 'सकलादेश' होता है। अभेदवृत्ति व अभेदोपचार किस प्रकार है? द्रव्यार्थिक नय का आश्रयण करने पर पर्यायों में अभेद है, अतः अभेदवृत्ति होती है। पर्यायार्थिक का आश्रयण करने पर, पर्यायों में भिन्नता है, इसलिए वहां एकत्व का अध्यारोप किया जाता है, और तब अभेदोपचार होता है।

० सकलादेशो हि यौगपद्येन अशेषधर्मात्मकं वस्तु कालादिभिरभेदवृत्त्या प्रतिपादयति अभेदोपचारेण वा, तस्य प्रमाणाधीनत्वात्।

(तत्त्व.श्लो. 1/6/54)

सकलादेश प्रमाण के अधीन होता है, वह अशेषधर्मात्मक वस्तु को युगपद्, काल आदि की अभेदवृत्ति से या अभेदोपचार से प्रतिपादित करता है।

० स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च घट इति सप्तापि सकलादेशाः। कथमेतेषां सप्तानां सुनयानां सकलादेशत्वम्, न। एकधर्म-प्रधानभावेन साकल्येन वस्तुनः प्रतिपादकत्वात्। एष सकलादेशः प्रमाणाधीनः प्रमाणायत्तः, प्रमाण-व्यपाश्रयः प्रमाणजनित इति यावत्।

(ज.ध. 1, पृ. 185)

(1) घट कथंचित् है, (2) कथंचित् नहीं है, (3) कथंचित् अवक्तव्य है, (4) कथंचित् है और नहीं है, (5) कथंचित् है और अवक्तव्य है, (6) कथंचित् नहीं है और अवक्तव्य है, (7) कथंचित् है, नहीं है और अवक्तव्य है –इस प्रकार ये सातों ही सुनय सकलादेश हैं। इन सातों नयों में सकलादेशपना कैसे है? ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि एक धर्म को प्रधान मानकर, समस्त रूप से वस्तु के प्रतिपादक होने से ये सातों ही सुनय सकलादेश हैं।.....यह सकलादेश प्रमाणाधीन है अर्थात् प्रमाण के वशीभूत है, प्रमाणाश्रित है या प्रमाणजनित है।

० प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकवस्तुनः कालादिभि-रभेदवृत्तिप्राधान्याद् अभेदोपचारात् वा यौगपद्येन प्रतिपादकं वचः सकलादेशः।।

(प्र.न.त. 4/44; जै.त.भा.प्र.परि., पृ. 56)

प्रमाण से जानी हुई अनन्तधर्मात्मकवस्तु को, काल आदि के द्वारा अभेद की प्रधानता से, अथवा अभेद का उपचार करके, एकसाथ प्रतिपादन करने वाला वचन 'सकलादेश' कहलाता है।

० तदेताभ्यामभेदवृत्त्यभेदोपचाराभ्यां कृत्वा प्रमाण-प्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः
समसमयं यदभिधायकम् वाक्यं, स सकलादेशः प्रमाणवाक्यापरपर्याय इति स्थितम्।

(र.करा. 4/44)

इन अभेदवृत्ति व अभेदोपचार को प्रयुक्त करते हुए प्रमाण द्वारा गृहीत अनन्तधर्मात्मक वस्तु का एक साथ प्ररूपण करने वाला जो वाक्य होता है, वह 'सकलादेश' है, उसी का दूसरा पर्याय प्रमाणवाक्य है।

० साकल्यमनन्तधर्मात्मात्मकता.....। 'स्यात् जीव एव' इत्युक्ते अनेकान्तविषयः स्यात्–शब्दः।

(लघी. 62 वृ.)

सकलादेश यानी अनन्तधर्मात्मकता का कथन। 'स्यात् जीव ही है' इस कथन में अनेकान्त-विषयक (सकलादेशी) स्यात् शब्द है।

० अनेकधर्मात्मकवस्तुविषयकबोधजनकवाक्यत्वं सकलादेशत्वम्।

(स.भं.त. 23)

सत्त्व, असत्त्व आदि अनेक धर्म स्वरूप जो वस्तु है, उस 'वस्तु विषयक बोधजनक' अर्थात् वस्तु के अनेक धर्मों का ज्ञान कराने वाला वाक्य 'सकलादेश' है।

० सिद्धान्तविदस्तु एकधर्मबोधनमुखेन तदात्मकानेकाशेषधर्मात्मकवस्तुविषयकबोधजनकवाक्यत्वम् सकलादेशत्वम्।

(स.भं.त. 30)

सिद्धान्तवेत्ताओं के मत में–एक धर्म के प्रतिपादन की दृष्टि से उस धर्म के साथ अन्य अनेक समस्त धर्मों वाली जो (समग्र) वस्तु है, उस वस्तु का बोध कराने वाला वाक्य 'सकलादेश' कहलाता है।

० सकलादेशो हि यौगपद्येन अशेषधर्मात्मकं घटादि-रूपमर्थं कालादिभिरभेदवृत्त्याऽभेदोपचारेण वा प्रतिपादयति, सकलादेशस्य प्रमाणरूपत्वात्।

(स.भं.त. 48)

सकलादेश तो अशेषधर्मात्मक घट आदि पदार्थ को एक काल में ही काल आदिगत अभेदवृत्ति से या अभेदोपचार से प्रतिपादित करता है, क्योंकि सकलादेश प्रमाणस्वरूप होता है।

(द्रष्टव्य : अनेकान्त, प्रमाणवाक्य, भेदाभेदवृत्ति, सम्यग्)

सत्

० सद् द्रव्यलक्षणम्।

(त.सू. 5/29, दिग.)

द्रव्य का लक्षण 'सत्' है।

० उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।।

(त.सू. 5/30, दिग., 29 श्वे.; षड्.समु.टी. 57)

जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य –इन तीनों से युक्त अर्थात् इन तीनों रूप है, वह 'सत्' है।

० उत्पादव्ययौ ध्रौव्यं च एतत्–त्रितययुक्तं सतो लक्षणम्। अथवा युक्तं समाहितं त्रिस्वभावं सत्। यत् उत्पद्यते यद् व्येति यत् च ध्रुवं तत्सत्।

(तत्त्व.भा. 5/29, श्वे.)

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य–इन तीनों से युक्त रहना ही सत् का लक्षण है। सत् का लक्षण त्रिस्वभावता ही है। जो उत्पन्न होता है, और जो विलीन होता है, तथा जो ध्रुव –सदा स्थिर रहा करता है, उसको 'सत्' कहते हैं। यही सत् का लक्षण है।

० .....सहैकत्रोदयादि सत्।।

(आ.मी. 57)

एक वस्तु में युगपत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का होना 'सत्' कहलाता है।

० प्रतिक्षणं स्थित्युदयव्ययात्मतत्त्वव्यवस्थं सदिहार्थरूपम्।।

(युक्त्य. 48)

अर्थ का रूप प्रतिक्षण स्थिति, उदय और व्ययरूप तत्त्व-व्यवस्था को जो लिए हुए होता है, वह पदार्थ रूप 'सत्' है।

० जो अत्थो पडिसमयं उप्पाद-व्वय-धुवत्त- सब्भावो। गुण-पज्जय-परिणामो सो संतो भण्णदे समए।।

(कार्ति. 237)

जो वस्तु प्रतिसमय उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाव है, उसे ही आगम में गुणपर्याय वाली और 'सत्' कहा है।

० सकलपदार्थाधिगतिमूलं द्रव्य-पर्याय-गुण-सामान्य-विशेषविषयं सदित्यभिधानं सत्।

(न्या.कु. 7/76)

समस्त पदार्थों के ज्ञान का जो मूल है, और जो द्रव्य, पर्याय, गुण, सामान्य व विशेष का विषय (आधार) है, उसे 'सत्' कहा जाता है।

० ततः प्रत्यभिज्ञानहेतुभूतेन केनचित् स्वरूपेण ध्रौव्यमालम्बमानं काभ्याञ्चित् क्रमप्रवृत्ताभ्यां स्वरूपाभ्यां प्रलीयमानमुपजायमानं चैककालमेव परमार्थतः त्रयीमवस्थां बिभ्राणं वस्तु सद् अवबोध्यम्।

(पंचा.त.प्र. 8)

उस वस्तु को 'सत्' जानना चाहिए, जो (वस्तु) किसी स्वरूप से 'ध्रौव्य' (नित्यता, स्वरूप-अप्रच्युति) को लिए हुए रहती है, जिस (ध्रौव्य) के कारण उस वस्तु का 'प्रत्यभिज्ञान' (यह वस्तु वही है)' बना रहता है, और जो वस्तु क्रम–प्रवृत्त दो स्वरूपों से नष्ट भी होती है और उत्पन्न भी होती है और इस प्रकार परमार्थ रूप से एक ही काल में (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य) तीनों अवस्थाओं को धारण किये रहती है।

० तस्मात् स्वयमुत्पादः सदिति ध्रौव्यं व्ययोऽपि वा सदिति।
न सतोऽतिरिक्त एव हि व्युत्पादो वा व्ययोऽपि वा ध्रौव्यम्।।

(पं. 1/215)

स्वयं 'सत्' ही उत्पाद है, स्वयं सत् ही ध्रौव्य है, स्वयं सत् ही व्यय है। सत् से भिन्न न उत्पाद है, न व्यय है और न ध्रौव्य है।
(द्रष्टव्य : अनेकान्तात्मकता, अर्थ, द्रव्य, पदार्थ)

सत् के पर्याय

० सत्ता सत्त्वं सद् वा सामान्यं द्रव्यमन्वयो वस्तु। अर्थो विधिरविशेषाद् एकार्थवाचका अमी शब्दाः।।

(पं. 1/143)

सत्ता, सत्त्व, सत्, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु, अर्थ, विधि–ये सभी शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं।

सत्ता

० ण हवदि जदि सद्दव्वं असद्धवं हवदि तं कहं दव्वं।
हवदि पुणो अण्णं वा तम्हा दव्वं सयं सत्ता।।

(प्र.सा. 2/13)

यदि गुणपर्यायात्मक वस्तु अस्तित्व रूप हो तो वह सत्ता-रहित वस्तु द्रव्य स्वरूप कैसे हो सकती है? अथवा फिर सत्ता से भिन्न द्रव्य कैसे हो सकता है? इसलिए द्रव्य स्वयं ही 'सत्ता स्वरूप' है, भिन्न नहीं है।

० सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया। भंगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का।।

(पंचा. 8)

सत्ता उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक, एक-सर्वपदार्थ-स्थित, सविश्वरूप (विविध रूपों वाली) एवं अनन्त- पर्याय वाली होती है, और सप्रतिपक्ष भी है। (अर्थात् उत्पादादिरहित अत्रिलक्षणा, अनेक, असत्ता रूप भी होती है)।

० सत्त्वं हि अव्यभिचारि सर्वपदार्थविषयत्वात्। न हि कश्चित्पदार्थः सत्तां व्यभिचरति।

(रा.वा. 1/8/2)

सत्त्व (सत्ता) शब्द सर्व पदार्थ को विषय करता है, इसलिए वह पदार्थ का अव्यभिचारी है, क्योंकि कोई भी पदार्थ सत्ता को नहीं छोड़ता है।

० सत्ताद्रव्ययोरर्थान्तरत्वं प्रत्याख्यातम् .....द्रव्यं च लक्ष्यलक्षणभावादिभ्यः कथञ्चिद् भेदेऽपि वस्तुतः सत्ताया अपृथग्भूतमेवेति मन्तव्यम्।

(पंचा.त.प्र. 9)

सत्ता व द्रव्य –ये दोनों अर्थान्तर (पृथक्–पृथक्) नहीं है–ऐसा बताया गया है।. ....यद्यपि लक्ष्य, लक्षण, भाव आदि की दृष्टि से द्रव्य व सत्ता में कथंचित् भेद होने पर भी वस्तुतः तो द्रव्य व सत्ता–ये दोनों परस्पर अपृथग्भूत (अनन्य) हैं।

सत्ता के भेद

० द्विविधा हि सत्ता-महासत्ता, अवान्तरसत्ता च।.... .तत्र महासत्ता अवान्तरसत्तारूपेण असत्ता, अवान्तर-सत्ता च महासत्तारूपेण असत्ता-इत्यसत्ता सत्तायाः।

(पंचा.त.प्र. 8)

सत्ता के दो प्रकार हैं–महासत्ता और अवान्तरसत्ता।.....इन (दोनों) में महासत्ता अवान्तरसत्ता रूप से 'असत्ता' है, और अवान्तरसत्ता भी महासत्ता रूप से असत्ता है, इस दृष्टि से सत्ता की भी असत्ता है (अर्थात् अपेक्षाभेद से सत्ता व असत्ता दोनों रूपों वाली भावाभावात्मक प्रत्येक वस्तु होती है)।

(द्रष्टव्य : अवान्तरसत्ता, महासत्ता)

सद्भूतव्यवहार नय

० गुणगुणिनोः संज्ञादिभेदात् भेदकः सद्भूतव्यवहारः।।

(आ.प. 206)

जो गुण व गुणी में संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि भेदों से भेद करता है, वह नय 'सद्भूतव्यवहार' नय होता है।

० गुणगुणिनोः पर्यायपर्यायिणोः स्वभावस्वभाविनोः कारक-कारकिणोर्भेदः सद्भूतव्यवहारस्यार्थः।

(आ.प. 209)

गुण-गुणी में, पर्याय-पर्यायी में, स्वभाव-स्वभावी में, कारक-कारकी में भेद करना सद्भूत व्यवहार नय का विषय है।

सद्भूतव्यवहार (अध्यात्म) नय

० तत्रैकवस्तुविषयः सद्भूतव्यवहारः।

(आ.प. 221)

उनमें से एक वस्तु को विषय करने वाला 'सद्भूतव्यवहार' नय होता है।

सद्भूतव्यवहार (अध्यात्म) नय के भेद

० तत्र सद्भूतव्यवहारो द्विविध उपचरितानुपचरित-भेदात्।

(आ.प. 223)

उपचरित और अनुपचरित के भेद से सद्भूतव्यवहार नय दो प्रकार का होता है।

सद्भूतव्यवहार (उपनय) नय के भेद

० सद्भूतव्यवहारो द्विधा। शुद्धसद्भूतव्यवहारो यथा शुद्धशुद्धगुणिनोः शुद्धपर्यायशुद्धपर्यायिणो-र्भेदकथनम्। अशुद्धसद्भूतव्यवहारो यथा अशुद्धगुणाशुद्धगुणिनोरशुद्धपर्याशुद्धपर्यायिणो भेदकथनम्।

(आ.प. 81–83)

सद्भूतव्यवहार (उपनय) दो प्रकार का है – (शुद्ध और अशुद्ध)। शुद्ध सद्भूतव्यवहार वह

है, जो शुद्ध गुण और शुद्ध गुणी में तथा शुद्ध पर्याय और शुद्ध पर्यायी में भेद का कथन करता है। अशुद्ध सद्भूतव्यवहार (नय) वह जो अशुद्ध गुण और अशुद्ध गुणी में तथा अशुद्ध पर्याय और अशुद्ध पर्यायी में भेद का कथन करता है।

० .....तत्र प्रथमो धर्मधर्मिणोः।
भेदाच्छुद्धस्तथाऽशुद्धः सद्भूतव्यवहारवान्।।
ज्ञानं यथात्मनो विश्वे केवलं गुण इष्यते।
मतिज्ञानादयोऽप्येते तथैवात्मगुणा भुवि।।
गुणो गुणी च पर्यायः पर्यायी च स्वभावकः।
स्वभावी कारकस्तद्वानेकद्रव्यानुगा विधाः।।
(द्रव्य.तर्क. 7/1–3)

वह (सद्भूतव्यवहार नय) धर्म और धर्मी के भेद से शुद्ध सद्भूतव्यवहार तथा अशुद्ध सद्भूत-व्यवहार–इन भेदों से दो प्रकार का है। जैसे–इस संसार में आत्मा का केवलज्ञान गुण है, वैसे ही मतिज्ञान आदि भी यहां आत्मा के ही गुण हैं। ऐसा कहना 'शुद्धसद्भूतव्यवहार' नय है।

गुण-गुणी, पर्याय-पर्यायी, स्वभाव-स्वभावी, कारक तथा कारकवान्–ये सब भेद एक द्रव्य के ही अनुगामी हैं। यह मानना 'अशुद्धसद्भूत-व्यवहार' नय है।

सद्वाद

० यत् परार्थं तन्नयवाक्यापरपर्यायः सद्वाद एव।
(भि.न्या. 4/12)

जो ज्ञान परार्थ होता है, उसे सद्वाद कहते हैं। उसका दूसरा नाम 'नयवाक्य' है।
(द्रष्टव्य : विकलादेश)

सन्निकर्ष

० एकस्मिन् वस्तुन्येकस्मिन् धर्मे निरुद्धे शेषधर्माणां तत्र सत्त्वासत्त्वविचारः, सत्स्वप्येकस्मिन्नुत्कर्षमुपगते शेषाणामुत्कर्षानुत्कर्षविचारश्च सन्निकर्षः।
(ध. 13, पृ. 284)

एक वस्तु में किसी एक धर्म के विवक्षित होने पर, शेष धर्मों के उसमें सत्त्व-असत्त्व का विचार करना तथा उनमें भी किसी एक के उत्कर्ष को प्राप्त होने पर शेष धर्मों के उत्कर्ष-अनुत्कर्ष का भी विचार करना, इसे 'सन्निकर्ष' कहते हैं।

सपक्ष

० साध्यसजातीयधर्मा धर्मी सपक्षः। यथा तत्रैव महानसः।
(न्या.दी. 3/37)

साध्य के सजातीय धर्म वाला धर्मी 'सपक्ष' होता है, जैसे (पर्वत अग्निवाला है, धूआं होने से–) यहां महानस (पाकशाला) सपक्ष है।

सप्तभङ्गी

० अत्थि त्ति य णत्थि त्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं। पज्जायेण दु केण वि तदुभय-मादिट्ठमण्णं वा।
(प्र.सा. 2/23)

जो वस्तु है, (1) वह किसी एक पर्याय से 'अस्ति' रूप है, और (2) किसी एक पर्याय से वही द्रव्य 'नास्तिरूप' है। (3) किसी एक पर्याय से वही द्रव्य वचनगोचर नहीं है (अवक्तव्य), (4) और किसी एक पर्याय से वही द्रव्य 'आस्तिनास्ति' (उभय) रूप है, अथवा किसी एक पर्याय से वही द्रव्य अन्य

तीन भंग रूप (अस्ति अवक्तव्य, नास्ति अवक्तव्य, आस्तिनास्ति अवक्तव्य) कहा गया है।

० सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि।।
(पंचा. 14)
द्रव्य के सात भंग होते हैं–
1. स्यात् अस्ति,
2. स्यात् नास्ति,
3. स्यात् उभय, (अस्ति-नास्ति)
4. स्यात् अवक्तव्य,
5. स्यात् अस्ति अवक्तव्य,
6. स्यात् नास्ति अवक्तव्य,
7. स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य।

० प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधविकल्पना सप्तभङ्गी। तद्यथा-स्याद् घटः, स्यादघटः, स्याद्घटः च अघटश्च, स्यादवक्तव्यश्च, स्याद् घटश्चावक्तव्यश्च, स्याद् अघटश्चावक्तव्यश्च, स्याद् घटश्च अघटश्च अवक्तव्यश्चेति।
(रा.वा. 1/6/5; स.भं.त. 4)
प्रश्न (जिज्ञासा) के अनुसार एक वस्तु में प्रमाण से अविरुद्ध विधिप्रतिषेध धर्मों की कल्पना सप्तभंगी है। एक ही घड़े का गौण और मुख्य रूप से 1. स्यात् घट (है), 2. स्यात् अघट (घट नहीं है), 3. स्यात् उभय (अस्ति-नास्तिरूप है), 4 स्यात् अवक्तव्य, 5. स्यात् घट (है) और अवक्तव्य (है), 6. स्यात् अघट (घट नहीं है, और), अवक्तव्य है, 7. स्यात् उभय और अवक्तव्य (घट है)–इन सात रूपों से निरूपण किया जा सकता है।

० तत्राऽऽदेशवशात् सप्तभङ्गी प्रतिपदम्। तद्यथा–स्यादस्त्येव जीवः, स्यान्नास्त्येव जीवः, स्यादवक्तव्य एव जीवः, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादस्ति चाऽवक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च इत्यादि।
(रा.वा. 4/42/15)
अपेक्षानुसार सप्तभंगी के प्रत्येक भंग इस प्रकार होते हैं–1. स्यात् अस्त्येव जीवः, 2. स्यात् नास्त्येव जीवः, 3. स्यात् अवक्तव्य एव जीवः, 4. स्यात् अस्ति च नास्ति च (जीवः), 5. स्यात् अस्ति च अवक्तव्यश्च (जीवः), 6. स्यात् नास्ति च अवक्तव्यश्च (जीवः), 7. स्यात् अस्ति नास्ति च अवक्तव्यश्च (जीवः)।

० ततः सूक्तं सर्वं वस्तु स्यान्नित्यमेव, स्यादनित्यमेवेति। एवं स्यादुभयमेव, स्यादवक्तव्यमेव, स्यान्नित्यावक्तव्यमेव, स्यादनित्यावक्तव्यमेव, स्यादुभयावक्तव्यमेवेत्यपि योजनीयम्। यथायोगमेतत्सप्तभङ्गी-व्यवस्थापनप्रक्रियामपि योजयेन्नयप्रमाणापेक्षया सदाद्येकत्वादिसप्तभङ्गी-प्रक्रियावत्।
(अष्टस. 60, पृ. 212)
अतः यह उचित ही कहा गया है कि समस्त वस्तु स्यात् नित्य ही है, स्यात् अनित्य ही है। इसी तरह, स्यात् उभयात्मक (नित्य–अनित्य) रूप ही है, स्यात् अवक्तव्य ही है, स्यात् नित्य अवक्तव्य ही है, स्यात् अनित्य अवक्तव्य ही है, स्यात् उभयात्मक, अवक्तव्य ही है –यह भी योजना कर लेनी चाहिए। सप्तभङ्गी को व्यवस्थित रखने की इस प्रक्रिया को नय व प्रमाण की दृष्टि से यथोचित (नय सप्तभङ्गी या प्रमाणसप्तभङ्गी) रूप से नियोजित करना चाहिए, उसी तरह

जैसे सत् आदि, एकत्व आदि धर्म से सम्बन्धित सप्तभङ्गी की प्रक्रिया में नियोजना करते हैं।

० स्यादस्ति द्रव्यं स्यान्नास्ति द्रव्यं स्यादस्ति च नास्ति च द्रव्यं स्यादवक्तव्यं द्रव्यं स्यादस्ति च अवक्तव्यं स्यान्नास्ति च अवक्तव्यं च द्रव्यं स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यमिति।

(पंचा.त.प्र. 14)

(1) स्यात् अस्ति,
(2) स्यात् नास्ति,
(3) स्यात् अस्ति–नास्ति,
(4) स्यात् अवक्तव्य,
(5) स्यात् अस्ति अवक्तव्य,
(6) स्यात् नास्ति अवक्तव्य,
(7) स्यात् अस्ति–नास्ति, अवक्तव्य
–ये सप्तभंगी के भेद हैं।

० तत्र स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्टमस्ति द्रव्यम्। परद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्टं नास्ति द्रव्यम्। स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परद्रव्य-क्षेत्रकालभावैश्च क्रमेणादिष्टमस्ति च नास्ति च द्रव्यम्। स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च युगपदादिष्टम् वक्तव्यं द्रव्यम्। स्वद्रव्यक्षेत्र-कालभावैर्युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चादिष्ट-मस्तिचावक्तव्यं च द्रव्यम्। परद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चादिष्टं नास्ति चावक्तव्यं द्रव्यम्। स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परद्रव्य-क्षेत्रकालभावैश्च युगपत्स्वपरद्रव्यं क्षेत्रकाल-भावैश्चादिष्टमस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यमिति।

(पंचा.त.प्र. 14)

1. स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव इस अपने चतुष्टय की अपेक्षा तो द्रव्य अस्तिस्वरूप है।
2. परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव इस परचतुष्टय की अपेक्षा द्रव्य नास्ति स्वरूप है।
3. उपर्युक्त स्वचतुष्टय–परचतुष्टय की अपेक्षा द्रव्य क्रम से तीन काल में अपने भावों से अस्तिनास्तिरूप है।
4. स्वचतुष्टय की अपेक्षा द्रव्य एक ही काल नास्ति स्वरूप है।
5. उपर्युक्त स्वचतुष्टय–परचतुष्टय की अपेक्षा द्रव्य क्रम से तीन काल में अपने भावों से अस्तिनास्तिरूप है।
6. स्वचतुष्टय की अपेक्षा और एक ही काल स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा से द्रव्य अस्ति अवक्तव्य स्वरूप है।
7. परचतुष्टय की अपेक्षा और परचतुष्टय की अपेक्षा एक ही काल में स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा से अस्तिनास्ति अवक्तव्य स्वरूप है।

० एकत्र वस्तुन्येकैकधर्मपर्यनुयोगवशादविरोधेन व्यस्तयोः समस्तयोश्च विधिनिषेधयोः कल्पनया स्यात्काराङ्कितः सप्तधा वाक्यप्रयोगः सप्तभङ्गी।।

(प्र.न.त. 4/14)

एक ही वस्तु में, किसी एक धर्म (गुण) से सम्बन्धित प्रश्न (जिज्ञासा) के अनुरोध से सात प्रकार के वचन–प्रयोग को 'सप्तभंगी' कहते हैं। वह वचन 'स्यात्' पद से युक्त होता है और उसमें कहीं विधि की विवक्षा होती है तो कहीं निषेध की विवक्षा होती है और कहीं दोनों की भी विवक्षा होती है।

० भज्यन्ते भिद्यन्तेऽर्था यैस्ते भंगा वचनप्रकारास्ततः सप्तभंगाः समाहृताः सप्तभंगीति कथ्यते।

(र.करा. 4/14)

जिनसे पदार्थों का भेदन (विविध रूपों में प्रस्तुतीकरण) होता है, वे वचन-प्रकार 'भंग' कहलाते हैं, वैसे सात भंग मिलकर सप्तभंगी कहलाते हैं।

० एकत्र जीवादौ वस्तुनि एकैकसत्त्वादिधर्म-विषयप्रश्नवशाद् अविरोधेन प्रत्यक्षादिबाधा-परिहारेण पृथग्भूतयोः समुदितयोश्च विधि-निषेधयोः पर्यालोचनया कृत्वा स्याच्छब्द-लाञ्छितो वक्ष्यमाणैः सप्तभिः प्रकारैर्वचन-विन्यासः सप्तभङ्गीति गीयते।

(स्या.मं. 23)

जीव आदि पदार्थों में अस्तित्व आदि धर्मों के विषय में प्रश्न उठाने पर, विरोधरहित प्रत्यक्ष आदि से अविरूद्ध, अलग-अलग अथवा सम्मिलित विधि और निषेध धर्मों के विचारपूर्वक 'स्यात्' शब्द से युक्त सात प्रकार की वचन-रचना को सप्तभङ्गी कहते हैं।

० सप्तानां भङ्गानां-वाक्यानां समाहारः समूहः सप्तभङ्गीति तदर्थः।

(स.भं.त. 2)

सात भङ्गों का जो समूह है, उसका नाम 'सप्तभङ्गी' है।

० प्राश्निकप्रश्नज्ञानप्रयोज्यत्वे सति, एकवस्तु-विशेष्यकाविरुद्धविधिप्रतिषेधात्मकधर्मप्रकारक-बोधजनकसप्तवाक्यपर्याप्तसमुदायत्वम्।

(स.भं.त. 3)

प्रश्नकर्त्ता के प्रश्नज्ञान का का प्रयोज्य हो, और जो 'एक पदार्थविशेष्यक अविरूद्ध विधि-प्रतिषेधरूप नानाधर्मप्रकारक' जो बोध, उसके जनक जो सात वाक्य, उनका पर्याप्तिपूर्वक समुदायबद्ध होना–(सप्तभंगी है)।

० प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन स्याल्लाञ्छिता विधिनिषेधकल्पना सप्तभंगी।

(जै.सि.दी. 9/16)

प्रश्नकर्त्ता के अनुरोध से एक वस्तु में अविरोध रूप से 'स्यात्' शब्द युक्त जो विधि-निषेध की कल्पना की जाती है, उसे 'सप्तभंगी' कहते हैं।

(द्रष्टव्य : त्रिभङ्गी, स्याद्वाद)

सप्तभंगी का विशिष्ट प्रकार

० कथञ्चित् केनचित् कश्चित् कुतश्चित् कस्यचित् क्वचित्।
कदाचिच्चेति पर्यायात् स्याद्वादः सप्तभंगभृत्।।
उपलक्षणार्थमेतस्योक्तेः।

(ज.ध. 1, पृ. 281–282)

1. एक द्रव्य है। (कश्चित्),
2. वह किसी एक स्वरूप से है। (कथंचित्),
3. उसकी उत्पत्ति का कोई एक साधन भी है। (केनचित्),
4. उसका एक अपादान भी है। (कुतश्चित्),
5. उसका किसी से सम्बन्ध भी है। (कस्यचित्),
6. उसका कोई एक अधिकरण भी है। (क्वचित्),
7. उसका कोई एक काल भी है। (कदाचित्)

इन सात पर्यायों (स्थितियों) की अपेक्षा से स्याद्वाद के सात भंग बनते हैं।

सप्तभङ्गी के सात भङ्ग

० कथंचित्ते सदेष्टं कथंचिदसदेव तत्।
तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा।। (14)
क्रमार्पितद्वयाद् द्वैतं सहावाच्यमशक्तितः।
अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भङ्गाः स्वहेतुतः।। (16)
एकानेकविकल्पादावुत्तरत्रापि योजयेत्।
प्रक्रियां भङ्गिनीमेनां नयैर्नयविशारदः।। (23)
(आ.मी. 14, 16, 23)

(हे प्रभु!) आपके शासन में वह वस्तुतत्त्व कथंचित् सत्–रूप ही है, कथंचित् असत् रूप ही है, कथंचित् उभयरूप ही है, कथंचित् अवक्तव्य रूप ही है, कथंचित सत् और अव्यक्तव्यरूप ही है, कथंचित् असत् और अवक्तव्य रूप ही है, कथंचित सद्सत् और अव्यक्तव्य रूप ही है, और वह सब नयों के योग से है, सर्वथा रूप से नहीं। (14)
'वस्तुतत्त्व कथंचित् क्रम-विवक्षित स्व-पर-चतुष्टय की अपेक्षा द्वैत रूप है और कथंचित् युगपत् विवक्षित स्व--पर-चतुष्टय की अपेक्षा कथन में, वचन की अशक्ति–असमर्थता के कारण, अवक्तव्यरूप है। सत्-असत् और उभय के उत्तर में अवक्तव्य को लिये हुए जो शेष तीन भंग हैं, वे अपने अपने हेतु से कथंचित् रूप में सुघटित हैं। (16)
जो नय-निपुण है, वह इस भङ्गवती प्रक्रिया को आगे भी एक-अनेक जैसे विकल्पादिक में नयों के साथ योजित करे। (23)

० नन्वेकत्रापि जीवादिवस्तुनि विधीयमाननिषिध्यमान-अनन्तधर्मसद्भावात् तत्कल्पनानन्तभङ्गी स्यादिति चेन्न। अनन्तानामपि सप्तभङ्गीनामिष्टत्वात्। तयैकत्वानेकत्वादिकल्पनयाऽपि सप्तानामेव भङ्गानामुत्पत्तेः।
(अष्टस. 14 पृ. 125)

(शंका) एक-एक जीव आदि वस्तु में विधीयमान (सद्रूप) व निषिध्यमान (नास्तिरूप) धर्म तो अनन्त हो सकते हैं, तो उनके भी अनन्त सप्तभंगियां होनी चाहिए? (उत्तर–) हमें सप्तभंगियों की अनन्त संख्या अभीष्ट है, किन्तु एकत्व आदि धर्म-विषयक कल्पना में भी (प्रत्येक धर्म में तो) सात ही भंग बन पाएंगे।

० एकत्र वस्तुनि विधीयमान-निषिध्यमान-अनन्तधर्माभ्युपगमेन अनन्तभङ्गीप्रसंगादसङ्गतैव सप्तभंगी न चेतसि निधेयम्। विधिनिषेधप्रकारापेक्षया प्रतिपर्यायं वस्तुनि अनन्तानामपि सप्तभङ्गीनामेव संभवात्।
(प्र.न.त. 4/37–38)

"प्रत्येक वस्तु में विधिरूप व निषेध रूप अनन्त धर्म स्वीकार किये गये है, इसलिए अनन्तभंगी मानना चाहिए, अतः सात ही भङ्ग मानना असंगत है–ऐसा मन में नहीं सोचना चाहिए। क्योंकि विधि-निषेध के भेद से, एक-एक धर्म को लेकर एक वस्तु में अनन्त सप्तभंगियां हो सकती हैं, किन्तु एक धर्म को लेकर' अनन्तभंगी' नहीं, (सात ही भंग होते हैं)।

० तद्यथा–
1. स्यादस्त्येव सर्वमिति विधिकल्पनया प्रथमो भङ्गः।
2. स्यान्नास्त्येव सर्वमिति निषेधकल्पनया द्वितीयः।
3. स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेति क्रमतो विधि-निषेधकल्पनया तृतीयः।
4. स्यादवक्तव्यमेवेति युगपद्विधिनिषेध-कल्पनया चतुर्थः।

5. स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधि-कल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च पञ्चमः।
6. स्यादस्त्येव स्याद्वक्तव्यमेवेति विधि-कल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च षष्ठः।
7. स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्य-मेवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च सप्तमः।।

(स्या.मं. 23)

सप्तभङ्गी के सप्त भेद इस प्रकार कहे गये हैं–

1. प्रत्येक वस्तु विधि धर्म से कथंचित् अस्तित्व रूप ही है (स्यादस्ति);
2. प्रत्येक वस्तु निषेध धर्म से कथंचित् नास्तित्व रूप ही है (स्यान्नास्ति)
3. प्रत्येक वस्तु क्रम से विधि, निषेध दोनों धर्मों से कथंचित् अस्तित्व और नास्तित्व दोनों रूप ही है (स्यादस्तिनास्ति);
4. प्रत्येक वस्तु एक साथ विधि, निषेध धर्मों से कथंचित् अवक्तव्य ही है (स्यादवक्तव्य),
5. प्रत्येक वस्तु विधि तथा एक साथ विधिनिषेध धर्मों से कथंचित् नास्तित्व और अवक्तव्य रूप ही है (स्यादस्ति अवक्तव्य)।
6. प्रत्येक वस्तु निषेध तथा एक साथ विधि, निषेध धर्मों से कथंचित् नास्तित्व और अवक्तव्य रूप ही है (स्यान्नास्ति अवक्तव्य)।
7. प्रत्येक वस्तु क्रम से विधि, निषेध तथा एक साथ विधि-निषेध धर्मों से कथंचित् अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्य रूप ही है (स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य)।

सप्तभङ्गी के दो प्रकार

० एकगुणमुखेन अशेषवस्तुरूपसंग्रहात् सकलादेशः।. .....तत्रादेशवशात् सप्तभङ्गी प्रतिपदम्। तत्र एतस्मिन् सकलादेशे आदेशवशात् सप्तभङ्गी प्रतिपदं वेदितव्या। तद्यथा– स्यादस्त्येवः जीवः, स्यान्नास्त्येव जीवः, स्यादवक्तव्य एव जीवः, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च इत्यादि।... .निरंशस्यापि गुणभेदा-दंशकल्पना विकलादेशः। तत्रापि तथा सप्त-भङ्गी। तत्रापि विकलादेशे तथा आदेशवशेन सप्तभङ्गी वेदितव्या/ गुणिभेदकेष्वंशेषु क्रमेण यौगपद्येन क्रमयौगपद्याभ्यां वा विवक्षावशात् विकलादेशा भवन्ति।

(रा.वा. 4/42/16–17)

एक गुण रूप से सम्पूर्ण वस्तु-धर्मों का अखण्ड रूप से ग्रहण करना 'सकलादेश' है।.....इस सकलादेश में प्रत्येक धर्म की अपेक्षा सप्तभङ्गी (प्रमाणसप्तभङ्गी) होती है। जैसे स्याद् अस्ति एव जीवः, स्यात् नास्त्येव जीवः, स्याद् अवक्तव्य एव जीवः, स्यादस्ति च नास्ति च, स्याद च अवक्तव्यश्च, स्यात् नास्ति च अवक्तव्यश्च, स्याद् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यश्च-निरंश वस्तु में गुणभेद से अंशकल्पना करना 'विकलादेश' है। वहां भी वैसी ही सप्तभङ्गी होती है। उस विकलादेश में भी विवक्षा के वश, सप्तभङ्गी (नयसप्त-भङ्गी) होती है –ऐसा जानना चाहिए। गुणभेदक अंशों में क्रम, यौगपद्य, तथा क्रम-यौगपद्य–दोनों के विवक्षा के वश विकलादेश होते हैं।

० ननु चोदाहृता नयसप्तभङ्गी। प्रमाणसप्तभङ्गीतस्तु तस्याः किङ्कृतो विशेष इति चेत्? 'सकलविकलादेशकृतः' इति ब्रूमः। विकलादेशस्वभावा हि नयसप्तभङ्गी वस्त्वंशमात्रप्ररूपकत्वात्।

(प्र.क.मा. 6/73)

(शंका–) नय सप्तभङ्गी का प्रतिपादन तो हुआ, किन्तु 'प्रमाण सप्तभङ्गी' और 'नय सप्तभङ्गी' में क्या विशेषता है अथवा भेद या अंतर है? (समाधान–) सकलादेश और विकलादेश की अपेक्षा विशेषता या भेद है। वस्तु के अंशमात्र का प्ररूपक होने से 'नय सप्तभङ्गी' विकलादेश स्वभाव वाली होती है।

० इयं सप्तभंगी प्रतिभंगं सकलादेशस्वभावा विकलादेशस्वभावा च।

(प्र.न.त. 4/43; स्या. मं. 23; जै.त.भा.प्र.परि., पृ. 56)

यह सप्तभंगी प्रत्येक भंग में दो प्रकार की होती है–सकलादेश स्वभाव वाली और विकलादेश स्वभाव वाली।

० नयवाक्यमपि स्वविषये प्रवर्त्तमानं विधिप्रतिषेधाभ्यां सप्तभंगीमनुव्रजति।

(प्र.न.त. 7/53)

'नय वाक्य' भी अपने विषय में प्रवृत्ति करता हुआ विधि और निषेध की विवक्षा से सप्तभंगी को प्राप्त होता है।

० विकलादेशस्वभावा हि नयसप्तभंगी वस्त्वंशमात्रप्ररूपकत्वात्; सकलादेशस्वभावा तु प्रमाणसप्तभंगीसम्पूर्णवस्तुस्वरूपप्ररूपकत्वादिति।।

(र.करा. 7/53)

नयसप्तभंगी विकलादेशस्वभाव वाली होती है, क्योंकि वह वस्तु-अंश मात्र की प्ररूपक होती है। किन्तु प्रमाणसप्तभंगी सम्पूर्ण वस्तु के स्वरूप की प्ररूपक होती है, इसलिए सकलादेशस्वभाव वाली होती है।

० इयं च सप्तभंगी द्विविधा-प्रमाणसप्तभंगी, नयसप्तभंगी चेति।

(स.भं.त. 22)

यह सप्तभंगी दो प्रकार की होती है–प्रमाणसप्तभंगी और नयसप्तभंगी।

० परार्थाधिगमः शब्दरूपः। स च द्विविधः-प्रमाणात्मको नयात्मकश्चेति। कात्स्न्र्यतस्तत्त्वार्थाधिगमः प्रमाणात्मकः, देशतस्तत्त्वार्थाधिगमो नयात्मकः। अयं द्विविधोऽपि भेदः सप्तधा प्रवर्तते, विधिप्रतिषेध-प्राधान्यतः। इयमेव प्रमाणसप्तभंगी नयसप्तभंगीति च कथ्यते।

(स.भं.त. 2)

शब्दात्मक या वचन रूप अधिगम को परार्थाधिगम कहा जाता है। वह अधिगम प्रमाणरूप व नयरूप–इन दो रूपों में विभक्त है। इनमें सम्पूर्ण रूप से जिसके द्वारा तत्त्वार्थाधिगम होता है, उसे नयात्मक नय सप्तभंगी कहते हैं और जिसके द्वारा एकदेश रूप से तत्त्वार्थाधिगम होता है, उसे प्रमाणात्मक (प्रमाण सप्तभंगी) कहते हैं। पुनः विधि व प्रतिषेध की प्रधानता से ये दोनों भेद सात भंगों में विभक्त हैं। इसी विभागसमूह को प्रमाणसप्तभंगी व नयसप्तभंगी भी कहते हैं। (द्रष्टव्य : नयसप्तभङ्गी, प्रमाणसप्तभङ्गी, विकलादेश, सकलादेश)

सभापति

० वर्णाश्रमपालनक्षमं न्यायान्यायव्यवस्थापकं पक्षपातरहितत्वेन समदृष्टिं सभापतिं.....।

(प्र.मी. 2/1/30)

सभापति वर्णाश्रम धर्म के पालन में समर्थ होता है, न्याय या अन्याय की व्यवस्था करता है और निष्पक्ष होने से समदृष्टि होता है।

० समञ्जसः कृपालुश्च सर्वसिद्धान्ततत्त्ववित्।
अबाधितार्थसंग्राही बाधितार्थविहायकः।।
आज्ञावान् धार्मिको दाता विद्वद्गोष्ठीप्रियः सुधीः।
नियन्ता न्यायवृत्तीनां राजा स स्यात् सभापतिः।।

(प्र.प्र. 1/91)

सभापति का लक्षण इस प्रकार है—वह राजा (शासकीय गुणोपेत) सभापति होना चाहिए, जो समझदार, दयालु, सब सिद्धान्तों के तत्त्वों को जानने वाला, अबाधित अर्थ का संग्रह कर के बाधित अर्थ को छोड़ने वाला, आज्ञा देने में समर्थ, धार्मिक, दानशील, विद्वानों की चर्चा जिसे प्रिय है, ऐसा बुद्धिमान व अन्याय के व्यवहार को नियंत्रित करने वाला हो।

सभ्य

० वादिप्रतिवादिसिद्धान्ततत्त्वनदीष्णत्वधारणा-बाहुश्रुत्य-प्रतिभा-क्षान्ति-माध्यस्थैरुभयाभिमताः सभ्याः।।

(प्र.न.त. 8/18)

जो वादी और प्रतिवादी के सिद्धान्त तत्त्व में कुशल हों; धारणा, बहुश्रुतता, प्रतिभा, क्षान्ति और मध्यस्थता से युक्त हों, तथा वादी और प्रतिवादी द्वारा स्वीकार किये गये हों, ऐसे विद्वान् 'सभ्य' होते हैं।

० अपक्षपातिनः प्राज्ञाः स्वयमुद्ग्रहणे क्षमाः।
सर्वसिद्धान्तसारज्ञाः सभ्या दुर्वाक्यवारकाः।।

(प्र.प्र. 1/91)

जो पक्षपाती नहीं हों, बुद्धिमान हों, स्वयं तत्त्व को समझ सकते हों, सभी सिद्धान्तों के तात्पर्य को जानते हों तथा दुर्वचनों को रोक सकते हैं, वे सभासद (सभ्य) कहलाते हैं।

समभिरूढ़नय

० सत्स्वर्थेष्वसंक्रमः समभिरूढ़ः।

(तत्त्व.भा. 1/35)

घटादिक वर्तमान पर्यायापन्न पदार्थों के विषय में शब्द का संक्रम न करके ग्रहण करने को 'समभिरूढ़ नय' कहते हैं।

० नानार्थसमभिरोहणात्समभिरूढ़ः।

(स.सि. 1/33/247; रा.वा. 1/33/10)

नाना अर्थों का समभिरोहण करने वाला होने से 'समभिरूढ़ नय' कहलाता है।

० वत्थुओ संकमणं होइ अवत्थु नए समभिरूढे।

(विशे.भा. 2185)

समभिरूढ नय की दृष्टि में संक्रमित (वचनान्तर से अभिधेय) वस्तु अवस्तु रूप होती है।

० जं जं सण्णं भासइ तं तं चिय समभिरोहए जम्हा।
सण्णंतरत्थविमुहो तओ तओ समभिरूढ़ो त्ति।।

(विशे.भा. 2236)

जिस जिस संज्ञा को कहता है, उस संज्ञा को ही अन्य संज्ञा द्वारा वाच्य अर्थ से विमुख होते हुए, आरूढ़ होता है (वाच्य अर्थ के रूप में प्रमाणभूत करता है अर्थात् घट शब्द के

वाच्य अर्थ को कुम्भ शब्द के वाच्य अर्थ रूप में नहीं स्वीकारता, इसलिए) वह 'समभिरूढ़ नय' कहलाता है।

० नानार्थसमभिरोहणात् समभिरूढः। यतो नानार्थात् समतीत्यैकमर्थमाभिमुख्येन रूढस्ततः समभिरूढः। कुतः ? वस्त्वन्तरासंक्रमेण तन्निष्ठत्वात्।

(रा.वा. 1/33/10)

अनेक अर्थों को छोड़कर किसी एक अर्थ में मुख्यता से रूढ़ होने को 'समभिरूढ़' कहते हैं।

० पर्यायशब्दभेदेन भिन्नार्थस्याधिरोहणात्।
नयः समभिरूढ़ः स्यात्।।

(तत्त्व.श्लो. 1/33/76)

पर्यायवाची शब्दों के भेद से भिन्न–भिन्न अर्थ का अधिरोह (वाहक) हो जाने से यह नय 'समभिरूढ़' हो जाता है।

० नानार्थसमभिरोहणात्समभिरूढ़ः।....नानार्थस्य भावः नानार्थता तां समभिरूढ़त्वात्समभिरूढ़ः।

(ध. 1, पृ. 90–91)

शब्द भेद से जो नाना अर्थों में अभिरूढ़ होता है, उसे 'समभिरूढ़ नय' कहते हैं।.....नाना पदार्थों के भाव अर्थात् विशेषता को नानार्थता कहते हैं और उस नानार्थता के प्रति जो अभिरूढ़ है, उसे 'समभिरूढ़ नय' कहते हैं।

० नानार्थसमभिरोहणात्समभिरूढ़:, इन्दनान्दिन्द्रः शकनाच्छक्रः पूर्दारणात् पुरन्दर इति। नैते एकार्थवाचकाः, भिन्नार्थप्रतिबद्धत्वात् पदभेदान्यथानुपपत्तेरर्थभेदेन भवितव्यमित्यभिप्रायवान् समभिरूढ़ इति बोद्धव्यः।

(ज.ध. 1, पृ. 217–218)

शब्दभेद से जो नाना अर्थों में अभिरूढ़ है अर्थात् जो शब्द-भेद से अर्थभेद मानता है, उसे 'समभिरूढ़नय' कहते हैं। जैसे–एक ही देवराज इन्दन क्रिया' का कर्त्ता अर्थात् आज्ञा और ऐश्वर्य आदि से युक्त होने के कारण इन्द्र, शकनात् अर्थात् सामर्थ्य वाला होने के कारण शक्र और पुर अर्थात् नगरों का दारण अर्थात् उन्हें छिन्न-भिन्न करने वाला होने के कारण पुरन्दर कहलाता है। ये तीनों शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ से सम्बन्ध रखते हैं, इसलिए एक अर्थ के वाचक नहीं है। (आशय यह है कि अर्थ, भेद के बिना पदों में भेद बन नहीं सकता है, इसलिए पद-भेद से अर्थ में भेद होना ही चाहिए–इस अभिप्राय को स्वीकार करने वाला समभिरूढ़ नय होता है।)

० ज्ञेयः समभिरूढोऽसौ शब्दो यद्विषयः स हि।
एकस्मिन्नभिरूढोऽर्थे नानार्थान् समतीत्य यः।।

(तत्त्वा. 1/49)

जहाँ शब्द नाना अर्थों का उल्लंघन कर किसी एक अर्थ में रूढ़ होता है, उसे 'समभिरूढ़' नय कहते हैं।

० समभिरूढ़नयो यथा गौः पशुः। (78)
परस्परेणाभिरूढ़ाः समभिरूढ़ाः। शब्दभेदेऽप्यर्थभेदो नास्ति।
यथा शक्र इन्द्र पुरन्दर इत्यादयः समभिरूढाः। (201)

(आ.प. 78, 201)

नाना अर्थों को 'सम्' अर्थात् छोड़कर प्रधानता से एक अर्थ में रूढ़ होता है, वह 'समभिरूढ़' है। जैसे–'गो' शब्द के वाणी आदि अनेक अर्थ पाये जाते हैं, तथापि वह 'पशु' अर्थ में रूढ़ है। (78)

परस्पर में अभिरूढ शब्दों को ग्रहण करने वाला नय 'समभिरूढ़' नय होता है। इस नय के विषय में शब्द-भेद होने पर भी अर्थ-भेद नहीं होता है। जैसे–शक्र, इन्द्र, पुरन्दर–ये तीनों ही शब्द देवराज के पर्यायवाची होने से देवराज में ही अभिरूढ़ हैं। (201)

० नानार्थान्समेत्याभिमुख्येन रूढः समभिरूढः।

(प्र.क.मा. 6/74)

नाना अर्थों का आश्रय लेकर मुख्यता से रूढ़ होना अर्थात् पर्याय-भेद से पदार्थ में नानापन स्वीकारना 'समभिरूढनय' कहलाता है।

० जो एगेगं अत्थं परिणदिभेदेण साहदे णाणं। मुक्खत्थं वा भासदि अहिरूढं तं णयं जाण।।

(कार्ति. 276)

जो नय प्रत्येक अर्थ को परिणाम के भेद से भेदरूप ग्रहण करता है, अथवा एक शब्द के नाना अर्थों में से मुख्य अर्थ को ही कहता है, वह 'समभिरूढ' नय है।

० यां यां सज्ञां घटादिलक्षणां भाषते वदति, तां तामेव यस्मात् संज्ञान्तरार्थविमुखः कुटकुम्भादिशब्द-वाच्यार्थनिरपेक्षः समभिरोहति समध्यास्ते तत्तद्वाच्यार्थविषयत्वेन प्रमाणीकरोति, ततस्तस्माद् नानार्थसमभिरोहणात् समभिरूढो नयः। यो घटशब्दवाच्योऽर्थस्तं कुट-कुम्भादिपर्यायशब्दवाच्यं नेच्छत्यसावित्यर्थः।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 2236)

(घट आदि प्रत्येक पदार्थ की) घट (या कुम्भ या कलश) आदि रूप में जिस–जिस संज्ञा (वाचक शब्द) का (लोगों द्वारा) उच्चारण किया जाता है, उसी-उसी संज्ञा को यह नय अवलम्बन करता है। चूंकि यह नय अन्य संज्ञा द्वारा प्राप्त अर्थ से विमुख रहता है, अर्थात् कुट, कुम्भ (घट) आदि शब्दों के (पृथक्-पृथक्) वाच्य अर्थों की अपेक्षा नहीं रखता, इसलिए (पृथक्-पृथक् संज्ञा–शब्दों के) उन उन वाच्य अर्थों को (पृथक्-पृथक्) विषय करता हुआ प्रमाणित (स्वीकृत) करता है। इस प्रकार (पृथक्-पृथक् संज्ञा-शब्दों के) नाना अर्थों का समभिरोहण (विषय रूप से स्वीकार) करने के कारण यह 'समभिरूढ़' नय कहा जाता है।

० पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरूढ़ः।।

इन्दनादिन्द्रः, शकनाच्छक्रः, पूर्दारणाद् पुरन्दर इत्यादिषु यथा।।

(प्र.न.त. 7/36–37; जै.त.भा.नय.परि., पृ. 62)

पर्यायवाचक शब्दों में निरुक्ति के भेद से अर्थ का भेद मानने वाला 'समभिरूढ़ नय' कहलाता है।

उदाहरणार्थ–इस नय के अनुसार ऐश्वर्य भोगने वाला 'इन्द्र' है, सामर्थ्य वाला 'शक्र' है और शत्रु-नगर का विनाश करने वाला 'पुरन्दर' कहलाता है।

० समभिरूढस्तु पर्यायशब्दानां प्रविभक्तमेवार्थम-भिमन्यते।

(स्या.मं. 28)

समभिरूढ़ नय पर्यायवाची शब्दों में भिन्न अर्थ को द्योतित करता है।

० पर्याये निरूक्तिभेदेनार्थभेदकृत् समभिरूढ़ः।

(भि.न्या. 5/12)

पर्यायवाची शब्दों में निरूक्त के भेद से अर्थ भेद को स्वीकार करने वाले नय को 'समभिरूढ़ नय' कहा जाता है।

समभिरूढ़नयाभास

० पर्यायध्वनीनामभिधेयनानात्वमेव कक्षीकुर्वाणस्त-दाभासः।।

यथा इन्द्रः शक्रः पुरन्दर इत्यादयः शब्दा भिन्नाभिधेया एव, भिन्नशब्दत्वात्, करिकुरङ्ग-तुरङ्गवदित्यादिः।।

(प्र.न.त. 7/38–39; जै.त.भा.नय परि., पृ. 66)

एकान्तरूप से पर्यायवाचक शब्दों के वाच्य अर्थ में भेद मानने वाला अभिप्राय 'समभिरूढ़ नयाभास' है।

इसकी मान्यता में इन्द्र, शक्र, पुरन्दर आदि शब्द भिन्न-भिन्न पदार्थ के वाचक हैं। क्योंकि वे भिन्न-भिन्न शब्द हैं, जैसे करी (हाथी), कुरंग (हिरन) और तुरंग (घोडा) शब्द।

० पर्यायनानात्वमन्तरेणापीन्द्रादिभेदकथनं तदाभासः।

(प्र.र.मा. 6/74)

पर्याय की भिन्नता के बिना जो इन्द्र आदि में भेद किया जाता है, यह 'समभिरूढनयाभास' (का लक्षण) है।

(द्रष्टव्य : नय, नयाभास)

समय (आगम)

० समयो हि आगमः।

(पंचा.त.प्र. 2)

'समय' का अर्थ है– आगम (आप्त–उपदेश)।

समय (आत्मा)

० जीवनाम पदार्थः स समयः, समयत एकत्वेन युगपज्जानाति गच्छति चेति निरुक्तेः।

(स.सा.आ.ख्या. 2)

जीव नामक पदार्थ 'समय' है। जो एकत्व रूप से एक ही समय में जानता तथा परिणमता हुआ है, वह 'समय' है।

समय (चारित्र)

० समभेदेन त्यागेनाऽयोऽयनं मतेः।

समयः स एव चारित्रम्।।

(आ.सा. 5/5)

'सम्' यानी अभेदपूर्वक या त्यागपूर्वक, "अय' यानी अयन, गमन –वह 'समय' कहलाता है, और वही 'चारित्र' है।

समय (पदार्थ)

० समवाओ पंचण्ह समउ त्ति जिणुत्तमेहि पण्णत्तं।

(पंचा. 3)

पांच अस्तिकायों का समभावपूर्वक निरूपण अथवा उनका समवाय– इसे 'समय' कहते हैं।

० समयशब्देनात्र सामान्येन सर्व एवार्थोऽभिधीयते। समयत एकीभावेन स्वगुणपर्यायान् गच्छतीति निरुक्तेः।

(स.सा.आ.ख्या. 3)

समय शब्द से सामान्यतया सभी पदार्थ कहे जाते हैं, क्योंकि व्युत्पत्ति के अनुसार 'समयते' अर्थात् एकीभाव से अपने गुणपर्यायों को प्राप्त होकर जो परिणमन करता है, वह 'समय' है।

समय (शुद्धस्वरूपस्थिति)

० सम्यगयति गच्छति शुद्धगुणपर्यायान् परिणमतीति समयः। सम्यगयः संशयादिरहितो बोधो ज्ञानं यस्य भवति स समयः, अथवा समित्येकत्वेन परमसमरसीभावेन स्वकीयशुद्धस्वरूपे अयनं गमनं परिणमनं समयः।

(स.सा.ता.वृ. 151)

जो सम्यक्तया शुद्ध गुण-पर्यायों को जो अयन यानी गमन करे, वह 'समय' है। 'सम्यगयः' अर्थात् संशय आदि रहित ज्ञान जिसका होता है—ऐसा जीव 'समय' है, अथवा एकीभावरूप से परमसमरसी भाव स्वरूप अपने शुद्ध स्वरूप में गमन करना, परिणमन करना, वह भी 'समय' होता है।

समय(सिद्धान्त)

० सम्यक् एति गच्छति शब्दोऽर्थमनेन इति..... समयः संकेतः। यद्वा सम्यग् अवैपरीत्येन ईयन्ते ज्ञायन्ते जीवाजीवादयोऽर्थाः अनेन इति समयः सिद्धान्तः। अथवा सम्यग् अयन्ते गच्छन्ति जीवादयः पदार्थाः स्वस्मिन् स्वरूपे प्रतिष्ठां प्राप्नुवन्ति अस्मिन् इति समय आगमः।

(स्या.मं. 30)

जिससे शब्द के सही अर्थ को सम्यक्तया जाना जाता है,.....वह संकेत 'समय' है। अथवा जिससे जीव, अजीव आदि पदार्थों का अच्छी तरह ज्ञान हो, वह सिद्धान्त भी 'समय' है। जिसमें जीव आदि पदार्थों का सम्यक्तया स्वरूप के साथ प्रतिष्ठित (निरूपित) हो, वह आगम भी 'समय' है।

० उत्पादव्ययध्रौव्यप्रपञ्चः समयः।

(स्या.मं. 30)

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के सिद्धान्त को 'समय' कहते हैं।

समयमूढ़

० रत्तवड-चरक-तावस-परिहत्तादी य अण्णपासंढा। संसारतारगत्ति य जदि गेण्हइ समयमूढो सो।।

(मूला. 259)

रक्तपट, चरक, तापस और परिव्राजक तथा अन्य भी पाखण्डी साधुओं को, ये संसार से पार करने वाले हैं, ऐसा मान करके जो ग्रहण-व्यवहार (संसर्ग) आदि करता है, उसे 'समयमूढ' कहते हैं।

० अज्ञानिजनचित्तचमत्कारोत्पादकं ज्योतिष्क-मंत्रवादादिकं दृष्ट्वा वीतरागसर्वज्ञप्रणीतसमयं विहाय कुदेवागम-लिंगिनां भयाशा-स्नेह-लोभैर्धर्मार्थं प्रणामविनयपूजापुरस्कारादिकरणं समयमूढत्वम्।

(बृ.द्र.सं.वृ. 41)

अज्ञानी लोगों के मन में चमत्कार (आश्चर्य) पैदा करने वाले जो ज्योतिष या मंत्रवाद आदि को देखकर श्रीवीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहा हुआ जो समय (मार्ग) है, उसको छोड़ कर मिथ्यादृष्टि देव, मिथ्या आगम और खोटे तप करने वाले कुलिंगी—इन सबके प्रति भय से, वांछा से, स्नेह से और लोभ के वश से जो धर्म के लिए प्रणाम, विनय, पूजा, सत्कार आदि करना है, उस सब को 'समयमूढता' कहते हैं।

(द्रष्टव्य : मिथ्याश्रुत)

समवर्तित्व

० द्रव्यगुणानामेकास्तित्वनिर्वृत्तत्वादनादिरनिधना सहवृत्तिर्हि समवर्तित्वम्।

(पंचा.त.प्र. 50)

द्रव्य और गुण एक अस्तित्व से रचित हैं, इसलिए उनकी जो अनादि-अनंत सहवृत्ति (एक साथ रहना) है, वह समवर्तीपना है।

० समवृत्तिः सहवृत्तिर्गुण-गुणिनोः कथंचिदेकत्वेनानादितादात्म्यसम्बन्ध इत्यर्थः।

(पंचा.ता.वृ. 50)

गुण व गुणी की समवर्तिता यानी सहवर्तिता है, अर्थात् उन दोनों में कथंचिद् एकत्व रूप अस्तित्व होने से अनादि तादात्म्य संबन्ध है।

समवाय (सम्बन्ध)

० समवत्ती समवाओ अपुथब्भूदो य अजुदसिद्धो व। तम्हा दव्वगुणानां अजुदा सिद्धित्ति णिद्दिट्ठा।।

(पंचा. 50)

द्रव्य व गुणों की समवर्तिता, उनकी अपृथग्भूतता (अपार्थक्य) व अयुतसिद्धता (अनादि परस्पर-बद्धता) –यही समवाय है। इसीलिए द्रव्य व गुणों की 'अयुत सिद्धि' का (शास्त्रों में) कथन किया गया है।

० आश्रयाश्रायिभावान्न स्वातन्त्र्यं समवायिनाम्। इत्ययुक्तः स सम्बन्धो न युक्तः समवायिभिः।।

(आ.मी. 64)

समवायी पदार्थों में आश्रय–आश्रयी भाव है, इसलिए स्वातंत्र्य नहीं है (अतः देश–कालभेद नहीं है)– ऐसा कहना युक्तियुक्त नहीं है। जो समवायियों के साथ असम्बद्ध है, वह 'समवाय' सम्बन्ध (ही) युक्तिसंगत नहीं (सिद्ध) होता। सामान्य और समवाय का परस्पर में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। सामान्य व समवाय के साथ पदार्थ का भी सम्बन्ध नहीं है। इसलिए, सामान्य, समवाय व पदार्थ– ये तीनों आकाश-पुष्प की तरह (अवस्तु) हैं।

० अवृत्तिमत्त्वात् समवायवृत्तेः।

(युक्त्य. 7)

समवाय वृत्ति (सम्बन्ध) 'अवृत्ति' वाली (अस्तित्वहीन) है।

० समवायो नामायुतसिद्धिलक्षणः सम्बन्धोऽस्ति।

(रा.वा. 1/10/22)

'समवाय' का अर्थ है –अयुतसिद्धिलक्षण (कभी पृथक् न करने योग्य) सम्बन्ध।

० कथंचित् तादात्म्यव्यतिरेकेण समवायस्य निरस्तपूर्वत्वात्।

(तत्त्व.श्लो. 5/2)

कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध के अतिरिक्त समवाय (नामक अन्य सम्बन्ध) का सद्भाव नहीं है –ऐसा प्रतिपादित हो चुका है।

० कथंचित् तादात्म्यस्यैव समवायस्य व्यवस्थापनात्।

(आप्त. 77, पृ. 155)

कथंचित् तादात्म्य रूप ही 'समवाय' है –ऐसा व्यवस्थित होता है।

० समवायस्य कथंचिदविश्वग्भावादन्यस्य विचारासहत्वात्।

(प्र.प. 41, पृ. 19)

कथंचित् अपृथक् भाव से भिन्न कोई समवाय (नामक सम्बन्ध) है–ऐसा विचार सहनयोग्य (स्वीकरणीय) नहीं है।

० द्रव्यगुणानामेकास्तित्वनिर्वृत्तत्वाद् अनादिरनिधना सहवृत्तिर्हि समवर्तित्वम्। स एव समवायो

जैनानाम्। तदेव संज्ञादिभ्यो भेदेऽपि वस्तुत्वेन अभेदाद् अपृथग्भूतत्वम्, तदेव युतसिद्धिनिबन्धनस्य अस्तित्वान्तरस्य अभावाद् अयुतसिद्धत्वम्।

(पंचा.त.प्र. 50)

द्रव्य व गुण–ये एक अस्तित्व से रचित हैं, अतः जो अनादि–निधन सहवृत्ति या समवर्तिता है, वही जैनों का 'समवाय' है। वह समवाय ही संज्ञा आदि की अपेक्षा से वस्तु से भिन्न होता हुआ भी, वस्तु से अभिन्न होने से 'अपृथक्भूत' (कहा जाता) है, युतसिद्धि के कारणभूत पृथक्-अस्तित्व का अभाव होने से वही (समवाय) 'अयुतसिद्धता' भी है।

० को समवाओ ? एगत्तेण अजुवसिद्धाणं मेलनं।

(ध. 15, पृ. 24)

समवाय किसे कहते हैं ? अयुतसिद्ध पदार्थों के मेल को 'समवाय' कहा जाता है।

० तस्माद् धर्मधर्मिणोः अविष्वग्भावलक्षण एव सम्बन्धः प्रतिपत्तव्यो, नान्यः समवायादिः।

(स्या.मं. 7)

इसलिए धर्म व धर्मी में कभी न अलग होने वाला तादात्म्य ही स्वीकार करना चाहिए, समवाय सम्बन्ध नहीं।

(द्रष्टव्य : अयुतसिद्धि, कथंचित् तादात्म्य)

समारोप

० संशयविपर्यासानध्यवसायात्मको हि समारोपः।

(प्र.क.मा. 1/3)

संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय को 'समारोप' कहते हैं।

० अतस्मिंस्तदध्यवसायः समारोपः।।

(प्र.न.त. 1/7)

अतद्रूप वस्तु का तद्रूप ज्ञान हो जाना–अर्थात् जो वस्तु जैसी नहीं है वैसी मालूम हो जाना 'समारोप' कहलाता है।

० समारोपः संशयविपर्ययानध्यवसायस्वरूपः।

(र.करा. 1/6)

समारोप संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रूप है।

० अतत्प्रकारे पदार्थे तत्प्रकारतानिर्णयः समारोपः।

(र.करा. 1/7)

जो वस्तु जैसी नहीं हैं, उसमें उस प्रकार का निर्णय 'समारोप' कहा जाता है।

समारोप के भेद

० स विपर्ययसंशयानध्यवसायभेदात् त्रेधा।
विपरीतैककोटिनिष्टङ्कनं विपर्ययः।
यथा–शुक्तिकायामिदं रजतमिति।।
साधकबाधकप्रमाणाभावादनवस्थितानेक–कोटिसंस्पर्शि ज्ञानं संशयः।।
यथा– अयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा।।
किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः।।
यथा–गच्छत्तृणस्स्पर्शज्ञानम्।।

(प्र.न.त. 1/8–14)

'समारोप' तीन प्रकार का है–1. विपर्यय, 2. संशय, 3. अनध्यवसाय। एक विपरीत धर्म का निश्चय होना विपर्यय ज्ञान (समारोप) कहलाता है। जैसे–सीप में 'यह चांदी है' ऐसा ज्ञान होना।

साधक प्रमाण और बाधक प्रमाण का अभाव होने से अनिश्चित अनेक अंशों को छूने वाला ज्ञान 'संशय' कहलाता है।

'अरे क्या है? इस प्रकार का आलोचना मात्र ज्ञान होना अनध्यवसाय है।
जैसे–जाते समय तिनके का स्पर्श का ज्ञान।
(द्रष्टव्य : अनध्यवसाय, प्रत्यक्षाभास, विपर्यय, संशय)

सम्बन्ध

० द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकृता हि प्रत्यासत्तिः एकत्वपरिणतिस्वभावा पारतन्त्र्यअपरनामा सम्बन्धोऽर्थानामभिप्रेतो जैनैः।

(न्या.कु. 2/7)

पदार्थों में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से जो स्वभावतः एकत्व परिणति होती है, जिसे दूसरे शब्द से परतन्त्रता कहा जा सकता है, इसी का नाम 'सम्बन्ध' है।

० कथंचित्तादात्म्यलक्षणे सम्बन्धेऽभेदः प्रधानं भेदो गौणः,.....भेदविशिष्टाभेदस्सबन्ध इत्युच्यते।

(स.भं.त. 50)

सम्बन्ध यानी कथंचित् तादात्म्य। इसमें अभेद की प्रधानता रहती है और भेद की गौणता। इसलिए भेद सहित अभेद को 'सम्बन्ध' कहा जाता है।

सम्बन्ध के भेद

० इह द्विधा संबन्धोऽस्तित्वेन नास्तित्वेन च। तत्र स्वपर्यायैरस्तित्वेन सम्बन्धः, यथा घटस्य रूपादिभिः। परपर्यायैस्तु नास्तित्वेन सम्बन्धः।

(षड्.समु.टी. 55/347)

सम्बन्ध के ये प्रकार कहें गये हैं– अस्तित्व सम्बन्ध और नास्तित्व सम्बन्ध। स्वपर्यायों के साथ अस्तित्व-सम्बन्ध है और परपर्यायों के साथ नास्तित्व–सम्बन्ध है।
(द्रष्टव्य : नास्तित्व सम्बन्ध, परपर्याय)

सम्बन्ध शक्ति

० स्वभावमात्रस्वस्वामित्वमयी सम्बन्धशक्तिः।

(स.सा.आ.ख्या. स्याद्वादाधिकार)

स्वभावमात्र स्वस्वामित्वमयी 'सम्बन्ध शक्ति' होती है। (अपना भाव स्व है और स्वयं उसका स्वामी है, ऐसी सम्बन्धमयी 'सम्बन्ध शक्ति' होती है।)

सम्यक् अनेकान्त

० एकत्र सप्रतिपक्षानेकधर्मस्वरूपनिरूपणो युक्त्यागमाभ्यामविरूद्धः सम्यगनेकान्तः।..... सम्यगनेकान्तः प्रमाणम्।

(रा.वा. 1/6/7)

एक वस्तु में सप्रतिपक्ष (विरुद्धधर्म–सापेक्ष) धर्म के स्वरूप को निरूपण करने वाला तथा युक्ति व आगम से अविरूद्ध (वस्तु–विचार) 'सम्यक् अनेकान्त' है।.....सम्यक् अनेकान्त (ही) प्रमाण है।

० 'स्यात् जीव एव' इत्युक्ते अनेकान्तविषयः स्यात्-शब्दः।

(लघी.वृ. 62)

'स्यात् जीव ही है' इस कथन में अनेकान्तविषयक 'स्यात्' शब्द है (अतः 'सम्यक् अनेकान्त' है)।

० एवमेकत्र वस्तुन्यस्तित्वनास्तित्वादिनाना-धर्मनिरूपणप्रवणः प्रत्यक्षानुमानागमाविरूद्ध-

स्सम्यगनेकान्तः।.....सम्यगनेकान्तः प्रमाणम्।

(स.भं.त. 105)

प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम प्रमाण से अविरूद्ध एक वस्तु में अनेक धर्मों के निरूपण करने में जो तत्पर है, वह 'सम्यक् अनेकान्त' है। 'सम्यक् अनेकान्त' प्रमाण है।

सम्यक् एकान्त

० तत्र सम्यगेकान्तो हेतुविशेषसामर्थ्यापेक्षः प्रमाण-प्ररूपितार्थैकदेशादेशः।.....सम्यगेकान्तो नय इत्युच्यते।

(रा.वा. 1/6/7)

प्रमाण के द्वारा प्ररूपित वस्तु के एकदेश को हेतु -विशेष (युक्ति-विशेष) की अपेक्षा रख कर ग्रहण करने वाला 'सम्यक् एकान्त' होता है। सम्यक् एकान्त (ही) नय कहा जाता है।

० नयोऽपि तथैव सम्यग् एकान्तः।.....'स्याद् अस्ति एव जीवः' इत्युक्ते एकान्तविषयः 'स्यात्'-शब्दः।

(लघी.वृ. 62)

नय भी (धर्मान्तर की अविवक्षा करते हुए) 'सम्यक् एकान्त' होता है।

० सम्यगेकान्तस्तावत्प्रमाणविषयीभूतानेकधर्मात्म-कवस्तुनिष्ठैकधर्मगोचरो धर्मान्तराप्रतिषेधकः।.. ....तत्र सम्यगेकान्तो नयः।

(स.भं.त. 105)

जो प्रमाणसिद्ध अनेक धर्मस्वरूप जो वस्तु है, उस वस्तु में जो रहने वाला धर्म है, उस धर्म को अन्य धर्मों का निषेध न करके विषय करने वाला, अर्थात् अनेक धर्ममय पदार्थ के एक किसी धर्म को कहता है, परन्तु अन्य धर्मों का निषेध भी जो नहीं करता है, वह सम्यक् एकान्त है। सम्यक् एकान्त 'नय' है।

(द्रष्टव्य : सुनय, सर्वनयात्मक)

सम्यक् ज्ञान (निर्दोष)

० संसयविमोहविब्भमविवज्जियं होदि सण्णाणं।

(नि.सा. 51)

संशय, विमोह व विभ्रम से रहित ज्ञान 'सम्यग्ज्ञान' हे।

० किं पुनः सम्यग्ज्ञानं समभिधीयते–स्वार्थ-व्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानम्.....।

(प्र.प. 11, पृ. 5)

आखिर सम्यग्ज्ञान क्या है? बता रहे हैं–स्व एवं पदार्थ का निश्चयात्मक ज्ञान (ही) सम्यग्ज्ञान है।

(द्रष्टव्य : प्रमाण, विभ्रम, विमोह, संशय)

सम्यक्ज्ञान (सम्यक्त्व)

० सम्यग्दृष्टेर्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्।

(प्रशम. 227)

सम्यग्दृष्टि का ज्ञान 'सम्यग्ज्ञान' है।

० यथार्थश्रद्धानुविद्धावगमो ज्ञानम्।

(ध. 1, पृ. 365)

यथार्थ श्रद्धा से अनुविद्ध अवगम को 'ज्ञान' कहते हैं।

० तत्त्वार्थश्रद्धानिर्वृत्तौ सत्याम् अङ्गपूर्वगतार्थ-परिच्छित्तिः ज्ञानम्।

(पंचा.त.प्र. 160)

तत्त्वार्थश्रद्धान होने पर 'अङ्ग' व 'पूर्व' के अर्थ को जानना (सम्यक्) ज्ञान है।

० तत्र जिनप्रणीतहेयोपादेयतत्त्वपरिच्छित्तिरेव सम्यग्ज्ञानम्।

(नि.सा.ता.वृ. 51–55)

जिनेन्द्र देव द्वारा प्रणीत (उपदिष्ट) हेयोपादेय तत्त्वों का जानना ही 'सम्यक् ज्ञान' है।

० सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतं तु मिथ्याश्रुतमपि सम्यक्-श्रुततया परिणमति सम्यग्दृशाम्।

(स्या.मं. 23)

सम्यग्दृष्टि द्वारा समझा गया मिथ्याश्रुत भी सम्यक्श्रुत रूप में परिणम हो जाता है।

सम्यक् नय

० अण्णोण्णनिस्सिया उण हवंति सम्मत्तसब्भावा।

(सन्मति. 1/21)

(किन्तु) परस्पर-सापेक्ष नय सम्यक् नय हो जाते हैं।

० तह सव्वे णयवाया जहाणुरूवविणिउत्तवत्तव्वा। सम्मद्दंसणसद्दं लहन्ति ण विसेससण्णाओ।।

(सन्मति. 1/25)

सभी नयवाद यथोचित रूप से सुसंकलित होकर व्यवस्थित अर्थ वाले हों तो 'सम्यग्दर्शन' (सम्यक् नय) व्यवहार पाते हैं, विशेष संज्ञा नहीं पाते।

० सियसावेक्खा सम्मा।

(बृ.न.च. 249)

स्यात् शब्द से युक्त सापेक्ष नय सम्यक् नय होते हैं।

० नयेषु स्वार्थसत्येषु मोघेषु परचालने। माध्यस्थ्यं यदि नायातं न तदा ज्ञानगर्भिता।।

(अध्या. 6/36)

प्रत्येक नय अपने विषय में सत्य हैं और पर के विषय में अनर्थक (असत्य) हैं, इस प्रकार सभी नयों के विषय में जब तक मध्यस्थता नहीं आए, तब तक 'सम्यग्ज्ञान' से गर्भित वैराग्य नहीं कहा जा सकता।

(द्रष्टव्य : सुनय)

सम्यक् वाद

० कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिस कारणेगंता। मिच्छत्तं ते चेवा समासओ होंति सम्मत्तं।।

(सन्मति. 3/53)

काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत (अदृष्ट), पुरुष (आत्मा) रूप कारण–विषयक एकान्तवाद मिथ्यात्व हैं, किन्तु वे ही समास से (परस्पर-सापेक्षता से) मिलने पर सम्यक्त्व यानी 'सम्यक् वाद' बन जाते हैं।

(द्रष्टव्य : सम्यक् एकान्त, सुनय)

सम्यक् श्रुत

० विसेसियं-सम्मदिट्ठिस्स सुयं सुयनाणं।

(नन्दी. 3/36)

विशेषण सहित श्रुत, अर्थात् सम्यग्दृष्टि द्वारा गृहीत श्रुत 'सम्यक् श्रुत' होता है।

० सम्मसुतं जं इमं अरहंतेहिं भगवंतेहिं उप्पण्ण-णाणदंसणधरेहिं तेलोक्कचहिय-महियपूइएहिं तीयपच्चुप्पण्णमणागयजाणएहिं सव्वण्णूहिं सव्वदरिसीहिं पणीयं दुवालसंगं गणिपिडगं।

(नन्दी. 4/65)

समुत्पन्न ज्ञान और दर्शन को धारण करने वाले, त्रिलोकवर्ती जीवों द्वारा आदर-सम्मानपूर्वक देखे गये तथा यथावस्थित

उत्कीर्तित, भावयुक्त नमस्कृत, अतीत, वर्तमान और अनागत को जानने वाले, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी अर्हत्-तीर्थंकर भगवन्तों द्वारा प्रणीत किया हुआ जो यह द्वादशाङ्ग रूप गणिपिटक है, वह सम्यक्श्रुत है।

० एआइं मिच्छदिट्ठिस्स मिच्छत्तपरिग्गहिआइं मिच्छा-सुअं, एयाइं चेव सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्त-परिग्गहिआइं सम्मसुअं। अहवा मिच्छादिट्ठिस्सवि एयाइं चेव सम्मसुअं, कम्हा? सम्मत्तहेउत्तणओ, जम्हा ते मिच्छादिट्ठिआ तेहिं चेव समएहिं चोइआ समाणा केइ सपक्खदिट्ठीओ चयंति।

(नन्दी. 4/67)

ये सभी (महाभारत आदि मिथ्याश्रुत) सम्यक् दृष्टि द्वारा 'सम्यक् रूप से ग्रहण किये जाने पर 'सम्यक्श्रुत' हो जाते हैं। अथवा मिथ्या-दृष्टि के लिये भी ये ही ग्रन्थ 'सम्यक्श्रुत' हैं, क्योंकि ये उनके सम्यक्त्व में हेतु हो सकते हैं, क्योंकि कई मिथ्यादृष्टि इनसे प्रेरित होकर मिथ्यात्व को त्याग देते हैं।

० अंगाणंगपविट्ठं सम्मसुयं।

(विशे.भा. 527)

अङ्गप्रविष्ट व अनङ्गप्रविष्ट—ये सम्यक्श्रुत हैं।

० सम्मत्तपरिगहियं सम्मसुयं।

(विशे.भा. 528)

सम्यक्त्व से परिगृहीत श्रुत 'सम्यक्श्रुत' होता है।

० सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतं तु मिथ्याश्रुतमपि सम्यक्-श्रुततया परिणमति।

(स्या.मं. 23)

सम्यग्दृष्टि द्वारा ज्ञात मिथ्याश्रुत भी समीचीन श्रुत के रूप से परिणत होता है।

० सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतं मिथ्याश्रुतमपि सम्यक्श्रुत-मेव, वितथभाषित्वादिना यथास्थानं तदर्थ-विनियोगात्।

(जै.त.भा.प्र.परि., पृ. 20)

सम्यग्दृष्टि द्वारा गृहीत मिथ्याश्रुत भी 'सम्यक्श्रुत' ही है, क्योंकि सम्यक्दृष्टि मिथ्याश्रुत को पढ़कर उसे मिथ्यावादी आदि रूप से यथास्थान योजित कर लेता है।

सम्यक्श्रुत के भेद

० सम्मसुयं.....तं जहा –(1) आयारो, (2) सूयगडो, (3) ठाणं, (4) समवाओ, (5) विवाहपण्णत्ती, (6) णायाधम्मकहाओ, (7) उवासगदसाओ, (8) अंतगडदसाओ, (9) अणुत्तरोववाइयदसाओ, (10) पण्हावागरणाइं, (11) विवागसुयं, (12) दिट्ठिवाओ।

(नन्दी. 4/65)

(1) आचाराङ्ग, (2) सूत्रकृताङ्ग, (3) स्थानाङ्ग, (4) समवायाङ्ग, (5) व्याख्याप्रज्ञप्ति, (6) ज्ञाताधर्मकथाङ्ग, (7) उपासकदशाङ्ग, (8) अन्तकृद्दशाङ्ग, (9) अनुत्तरोपपातिक-दशाङ्ग, (10) प्रश्नव्याकरण, (11) विपाकश्रुत, (12) दृष्टिवाद –ये सम्यक्श्रुत हैं।

सर्वनयात्मक (जिनवाणी)

० उदधाविव सर्वसिन्धवः,
समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः।
न च तासु भवानुदीक्ष्यते,
प्रविभक्तासु सरित्स्व-वोदधिः।।

(सिद्ध.द्वा. 4/15)

हे प्रभो! जिस प्रकार नदियां समुद्र में जाकर मिलती हैं, उसी तरह सम्पूर्ण दृष्टियों (दर्शनों) का आपमें समावेश (अन्तर्भाव) होता है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न नदियों में समुद्र नहीं रहता, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न दर्शनों में आप (आपका स्याद्वाद दर्शन) नहीं रहता।

० सर्वस्य हि वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वात् तत्स्वरूपमुत्पश्यतां यथाक्रमं सामान्यविशेषौ परिच्छिन्दती द्वे किल चक्षुषीद्रव्यार्थिकं पर्यायार्थिकं चेति।.....तत्र एकचक्षुरवलोकनमेकदेशावलोकनं द्विचक्षुरवलोकनं सर्वावलोकनम्।

(प्र.सा.तत्त्वप्र. 2/23)

सभी वस्तुएं सामान्य-विशेषात्मक हैं, इसलिए वस्तु के सामान्य व विशेष–इन दोनों स्वरूपों को क्रमशः विषय करने वाली दो आंखें हैं –द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नय।.....इनमें एक आंख से देखना है –वस्तु का एकदेश- अवलोकन, और दोनों आंखों से देखना है–वस्तु का सर्वांशतः अवलोकन।

० द्वौ हि नयौ भगवता प्रणीतौ-द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च, तत्र न खलु एकनयायत्ता देशना, किन्तु तदुभयायत्ता।

(पंचा.त.प्र. 4)

भगवान् ने दो ही 'नय' बताए हैं–द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक। उनकी देशना किसी एक नय के अधीन नहीं होती, अपितु दोनों नयों के अधीन होती है।

० उभयनयायत्ता पारमेश्वरी तीर्थप्रवर्तना।

(पंचा.त.प्र. 160)

सर्वज्ञ परमेश्वर की धर्मतीर्थ–प्रवृत्ति दोनों (व्यवहार व निश्चय) नयों के अधीन होती है।

० प्रमाणं तु सम्यगर्थनिर्णयलक्षणं सर्वनयात्मकम्। स्यात्शब्दलाञ्छितानां नयानामेव प्रमाण-व्यपदेशभाक्त्वात्।

(स्या.मं. 28)

सम्यक् प्रकार से अर्थ के निर्णय करने को 'प्रमाण' कहते हैं, जो सर्वनयात्मक होता है। स्यात्-शब्द से लांछित नयों को ही 'प्रमाण' संज्ञा प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त है।

० एवं च सर्वनयात्मकत्वे भवत्समयस्य सर्वदर्शन-मयत्वम्
अविरुद्धमेव, नयरूपत्वाद् दर्शनानाम्।

(स्या.मं. 30)

इस प्रकार भगवान् जिनेन्द्र का सिद्धान्त सर्वनयात्मक है, इसलिए उसकी सर्वदर्शनमयता भी अविरूद्ध है, क्योंकि (सभी) दर्शन 'नय' रूप होते हैं।

० स्वागमेऽन्यागमार्थानां शतस्येव परार्धके।
नावतारबुधत्वं चेन्न तदा ज्ञानगर्भता।।

(अध्या. 6/3)

जैसे पदार्थ की संख्या में सौ की संख्या समाविष्ट है, वैसे ही स्वागमों (जैन आगमों) में अन्यदर्शनों के विषयों का समावेश करने का वृद्धि–कौशल जब तक किसी में न हो, तब तक सम्यक्ज्ञान-गर्भित वैराग्य नहीं कहा जा सकता।

० बौद्धानामृजुसूत्रतो मतमभूद् वेदान्तिनां संग्रहात्, सांख्यानां तत एव नैगमनयाद् योगश्च वैशेषिकाः।
शब्दब्रह्मविदोऽपि शब्दनयतः सर्वैर्नयैर्गुम्फिता,
जैनी दृष्टिरितीह सारतरता प्रत्यक्षमुद्वीक्ष्यते।।

(अध्या. 19/6)

बौद्ध दर्शन ऋजुसूत्र नय में से (उद्भूत) है, वेदान्तियों का दर्शन संग्रहनय के आश्रित है। सांख्यदर्शन भी संग्रहनय से ही हुआ है। योग और वैशेषिक दर्शन नैगमनय से हुए है, तथा शब्द को ही ब्रह्म मानने वाले वैयाकरणों का दर्शन शब्दनय में से हुआ है। परन्तु जैन दर्शन तो सभी नयों से गुम्फित है, इसलिए जैन दर्शन की श्रेष्ठता प्रत्यक्ष है।

० त्यक्तोन्माद-विभज्यवादरचनामाकर्ण्य कर्णामृतम्, सिद्धान्तार्थरहस्यवित् क्व लभतामन्यत्र शास्त्रे रतिम्।
यस्यां सर्वनया विशन्ति न पुनर्व्यस्तेषु तेष्वेव या, मालायां मणयो लुठन्ति न पुनर्व्यस्तेषु मालाऽपि सा।।

(अध्या. 19/14)

उन्माद का त्याग करके विभज्यवाद (अनेकान्तवाद) की रचना रूप कर्णामृत का श्रवण जिसने किया हो, ऐसा पुरुष जो सिद्धान्तप्रतिपादित अर्थ का रहस्यज्ञ हो, अन्य किस शास्त्र में प्रीति सम्पादन कर सकता है? जिस रचना में सभी नयों का प्रवेश है, किन्तु वे नय अलग-अलग हों तो उन बिखरे हुए नयों में वह रचना नहीं होती, जैसे माला में मणियां होती हैं, लेकिन वे मणियां बिखरी हुई अलग-अलग हों तो उनमें 'माला' नहीं होती। (द्रष्टव्य : जैनी नीति, सम्यक् नय, सुनय, स्याद्वादशासन)

सर्वावधिज्ञान

० सर्व विश्वं कृत्स्नमवधिर्धर्ममर्यादा यस्य स बोधस्सर्वावधिः।.....अथवा सरति गच्छति आकुञ्चनविसर्पणादीनि इति पुद्गलद्रव्यं सर्वम् तमोही जिस्से सा सव्वोही।

(ध. 9, पृ. 47)

सर्व, यानी विश्व या समस्त अवधि यानी मर्यादा जिस ज्ञान की होती है, वह 'सर्वावधि' है।.....अथवा जो आकुंचन और विसर्पण आदि को प्राप्त हो, वह पुद्गल द्रव्य 'सर्व' है, वही जिसकी मर्यादा है, वह 'सर्वावधि' है।

० सव्वं केवलणाणं, तस्स विसओ जो जो अत्थो सो वि सव्वं उवयारादो। सव्वमोही मज्जाया जस्स णाणस्स तं सव्वोहिणाणं।

(ध. 13, पृ. 323)

'सर्व' का अर्थ केवलज्ञान है, उसका विषय जो जो अर्थ होता है, वह भी उपचार से 'सर्व' कहलाता है। सर्व अवधि अर्थात् मर्यादा जिस ज्ञान की होती है वह 'सर्वावधिज्ञान' है।

सर्वावधिज्ञान के भेद

० 'अवस्थितोऽनुगाम्यननुगाम्यप्रतिपाती' इत्येते चत्वारो भेदाः सर्वावधेः।

(रा.वा. 1/22/4)

अवस्थित, अनुगामी, अननुगामी और अप्रतिपाती –ये चार भेद सर्वावधि में होते हैं।

सविकल्प ज्ञान

० सविकल्पं मानसं तच्चतुर्विधम् मतिश्रुतावधिमनःपर्ययरूपम्।

(आ.प. 179)

मानस अर्थात् विचार या इच्छा सहित ज्ञान 'सविकल्प' ज्ञान है। वह चार प्रकार का होता

है–(1) मतिज्ञान, (2) श्रुतज्ञान, (3) अवधिज्ञान, (4) मनःपर्ययज्ञान।

सहकारी

० सव्वाणं दव्वाणं जो उवयारो हवेइ अण्णोण्णं।
सो चिय कारण-भावो हवदि हु सहयारि- भावेण।।
(कार्ति. 218)
सभी द्रव्य परस्पर में जो उपकार करते हैं, उसे वे सहकारी कारण के रूप में ही करते हैं।

सहवृत्ति

० (द्रष्टव्य : समवृत्ति)

सहानवस्थालक्षण विरोध

० सहानवस्थालक्षणो हि विरोधः पदार्थस्य पूर्व-मुपलम्भे पश्चात्पदार्थान्तरसद्भावादभावावगतौ निश्चीयते शीतोष्णवत्।
(प्र.क.मा. 4/6)
पदार्थ का पूर्व में उपलम्भ (उपलब्धि) होने पर पश्चात् अन्य पदार्थ के सद्भाव से उसके अभाव का ज्ञान होने पर दोनों में जो विरोध देखा जाता है, उसे 'सहानवस्थारूप विरोध' जानना चाहिए।

सांख्य दर्शन

० जं कविलं दरिसणं एयं दव्वट्ठियस्स वत्तव्वं।
(सन्मति. 3/48)
जो कापिल (सांख्य) दर्शन है, वह द्रव्यार्थिक नय का वक्तव्य है।

० द्रव्यास्तिकनयानुपातिनः.....सांख्याश्च।
(स्या.मं. 14)
सांख्य दर्शन द्रव्यास्तिकनय का अनुसरण करने वाले हैं।

० संग्रहाभिप्रायप्रवृत्ताः (सर्वेऽपि अद्वैतवादाः) सांख्यदर्शनं च।
(स्या.मं. 28)
संग्रह नय के अभिप्राय से प्रवृत्त (सभी अद्वैतवादी तथा) सांख्यदर्शन है।

० सत्ताद्वैतं स्वीकुर्वाणः सकलविशेषान्निराचक्षाणः संग्रहाभासः, यथा....सांख्यदर्शनं च।
(जै.त.भा.नय परि., पृ. 66)
एकमात्र सत्ता को अंगीकार करने वाला तथा समस्त विशेषों का निषेध करने वाला 'संग्रहनयाभास' है, जैसे–सांख्य दर्शन।
(द्रष्टव्य : मिथ्याश्रुत, सर्वनयात्मक)

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष

० इंदिय-मणोभवं जं तं संववहारपच्चक्खं।।
(विशे.भा. 95)
इन्द्रिय व मन से जनित जो ज्ञान है, वह (मात्र) व्यवहार प्रत्यक्ष कहलाता है।

० इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यवहारिकम्।।
(प.मु. 2/5)
इन्द्रियों और मन की सहायता से होने वाले एकदेश विशद (निर्मल) ज्ञान को 'सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष' कहते हैं।

० समीचीनोऽबाधितः प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो व्यवहारः संव्यवहारः, स प्रयोजनमस्येति सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षम्।
(प्र.क.मा. 2/5)
समीचीन यानी अबाधित, इस तरह अबाधित प्रवृत्ति और निवृत्ति लक्षण वाला जो व्यवहार

है, उसका नाम 'संव्यवहार' है, यही संव्यवहार है प्रयोजन जिसका, वह 'सांव्यवहारिक' है।

० यद् इन्द्रियाणां चक्षुरादीनाम् अनिन्द्रियस्य च मनसः कार्यम् अंशतो विशदं विज्ञानं, तत् सांव्यवहारिकं गौणप्रत्यक्षम् इत्यर्थः।

(न्या.कु. 1/4)

चक्षु आदि इन्द्रियों और अनिन्द्रिय मन का जो कार्य है और आंशिक रूप से विशद है, वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है, अर्थात् गौण प्रत्यक्ष है।

० समीचीनः प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपो व्यवहारः, तत्र भवं सांव्यवहारिकम्।

(प्र.र.मा. 2/5)

समीचीन प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप व्यवहार को संव्यवहार कहते हैं, उसमें होने वाले ज्ञान को 'सांव्यवहारिक' कहते हैं।

० इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवग्रहेहावायधारणात्मा सांव्यवहारिकम्।।

(प्र.मी. 1/1/20)

इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाला तथा अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा स्वरूप वाला 'सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष' कहलाता है।

० संव्यवहारो बाधारहितप्रवृत्तिनिवृत्तिः प्रयोजनमस्येति सांव्यवहारिकम्।

(र.करा. 2/4)

बाधा रहित (निर्बाध) प्रवृत्ति और निवृत्ति ही जिसका प्रयोजन है, उसे 'सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष' कहते हैं।

० तत्र देशतो विशदं सांव्यवहारिकम् प्रत्यक्षम्।

(न्या.दी. 2/11)

एकदेश स्पष्ट ज्ञान को 'सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष' कहते हैं।

० तत्र सांव्यवहारिकं बाह्येन्द्रियादिसामग्री-सापेक्षत्वात् पारमार्थिक-मस्मदादिप्रत्यक्षम्।

(षड्.समु.टी. 55/313)

बाह्य चक्षुरादि तथा प्रकाश आदि सामग्री से उत्पन्न होने वाला हम लोगों का इन्द्रियप्रत्यक्ष तथा मानस प्रत्यक्ष 'सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष' होता है।

० समीचीनो बाधारहितो व्यवहारः प्रवृत्तिनिवृत्ति--लोकाभिलापलक्षणः संव्यवहारः, तत्प्रयोजनकं सांव्यवहारिकम्।

(जै.त.भा.प्र.परि., पृ. 4)

बाधारहित प्रवृत्ति-निवृत्ति और लोगों का बोलचाल रूप व्यवहार 'संव्यवहार' कहलाता है। इस संव्यवहार के लिये जो प्रत्यक्ष माना जाय, वह 'सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष' है।

० इन्द्रियमनोऽपेक्षमवग्रहादिरूपं सांव्यवहारिकम्।

(जै.सि.दी. 9/7)

इन्द्रिय और मन की सहायता से निर्णय करने वाले अवग्रह आदि ज्ञान को 'सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष' कहते हैं।

(द्रष्टव्य : इन्द्रियप्रत्यक्ष, व्यवहार)

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के भेद

० तत्राद्यं द्विविधमिन्द्रियनिबन्धनमनिन्द्रियनिबन्धनं च।।

(प्र.न.त. 2/5)

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष दो प्रकार का है—1. इन्द्रिय निबन्धन और 2. अनिन्द्रियनिबन्धन।

० सांव्यवहारिकं द्विविधम्-इन्द्रियानिन्द्रिय-निमित्तभेदात्। तद् द्वितयम्-अवग्रहेहावा-यधारणाभेदाद् एकैकशश्चतुर्विकल्पम्।

(स्या.मं. 28)

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष दो प्रकार का है–इन्द्रियनिमित्तक और मनोनिमित्तक। इन दोनों में भी प्रत्येक चार-चार भेद वाले हैं–अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा।

० तच्चतुर्विधम्-अवग्रहः, ईहा, अवायः, धारणा चेति।

(न्या.दी. 2/11)

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के चार भेद हैं–अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा।

० सांव्यवहारिकं द्वेधा, चक्षुरादीन्द्रियनिमितं मनोनिमित्तं च।
तद्द्विविधमपि चतुर्धा, अवग्रहेहावायधारणाभेदात्।

(षड्.समु.टी. 55/314)

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष दो प्रकार का है–एक तो चक्षुरादि इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाला 'इन्द्रिय प्रत्यक्ष' और दूसरा मात्र मन से उत्पन्न होने वाला 'मानस प्रत्यक्ष'। ये दोनों ही प्रत्यक्ष अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के भेद से चार प्रकार के होते हैं।

० एतच्च द्विविधम्–इन्द्रियम्, अनिन्द्रियजं च। तत्रेन्द्रियजं चक्षुरादिजनितम्, अनिन्द्रियजं च मनोजन्म।

(जै.त.भा.प्र.परि., पृ. 5)

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष दो प्रकार का है–1. इन्द्रियज और 2. अनिन्द्रियज। चक्षु आदि (पांच) इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाला इन्द्रियज कहलाता है और मनोजनित को अनिन्द्रियज कहते हैं।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्षाभास

० सांव्यवहारिकप्रत्यक्षमिव यदाभासते तत्तदाभासम्।। यथा–अम्बुधरेषु गन्धर्वनगरज्ञानं, दुःखे सुखज्ञानं च।।

(प्र.न.त. 6/27–28)

जो ज्ञान वास्तव में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष न हो, किन्तु सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष जैसा जान पड़ता हो वह 'सांव्यवहारिक प्रत्यक्षाभास' है। जैसे–मेघों में गन्धर्व-नगर का ज्ञान होना और दुःख में सुख का ज्ञान होना।

साकल्य

० सकलस्य अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनो भावः साकल्यम् अनन्तधर्मात्मकता।

(न्या.कु. 6/63)

सकल अनन्तधर्मात्मक वस्तु का जो भाव है, वह साकल्य यानी अनन्तधर्मात्मकता है।

(द्रष्टव्य : अनेकान्तात्मकता)

साकल्य व्याप्ति

० (द्रष्टव्यः व्याप्ति के भेद)

साकार उपयोग

० सागारे से नाणे भवति।

(भ.सू. 18/8/21)

जो साकार (विशेष–ग्राही) उपयोग होता है, वह 'ज्ञान' होता है।

० परिसुद्धं सायारं।

(सन्मति. 2/11)

साकार (उपयोग, यानी ज्ञान) परिशुद्ध (यानी व्यक्त) होता है।

० आकारो विकल्पः—सह आकारेण साकारः, सविकल्पो ज्ञानव्यापारः।

(प्रशम.टी. 194)

आकार यानी विकल्प, आकार से सहित साकार, अर्थात् सविकल्प ज्ञानव्यापार—यह साकार उपयोग है।

० सागारो णाणोवजोगो, तत्थ कम्म- कत्तारभाव-संभवादो।

(ध. 11, पृ. 334)

साकार उपयोग से अभिप्राय ज्ञानोपयोग से है, क्योंकि उसमें कर्म और कर्तृत्व की सम्भावना होती है।

० कम्म-कत्तारभावो आगारो, तेण आगारेण सह वट्टमाणो उवजोगो सागारो त्ति।

(ध. 13, पृ. 207)

कर्म-कर्तृभाव का नाम 'आकार' है। उस आकार के साथ जो उपयोग रहता है, उसका नाम 'साकार' है।

० आयारो कम्मकारयं सयलत्थसत्थादो पुध काऊण बुद्धिगोयरमुवणीयं तेण आयारेण सह वट्टमाणं सायारं।

(ज.ध. 1, पृ. 308)

सकल पदार्थों के समुदाय से अलग कर बुद्धि के विषय भाव को प्राप्त हुआ कर्म-कारक आकार कहलाता है। उस आकार के साथ जो उपयोग पाया जाता है, वह 'साकार उपयोग' कहलाता है।

० कृत्वा विशेषं गृह्णाति वस्तुजातं यतस्ततः। साकारमिष्यते ज्ञानं ज्ञानयाथात्म्यवेदिभिः।।

(तत्त्वा. 2/11)

चूंकि ज्ञान वस्तु को यह घट है, यह पट हैं, इत्यादि रूप से विशेष करके जानता है, इसलिए ज्ञान की यथार्थता को जानने वाले मुनियों द्वारा ज्ञान को साकार (सविकल्प) माना गया है।

० मदिसुदओहिमणेहिं य, सगसगविसये विसेस-विण्णाणं।
अंतोमुहुत्तकालं, उवजोगो सो दु सायारो।।

(गो.सा.जी. 674)

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यय-ज्ञान के द्वारा अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त अपने-अपने विषय का जो विशेष ज्ञान होता है, उसे 'साकार उपयोग' कहते हैं।

० विशेषग्राहित्वाज्ज्ञानं साकारः।

(जै.सि.दी. 2/5)

ज्ञान विशेष धर्मों को जानता है, अतः उसे 'साकार उपयोग' कहते हैं।

साकार उपयोग के भेद

० सागारोवओगे णं भंते! कतिविहे पण्णत्ते ?
गोयमा ! अट्ठविहे पण्णत्ते। तं जहा—

1. आभिणिबोहियणाणसागारोवओगे
2. सुयणाणसागारोवओगे
3. ओहिणाणसागारोवओगे
4. मणपज्जवणाणसागारोवओगे
5. केवलणाणसागारोवओगे
6. मतिअण्णाणसागारोवओगे

7. सुयअण्णाणसागारोवओगे
8. विभंगणाणसागारोवओगे

(प्र.सू. 29/1909)

भगवन्! 'साकारोपयोग' कितने प्रकार का कहा गया है ? गौतम! वह आठ प्रकार का कहा गया है। यथा–1. आभिनिबोधिकज्ञान-साकारोपयोग, 2. श्रुतज्ञान-साकारोपयोग, 3. अवधिज्ञान- साकारोपयोग, 4. मनःपर्यवज्ञान-साकारोपयोग, 5. केवलज्ञान-साकारोपयोग, 6. मतिअज्ञान-साकारोपयोग, 7. श्रुतअज्ञान-साकारोपयोग, और 8. विभंगअज्ञान-साकारोपयोग।

० ज्ञानाज्ञाने पञ्चत्रिविकल्पे सोऽष्टधा तु साकारः।

(प्रशम. 195)

पांच ज्ञान मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय व केवल और तीन अज्ञान (मति–अज्ञान, श्रुत-अज्ञान व विभंग ज्ञान) –ये आठ साकार उपयोग हैं।

० णाणं पंचविहंपि य अण्णाणतियं च सागरूवजोगो।

(गो.सा.जी. 673)

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल–ये पाँच ज्ञान तथा कुमति, कुश्रुत, विभंग–ये तीन अज्ञान 'साकार उपयोग' के भेद हैं।

सादिनित्यपर्यायार्थिक नय

० सादिनित्यपर्यायार्थिकः यथा सिद्धपर्यायो नित्यः।

(आ.प. 59)

सादिनित्यपर्यायार्थिक नय, यथा-सिद्ध पर्याय सादि एवं नित्य है।

० सादिनित्यपर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति सादि-नित्यपर्यायार्थिकः।

(आ.प. 193)

सादि-नित्य पर्याय जिसका प्रयोजन है, वह 'सादि-नित्य पर्यायार्थिक नय' होता है।

सादृश्य

० तुल्लागारदरिसणं सरिसं।

(विशे.भा. 2152)

तुल्य आकार में दृश्य होना–इसे 'सादृश्य' कहा जाता है।

० यद् द्वयादिवस्तूनां तुल्यस्याकारस्य दर्शनं तदिह 'सरिसंति' सादृश्यमुच्यते।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 2152)

दो आदि वस्तुओं में (किन्हीं दो आदि का) तुल्य आकार में दिखना–यह 'सादृश्य' होता है।

० तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वं सादृश्यम्। यथा–चन्द्रभिन्नत्वे सति चन्द्रगताह्लादकरत्वा-दिमुखे चन्द्रसादृश्यम्।

(स.भं.त. 111)

उससे भिन्न हो तथा उसमें रहने वाले धर्म पदार्थ में हों, यही 'सादृश्य' है। जैसे चन्द्रमा से भिन्न रहते चन्द्रगत आह्लादकत्व व वर्तुलाकारयुक्तत्व यह चन्द्रसादृश्य मुख में है।

सादृश्यप्रत्यभिज्ञान

० पूर्वानुभूतगोप्रतियोगिकं गवयनिष्ठं सादृश्यम्। तदिदं सादृश्यप्रत्यभिज्ञानम्।

(न्या.दी. 3/9)

पहले अनुभव की हुई गाय को लेकर गवय में रहने वाली सदृशता प्रत्यभिज्ञान का विषय है, इस प्रकार के ज्ञान को 'सादृश्यप्रत्यभिज्ञान' कहते हैं।

सादृश्यास्तित्व

० इह विविहलक्खणाणं लक्खणमेगं सदिति सव्वगयं।
उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णत्तं।।
(प्र.सा. 2/5)
इस लोक में धर्म (वस्तु–स्वभाव) का उपदेश देने वाले श्री वीतराग सर्वज्ञ देव ने यह कहा है कि नाना प्रकार के लक्षणों वाले (स्वरूपास्तित्व से पृथक् पृथक्) द्रव्यों का 'सत्' ऐसा सर्वद्रव्यवर्ती जो एक (एकत्व का उद्भावक) लक्षण है, यही 'सादृश्यास्तित्व' है।

० इह किल प्रपञ्चितवैचित्र्येण द्रव्यान्तरेभ्यो व्यावृत्य वृत्तेन प्रतिद्रव्यं सीमानमासूत्रयता विशेष-लक्षणभूतेन च स्वरूपास्तित्वेन लक्ष्यमाणानामपि सर्वद्रव्याणाम् अस्तमित-वैचित्र्यप्रपञ्चं प्रवृत्य वृत्तं प्रति द्रव्यमासूत्रितं सीमानं भिन्दत् 'सत्' इति सर्वगतं सामान्यलक्षणभूतं सादृश्यास्तित्वमेकं खलु अवबोद्धव्यम्।
(प्र.सा.तत्त्वप्र. 2/5)
स्वरूपास्तित्व विशेषलक्षण वाला है, क्योंकि वह द्रव्यों की विचित्रता का विस्तार करता है तथा अन्य द्रव्य से भेद करके प्रत्येक द्रव्य की मर्यादा करता है, किन्तु उन भिन्न-भिन्न द्रव्यों की विचित्रता को सिमेट कर सादृश्यास्तित्व प्रवृत्त होता है और प्रत्येक द्रव्य की मर्यादा को तोड़ देता है, अतः वह 'सत्' इस रूप में सर्वगत एक सामान्य लक्षण वाला होता है।

साधन

० अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं तत्र साधनम्।
साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धमुदाहृतम्।।
(तत्त्व.श्लो. 1/13/121)
शब्य, अभिप्रेत (अभीष्ट) और असिद्ध के साध्य को सिद्ध करने वाले साधन (हेतु) का 'अन्यथानुपपत्ति'–यह एकमात्र लक्षण कहा गया है।

० साधनं साध्याविनाभावनियमनिश्चयैकलक्षणम्।
(प्र.प. 109, पृ. 45)
साध्य के साथ अवनाभाव नियम जिसके साथ निश्चित हो–यही 'साधन' का एकमात्र लक्षण है।

० निश्चितान्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुः।
(प्र.न.त. 3/11; जै.त.भा.प्र.परि., पृ. 35)
निश्चित रूप से अन्यथानुपपत्ति ही जिसका एकमात्र लक्षण है, वही हेतु है।

० साध्यं विना अभवनं साध्याविनाभावः, स्वेन आत्मना निश्चितः साध्याविनाभावः एवैकं लक्षणं यस्य तत् 'स्वनिश्चितसाध्याविनाभावैकलक्षणम्, तस्मात् तथाविधात् साधनात् ...।
(प्र.मी. 1/2/9)
साध्य के बिना न होना 'साध्याविनाभाव' कहलाता है। यह साध्याविनाभाव जब स्वयं के द्वारा निश्चित किया गया हो तो वह 'स्वनिश्चित-साध्याविनाभाव' है। यही साधन का एकमात्र लक्षण है।

० निश्चितसाध्यान्यथानुपपत्तिकं साधनम्। यस्य साध्याभावासम्भवनियमरूपा व्याप्त्यविनाभावाद्यपरपर्याया साध्यान्यथानुपपत्तिस्तर्काख्येन प्रमाणेन निर्णीता तत्साधनमित्यर्थः।
(न्या.दी. 3/19)
जिसकी साध्य के साथ अन्यथानुपपत्ति (अविनाभाव) निश्चित है, उसे 'साधन' कहते हैं।

तात्पर्य यह कि जिसकी साध्य के अभाव में नहीं होने रूप व्याप्ति, अविनाभाव आदि नामों वाली साध्यान्यथानुपपत्ति–साध्य के होने पर ही होना और साध्य के अभाव में नहीं होना–तर्क नाम के प्रमाण द्वारा निर्णीत है, वह साधन है।

० निश्चितसाध्याविनाऽभावि साधनम्।

(भि.न्या. 3/10)

जो निश्चित रूप से साध्य का अविनाभावी (साध्य के विना नहीं होने वाला) होता है, उसे 'साधन' कहते हैं।

(द्रष्टव्यः कारण, लिङ्ग हेतु)

साधनधर्मविकल दृष्टान्ताभास

० तस्यामेव प्रतिज्ञायां तस्मिन्नेव हेतौ परमाणुवदिति साधनधर्मविकलः।।

(प्र.न.त. 6/61)

इसी प्रतिज्ञा (अर्थात् 'शब्द अपौरुषेय है, क्योंकि वह अमूर्त्त है') में और इसी (अमूर्त) हेतु में 'परमाणु' का उदाहरण 'साधनधर्मविकल दृष्टान्ताभास' है।

साधर्म्य

० साधर्म्यन्नाम साध्याधिकरणवृत्तित्वेन निश्चितत्वम्।

(स.भं.त. 74)

साध्य के अधिकरण (आधार) में जिसकी वृत्तिता निश्चित हो, उसको 'साधर्म्य' कहते हैं।

साधर्म्य दृष्टान्त

० साध्यसाधनयोर्व्याप्तिर्यत्र निश्चीयतेतराम्, साधर्म्येण स दृष्टान्तः।

(न्यायाव. 18)

यह (साधन) इस (साध्य) के बिना नहीं होता है है, इस रूप में साध्य और साधन की व्याप्ति जिसमें अच्छी तरह से निर्णीत हो जाती है, वह 'साधर्म्य दृष्टान्त' है।

० यत्र साधनधर्मसत्तायाम् साध्यधर्मसत्ता प्रकाश्यते स साधर्म्यदृष्टान्तः।।

यथा–यत्रयत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निर्यथा महानसः।।

(प्र.न.त. 3/45–46)

जहाँ साधन के होने पर साध्य का होना बताया जाय, वह 'साधर्म्य दृष्टान्त' कहलाता है।

जैसे–जहाँ–जहाँ धूम होता है, वहाँ–वहाँ अग्नि होती है, जैसे रसोईघर।

० साधनधर्मप्रयुक्तसाध्यधर्मयोगी साधर्म्यदृष्टान्तः।

(प्र.मी. 1/2/22)

साधन धर्म की अपेक्षा से जो साध्य धर्म वाला हो अर्थात् जहाँ साधन होने से साध्य पाया जाय, वह 'साधर्म्य दृष्टान्त' कहलाता है।

साधर्म्य दृष्टान्ताभास के भेद

० साधर्म्येण दृष्टान्ताभासो नवप्रकारः।।

साध्यधर्मविकलः, साधनधर्मविकलः, उभयधर्म-विकलः, संदिग्धसाध्यधर्मा, संदिग्धसाधनधर्मा, संदिग्धोभयधर्मा, अनन्वयोऽप्रदर्शितान्वयो, विपरीतान्वयश्चेति।।

(प्र.न.त. 6/58–59)

साधर्म्य दृष्टान्ताभास के नौ भेद हैं–

1. साध्यधर्मविकल, 2. साधनधर्मविकल,
3. उभय-धर्मविकल, 4. संदिग्धसाध्यधर्म,
5. संदिग्धसाधनधर्म, 6. संदिग्धउभयधर्म,

7. अनन्वय, 8. अप्रदर्शितान्वय, और 9. विपरीतान्वय।

साधर्म्यसमा जाति (दूषणाभास, जात्युत्तर के भेद)

० तत्र साधर्म्येण प्रत्यवस्थानं साधर्म्यसमा जातिः। यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवदिति प्रयोगे कृते साधर्म्यप्रयोगेणैव प्रत्यवस्थानम्–नित्यः शब्दो निरवयवत्वादाकाशवत्। न चास्ति विशेषहेतुर्घट-साधर्म्यात् कृतकत्वादनित्यः शब्दो न पुनराकाश-साधर्म्यान्निरवयत्वान्नित्य इति।

(प्र.मी. 2/1/29)

साधर्म्य दिखलाकर वादी के साधन का निरास करना साधर्म्यसमा जाति है। जैसे– शब्द अनित्य है, क्योंकि कृतक है, घट के समान। वादी के द्वारा ऐसा प्रयोग करने पर साधर्म्य प्रयोग के द्वारा ही उसका निरास करना, यथा–शब्द नित्य है, क्योंकि निरवयव है, -जैसे–आकाश। (कोई कारण नहीं कि घट के समान कृतक होने से शब्द अनित्य हो तो आकाश के समान निरवयव होने से नित्य न हो।)

० तत्र स्थापनाहेतौ प्रयुक्ते साधर्म्येण प्रत्यवस्थानं साधर्म्यसमा जातिः।

(प्र.प्र. 1/50)

(किसी साध्य को) स्थापित करने वाले हेतु का प्रयोग करने पर उस की समानता से कोई आक्षेप उपस्थित करना–यह 'साधर्म्यसमा' जाति (दूषणाभास) होती है।

साध्य

० साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धम्।

(प्र.सं. 20)

जो 'साध्य' होता है, वह शक्य, अबाधित, अभिप्रेत व अप्रसिद्ध होता है।

० इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम्।

(प.मु. 3/16)

जो वादी को इष्ट (अभिप्रेत) हो, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अबाधित हो और असिद्ध हो, उसे 'साध्य' कहते हैं।

० अप्रतीतमनिराकृतमभीप्सितं साध्यम्।।

शंकितविपरीतानध्यवसितवस्तूनां साध्यताप्रति–पत्त्यर्थमप्रतीतवचनम्।।

प्रत्यक्षादिविरुद्धस्य साध्यत्वं मा प्रसज्यतामित्य–निराकृतग्रहणम्।।

अनभिमतस्यासाध्यत्वप्रतिपत्तयेऽभीप्सित-पदोपादानम्।।

(प्र.न.त. 3/14–17; जै.त.भा.प्र.परि., पृ. 37–38)

जो प्रतिवादी को स्वीकृत न हो, जो प्रत्यक्ष आदि किसी प्रमाण से बाधित न हो और जो वादी को मान्य हो, वह साध्य होता है। जिसमें शंका हो, जिसे उल्टा मान लिया हो अथवा जिसमें अनध्यवसाय हो, वही साध्य हो सकता है, यह बताने के लिये साध्य को 'अप्रतीत' कहा है। जो प्रत्यक्ष आदि किसी प्रमाण से बाधित हो, वह साध्य न हो जाय, यह सूचित करने के लिये साध्य को 'अनिराकृत' कहा है। जो वादी को सिद्ध नहीं है वह साध्य नहीं हो सकता, यह बताने के लिये साध्य को 'अभीप्सित' कहा है।

० सिषाधयिषितमसिद्धमबाध्यं साध्यं पक्षः।

साध्यं साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी, क्वचित्तु धर्मः।

(प्र.मी. 1/2/13, 15)

जिसे सिद्ध करने की इच्छा हो, सिद्ध न हो, प्रमाण से बाधित न हो–वह 'साध्य' कहलाता है, यह साध्य 'पक्ष' होता है।
(अनुमान वाक्य में) साध्य धर्म से युक्त धर्मी (अर्थात् पक्ष) को साध्य बनाया जाता है, कहीं कहीं (व्याप्ति के ग्रहण करते समय, धर्मी को साध्य न बनाकर) धर्म को साध्य बनाया जाता है। (उदाहरणार्थ–'पर्वत आगवाला है' इस प्रतिज्ञा में आग रूपी साध्य से युक्त पक्ष को साध्य बनाया गया है, किन्तु जहां जहां धूम है, वहां वहां आग है–इस व्याप्ति-ग्रहण के समय 'आग' रूपी धर्म को साधन माना जाता है।)

० स्वसिद्धं परासिद्धं साध्यम्।

(प्र.प्र. 1/18)

जो अपने लिये सिद्ध हो और दूसरे के लिये असिद्ध हो (उसे सिद्ध कर बतलाना हो) वह 'साध्य' है।

० शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं साध्यम्। यत्प्रत्यक्षादिप्रमाणाबाधितत्वेन साधयितुं शक्यम्, वाद्यभिमतत्वेनाभिप्रेतम् सन्देहाद्याक्रान्तत्वेनाप्रसिद्धम्, तदेव साध्यम्।

(न्या.दी. 3/20)

शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्ध को साध्य कहते हैं। शक्य वह है जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित न होने से सिद्ध किया जा सकता है। अभिप्रेत वह है जो वादी को सिद्ध करने के लिये अभिमत है–इष्ट है। और अप्रसिद्ध वह है जो सन्देहादिक से युक्त होने से अनिश्चित है, इस तरह जो शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्ध है, वही साध्य है।

० इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम्।

(षड्.समु.टी. 55/318)

जिसे सिद्ध करना वादी को इष्ट है, जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित नहीं होता तथा जो अभी तक प्रतिवादी को असिद्ध है, उसे 'साध्य' कहते हैं।

० सिसाधयिषितं साध्यम्।

(भि.न्या. 3/9)

जिसे सिद्ध करना इष्ट होता है, उसे 'साध्य' कहते हैं।

साध्यधर्मविकल दृष्टान्ताभास

० तत्रापौरुषेयः शब्दोऽमूर्त्तत्वात्, दुःखवदिति साध्यधर्मविकलः।

(प्र.न.त. 6/60)

शब्द अपौरुषेय है, क्योंकि अमूर्त्त है, जैसे दुःख। यहाँ दुःख उदाहरण 'साध्यधर्मविकल दृष्टान्ताभास' है क्योंकि उसमें अपौरुषेयत्व साध्य नहीं रहता।

सान

० स्यति छिनत्ति हन्ति विनाशयति अनध्यवसायमित्यवग्रहः सानम्।

(ध. 13, पृ. 242)

जो अनध्यवसाय को कृश करता है, छेदता है, नष्ट करता है, घात करता है, उस अवग्रह का नाम 'सान' है

(द्रष्टव्य : अवग्रह)

सापेक्षकारणवाद

० कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिस कारणेगंता।
मिच्छत्तं ते चेवा (व) समासओ होंति सम्मत्तं।।

(सन्मति. 3/53)

काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत (अदृष्ट) और पुरुषरूप कारण-विषयक एकान्तवाद मिथ्यात्व अर्थात् अयथार्थ है; और वे ही वाद समास से (परस्पर सापेक्षरूप से) मिलने पर सम्यक्त्व अर्थात् यथार्थ हो जाते हैं।

सामान्य

० तत्र समानानां भावः सामान्यं सत्तालक्षणम्।

(विशे.भा.,शि.हि.वृ. 2186)

समान पदार्थों में रहने वाला जो 'सामान्य' भाव होता है, वही 'सत्ता' रूप है।

० तुल्या प्रतीतिः सामान्यम्।

(जै.सि.दी. 9/29)

तुल्य (एक है) ऐसी प्रतीति को 'सामान्य' कहते हैं।

० अभेदप्रतीतेर्निमित्तं सामान्यम्।

(भि.न्या. 6/6)

अभेदप्रतीति के निमित्त को 'सामान्य' कहा जाता है।

(द्रष्टव्य : अन्वय)

सामान्य के भेद

० सामान्यं द्वेधा–तिर्यगूर्ध्वताभेदात्।
सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत्।
परापरविवर्तव्यापिद्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु।।

(प.मु. 4/3–5)

सामान्य के दो भेद हैं। तिर्यक्सामान्य और ऊर्ध्वतासामान्य। समान परिणमन को 'तिर्यक्-सामान्य' कहते हैं, जैसे–खांडी, मुण्डी और शबली आदि गायों में गोत्व सदृशपरिणमन है। पूर्व और उत्तर पर्याय में रहने वाले द्रव्य को 'ऊर्ध्वता सामान्य' कहते हैं। जैसे–स्थास और कुशूल आदि पर्यायों में मिट्टी रहती है। यहाँ यह मिट्टी ही ऊर्ध्वतासामान्य मानी जावेगी।

० सामान्यं द्विप्रकारं-तिर्यक्सामान्यमूर्ध्वतासामान्यं च। प्रतिव्यक्तितुल्या परिणतिः तिर्यक्सामान्यम्, शुक्लशाबलेयादिपिण्डेषु गोत्वं यथा। पूर्वापर-परिणामसाधारणं द्रव्यमूर्ध्वतासामान्यं कट-ककंकणाद्यनुगामिकाञ्चनवत्।।

(प्र.न.त. 5/3–5)

सामान्य दो प्रकार का है–तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य। प्रत्येक व्यक्ति में समान परिणाम को 'तिर्यक् सामान्य' कहते हैं, जैसे– चितकबरी, श्याम, लाल आदि गायों में 'गोत्व' तिर्यक् सामान्य है।

पूर्व पर्याय और उत्तर पर्याय में समान रूप से रहने वाला द्रव्य ऊर्ध्वतासामान्य कहलाता है; जैसे–कड़े, कंकण आदि पर्यायों में समान रहने वाला सुवर्ण द्रव्य 'ऊर्ध्वता सामान्य' है।

सामान्यछल

० हेतुत्वकारणत्वाभ्यां विकल्प्य प्रतिषेधनम्।
वाक्ये संभाव्यमानार्थे सामान्यछलमुच्यते।।

(प्र.प्र. 1/47)

वाक्य में जहाँ संभावना का अर्थ व्यक्त करना हो वहाँ उसमें हेतु अथवा कारण होने की कल्पना करके निषेध करना 'सामान्यछल' कहलाता है।

० संभावनयातिप्रसंगिनोऽपि सामान्यस्योपन्यासे हेतुत्वारोपणेन तन्निषेधः सामान्यछलम्।

(स्या.मं. 10)

सम्भावना मात्र से व्यापक सामान्य का कथन करने पर सामान्य के ऊपर हेतु का आरोप करके सामान्य का निषेध करना 'सामान्य छल' है।

सामान्य संग्रह नय

० सामान्यसंग्रहः, यथा सर्वाणि द्रव्याणि परस्परा-विरोधीनि।

(आ.प. 69)

सामान्य संग्रह नय, जैसे सर्वद्रव्य परस्पर अविरोधी हैं।

सामान्यसंग्रहभेदक व्यवहार नय

० सामान्यसंग्रहभेदको व्यवहारः, यथा द्रव्याणि जीवाजीवाः।

(आ.प. 71.2)

सामान्य संग्रह नय के विषयभूत पदार्थ में भेद करने वाला सामान्य संग्रह का भेदक व्यवहार नय है। यथा–द्रव्य के दो भेद हैं, जीव और अजीव।

सिद्धसाधन

० (द्रष्टव्य : अकिंचित्कर हेतु)

सिद्धान्त

० (द्रष्टव्य : आगम, आज्ञा)

सुनय

० ते सावेक्खा सुणया।

(कार्ति. 266)

परस्पर सापेक्ष हों तो नय 'सुनय' होते हैं। (द्रष्टव्य : सम्यक् एकान्त, सम्यक् नय)

सूक्ष्मऋजुसूत्रनय

० सूक्ष्मर्जुसूत्रः, यथा एकसमयावस्थायी पर्यायः।

(आ.प. 74)

जो नय एक समयवर्ती पर्याय को विषय करता है वह 'सूक्ष्म–ऋजुसूत्र' नय है।

सूत्र

० यदाहुः –

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः।।
अस्तोभमनधिकम्।

(प्र.मी. 1/2/4)

कहा भी है –जो अल्प अक्षरों वाला हो, असंदिग्ध हो, सारयुक्त हो, सर्वतोमुखी हो तथा अस्तोभ हो, उसे ही सूत्रवेत्ताओं ने निर्दोष सूत्र कहा है। 'अस्तोभ' यानी अधिक (अनपेक्षित) अक्षर वाला न हो।

सूनृत

० (द्रष्टव्यः आगम)

स्थापना (निक्षेप)

० यः काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु स्थाप्यते जीव इति स स्थापनाजीवो देवताप्रतिकृतिवद् इन्द्रो रुद्रः स्कन्दो विष्णुरिति।

(तत्त्व.भा. 1/5)

किसी भी काष्ठ, पुस्तक, चित्र, पाशे आदि में यह जीव है–इस तरह के आरोपण को स्थापनाजीव कहते हैं। जैसे कि देवताओं में मूर्ति में हुआ करता है कि ये इन्द्र है, ये महादेव है, ये स्कन्द (कार्तिकेय) है, ये विष्णु है, आदि आदि।

० काष्ठपुस्त-चित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु सोऽयमिति स्थाप्यमाना।

(स.सि. 1/5/22)

काष्ठकर्म, पुस्तकर्म, चित्रकर्म और अक्षनिक्षेप आदि में 'वह यह' इस प्रकार स्थापित करने को 'स्थापना निक्षेप' कहते हैं।

० जं पुण तयत्थसुन्नं तयभिप्पाएण तारिसागारं। कीरइ व निरागारं इत्तरमियरं व सा ठवणा।।

(विशे.भा. 26)

जो शब्द के मूल अर्थ से शून्य हो और मूल वस्तु के अभिप्राय से, या तो उसके आकार से युक्त, या फिर उसके आकार से शून्य वस्तु में (मूल अर्थ की) जो प्रतिष्ठापना की जाती है, वह 'स्थापना' है। वह इत्वर (अल्पकालिक) और अन्य अर्थात् अनित्वर (शाश्वत) –इस प्रकार से दो भेदों वाली है।

० ठवण' त्ति ठावणा, सा य अवायाविधारियमत्थं पुव्वावरमालोइयं हियतम्मि ठावयंतस्स ठवणा भण्णति, पूर्णघटस्थापनावत्।

(न.चू. 53, पृ. 37)

(धारणा के छः भेदों में तीसरा भेद है – स्थापना, उसका स्वरूप) धारणा की तीसरी अवस्था है स्थापना। इस अवस्था में अवधारित अर्थ पूर्वापर होने पर भी आलोचनापूर्वक हृदय (मस्तिष्क) में स्थापित किया जाता है।

० सोऽयमित्यभिसम्बन्धत्वेन अन्यस्य व्यवस्थापनामात्रं स्थापना। यथा परमैश्वर्यलक्षणो यः शचीपतिरिन्द्रः, 'सोऽयम्' इत्यन्यवस्तु प्रतिनिधीयमानं स्थापना भवति।

(रा.वा. 1/5/2)

'यह वही है' इस रूप से तदाकार या अतदाकार वस्तु में किसी की स्थापना करना 'स्थापना निक्षेप' है, जैसे, परमैश्वर्य रूप इन्दन क्रिया की अपेक्षा 'इन्द्र' कहा जाता है, 'यह वही है', किन्तु इस रूप में किसी अन्य वस्तु में (उस इन्द्र की) स्थापना करना 'स्थापना निक्षेप' है।

० वस्तुनः कृतसंज्ञस्य प्रतिष्ठा स्थापना मता। स्थाप्यत इति स्थापना प्रतिकृतिः सा चाहितनामकस्येन्द्रादेर्वास्तवस्य तत्त्वाध्यारोपात् प्रतिष्ठा सोऽयमित्यभिसम्बन्धेनान्यस्य व्यवस्थापना स्थापनामात्रं स्थापनेति वचनात्।

(तत्त्व.श्लो. 1/5/54)

नामनिक्षेप से जिसकी संज्ञा हो गई हो, उसकी उन वास्तविक धर्मों के अध्यारोप से 'यह वही हैं',–ऐसी प्रतिष्ठा करना 'स्थापना निक्षेप' माना गया है। जो स्थापित की जाती है, वह स्थापना, जिसका अर्थ है–प्रतिकृति (प्रतिबिम्ब मूर्ति) इन्द्र आदि नाम जिनका वास्तविक है, उनके स्वरूप की प्रतिष्ठा करना, अर्थात् 'वह यही है' इस रूप में किसी अन्य पदार्थ में उनकी व्यवस्थापना 'स्थापना' है, क्योंकि स्थापना करने को (भावप्रधान स्वीकार कर) स्थापना कहा गया है।

० आहिदणामस्स अण्णस्स सोयमिदि ट्ठवणं ट्ठवणा णाम।

(ध. 1, पृ. 20)

किसी नाम को धारण करने वाले दूसरे पदार्थ की 'वह यह है' इस प्रकार स्थापना करने को 'स्थापना' कहते हैं।

० सो एसो इदि अण्णम्हि बुद्धिए अण्णारोवणं ठवणा णाम।

(ध. 4, पृ. 314)

'वह यही है'–इस प्रकार से अन्य वस्तु में बुद्धि के द्वारा अन्य का आरोपण करना 'स्थापना' है।

० सोऽयमित्यभेदेन स्थाप्यतेऽन्योऽस्यां स्थापनयेति प्रतिनिधिः स्थापना।

(ध. 13, पृ. 201)

'वह यह है' इस प्रकार अभेद रूप से जो अन्य पदार्थ विवक्षित वस्तु में प्रतिनिधि रूप से स्थापित किया जाता है, वह 'स्थापना' है।

० स्थाप्यते अनया निर्णीतरूपेण अर्थ इति स्थापना।

(ध. 13, पृ. 243)

जिसके द्वारा निर्णीतरूप से अर्थ स्थापित किया जाता है, वह 'स्थापना' है।

० सोऽयमित्यक्षकाष्ठादेः सम्बन्धेनान्यवस्तुनि।
यद्व्यवस्थापनामात्रं स्थापना साऽभिधीयते।।

(तत्त्वा. 1/11)

पांसे तथा काष्ठ आदि के सम्बन्ध से 'वह यह है' इस प्रकार अन्य वस्तु में जो किसी अन्य वस्तु की व्यवस्था की जाता है, वह स्थापना निक्षेप कहलाता है।

० सोऽयं तत्समरूपे तदबुद्धिः स्थापना यथा प्रतिमा।।

(पं. 1/742)

उसी के समान रूपवाले पदार्थ में 'वह यह है' इस प्रकार उसी की बुद्धि होना 'स्थापना निक्षेप' है। जैसे–'प्रतिभा' यह 'स्थापना निक्षेप' है।

० तदर्थवियुक्तस्य तदभिप्रायेण प्रतिष्ठापनं स्थापना।

(जै.सि.दी. 9/44)

मूल अर्थ से रहित वस्तु को उसी के अभिप्राय से स्थापित करना 'स्थापना निक्षेप' है।

(द्रष्टव्य : धारणा, निक्षेप)

स्थिति

० द्रव्यस्य स्वप्रदेशाद् अप्रच्यवनहेतुः गतिनिवृत्तिरूपा स्थितिरवगन्तव्या।।

(रा.वा. 5/17/2)

द्रव्य की अपने देश से च्युत न होने का कारण जो गति–निवृत्ति है, उसे स्थिति जानना चाहिए

स्थूलऋजुसूत्रनय

० स्थूलर्जुसूत्रः यथा मनुष्यादिपर्यायास्तदायुः-प्रमाणकालं तिष्ठन्ति।

(आ.प. 75)

जो नय अनेक समयवर्ती स्थूल पर्याय को विषय करता है, वह 'स्थूलऋजुसूत्र नय' है। जैसे मनुष्यादि पर्यायें अपनी–अपनी आयु प्रमाण काल तक रहती हैं।

(द्रष्टव्य : ऋजुसूत्रनय, नय)

स्पष्टत्व

० अनुमानाद्याधिक्येन विशेषप्रकाशनं स्पष्टत्वम्।।

(प्र.न.त. 2/2)

स्पष्ट (निर्मल) ज्ञान को 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। अनुमान आदि परोक्ष प्रमाणों की अपेक्षा पदार्थ का वर्ण, आकार आदि विशेष का ज्ञात होना–यह 'स्पष्टत्व' कहलाता है।

(द्रष्टव्य : वैशद्य)

स्फोट

० स्फुटति प्रकटीभवत्यर्थोऽस्मिन्निति स्फोटश्चिदात्मा।

(न्या.कु. 6/65)

जहां अर्थ प्रकट होता है, उस चेतन आत्मा को जैन दृष्टिकोण से 'स्फोट' कहा जाता है।

स्मरण

० संस्कारप्रबोधसंभूतमनुभूतार्थविषयं तदित्याकारं वेदनं स्मरणम्, यथा तत्तीर्थकरबिम्बमिति।

(षड्.समु.टी. 55/317; प्र.न.त. 3/3–4)

पहले देखे गये पदार्थ के संस्कार के प्रबोध से उत्पन्न होने वाला, अनुभूत पदार्थ को विषय करने वाला 'वह था' इत्यादि रूप में 'वह' शब्द से जिसका निरूपण होता है, उस अविसंवादी ज्ञान को 'स्मरण' कहते हैं।

(द्रष्टव्य : स्मृति)

स्मृति

० तदित्यकारानुभूतार्थविषया स्मृतिः।

(प्र.प. 102, पृ. 42)

अनुभूत पदार्थ के विषय में 'वह' इस रूप में जो प्रतीति होती है, वह 'स्मृति' है।

० दिट्ठ-सुदाणुभूदट्ठविसयणाणविसेसिदजीवो सदी णाम।

(ध. 13, पृ. 333)

दृष्ट, श्रुत और अनुभूत अर्थ को विषय करने वाले ज्ञान से विशेषित जीव का नाम 'स्मृति' है।

० संस्कारोद्बोधनिबन्धना वासनोद्बोधहेतुका तदित्याकारा स्मृतिः।

(प.मु. 3/3; प्र.मी. 1/2/3)

संस्कार (धारणारूप अनुभव) की प्रगटता से होने वाले तथा तत् (वह) आकार वाले ज्ञान को 'स्मृति' कहते हैं।

० ज्ञानविशेष एव हि संस्कारविशेषप्रभावः तदित्याकारोऽभूतार्थविषयः स्मृतिरित्युच्यते।

(न्या.कु. 3/10)

विशिष्ट संस्कार से उत्पन्न होने वाला विशिष्ट ज्ञान ही 'वह' इस अनुभूत पदार्थ को विषय करता है तो 'स्मृति' कहा जाता है;

० स्मरणं हि संस्कारप्रबोधकारणम्।

(प्र.क.मा. 4/6)

ज्ञान का कारण संस्कार का प्रबोध प्रगट होना है।

० संस्कारोद्बोधजनिता तदिति प्रतीतिः स्मृतिः।

(प्र.प्र. 1/12)

संस्कार के उद्बोधन से उत्पन्न होने वाले 'वह' इस प्रकार के ज्ञान को 'स्मृति' कहते हैं।

० तदित्याकारा प्रागनुभूतवस्तु विषया स्मृतिः, यथा स देवदत्त इति।

(न्या.दी. 3/4)

'वह' इस प्रकार से उल्लिखित होने वाले और पहले अनुभव किये हुये पदार्थ को विषय करने वाले ज्ञान को स्मृति कहते हैं। जैसे–'वह देवदत्त।'

० अनुभवमात्रजन्यं ज्ञानं स्मरणम्, यथा तत् तीर्थंकरबिम्बमिति।

(जै.त.भा.प्र.परि., पृ. 25)

सिर्फ अनुभव से उत्पन्न होने वाला ज्ञान 'स्मरण' है, यथा–वह तीर्थंकर की प्रतिमा (ऐसा स्मरण होना)।

स्मृत्याभास (स्मरणाभास)

० अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं स्मरणाभासं, जिनदत्ते स देवदत्तो यथा।।

(प.मु. 6/8)

जिस पदार्थ का कभी धारणा रूप अनुभव नहीं हुआ था, उसके अनुभव को 'स्मरणाभास' कहते हैं। जैसे कि जिनदत्त में देवदत्त सम्बन्धी अनुभव का स्मरण।

० अननुभूते वस्तुनि तदिति ज्ञानं स्मरणाभासम्।। अननुभूते मुनिमण्डले तन्मुनिमण्डलमिति यथा।।

(प्र.न.त. 6/31–32)

पहले जिसका अनुभव न हुआ हो, उस वस्तु में 'वह' ऐसा ज्ञान होना 'स्मरणाभास' है। जैसे–जिस मुनि-मण्डल का पहले अनुभव न हुआ हो, उसमें 'वह मुनिमण्डल' ऐसा ज्ञान होना।

० अतस्मिंस्तदिति प्रत्ययः स्मरणाभासः।

(प्र.प्र. 1/12)

जो वह नहीं है, उसके विषय में 'वह' इस प्रकार का ज्ञान होना स्मरण का आभास है।

स्यात् पद

० वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम्। स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि।।

(आ.मी. 103)

आपके तथा (श्रुत) केवलियों के भी वाक्य में प्रयुक्त होने वाला 'स्यात्' शब्द अर्थ के साथ सम्बद्ध होने से 'अनेकान्त' का द्योतक और गम्य (बोध्य) का बोध-सूचक हो जाता है।

० स्यात्कारः सत्यलांछनः।

(आ.मी. 112)

'स्यात्' पद (कथन की) सत्यता का चिह्न है।

० विधिर्निषेधोऽनभिलाप्यता च, त्रिरेकशस्त्रिर्द्विश एक एव।
त्रयो विकल्पास्तव सप्तधाऽमी, स्याच्छब्दनेयाः सकलेऽर्थभेदे।।
स्यादित्यपि स्याद्गुणमुख्यकल्पैकान्तो यथोपाधिविशेषवीक्ष्यः।
तत्त्वं त्वनेकान्तमशेषरूपं द्विधा भवार्थव्यवहारवत्त्वात्।।

(युक्त्य. 45–46)

विधि (अस्ति), निषेध (नास्ति) और अनभिलाप्यता (अवक्तव्य)–ये एक-एक करके तीन मूल विकल्प हैं। इनके विपक्षभूत धर्म की संधि (संयोजना) से द्विसंयोगज तीन विकल्प (अस्ति-नास्ति, अस्ति-अवक्तव्य, नास्ति अवक्तव्य) होते हैं और त्रिसंयोजगज विकल्प (अस्ति-नास्ति, अस्ति अवक्तव्य, नास्ति) एक है, इस तरह, ये सात विकल्प, हे वीर जिनेन्द्र! आपके यहां (शासन में) सम्पूर्ण अर्थ-भेदों (समस्त द्रव्य-पर्यायों) में घटित होते हैं और ये सभी (सातों विकल्प) स्यात् शब्द के द्वारा 'नेय' (नेतृत्व को प्राप्त) होते हैं।
'स्यात्' शब्द भी गुण व मुख्य स्वभावों के द्वारा कल्पित किये हुए एकान्त कथनों (नयों) को लिये हुए होता है, क्योंकि वह यथोपाधि (विशेषणानुसार) विशेष (धर्मान्तर) का द्योतक

होता है। तत्त्व तो 'अनेकान्त' रूप होता है और वह तत्त्व दो प्रकार से व्यवस्थित है–भवार्थवान् (द्रव्य रूप, विधिरूप) होने से तथा व्यवहारवान् (पर्यायरूप) होने से।

० सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः।
सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीह ते।।
सर्वथानियमत्यागी यथादृष्टमपेक्षकः।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम्।।
(स्वयम्भू. 101–102)

सत्, एक, नित्य, वक्तव्य और इनके विपक्षरूप असत्, अनेक, अनित्य अवक्तव्य–ये जो नय पक्ष हैं, वे यहाँ सर्वथारूप में तो अतिदूषित हैं और स्यात्रूप में पुष्टि को प्राप्त होते हैं। सर्वथारूप से प्रतिपादन के नियम का त्यागी (निषेध–सूचक) और यथादृष्ट को अपेक्षा में रखने वाला जो 'स्यात्' शब्द है, वह आपके न्याय में है, उन दूसरों (वादियों) के न्याय में नहीं है जो अपने स्वयं के शत्रु हैं।

० स्याच्छब्दोऽयमनेकान्तार्थस्य द्योतकः।..... स्याच्छब्दप्रयोगः कर्त्तव्यः 'स्यादस्त्येव जीवः' इत्यादि। कोऽर्थः? एवकारेणेतरनिवृत्तिप्रसङ्गे स्वात्मलोपात् सकलो लोपो मा विज्ञायीति वस्तुनि यथावस्थितं विवक्षितधर्मस्वरूपं तथैव द्योतयति स्याच्छब्दः।
(रा.वा. 4/42/14, 17)

'स्यात्' पद अनेकान्त अर्थ का द्योतक है।... .यहां (नयसप्तभङ्गी में) भी स्यात् शब्द का प्रयोग करना चाहिए, जैसे–'स्याद् अस्ति एव जीवः' इत्यादि। इसका तात्पर्य क्या है? (समाधान–) 'एवकार' से जब इतरधर्म की निवृत्ति का प्रसंग प्रस्तुत है, इसलिए कहीं स्वात्म-लोप (नास्ति धर्म का लोप होने से सकल धर्म का लोप) न हो जाय, इसलिए वस्तु में यथावस्थित विवक्षित धर्म-स्वरूप को 'स्यात्' शब्द प्रकट करता है।

० .....स्यात्–शब्दप्रयोगः, स च तिङन्तप्रतिरूपको निपातः। तस्य.....इह विवक्षावशात् अनेकान्तार्थो गृह्यते। यद्ययमनेकान्तार्थः, तेनैव सर्वस्य उपादानात् इतरेषां पदानामानर्थक्यं प्रसज्यते, नैष दोषः, सामान्येन उपादानेऽपि विशेषार्थिना विशेषः अनुप्रयोक्तव्य :।.....अथवा स्यात्-शब्दोऽयम् अनेकान्तार्थस्य द्योतकः। द्योतकश्च वाचक-प्रयोगसन्निधिमन्तरेण अभिप्रेतार्थाव-द्योतनाय नालमिति तद्द्योत्यधर्माधारार्थ-अभिधानाय इतरपदप्रयोगः क्रियते। अथ केनोपात्तोऽनेकान्तार्थः अनेन द्योत्यते? उक्तमेतत्अभेदवृत्त्या अभेदोपचारेण वा प्रयुक्तशब्दवाच्यतामेव आस्कन्दन्ति इतरे धर्माः।
(रा.वा. 4/42/15)

सप्तभङ्गी में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है। वह 'स्यात्' शब्द तिङन्त प्रतिरूपक निपात है। विवक्षावश यहां उसका 'अनेकान्त' अर्थ लिया गया है। (प्रश्न–) यदि 'स्यात्' शब्द अनेकान्त का द्योतक है तो समस्त अर्थों का इसी के द्वारा ग्रहण हो जाने से इतर अस्ति, नास्ति आदि पदों का ग्रहण करना व्यर्थ होगा? (उत्तर–) यद्यपि स्यात् पद से सामान्यतया अनेकान्त का द्योतन हो जाता है, फिर भी विशेषार्थी को विशेष शब्द का प्रयोग करना चाहिए।.....अथवा यह स्यात् शब्द अनेकान्त अर्थ का द्योतक होता है और जो

द्योतक होता है, वह वाचक शब्द के प्रयोग के बिना अभिप्रेत (इच्छित) अर्थ का द्योतन करने के लिए समर्थ नहीं होता है, अतः उसके द्वारा द्योत्य धर्म के आधारभूत अर्थ का कथन करने के लिए इतर पदों (वाक्यों) का प्रयोग किया जाता है। (प्रश्न–) किसके द्वारा गृहीत (वाच्य) अनेकान्त अर्थ का द्योतन 'स्यात्' शब्द करता है? (उत्तर–) यह पहले कहा जा चुका है कि अभेदवृत्ति या अभेद उपचार से प्रयुक्त शब्द द्वारा इतर धर्मों का कथन हो जाता है (उसी का द्योतन स्यात् शब्द करता है)।

० अप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र स्यात्कारोऽर्थात् प्रतीयते।
विधौ निषेधेऽप्यन्यत्र कुशलश्चेत् प्रयोजकः।।
(लघी. 6/23)
यदि वक्ता कुशल हो तो विधि रूप वाक्य में, निषेध रूप वाक्य में तथा अनुवाद आदि में सर्वत्र प्रयोग नहीं करने पर भी सामर्थ्य से ही 'स्यात्' पद और 'एवकार' पद की प्रतिति स्वतः हो जाती है।

० सर्वथा तत्प्रयोगेऽपि सत्त्वादिप्राप्तिविच्छिदे।
स्यात्कारः संप्रयुज्येतानेकान्तद्योतकत्वतः।।
स्याच्छब्दादनेकान्तसामान्यस्यावबोधने।
शब्दान्तरप्रयोगोऽत्र विशेषप्रतिपत्तये।।
सोऽप्रयुक्तोऽपि वा तज्ज्ञैः सर्वत्रार्थात् प्रतीयते।
यथैवकारो योगादिव्यवच्छेदप्रयोजनः।।
(तत्त्व.श्लो. 1/6/54–56)
इस एवकार का प्रयोग करने पर भी सर्वथा (एकान्त रूप से) सत्त्वादि की प्राप्ति का विच्छेद करने के लिए वाक्य में 'स्यात्कार' शब्द का प्रयोग करना चाहिए क्योंकि "स्यात्" शब्द ही अनेकान्त का द्योतक है। "स्याद्" शब्द के द्वारा अनेकान्त सामान्य का ज्ञान हो जाने पर भी यहां विशेष रूप से धर्मों की प्रतिपत्ति (ज्ञान) करने के लिए अस्ति, नास्ति आदि शब्दान्तरों का प्रयोग करना आवश्यक है। उसी प्रकार अयोग, अन्य योग और अत्यन्त योग का व्यवच्छेद करना जिसका प्रयोजन है, ऐसे एवकार को प्रयोग बिना किए ही समझ लिया जाता है।

० दुर्निवारनयानीकविरोधध्वंसनौषधिः।
स्यात्कारजीविता जीयात् जैनी सिद्धान्तपद्धतिः।।
(पंचा.त.प्र.,मंगला. 2)
जो नय-समूह के दुर्निवार विरोध का नाश करने वाली औषधि है और 'स्यात्' पद जिसका जीवन है, ऐसी जैनी (जिनेन्द्र की) सिद्धान्त-पद्धति जयवन्त हो।

० अत्र सर्वथात्वनिषेधकः अनेकान्तद्योतकः कथञ्चिदर्थे स्यात्-शब्दो निपातः।
(पंचा.त.प्र. 14)
इस (सप्तभङ्गी) में जो निपातसंज्ञक 'स्यात्' पद है, वह सर्वथापने का निषेध करने वाला, अनेकान्त का द्योतक तथा 'कथंचित्' (किसी अपेक्षा से) इस अर्थ में प्रयुक्त है।

० परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होइ सव्वहा वयणा।
जइणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहंचिवयणादो।।
(गो.सा.क. 895)
पर-समयों (अन्य एकान्तवादी दर्शनों) का वचन मिथ्या है, क्योंकि वे वस्तु को 'सर्वथा'

(एकान्त-रूप) बताते हैं, किन्तु जैनों का वचन 'सम्यक्' है, क्योंकि वे वस्तु का कथन 'कथंचित्' (स्यात्) वचन के साथ करते हैं।

० णियमणिसेहणसीलो णिपादणादो य जो हु खलु सिद्धो। सो सियसद्दो भणिओ जो सावेक्खं पसाहेदि।।

(बृ.न.च. 253)

जो 'सर्वथा' नियम का निषेध करने वाला है और निपात रूप से जो सिद्ध है–ऐसा 'स्यात्' शब्द है। वह वस्तु को 'सापेक्ष' सिद्ध करता है।

० स्याच्छब्दस्य चानेकान्तविधिविचारादिषु बहुष्वर्थेषु सम्भवत्सु इह विवक्षावशादनेकान्तार्थो गृह्यते। अनेकान्तत्वं नामानेकधर्मात्मकत्वम्।.....ननु स्याच्छब्दस्य द्योतकत्वपक्षे केन पुनश्शब्दोक्तानेकान्तस्स्याच्छब्देन द्योत्यते इति चेत् अस्त्येव घट इत्यादिवाक्येनाभेदवृत्त्याऽभेदोपचारेण वा प्रतिपादितोऽभेदोपचारेण वा प्रतिपादितोऽनेकान्तस्स्याच्छब्देन द्योत्यत इति ब्रूमः।

(स.भं.त. 45, 48)

स्यात् पद के यद्यपि अनेकान्त, विधि, विचार आदि अनेक अर्थ संभव हैं, तथापि यहां वक्ता की विशेष इच्छा से 'अनेकान्तार्थ' का वाचक ही स्यात् शब्द का ग्रहण है। अनेकान्त इस शब्द का अर्थ 'अनेकधर्म स्वरूप' है।.....(शंका) जब 'निपात द्योतक होते हैं' –यदि इस मत को मानें तो किस शब्द से कथित अनेकान्त रूप अर्थ को स्यात् शब्द द्योतित करता है? (उत्तर–) 'अस्ति एव घटः' अपने द्रव्य, क्षेत्र आदि की विवक्षा से 'घट है ही है', इत्यादि वाक्य द्वारा द्रव्यत्व–(द्रव्यास्तिक नय) अर्थ के आश्रय से अभेद वृत्ति कर, और पर्याय अर्थ (पर्यायस्तिकनय) के आश्रय से अभेद का उपचार करते हुए कथित जो अनेकान्त रूप' अर्थ है, उसे ही स्यात् शब्द द्योतित करता है।

० स्याच्छब्देन सामान्यतोऽनेकान्तबोधनेऽपि विशेषरूपेण बोधनायास्त्यादिशब्दप्रयोगात्।

(स.भं.त. 46)

'स्यात्' शब्द से सामान्य रूप से 'अनेकान्त' का बोध होता है, तथापि विशेष रूप से बोध कराने के लिये 'अस्तित्व' आदि शब्दों का प्रयोग (सप्तभङ्गी में) किया जाता है।

० सत्यं स्वपरनिहत्यै सर्वं किल सर्वथेति पदपूर्वम्। स्वपरोपकृतिनिमित्तं सर्वं स्यात् स्यात्पदाङ्कितं तु पदम्।।

(पं. 1/337)

कथन के पहले यदि 'सर्वथा' पद लगा दिया जाय तो वह स्व और पर दोनों का विघातक हो जाता है और यदि उस सब कथन को स्यात्पद से अंकित कर दिया जाय तो वही स्व और पर, दोनों का ही उपकारक हो जाता है।

स्याद्वाद

० स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः। सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः।।

(आ.मी. 104)

स्यात् शब्द सर्वथा एकान्त का त्यागी होने से 'किं' शब्द निष्पन्न चित् प्रकार के रूप में कथंचित्, कथंचन आदि का वाचक है। यह स्याद्वाद सप्तभंगों और नयों की अपेक्षा को

लिये हुए रहता है तथा हेय-उपादेय का भेद करने वाला होता है।

० स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्।
(आ.मी. 105)
स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनों (जीवादि) सब तत्वों के प्रकाशक हैं। दोनों के प्रकाशन में साक्षात् और असाक्षात् का भेद है।

० एकनयमतावलम्बिनां वस्तुस्वरूपसम्पादने सामर्थ्याभावात् समग्रया नयविचारणया वस्तु-स्वरूपप्रतिपादने सुकरम् अवगत स्याद्वादसद्भावै।
(तत्त्व.भा.वृ. 1/35)
जो (मात्र) एक नय का आश्रय लेते हैं, वे वस्तु-स्वरूप के सम्पादन में समर्थ नहीं होते, किन्तुं जो स्याद्वाद तत्त्व को समझ चुके होते हैं, उनके लिए समग्र नयों की विचारणा द्वारा वस्तु स्वरूप का (समग्रतया) प्रतिपादन सुकर होता है।

० अनेकान्तात्मकस्य अनेक धर्मस्वभावस्य अर्थस्य जीवादेः कथनं स्याद्वादः।
(न्या.कु. 6/62)
अनेकान्तात्मक अर्थात् अनेकधर्मात्मक जीव आदि पदार्थ का कथन 'स्याद्वाद' है।

० अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः।
(लघी.वृ. 6/62)
अनेकान्तात्मक अर्थ का कथन 'स्याद्वाद' है।

० स्यात् कथंचित् विवक्षितप्रकारेण अनेकान्तरूपेण वदनं वादो जल्पः कथनं प्रतिपादनमिति स्याद्वादः।
(स.सा.ता.वृ. स्याद्वादाधिकार)
स्यात् अर्थात् कथांचित् या विवक्षित प्रकार से अनेकान्त रूप से वाद करना, जल्प करना, कहना, प्रतिपादन करना—यह 'स्याद्वाद' है।

० स्याद् इति अव्ययमनेकान्तद्योतम्। ततः स्याद्वादः अनेकान्तवादः, नित्यानित्याद्यने-कधर्मशबलवस्त्वभ्युपगमः इति यावत्।
(स्या.मं. 5)
'स्यात्' यह अनेकान्त—द्योतक अव्यय (पद) है। इसलिए स्याद्वाद का अर्थ है— अनेकान्तवाद, अर्थात् नित्य-अनित्य आदि अनेक धर्मों से विचित्र वस्तु (पदार्थ) का कथन।

० अर्पणानर्पणाभ्यामनेकान्तात्मकार्थप्रतिपादन-पद्धतिः स्याद्वादः।
(भि.न्या. 4/7)
अर्पणा (मुख्य धर्म की विवक्षा) तथा अनर्पणा (गौण धर्म की उपेक्षा) के द्वारा अनेकान्तात्मक (अनन्तधर्मात्मक) वस्तु के प्रतिपादन की पद्धति को 'स्याद्वाद' कहा जाता है।
(द्रष्टव्य : त्रिभङ्गी, विभज्यवाद, सप्तभङ्गी, स्वपरचुष्टय)

स्यादवाद शासन

० कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा,
श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनानयो वा।
त्वच्छासनैका धिपतित्वलक्ष्मी-
प्रभुत्वशक्तेरपवादहेतुः।।
दयादमत्यागसमाधिनिष्ठं,
नयप्रमाण—प्रकृताञ्जसार्थम्।

अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैः
जिन त्वदीयं मतमद्वितीयम्।।

(युक्त्य. 5–6)

हे प्रभो! आप के (स्याद्वादरूपी) शासन में एकाधिपत्य रूप लक्ष्मी का स्वामी होने की जो शक्ति है, उसके अपवाद (विफल, प्रभावहीन) होने का कारण कोई है तो वह (यह) कलि-काल है, या प्रवक्ता का वचन-अनय (सापेक्षताहीन वचन) है, या श्रोता का कलुषित आशय (द्वेषादि) है (अन्य कोई नहीं)।

हे जिनेन्द! तुम्हारा (स्याद्वाद रूप) मत अद्वितीय है, उसमें दया, संयम, त्याग व समाधि अन्तिर्निहित है, वह नयों व प्रमाण द्वारा वस्तु-तत्त्व को स्पष्ट करता है और इसलिए अन्य अखिल प्रवादों (मतान्तरों से) वह अबाधित (अपराजित) है।

० श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम्।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम्।।

(प्र.सं. 1)

त्रिलोकी के परमेश्वर जिनेन्द्र देव का शासन 'जिन-शासन' विजयी हो, जिसका अमोद्य लाञ्छन है–श्रीसम्पन्न परम गम्भीर स्याद्वाद (सिद्धान्त)।

० सकलं सर्वथैकान्तप्रवादातीतगोचरम्।
सिद्धं प्रवचनं सिद्धपरमात्मानुशासनम्।

(न्या.वि. 3/387)

सिद्ध परमात्मा सर्वज्ञ देव का प्रवचनात्मक (स्याद्वाद) अनुशासन सर्वथा एकान्तवादों से परे वस्तु को विषय करने वाला है, वह सकल (सर्वाङ्गपूर्ण) एवं सिद्ध (प्रमाणसिद्ध) है।

० स्याद्वादो हि समस्तवस्तुतत्त्वसाधकम्, एकम्, अस्खलितं शासनमर्हत्सर्वज्ञस्य। स तु सर्वमनेकान्तात्मकमिति अनुशास्ति, सर्वस्यापि वस्तुनोऽनेकान्तस्वभावत्वात्।

(स.सा.आ.ख्या., स्याद्वादाधिकार)

स्याद्वाद समस्त वस्तुओं के स्वरूप को सिद्ध करने वाला सर्वज्ञ अर्हन्त भगवान् का अस्खलित (निर्बाध) शासन है। चूंकि वस्तुएं अनेकान्त-स्वाभावी हैं, इसलिए यह स्याद्वाद कहता है कि सब वस्तुएं अनेकान्तात्मक हैं।

० द्वौ हि नयौ भगवता प्रणीतौ-द्रव्यार्थिकः, पर्यायार्थिकश्च।
तत्र न खलु एकनयायत्ता देशना, किन्तु तदुभयायत्ता।

(पंचा.त.प्र. 4)

भगवान् (सर्वज्ञ देव) ने दो ही नय बताए हैं– द्रव्यार्थिक व पर्यार्थिक। उनकी देशना किसी एक नय के आश्रय से नहीं, अपितु दोनों नयों के आश्रय से हुई है।

० स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु।

(अन्ययो. 5)

प्रत्येक वस्तु स्याद्वाद-मुद्रा का उल्लंघन नहीं करती।

० अत्र च समुद्रस्थानीयः संसारः, पोतसमानं त्वच्छासनम्, कूपस्तम्भसंनिभः स्याद्वादः।

(स्या.मं. 19)

संसार समुद्र जैसा है, जिनेन्द्र का शासन जहान के समान है और स्याद्वाद उस जहाज का 'कूपस्तम्भ' है।

० हे जिन! ते तव शासनं स्याद्वादप्ररूपणनिपुणं

द्वादशाङ्गीरूपं प्रवचनम्.....अधृष्यमपराभवनीयम्।
(स्या.मं. 26)
है जिनेन्द्र! स्याद्वाद की प्ररूपणा वाला द्वादशाङ्ग रूप आपका प्रवचन (शासन)..... अधृष्य यानी अपराजित है।

० यथा हि समीचीनं मध्यस्थं न्यायनिर्णेतारमासाद्य परस्परं विवदमाना अपि वादिनो विवादाद् विरमन्ति, एवं नया अन्योन्यं वैरायमाणा अपि सर्वज्ञशासनमुपेत्य स्याच्छब्दप्रयोगोपशमितविप्रतिपत्तयः सन्तः परस्परमत्यन्तं सुहृद्भूय अवतिष्ठन्ते। एवं च सर्वनयात्मकत्वे भगवत्समयस्य सर्वदर्शनमयत्वमविरुद्धमेव, नयरूपत्वाद् दर्शनानाम्।
(स्या.मं. 30)
जिस प्रकार परस्पर विवाद करते हुए वादी लोग किसी मध्यस्थ न्यायकर्ता की शरण में जाकर विवाद से विरत हो जाते हैं, उसी प्रकार परस्परविरुद्ध नय भी सर्वज्ञ भगवान् के शासन की शरण लेकर 'स्यात्' पद से विरोध के शान्त हो जाने के कारण परस्पर अत्यन्त सुहृद् भाव से एकत्र रहने लगते हैं। इसलिए भगवान् का शासन सर्वनयस्वरूप है, और भगवान् का शासन समस्त दर्शनों का एक अविरुद्ध रूप है, क्योंकि प्रत्येक दर्शन नय स्वरूप है।

० यत्रानर्पितमादधाति गुणतां मुख्यं च वस्त्वर्पितम्, तात्पर्यानवलम्बनेन तु भवेद् बोधः स्फुटो लौकिकः। सम्पूर्णं त्ववभासते कृतधियां कृत्स्नाद् विवक्षाक्रमात्, तां लोकोत्तरभङ्गपद्धतिमयीं स्याद्वादमुद्रां स्तुमः।।
(अध्या. 19/11)
जिसमें अनर्पित वस्तु गौणभाव को, और अर्पित वस्तु मुख्यभाव को प्राप्त करती है तथा तात्पर्य का अवलम्बन लिये बिना ही (वस्तु का) लौकिक ज्ञान स्पष्ट हो जाता है। कुशल बुद्धिमान् पुरुषों को जिसके कारण समग्र विवक्षा के क्रम से सम्पूर्ण वस्तु प्रतिभासित हो जाती है, उस लोकोत्तर भंग (अलौकिक विकल्प-रचना) की पद्धति से युक्त स्याद्वाद-मुद्रा की हम स्तुति करते हैं।
(द्रष्टव्य : जैनी नीति, सकलादेश)

स्याद्वाद (श्रुत)

० नयानामेकनिष्ठानां प्रवृत्तेः श्रुतवर्त्मनि।
संपूर्णार्थविनिश्चायि स्याद्वादश्रुतमुच्यते।।
(न्यायाव. 30)
एक धर्म के ग्रहण में संलग्न नैगमादि नयों की आगम मार्ग में प्रवृत्ति होती है। उस स्थिति में जो सम्पूर्ण अर्थ का विनिश्चय करता है, वह 'स्याद्वाद श्रुत' कहा जाता है।

० उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसंज्ञितौ।
(लघी. 32)
श्रुत के दो उपयोग हैं–स्याद्वादश्रुत व नयश्रुत।

० परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होइ सव्वहा वयणा।
जइणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहंचिवयणादो।।
(गो.सा.क. 895)
परसमय (अर्थात् अन्य दर्शनों) का वचन मिथ्या है, क्योंकि वे वस्तु को सर्वथा एकरूप ही मानते हैं। किन्तु जैनों का वचन सत्य है, क्योंकि वे वस्तु को कथंचित् (स्यात्) इस वचन द्वारा उस रूप 'सम्यक्' कहते हैं।
(द्रष्टव्य : प्रमाण, शब्दब्रह्म, श्रुतप्रमाण)

स्वजातिविजात्यसद्भूत व्यवहार नय

० स्वजातिविजात्यसद्भूतव्यवहारः, यथा ज्ञेये जीवेऽजीवे ज्ञानमिति कथनं ज्ञानस्य विषयात्। (आ.प. 87)

ज्ञान का विषय होने के कारण जीव-अजीव ज्ञेयों में ज्ञान का कथन करना 'स्वजाति-विजात्यसद्भूत व्यवहार' नय है।

स्वजात्यसद्भूत व्यवहार नय

० स्वजात्यसद्भूतव्यवहारः, यथा परमाणुर्बहु-प्रदेशीति कथनमित्यादि। (आ.प. 85)

स्वजाति-असद्भूत व्यवहारनय, जैसे परमाणु को बहुप्रदेशी कहना, इत्यादि।

स्वतःपरतःप्रामाण्य

० (द्रष्टव्य : प्रामाण्य)

स्वतत्त्व

० (द्रष्टव्य : तत्त्व)

स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय

० स्वद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिकः यथा स्वद्रव्यादिच-तुष्टयापेक्षया द्रव्यमस्ति। (आ.प. 54)

स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा द्रव्य को अस्तिरूप से ग्रहण करने वाला नय 'स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक' नय है।

० स्वद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिको यथा स्वद्रव्यादिचतुष्ट-यापेक्षया द्रव्यमस्ति। (54)
स्वद्रव्यादिग्रहणमर्थः प्रयोजनमस्येति स्वद्रव्यादि-ग्राहकः। (आ.प. 188)

स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव की अपेक्षा द्रव्य को 'अस्ति' रूप से ग्रहण करने वाला नय 'स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक' नय होता है। (54) स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव अर्थात् स्वचतुष्टय को ग्रहण करना जिसका प्रयोजन है, वह 'स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय' होता है। (188)

स्वनिमित्त उत्पाद

० स्वनिमित्तस्तावद् अनन्तानामगुरुलघुगुणानाम् आगमप्रामाण्याद् अभ्युपगम्यानां षट्स्थानपतितया वृद्ध्या हान्या च प्रवर्तमानानां स्वभावादेतेषामुत्पादः। (स.सि. 5/7/539)

प्रत्येक द्रव्य में आगम प्रमाण से सिद्ध अनन्त अगुरुलघुगुण (अविभागप्रतिच्छेद) स्वीकार किये गये हैं, जिनका षट्स्थानपतित वृद्धि व हानि के द्वारा वर्तन होता रहता है, इनका उत्पाद' (व व्यय भी) स्वभावतः होता है, वही 'स्वनिमित्तक उत्पाद' है।

स्वपरचतुष्टय

० सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्। असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते।। (आ.मी. 15)

स्वरूपादि-चतुष्टय (स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव) की अपेक्षा से सव वस्तु 'सत् ही है'– ऐसा कौन नहीं चाहेगा–स्वीकार करेगा? इसी तरह, पररूपादिचतुष्टय (परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, परभाव) की अपेक्षा से सब पदार्थों को 'असत् ही हैं'–ऐसा कौन नहीं मानेगा?

० सतः कथंचित् तदसत्त्वशक्तिः, खे नास्ति पुष्पं तरुषु प्रसिद्धम्। (स्वयम्भू. 23)

जो सत् है, उसी के कथंचित् असत्त्व शक्ति भी है। जैसे पुष्प वृक्षों पर तो 'अस्ति' रूप हैं, किन्तु आकाश में 'नास्ति' रूप हैं।

० स्यादेतत्–यदस्ति तत् स्वायत्तद्रव्यक्षेत्रकाल-भाव-रूपेण भवति, नेतरेण तस्याऽप्रस्तुतत्वात्। यथा घटो द्रव्यतः पार्थिवत्त्वेन, क्षेत्रत इहत्यतया, कालतो वर्तमानकालसम्बन्धितया, भावतो रक्तत्वादिना, न परायत्तैर्द्रव्यादिभिस्तेषाम-प्रसक्तत्वात् इति।

(रा.वा. 4/42/15)

जो अस्तित्व अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से है, वह पर-द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की अपेक्षा से नहीं है, क्योंकि वे अप्रस्तुत हैं (विवक्षित नहीं हैं)। जैसे–घट स्वकीयद्रव्यतः पार्थिव रूप से है, अमुक क्षेत्र से है, अमुक काल से है, और वर्तमान काल सम्बन्धी रक्तत्वादि पर्याय की अपेक्षा से भाव रूप से 'अस्ति' है, तथा वही घट पर-द्रव्य, पर क्षेत्र, पर काल, व पर भाव की अपेक्षा से 'नास्ति' रूप भी है, क्योंकि उनकी यहां प्रसक्ति (विवक्षा) नहीं है।

० यावन्ति पररूपाणि प्रत्येकं तावन्तस्ततः परावृत्तिलक्षणाः स्वभावभेदाः प्रतिक्षणं प्रत्येतव्याः।

(अष्टस. 17)

प्रत्येक वस्तु में जितने भी (पर-चतुष्टय की अपेक्षा से) पररूप है, उतने ही वस्तु के पर-व्यावृत्ति रूप स्वभाव-भेद प्रतिक्षण होते हैं–ऐसा मानना चाहिए।

० स्यात्सत्, स्वरूपादिचतुष्टयात्, स्यादसत्, पररूपादिचतुष्टयात्।

(अष्टस. 101, पृ. 282)

स्वरूपचतुष्टय की अपेक्षा से वस्तु 'स्यात् सत्' है, पररूपचतुष्टय की अपेक्षा से वह 'स्यात् असत्' है।

० तत्र स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः आदिष्टम् 'अस्ति द्रव्यम्'। परद्रव्यक्षेत्रकालभावैः आदिष्टं 'नास्ति द्रव्यम्'।

(पंचा.त.प्र. 15)

स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल व स्वभाव की अपेक्षा से द्रव्य है'। पर-द्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, परभाव की अपेक्षा से 'द्रव्य नहीं है'।

० विवक्षितो हि घटः स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्विद्यते, परद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च न विद्यते, तथाहि–स घटो यदा सत्त्वज्ञेयत्वप्रमेयत्वादिधर्मैश्चिन्त्यते तदा तस्य सत्त्वादयः स्वपर्याया एव सन्ति, न तु केचन परपर्यायाः। द्रव्यस्तु यदा पौद्गलिको घटो विवक्ष्यते, तदा स पौद्गलिकद्रव्यत्वेनाऽस्ति, धर्माधर्माकाशादिद्रव्यत्वैस्तु नास्ति।.....क्षेत्रतश्च स त्रिलोकीवर्तित्वेन विवक्षितो न कुतोऽपि व्यावर्तते।. ....त्रिलोकीवर्तित्वेन स तिर्यग्लोकवर्तित्वेनास्ति न पुनरूर्ध्वाधोलोकवर्तित्वेन।.....एवं यथासंभवमपर-प्रकारेणापि वाच्यम्। कालस्तु नित्यतया स स्वद्रव्येणावर्तत वर्तते वर्तिष्यते च ततो न कुतोऽपि व्यावर्त्तते। स चैदंयुगीनत्वेन विवक्ष्य-माणस्तद्रूपत्वेनास्ति, न त्वतीतानागतादि-युगवर्तित्वेन।.....भावतः पुनः स पीतवर्णेनाऽस्ति न पुनर्नीलादिवर्णैः।.....एवं गुरूलघुमृदुखर-शीतोष्णस्निग्धरूक्षस्पर्शाष्टकापेक्षयापि तरतम-योगेन प्रत्येकमनन्ताः स्वपरपर्याया अवगन्तव्याः, यत एकस्मिन्नप्यनन्त-प्रदेशके स्कन्धेऽष्टावपि स्पर्शाः प्राप्यन्त इति।

(षड्.समु.टी. 55/323–326)

विवक्षित घट स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल व स्वभाव से है (अस्तित्व वाला है), किन्तु परद्रव्य, परक्षेत्र,

परकाल व परस्वभाव से नहीं है (नास्तित्व रूप वाला है)। उदाहरणार्थ–वह घट जब सत्त्व, ज्ञेयत्व या प्रमेयत्व आदि सामान्य धर्मों की दृष्टि से विचारणीय होता है, तब वे सत्त्व आदि सामान्य धर्म घड़े के स्वपर्याय रूप ही होते हैं, उस समय कोई पर्याय उसकी 'परपर्याय' नहीं होती।.....वही घट जब एक पौद्गलिक द्रव्य रूप में विचारणीय होता है, तब वह पौद्गलिक द्रव्य रूप से अस्तित्व वाला है, और धर्म-अधर्म, आकाश–काल आदि पर–द्रव्य रूप से नास्तित्व वाला है।.....इसी तरह क्षेत्र की दृष्टि से विचार करें। जब वह त्रिलोकवर्ती रूप में विचारणीय हो तो उसकी किसी से व्यावृत्ति नहीं होती। किन्तु त्रिलोक में रहता हुआ भी वह तिर्यक्लोकवर्ती रूप में तो अस्तित्व वाला है, ऊर्ध्व लोक आदिक्षेत्रवर्ती के रूप में नास्तित्व वाला है। इसी प्रकार, अन्य दृष्टियों से विचार कर लेना चाहिए।.....इसी तरह, अब काल की दृष्टि से विचारें तो यह नित्य रूप में स्वद्रव्य रूप में ही रहा है, है और रहेगा, इसलिए वह किसी से व्यावृत्त नहीं है। किन्तु वही 'इस युग में स्थित' इस रूप में विवक्षित हो तो वह वर्तमान युग की दृष्टि से तो सत् है, अतीत व भविष्य काल की दृष्टि से सत् नहीं है।.... ...अब भाव की दृष्टि से विचारें। वह पीत वर्ण से तो सत् रूप है, नील आदि वर्णों की दृष्टि से नहीं।.....इसी प्रकार, मृदु, कठोर, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष –इन आठ स्पर्शों की तरतमता की दृष्टि से प्रत्येक के अनन्त 'स्व-पर पर्याय' समझने चाहिएं, क्योंकि एक अनन्तप्रदेशी स्कन्ध में आठों ही स्पर्श प्राप्त होते हैं।

(द्रष्टव्य : अंश के प्रकार, परपर्याय, सम्बन्ध के भेद स्याद्वाद,)

स्वपरपर्याय

० (द्रष्टव्य : परपर्याय)

स्परप्रकाशकता

० (द्रष्टव्य : ज्ञान की स्वपरप्रकाशकता)

स्वपरव्यवसायात्मकता

० (द्रष्टव्य : व्यवसायात्मकता)

स्वभाव

० स्वभावोऽतर्कगोचरः।

(आ.मी. 100)

स्वभाव तर्क का विषय नहीं होता।

० स्वेनात्मना भवनं स्वभावः। स्वेनात्मना असाधारणेन धर्मेण भवनं स्वभाव इत्युच्यते।

(रा.वा. 7/12/2)

स्वयं अपने से होना 'स्वभाव' है। स्वयं से, अर्थात् अपने असाधारण धर्म से होना, इसे 'स्वभाव' कहा जाता है।

० स्वभावो हि स्वद्रव्यपर्यायानुगं स्वरूपास्तित्वम्।

(स्या.र. पृ. 178)

स्वभाव से तात्पर्य है–स्वद्रव्यगुण–पर्यायानुगत स्वरूपास्तित्व।

स्वभाव के पर्याय

० निसर्गः परिणामः स्वभाव इत्यनर्थान्तरम्।

(तत्त्व.भा. 1/3)

निसर्ग, परिणाम, स्वभाव –ये एकार्थक हैं।

स्वभावपर्याय

० कम्मोपाधिविवज्जियपज्जाया ते सहावमिदि भणिदं।

(नि.सा. 15)

कर्म की उपाधि से रहित जो भी पर्यायें हैं, वे सब 'स्वभावपर्याय' कहलाती हैं।

० अण्णणिरावेक्खो जो परिणामो सो सहावपज्जावो।
(नि.सा. 28)
अन्य-निरपेक्ष जो परिणाम होता है, वह 'स्वभावपर्याय' है।

० अगुरुलघुविकाराः स्वभावपर्यायाः, ते द्वादशधा षड्वृद्धिरूपाः षड्हानिरूपाः।
(आ.प. 16)
अगुरुलघु गुणों के छह प्रकार की वृद्धिरूप व छह प्रकार की हानि रूप विकारों को 'स्वभाव अर्थपर्याय' कहा जाता है।

स्वभाववाद

० को करइ कंटयाणं तिक्खत्तं मिय-विहंगमादीणं।
विविहत्तं तु सहाओ इदि सव्वं पि य सहाओत्ति।।
(गो.सा.क. 883)
कांटों की तीक्ष्णता को कौन करता है, तथा मृग और पक्षियों आदि की विविधता को कौन करता है? कोई भी नहीं, वह सब स्वभाव से ही हुआ करता है। इस प्रकार के कथन को 'स्वभाववाद' कहा जाता है।

स्वरूपास्तित्व

० सब्भावो हि सहावो गुणेहिं सह पज्जएहिं चित्तेहिं।
दब्बस्स सव्वकालं उप्पादव्वयधुवत्तेहिं।।
(प्र.सा. 2/4)
अपने-अपने गुणों व नानाविध पर्यायों के कारण उत्पाद, व्यय व धुवत्व के साथ द्रव्य का तीनों कालों में जो अस्तित्व (स्वरूपास्तित्व) है, वह निश्चय ही (मौलिक) स्वभाव है।

० बहूनां बहुविधानां द्रव्याणामात्मीयात्मीयस्य विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्वस्य अवष्टम्भेन उत्तिष्ठत् नानात्वम्, सामान्यलक्षणभूतेन सादृश्योद्भासिना सदित्यस्य भावेन उत्थापितमेकत्वं तिरयति।
(प्र.सा.तत्त्वप्र. 2/5)
अनेक व अनेकविध द्रव्यों के पृथक्–पृथक् निज-निज विशेष लक्षण :स्वरूपास्तित्व' के आधार से नानात्व स्थापित होता है, जो सामान्यलक्षण 'सादृश्यास्तित्व' के आधार से 'सद्' इस रूप में स्थापित एकत्व को छिपा देता है। सादृश्यास्तित्व-आधारित एकता इस स्वरूपास्तित्व से मिट जाती है और भिन्नता प्रकट होती है।
(द्रष्टव्य : अस्तित्व, सादृश्यास्तित्व)

स्वव्यवसाय

० स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः।
(प.मु. 1/6)
प्रमाण में जो अपने अभिमुख होकर प्रतिभासित होना 'स्वव्यवसाय' कहलाता है।

स्वसंवेदन प्रत्यक्ष

० स्वसंवेदनभेदमन्यदपि प्रत्यक्षमस्ति, तत्कथं नोक्तमिति न वाच्यम्, तस्य सुखादिज्ञानस्वरूपसंवेदनस्य मानसप्रत्यक्षत्वात्, इन्द्रियज्ञानस्वरूपसंवेदनस्य चेन्द्रियसमक्षत्वात्। अन्यथा तस्य स्वव्यवसायायोगात्। स्मृत्यादिस्वरूपसंवेदनं मानसमेवेति नापरं स्वसंवेदनं नामाध्यक्षमस्ति।
(प्र.र.मा. 2/5)
(शंका–) 'मैं सुखी, मैं दुःखी इत्यादि रूप एक अन्य भी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है। उसे आपने क्यों नहीं कहा?
(उत्तर–) ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि सुख–दुःखादि के ज्ञान स्वरूप जो स्वसंवेदन होता है, उसका 'मानस प्रत्यक्ष' में अन्तर्भाव हो जाता

है, और जो इन्द्रियज्ञानस्वरूप संवेदन होता है, उसका इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव हो जाता है, यदि ऐसा न माना जाय तो स्वसंवेदन रूप ज्ञान के स्वव्यवसायकता नहीं बन सकती है। तथा स्मृति आदि स्वरूप जो संवेदन होता है, वह भी मानस प्रत्यक्ष ही है। इसलिये इससे भिन्न स्वसंवेदन नाम का अन्य कोई प्रत्यक्ष नहीं है।

० ननु स्वसंवेदनरूपमन्यदपि प्रत्यक्षमस्ति, तत् कस्मान्नोक्तम्?, इति न वाच्यम्, इन्द्रियजज्ञान-स्वसंवेदनस्येन्द्रियप्रत्यक्षे, अनिन्द्रियजसुखादिसंवेदनस्य मनःप्रत्यक्षे, योगिप्रत्यक्षस्वसंवेदनस्य योगिप्रत्यक्षेऽन्तर्भावात्। स्मृत्यादिस्वसंवेदनं तु मानसमेवेति नापरं स्वसंवेदनं नाम प्रत्यक्षमस्तीति भेदेन नोक्तम्।
(प्र.मी. 1/1/20)

(शंका–) 'स्वसंवेदन' नामक एक प्रत्यक्ष और भी है। उसे यहां क्यों नहीं बतलाया? (समाधान–) स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है, किन्तु वह इनसे पृथक् (स्वतंत्र) नहीं है। इन्द्रिय-ज्ञान का स्वसंवेदन इन्द्रियजप्रत्यक्ष में, मनोनिमित्तक ज्ञान का स्वसंवेदन मनोनिमित्तक प्रत्यक्ष में और योगिप्रत्यक्षस्वसंवेदन का योगिप्रत्यक्ष में अन्तर्भाव है। स्मृति आदि ज्ञानों का स्वसंवेदन मानस प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव है, इसलिए 'स्वसंवेदन प्रत्यक्ष' को पृथक् नहीं कहा गया है।

० सकलज्ञानानां स्वस्वरूपसंवेदनं स्वसंवेदनप्रत्यक्षम्।
(प्र.प्र. 1/9)

सभी ज्ञान अपने-अपने स्वरूप को जानते हैं–इसी ज्ञान को 'स्वसंवेदन प्रत्यक्ष' कहते हैं।

० .....यत् पुनरभ्यन्तरे सुखदुःखविकल्परूपोऽहम्, अनन्तज्ञानादिरूपोऽहम् इति वा तदीषत् परोक्षम्, यच्च निश्चयभावश्रुतज्ञानं तच्च शुद्धात्माभिमुख–सुखसंवित्तिस्वरूपं स्वसंवित्त्याकारेण सविकल्पमपि इन्द्रियमनोजनितरागादि, विकल्पजाल-रहितत्वेन निर्विकल्पम्, अभेदनयेन तदेव आत्म-शब्दवाच्यं वीतरागसम्यक्त्वचारित्राविनाभूतं केवलज्ञानापेक्षया परोक्षमपि संसारिणां क्षायिक-ज्ञानाभावात् क्षायोपशमिकमपि प्रत्यक्षमभिधीयते। अत्राह शिष्यः- 'आद्ये परोक्षम्' इति तत्त्वार्थसूत्रे मतिश्रुतद्वयं परोक्षं भणितं तिष्ठति, कथं प्रत्यक्षं भवतीति। परिहारमाह तदुत्सर्गव्याख्यानम्, इदं पुनरपवादव्याख्यानम्.....तर्कशास्त्रे सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षं कथं जातम्? यथा अपवादव्याख्यानेन मनमतिज्ञानं परोक्षमपि प्रत्यक्षज्ञानं, तथा स्वात्माभिमुखं भावश्रुतज्ञानमपि परोक्षं तत्प्रत्यक्षं भण्यते। यदि पुनरेकान्तेन परोक्षं भवति, तर्हि सुखदुःखादिसंवेदनमपि परोक्षं प्राप्नोति, न च तथा।
(बृ.द्र.सं.वृ. 5)

.....जो आभ्यन्तर में सुख–दुःख विकल्प रूप है, अथवा मैं अनन्तज्ञान आदि रूप हूँ –इत्यादि ज्ञान है, वह ईषत् परोक्ष है, तथा जो निश्चय भावश्रुत ज्ञान है, वह शुद्ध आत्मा के अभिमुख (सन्मुख) होने से सुखसंवित्ति (ज्ञान) स्वरूप है, और वह निज आत्मज्ञान के आकार से सविकल्प है, फिर भी इन्द्रिय व मन से उत्पन्न जो विकल्पसमूह हैं, उनसे रहित होने के कारण निर्विकल्प है और अभेदनय से वही आत्मज्ञान शब्द से कहा जाता है, तथा वह रागरहित जो सम्यक् चारित्र है, उसके साथ अविनाभावी है। वह यद्यपि केवलज्ञान की अपेक्षा परोक्ष है, तथापि संसारियों को क्षायिक ज्ञान की प्राप्ति न होने से, क्षायोपशमिक होने पर भी प्रत्यक्ष कहलाता है। यहां शिष्य आशंका करता है कि हे गुरो! 'आद्ये परोक्षम्' इस तत्त्वार्थसूत्र में मति व

श्रुत–इन दोनों ज्ञानों को परोक्ष कहा गया है, फिर आप इसे प्रत्यक्ष कैसे कहते हैं? इस शंका का परिहार इस प्रकार करते हैं कि जो (श्रुत को परोक्ष) कहा गया है, वह उत्सर्ग व्याख्यान है, यह जो हमने (श्रुतज्ञान को प्रत्यक्ष) कहा है, वह उत्सर्ग का बाधक अपवाद व्याख्यान है।.....तर्कशास्त्र में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कैसे हुआ? अतः जैसे अपवाद व्याख्यान से परोक्ष रूप भी मतिज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहा गया, वैसे ही निज आत्मा के सम्मुख जो भावश्रुत ज्ञान है, वह परोक्ष है तो भी उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। और यदि एकान्त से ये मति, श्रुत दोनों परोक्ष ही हों तो सुख-दुःख आदि का जो संवेदन (ज्ञान) है, वह भी परोक्ष ही होगा, जब कि स्वसंवेदन वैसा (परोक्ष) नहीं है।

० स्वग्रहणापेक्षया हि स्पष्टत्वेन सर्वेषां ज्ञानानां प्रत्यक्षतया.....परोक्षं यद्यपि स्वसंवेदनापेक्षया प्रत्यक्षम्.....।

(षड्.समु.टी. 56/352)

स्वग्रहण (स्वरूप संवदेन) की अपेक्षा से सभी ज्ञान स्पष्ट होने के कारण 'प्रत्यक्ष' हैं।..... परोक्ष ज्ञान भी स्वसंवेदन की अपेक्षा से प्रत्यक्ष (ही) होते हैं।

स्वाधिगमहेतु

० स्वाधिगमहेतुर्ज्ञानात्मकः प्रमाणनयविकल्पः।

(रा.वा. 1/6/4)

प्रमाण और नय के विकल्परूप जो ज्ञानस्वरूप हेतु है, उसे 'स्वाधिगमहेतु' कहते हैं।

स्वार्थ प्रमाण

० स्वार्थं प्रमाणं श्रुतवर्ज्यम्।.....ज्ञानात्मकं स्वार्थम्।

(स.सि. 1/6/24)

श्रुतज्ञान को छोड़ कर सभी ज्ञान स्वार्थ प्रमाण हैं। जो ज्ञानात्मक प्रमाण है, वह 'स्वार्थ प्रमाण' है।

(द्रष्टव्य : परार्थप्रमाण)

स्वार्थाधिगम

० स्वार्थाधिगमो ज्ञानात्मको मतिश्रुतादिरूपः।

(स.भं.त., 2)

मति-श्रुतादिरूप ज्ञान को 'स्वार्थाधिगम' कहा जाता है।

स्वार्थानुमान

० तत्र हेतुग्रहणसम्बन्धस्मरणकारणकं साध्यविज्ञानं स्वार्थम्।।

(प्र.न.त. 3/10)

हेतु का प्रत्यक्ष होने पर तथा अविनाभाव सम्बन्ध का स्मरण होने पर साध्य का जो ज्ञान होता है वह 'स्वार्थानुमान' कहलाता है।

० परोपदेशमन्तरेण साधनदर्शनात् साध्यविज्ञानं स्वार्थानुमानम्।

(प्र.प्र. 1/16)

दूसरे के उपदेश के बिना साधन को देखने से जो साध्य का ज्ञान होता है, वह 'स्वार्थानुमान' है।

० तत्र अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणहेतुग्रहणसम्बन्ध-स्मरणकारणकं साध्यविज्ञानं स्वार्थम्।

(स्या.मं. 28)

अन्यथानुपपति रूप हेतु ग्रहण करने के सम्बन्ध के स्मरण पूर्वक साध्य के ज्ञान को 'स्वार्थानुमान' कहते हैं।

० तत्र स्वयमेव निश्चितात्साधनात्साध्यज्ञानं स्वार्थानुमानम्।

(न्या.दी. 3/23)

उनमें स्वयं ही जाने हुए साधन से साध्य के ज्ञान होने को 'स्वार्थानुमान' कहते हैं।

० परोपदेशानपेक्षिणः साधनाद् दृश्यमानाद् धर्मिनिष्ठतया साध्ये यद्विज्ञानं तत् स्वार्थानुमानमिति स्थितम्। तदुक्तम् परोपदेशाभावेऽपि साधनात् साध्यबोधनम्।

यद् द्रष्टुर्जायते स्वार्थम्, अनुमानं तदुच्यते।।

(न्या.दी. 3/28)

इस प्रकार दूसरे के उपदेश की अपेक्षा से रहित स्वयं जाने गये साधन के पक्ष में रहने रूप से साध्य का जो ज्ञान होता है वह 'स्वार्थानुमान' है, यह सिद्ध हो गया। कहा भी है–"परोपदेश के बिना भी द्रष्टा के साधन से जो साध्य का ज्ञान होता है; उसे 'स्वार्थानुमान' कहते हैं।"

० हेतुग्रहणसंबन्धस्मरणहेतुकं साध्यविज्ञानं स्वार्थम्।

(षड्.समु.टी. 55/318)

हेतु का ग्रहण तथा अविनाभाव के स्मरण से होने वाला साध्य का ज्ञान 'स्वार्थानुमान' कहलाता है।

स्वार्थानुमान के अंग

० स्वार्थानुमानस्य त्रीण्यंगानि–धर्मी, साध्यम्, साधनं च। तत्र साधनं गमकत्वेन अंगम्। साधनं तु गम्यत्वेन। धर्मी पुनः साध्यधर्माधारत्वेन।

(न्या.दी. 3/24)

स्वार्थानुमान के तीन अङ्ग हैं–1. धर्मी, 2. साध्य और 3. साधन। साधन साध्य का गमक (ज्ञापक) होता है, इसलिए वह गमक रूप से अङ्ग है। साध्य साधन के द्वारा गम्य होता है–जाना जाता है, इसलिए वह गम्य रूप से अङ्ग है। और धर्मी साध्य धर्म का आधार होता है।

० इत्थं च स्वार्थानुमानस्य त्रीण्यङ्गानि–धर्मी, साध्यं, साधनं च।

(जै.त.भा.प्र.परि., पृ. 39)

इस प्रकार स्वार्थानुमान के तीन अंग हैं –धर्मी, साध्य और साधन।

ह

हेतु

० अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम्।

(न्यायाव. 22)

हेतु का लक्षण कहा गया है– अन्यथानुपपन्नत्व (साध्य के बिना उपपन्न न होना)।

० हेतुः साध्याविनाभावि लिङ्गम् अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणोपलक्षितः।

(ध. 13, पृ. 287)

जो लिंग अन्यथानुपपत्तिरूप एक लक्षण से उपलक्षित होकर साध्य का अविनाभावी होता है, उसे 'हेतु' कहा जाता है।

० साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः।।

(प.मु. 3/11)

जिसका साध्य के साथ अविनाभाव निश्चित होता है अर्थात् जो साध्य के बिना नहीं हो सकता, उसे 'हेतु' कहते हैं।

० अन्यथाऽनुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथाऽनुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।

(न्या.वा. 43)

जहां अन्यथानुपपन्नता नहीं है, वहां त्रिविध हेतु (सपक्षवृत्ति, विपक्ष-अवृत्ति, पक्षवृत्ति) के होने से भी क्या लाभ? और जहां अन्यथानुपपन्नता नहीं है, वहां भी इस त्रिविध हेतु से क्या लाभ है? अतः अन्यथानुपपन्नता–साध्य के बिना न रहना–यही हेतु का लक्षण है)।

० व्याप्तिमान् पक्षधर्मो हेतुः।

(प्र.प्र. 1/19)

व्याप्ति से युक्त पक्ष के धर्म को हेतु कहते हैं।

० साध्याविनाभाविसाधनवचनं हेतुः।

(न्या.दी. 3/31)

साध्य के अविनाभावी साधन के कथन को 'हेतु' कहते हैं।

० निश्चितान्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुः।

(ष.ड्.समु.टी. 55/318, जै.त.भा.प्र.परि., पृ. 35)

जिसकी साध्य के साथ अन्यथानुपपत्ति (अन्यथा साध्य के अभाव में अनुपपत्ति नहीं होना अर्थात् अविनाभाव) सुनिश्चित हो, उस एकमात्र अविनाभाव लक्षण वाले पदार्थ को 'हेतु' कहते हैं।

० हेतुः साध्योपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्यां द्विधा प्रयोक्तव्यः, यथा पर्वतो वह्निमान्, सत्येव वह्नौ धूमोपपत्तेः असत्यनुपपत्तेर्वा।

(जै.त.भा.प्र.परि., पृ. 45)

हेतु के दो प्रकार कहे हैं–1. साध्योपपत्ति के रूप से तथा 2. अन्यथानुपपत्ति के रूप से। साध्य के होने पर ही हेतु का होना साध्योपपत्ति है, जैसे–'पर्वत वह्निमान् है, क्योंकि वह्नि के होने पर ही धूम हो सकता है' और साध्य के अभाव में होना अन्यथानुपपत्ति है जैसे–वह्नि के अभाव में धूम भी नहीं हो सकता।

(द्रष्टव्य : अनुमान के अवयव, लिङ्ग, साधन)

हेतु के गुण

० तस्य हेतोः पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं विपक्षेऽसत्त्वम् असिद्धसाधकत्वम् अबाधितविषयत्वम् असत्-प्रतिपक्षत्वमिति षड् गुणाः।

(प्र.प्र. 1/19)

हेतु के छह गुण होते हैं–पक्ष का धर्म होना, सपक्ष में अस्तित्व, विपक्ष में अभाव, असिद्ध को सिद्ध करना, ऐसी बात को सिद्ध करना जो बाधित न हो तथा जिसमें प्रतिपक्ष संभव न हो।

हेतु के भेद

० हेऊ चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा–
जावए, थावए, वंसए, लूसए।
अह-वाहेऊ चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा–पच्चक्खे अणुमाणे ओवम्मे आगमे।
अहवा-हेऊ चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा–अत्थित्तं अत्थि सो हेऊ, अत्थित्तं णत्थि सो हेऊ, णत्थित्तं अत्थि से हेऊ, णत्थित्तं णत्थि से हेऊ।

(ठा.सू. 4/504)

हेतु के चार भेद होते हैं–

1. यापक–समययापक विशेषणबहुल हेतु–जिसे प्रतिवादी शीघ्र न समझ सके।
2. स्थापक–प्रसिद्ध व्याप्ति वाला–साध्य को शीघ्र स्थापित करने वाला हेतु।
3. व्यंसक–प्रतिवादी को छल में डालने वाला हेतु।
4. लूषक–व्यंसक के द्वारा प्राप्त आपत्ति को दूर करने वाला हेतु।

अथवा –हेतु के चार भेद होते हैं–
1. प्रत्यक्ष, 2. अनुमान, 3. उपमान, 4. आगम।
अथवा–हेतु के चार भेद होते हैं–
1. विधि-साधक, विधि-हेतु,
2. विधि-साधक, निषेध-हेतु,
3. निषेध-साधक, विधि-हेतु,

4. निषेध-साधक, निषेध-हेतु।

० स हेतु र्द्वेधोपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात्।

(प.मु. 3/53)

उपलब्धिरूप हेतु और अनुपलब्धिरूपहेतु के भेद से हेतु के दो भेद हैं।

० हेतुप्रयोगस्तथोपपत्ति-अन्यथानुपपत्तिभ्यां द्विप्रकारः।।

सत्येव साध्ये हेतोरूपपत्तिस्तथोपपत्तिः, असति साध्ये हेतोरनुपपत्तिरेवान्यथानुपपत्तिः।।

यथा–कृशानुमानयं पाकप्रदेशः, सत्येव कृशानुमत्त्वे धूमवत्त्वस्योपपत्तेः, असत्यनुपपत्तेर्वा।।

अनयोरन्यतरप्रयोगेणैव साध्यप्रतिपत्तौ द्वितय-प्रयोगस्यैकत्रानुपयोगः।।

(प्र.न.त. 3/29–32)

तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति के भेद से हेतु दो प्रकार से बोला जाता है।

साध्य के होने पर ही हेतु का होना (बताना) तथोपपत्ति है और साध्य के अभाव में हेतु का अभाव होना (बताना) अन्यथानुपपत्ति है। जैसे–यह पाकशाला अग्निवाली है, क्योंकि अग्नि के होने पर ही धूम हो सकता है, या क्योंकि अग्नि के बिना धूम नहीं हो सकता। तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति में से किसी एक का प्रयोग करने से ही साध्य का ज्ञान हो जाता है, अतः एक ही जगह दोनों का प्रयोग करना व्यर्थ है।

० स हेतुः अन्वयव्यतिरेकी केवलान्वयी केवल-व्यतिरेकी इति त्रिधा।

(प्र.प्र. 1/26)

हेतु के तीन प्रकार हैं–अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी तथा केवलव्यतिरेकी।

० पक्षधर्मत्वम्, सपक्षे सत्त्वम्, विपक्षाद्व्यावृत्तिरिति हेतोस्त्रीणि रूपाणि।

(न्या.दी. 3/37)

पक्ष-धर्मत्व, सपक्ष-सत्त्व और विपक्ष-व्यावृत्ति–ये तीन हेतु के रूप हैं।

० स चायं द्विविधः-विधिरूपः प्रतिषेधरूपश्च। तत्र विधिरूपो द्विविधः-विधिसाधकः प्रतिषेधसाधकश्च। तत्राद्यः षोढ़ा।.....द्वितीयस्तु निषेधसाधको विरुद्धोपलब्धिनामा। स च स्वभावविरुद्ध-तद्व्याप्याद्युपलब्धिभेदात् सप्तधा।....प्रतिषेधरूपोऽपि हेतुर्द्विविधः विधिसाधकः प्रतिषेधसाधकश्चेति। आद्यो विरुद्धानुपलब्धिनामा विधेयविरुद्धकार्य-कारणस्वभावव्यापकसहचरानुपलम्भ-भेदात् पंचधा।. ....द्वितीयोऽविरुद्धानुपलब्धिनामा प्रतिषेध्या-विरुद्धस्वभावव्यापककार्यकारणपूर्वचरोत्तरचर-सहचरानुपलब्धिभेदात् सप्तधा।

(जै.त.भा.प्र.परि., पृ. 47–50)

मूलतः हेतु के दो प्रकार हैं–विधिरूप और प्रतिषेधरूप। इनमें से विधिरूप हेतु के भी दो भेद हैं–विधिसाधक और निषेधसाधक। विधिसाधक विधि रूप हेतु छह प्रकार के होते हैं। हेतु का दूसरा प्रकार विरुद्धोपलब्धि है। यह निषेधसाधक होता है। इसके स्वभावविरुद्धोपलब्धि, व्याप्यविरुद्धोपलब्धि आदि सात भेद हैं।

प्रतिषेध हेतु भी दो प्रकार का है–विधिसाधक और निषेधसाधक। जो हेतु स्वयं निषेध रूप हो, किन्तु विधि का साधक हो, वह वह 'विरुद्धानुपलब्धि' कहलाता है। उसके पांच भेद हैं–जो हेतु स्वयं निषेध रूप हो और निषेध का ही साधक हो, वह 'अविरुद्धानुप-लब्धि' है, उसके सात भेद कहे जाते हैं।

हेतुवाद

० हिनोति गमयति परिच्छिनत्त्यर्थमात्मानं चेति प्रमाणपंचकं वा हेतुः। स उच्यते कथ्यते अनेनेति हेतुवादः श्रुतज्ञानम्।

(ध. 13, पृ. 287)

जो अर्थ और आत्मा का 'हिनोति' अर्थात् ज्ञान कराता है उस प्रमाणपंचक को हेतु कहा जाता है। उक्त हेतु जिसके द्वारा 'उच्यते' अर्थात् कहा जाता है वह श्रुतज्ञान 'हेतुवाद' कहलाता है।

हेत्वन्तर निग्रहस्थान

० अविशेषाभिहिते हेतौ प्रतिषिद्धे तद्विशेषणम-भिदधतो हेत्वन्तरं नाम निगहस्थानं भवति।

(प्र.मी. 2/1/34)

वादी ने बिना विशेषण के हेतु का प्रयोग किया। प्रतिवादी ने उसका प्रतिषेध किया। तब वादी यदि हेतु के साथ कोई विशेषण जोड़ दे तो 'हेत्वन्तर' नामक निग्रहस्थान होता है।

० अविशेषे हेतौ व्यभिचारेण प्रतिषिद्धे पश्चाद् विशेषणोपादानं हेत्वन्तरं नाम निग्रहस्थानम्।

(प्र.प्र. 1/75)

विशेषण रहित हेतु का प्रयोग करने पर (प्रतिवादी द्वारा) व्यभिचार दोष दिखलाने पर (हेतु में) किसी विशेषण का उपादान नियोजन करना–यह 'हेत्वन्तर' नाम का निग्रहस्थान है।

हेत्वाभास

० हेतुलक्षणरहिता हेतुवदवभासमाना हेत्वाभासाः।

(न्या.दी. 3/60)

जो हेतु के (यथार्थ) लक्षण से रहित हैं, किन्तु हेतु की तरह प्रतिभासित होते हैं, वे 'हेत्वाभास' होते हैं।

हेत्वाभास के भेद

० हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिंचित्कराः।

(प.मु. 6/71; प्र.न.त. 6/47; प्र.मी. 2/16)

असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, अकिंचित्कर–ये (चार) हेत्वाभास हैं।

० स त्रेधा-असिद्धविरुद्धानैकान्तिकभेदात्।-

(जै.त.भा.प्र.परि., पृ. 50)

हेत्वाभास के तीन भेद हैं–असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक।

(द्रष्टव्य : अनैकान्तिक, असिद्ध, विरुद्ध हेत्वाभास)

हेत्वाभास निग्रहस्थान

० "हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः"(न्याय.सू. 5/2/24) असिद्धविरुद्धादयो निग्रहस्थानम्।

(प्र.मी. 2/1/34)

पूर्वोक्त असिद्ध, विरुद्ध आदि हेत्वाभास भी निग्रहस्थान है।

० असिद्धादयो हेत्वाभासा नाम निग्रहस्थानानि।

(प्र.प्र. 1/83)

असिद्ध इत्यादि हेत्वाभास नामक निग्रहस्थान हैं।

■■■

परिशिष्ट

परिशिष्ट

नव्य न्यायशैली में निबद्ध विशिष्ट परिभाषाएं (प्रमेयरत्नालंकार से उद्धृत)	383–394
प्रसिद्ध व उपयोगी न्यायोक्तियां	395–406
जैनेतर न्याय ग्रन्थों में उपलब्ध विशिष्ट परिभाषाएं	407–462
सन्दर्भ ग्रन्थ सूची	463–468

नव्य न्यायशैली में निबद्ध विशिष्ट परिभाषाएं (प्रमेयरत्नालंकार से उद्धृत)

)

प्रमेयरत्नालंकार (पंडिताचार्य अभिनव चारुकीर्ति-कृत, समय–17-18वीं शती) ग्रन्थ परीक्षामुख ग्रन्थ पर टीका है, जिसमें नव्य न्याय शैली में विषय का प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रन्थ में परिभाषाएं भी नव्य न्यायशैली में निबद्ध हैं। इनका हिन्दी अनुवाद करना कुछ कठिन है, किन्तु –इस दृष्टि से नव्य न्यायशैली के प्रेमी जिज्ञासुओं/अध्येताओं के लिए इनकी उपादेयता स्पष्ट है –इस दृष्टि से बिना हिन्दी अनुवाद के उन्हें परिशिष्ट रूप में यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

अनुमिति

० तथा च हेतुविशेष्यकसाध्यनिरूपितव्याप्तिप्रकारकज्ञानजन्यत्वे सति पक्षतावच्छेदकावच्छिन्नोद्देश्यतानिरूपित–साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नविधेयताशालिज्ञानत्वमनुमितेर्लक्षणमित्यर्थः।

(प्र.रत्ना. 3/14)

अनैकान्तिक हेत्वाभास

० एवं च साध्याभाववदवृत्तित्वसाध्यवदन्यावृत्तित्वसाध्याश्रयपूर्वत्वाभाववदवृत्तित्वादिप्रकारकहेतुविशेष्यकज्ञान-प्रतिबन्धकज्ञानविषयत्वमनैकान्तिकस्य लक्षणम्।

(प्र.रत्ना. 6/30)

अनैकान्तिकहेत्वाभास के भेद

० स चानैकान्तिकः साध्याभाववदादिरूपविपक्षे निश्चितवृत्तिः शङ्कितवृत्तिश्चेति द्विविधः।

(प्र. रत्ना. 6/30)

अत्यन्ताभाव

० भूतले घटो नास्तीत्यादिप्रतीतिविषयोऽभावोऽत्यन्ताभावः।

(प्र. रत्ना. 2/2)

अन्योन्याभाव

० घटः पटो न भवतीति प्रतीतिविषयीभूतोऽभावोऽन्योन्याभावः।

(प्र.रत्ना. 2/2)

अन्वय दृष्टान्त

० अन्वयव्याप्तिविशिष्टहेत्ववच्छिन्नपर्वतविशेष्यकसाध्यप्रकारकबोधजनकत्वावयवत्वनवय्युदाहरणस्य लक्षणम्। साध्याभाववदवृत्तित्वे सति साध्यसामानाधिकरण्यरूपान्वयव्याप्तिविशिष्टं साधनं यादृशवाक्ये बोध्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः।

(प्र.रत्ना. 3/47–48)

अपक्षेपण

० अधोदेशसंयोगहेतुत्वे सति कर्मत्वमपक्षेपणस्य लक्षणम्।

(प्र. रत्ना. 4/1)

अपरसंग्रह नय

० द्रव्यत्वादिनाऽशेषद्रव्याणामेकत्वज्ञानं, तथा घटत्वादिना सकलघटव्यक्तीनामेकत्व ज्ञानं चापरसङ्ग्रहः।

(प्र.रत्ना. 6/74)

अपरसंग्रहाभास

० सामान्यविशेषयोः सर्वथा भेदज्ञानमभेदज्ञानं वाऽपरसङ्ग्रहाभासः।

(प्र.रत्ना. 6/74)

अपूर्वत्व

० स्वसमानाधिकरणस्वाव्यवहितपूर्ववृत्तिस्वनिवर्त्यसमारोपनिवर्तकस्वजन्यसंस्कारजनकज्ञानाविषयत्वमपूर्वत्वम्।

(प्र.रत्ना. 1/4–5)

अपूर्वार्थ

० अनिश्चितः स्वसमानाधिकरणाव्यवहितपूर्ववृत्तिनिश्चयाविषयी भूतोऽपूर्वार्थ इत्यर्थः।

(प्र.रत्ना. 1/4)

अभाव

० स्वसमवायसमवेतत्वान्यतरसम्बन्धेन सत्ताविशिष्टान्यत्वमभावस्य लक्षणम्।

(प्र.रत्ना. 3/2)

अर्थव्यवसायत्व

० अर्थविषयकव्यवहारजनकतावच्छेदकार्थनिरूपितविषयतावत्त्वम्।

(प्र.रत्ना. 1/7)

अर्थक्रियाकारित्व

० अर्थक्रियाकारित्वं हि कार्यजनकत्वरूपम्। तच्चैककार्योत्तरकालीनापरकार्यजनकत्वरूपक्रमिकानेक–कार्यजनकत्वं युगपदनेककार्यजनकत्वान्यतरव्याप्यम्।

(प्र.रत्ना. 4/2)

अवग्रह

० तत्र चक्षुराद्युन्मीलनानन्तरं सत्तालोचनरूपदर्शनपूर्वकं मनुष्यत्वादिसामान्यधर्मप्रकारं ज्ञानमवग्रहः।

(प्र.रत्ना. 2/5)

अनुमान अवयव

० प्रतिज्ञादिपञ्चान्यतमत्वमवयवानां लक्षणम्।

(प्र.रत्ना. 3/34)

अवाय

० तदनन्तरं चैत्र एवायमित्याकारकं चैत्रान्यत्वाभावविशिष्टचैत्रत्वप्रकारकमवधारणात्मकज्ञानमवायः।

(प्र.रत्ना. 2/5)

आकुञ्चन

० समीपदेशसंयोगहेतु कर्मत्वमाकुञ्चनत्वम्।

(प्र.रत्ना. 4/1)

आगमाभास

० तदभाववति तत्प्रकारकत्वे सति वाक्यजन्यज्ञानत्वमागमाभासलक्षणम्।

(प्र.रत्ना. 6/51)

इष्ट

०- इच्छाविषयीभूतं इष्टमुच्यते।

(प्र.रत्ना 3/24)

ईहा

० तदनन्तरं चैत्रेण भक्तिव्यमित्याकारकं चैत्रत्वादिविशेषधर्मनिष्ठोत्कटैकतरकोटिताख्यविषयताकं ज्ञानमीहा।

(प्र.रत्ना. 2/5)

उत्क्षेपण

० ऊर्ध्वदेशसंयोगहेतुकर्मत्वमुत्क्षेपणस्य लक्षणम्।

(प्र. रत्ना. 4/1)

उत्तरचरानुपलब्धि

० साध्यभूतनिषेधप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नोत्तरचराभावत्वमस्य लक्षणम्।

(प्र.रत्ना. 3/84)

उदाहरण

० व्याप्यत्वावच्छिन्नवद्विशेष्यकव्यापकप्रकारकबोधजनकत्वे सति न्यायान्तर्गतत्वमुदाहरणस्य लक्षणम्।

(प्र.रत्ना. 3/34)

उपनय

० पक्षतावच्छेदकावच्छिन्नविशेषयतानिरूपितहेतुतावच्छेदकावच्छिन्नप्रकारताशालिबोधजनकत्वे सति न्यायान्तर्गतत्वमुपनयत्वम्।

(प्र.रत्ना. 3/50)

० पक्षतावच्छेदकाविच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितहेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नहेतुतावच्छेदकावच्छिन्नावच्छेदकतानिरूपिता भेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारताशालिबोधजनकत्वे सति न्यायान्तर्गतत्वमुपनयस्य लक्षणम्।

(प्र.रत्ना 3/34)

उपयोग

० रूपादिग्रहणाभिमुख्यरूपव्यापार उपयोगः।

(प्र.रत्ना. 2/5)

ऊर्ध्वतासामान्य

० पूर्वोत्तरपर्यायव्यापकं द्रव्यमूर्ध्वतासामान्यम्। यथा स्थासकोशकुसूलादिव्यापकं मृद्द्रव्यमित्यर्थः।

(प्र.रत्ना. 4/5)

ऊह

० उपलम्भो हेतौ साध्यसामाणाधिकरण्यज्ञानम्। अनुपलम्भो हेतुविशेष्यकसाध्याभावद्वृत्तित्वप्रकारकज्ञानाभावः। तदुभयजन्यं व्याप्तिज्ञानं साध्याभावदवृत्तिब्वे सति साध्यसमानाधिकरण्यावच्छेद कहेतुतावच्छेदकवत्वरूपव्याप्ति-विषयज्ञानमूह इत्यर्थः।

(प्र. रत्ना. 3/11–12)

ऋजुसूत्रनय

० द्रव्यतदभावोभयाविषयकत्वे सति वर्तमानपर्यायविषयकज्ञानं ऋजुसूत्रः। ऋजु प्राञ्जलं वर्तमानक्षणमात्रं सूत्रयतीति व्युत्पत्तेः।

(प्र.रत्ना. 6/74)

कारणलिङ्ग

० साध्यजनकत्वे सति तदव्याप्यत्वं कारणलिङ्ग।

(प्र.रत्ना 3/61)

कार्यलिङ्ग

० साध्यजन्यत्वे सति तद्व्याप्यत्वम् कार्यलिङ्त्वम्।

(प्र.रत्ना 3/61)

कारण हेतु

० साध्यप्रयोजकत्वे सति साध्याभाववद्वृत्तित्वं कारणहेतोर्लक्षणम्।

(प्र.रत्ना. 3/67)

कारणानुपलब्धि

० साध्यभूतनिषेधप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नकारणाभावत्वमस्य लक्षणम्।

.(प्र.रत्ना. 3/82)

कार्यानुपलब्धि

० अप्रतिबद्धसामर्थ्यत्वमविनष्टकार्यजनकतावच्छेदकशक्तिमत्वम्, साध्यभूतनिषेधप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न-कार्याभावत्वमस्य लक्षणम्।

.(प्र.रत्ना. 3/81)

क्रमभाव नियम (व्याप्ति)

० क्रमभावनियमश्च साध्याश्रयपूर्वकालीनत्वाभाववदवृत्तित्वघटिता, साध्याश्रयोत्तरत्वाभाववदवृत्तित्वघटिता च व्याप्तिः।

.(प्र.रत्ना. 3/16)

क्रमभावरूपव्याप्ति

० पूर्वोत्तरचारिणोः कृत्तिकोदयशकटोदययोः कार्यकारणयोरधोदेशनदीपूरोर्ध्वदेशवृष्ट्योश्च साध्याश्रयपूर्वकालीनत्वादिति घटिता व्याप्तिरित्यर्थः।

.(प्र.रत्ना. 3/18)

तत्फलत्व

० तद्विषयकप्रवृत्तिहेतुभूतेच्छाजनकेच्छाविषयत्वं तत्फलत्वम्।

.(प्र.रत्ना. 5/1)

तिर्यक्सामान्य

० अनेकविशेष्यकैकाकारप्रतीतिप्रकारत्वं तिर्यक्सामान्यस्य लक्षणम्।

.(प्र.रत्ना. 4/4)

दुःख

० इतरद्वेषानधीनद्वेषविषयत्वं दुःखस्य लक्षणम्।

.(प्र.रत्ना. 4/1)

दृष्टान्ताभास

० साधननिष्ठसाध्यनिरूपितव्याप्तिनिश्चयस्थानत्वाभाववत्त्वे सति दृष्टान्ततयाऽभिधीयमानत्वं दृष्टान्ताभासस्य लक्षणम्।

.(प्र.रत्ना. 6/40)

द्रव्यार्थिक नय

० तत्र द्रव्यविषयकनयत्वं द्रव्यार्थिकनयस्य लक्षणम्।

.(प्र. रत्ना. 6/74)

धारणा

० कालान्तरस्मरणहेतुसंस्कारजनकतावच्छेदकविषयताकत्वे सत्यवधारणात्मकज्ञानं धारणा।

.(प्र.रत्ना. 2/5)

नय

० तत्र द्रव्यपर्यायोभयाविषयकत्वे सति तदन्यतरविषयकज्ञानत्वं नयसामान्यलक्षणम्।

.(प्र.रत्ना. 6/74)

निगमन

० व्याप्तिविशिष्टहेतुज्ञानज्ञाप्यत्वाविशिष्टसाध्यतावच्छेदकावच्छिन्नावच्छेदकतानिरूपिताभेदसम्बन्धावच्छिन्न-प्रकारतानिरूपितपक्षतावच्छेदकावच्छिन्नविशेष्यताशालिबोधजनकत्वे सति न्यायावयवत्वं निगमनस्य लक्षणम्।

.(प्र.रत्ना. 3/34)

निगमन

० पक्षतावच्छेदकावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितहेतुज्ञानज्ञाप्यत्वविशिष्टसाध्यतावच्छेदकावच्छिन्नप्रकारताशालि-बोधजनकवाक्यत्वं निगमनत्वम्।

.(प्र.रत्ना. 3/51)

नित्यत्व (न्याय वैशेषिक मत)

० नित्यत्वं ध्वंसाप्रतियोगित्वे सति प्रागभावाप्रतियोगित्वम्।

.(प्र.रत्ना. 4/1)

नैगमाभास

० धर्मधर्मिणोः सर्वथा भेदज्ञानं नैगमाभासः।

.(प्र.रत्ना. 6/74)

न्याय (अनुमान वाक्य)

० प्रतिज्ञादिपञ्चसमुदायो न्याय इत्युच्यते।.....उचितानुपूर्वकप्रतिज्ञादिपञ्चसमुदायत्वं न्यायस्य लक्षणम्।

.(प्र.रत्ना. 3/34)

परसंग्रह नय

० तत्र सकलभावानां सदात्मकत्वेनैकत्वविषयकज्ञानं परसङ्ग्रहः।

.(प्र.रत्ना. 6/74)

परसंग्रहाभास

० सत्ताद्वैतज्ञानं तदाभासः।

.(प्र.रत्ना. 6/74)

परार्थानुमान

० न्यायवाक्यजन्यानुमानत्वं परार्थानुमानस्य लक्षणम्।

.(प्र.रत्ना. 3/55)

परोक्ष ज्ञान

० प्रत्यक्षान्यत्वे सति ज्ञानत्वं परोक्षस्य लक्षणम्।

.(प्र.रत्ना 3/1)

परोक्षाभास

० अविशदत्वरूपपरोक्षलक्षणाभावे सति परोक्षव्यवहारविषयत्वं परोक्षाभासत्वम्।

.(प्र.रत्ना. 6/7)

पर्यायार्थिक नय

० पर्यायविषयकनयत्वं च पर्यायार्थिकनयस्य लक्षणम्।

.(प्र.रत्ना. 6/74)

पूर्वचर हेतु

० साध्याश्रयपूर्वत्वाभाववदवृत्तित्वं तल्लक्षणम्।

.(प्र.रत्ना. 3/68)

-

० साध्यभूतनिषेधप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नपूर्वचराभावत्वमस्य लक्षणम्।

.(प्र.रत्ना. 3/83)

प्रतिज्ञा

० साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नसाध्यतावच्छेदकावच्छिन्नावच्छेदकतानिरूपिताभेद सम्बन्धावच्छिन्न-प्रकारतानिरूपितपक्षतावच्छेकावच्छिन्नविशेष्यताशालिबोधजनकत्वे सति न्यायावयवत्वं प्रतिज्ञाया लक्षणम्।

.(प्र.रत्ना. 3/34)

प्रत्यक्षाभास

० प्रत्यक्षलक्षणभूतवैशद्याभाववत्त्वे सति प्रत्यक्षव्यवहारविषयत्वं प्रत्यक्षाभासलक्षणम्।

.(प्र.रत्ना. 6/6)

प्रत्यभिज्ञान

० दर्शनस्मरणकारणकंप्रत्यक्षस्मरणोभयजन्यं, सङ्कलनप्रत्यक्षस्मरणोभयविषयताव्यापकविषयताकं प्रत्यभिज्ञानम्।

.(प्र.रत्ना. 3/5)

प्रत्यभिज्ञानाभास

० तत्रैकत्ववति सादृश्यविषयकं सादृश्यवत्येकत्वविषयकं च प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यभिज्ञाभासम्।

(प्र.रत्ना. 6/19)

प्रध्वंसाभाव

० घटो नश्यतीति प्रतीतिविषयीभूतोऽभावः प्रध्वंसाभावः।

(प्र.रत्ना. 2/2)

प्रमाण

० स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकफलाव्यवहितपूर्ववृत्तित्वे सति तादृशव्यवसायाभिन्नत्वं प्रमाणसामान्यलक्षणं फलितम्।

(प्र.रत्ना. 1/1)

प्रमाणाभास

० निरुक्तप्रमाणतावच्छेदकधर्मभिन्नप्रमाणव्यवहारविषयतावच्छेदकधर्मवत्त्वं प्रमाणाभासस्य लक्षणम्।

(प्र.रत्ना. 6/1)

प्रसारण

० दूरदेशसंयोगहेतुकर्मत्वं प्रसारणत्वम्।

(प्र.रत्ना. 4/1)

प्रागभाव

० तत्र घटो भविष्यतीति प्रतीतिविषयोऽभावः प्रागभावः।

(प्र.रत्ना. 2/2)

फलाभास

० प्रमाणाद्भिन्नाभिन्नफलव्यतिरिक्तत्वे सति फलत्वेन व्यवहारविषयत्वं फलाभासलक्षणम्।

(प्र.रत्ना. 6/66)

भावेन्द्रिय

० लब्ध्युपयोगात्मकं भावेन्द्रियम्।

(प्र.रत्ना 2/5)

मुख्य प्रत्यक्ष

० तत्राऽशेषतो विशदमतीन्द्रियं यद्विज्ञानं तन्मुख्यं प्रत्यक्षं–प्रमेयत्वव्यापकेतरविषयत्वाप्रयोज्यविषयताकत्वं मुख्यप्रत्यक्षस्य लक्षणमित्यर्थः।

(प्र.रत्ना. 2/11)

लब्धि (इन्द्रिय)

० आवरणक्षयोपशमप्राप्तिरूपार्थग्रहणशक्तिर्लब्धिः।

(प्र.रत्ना. 2/5)

विभाग (न्यायवैशेषिक मत)

० संयोगनाशहेतुत्त्वे सति गुणत्वं विभागस्य लक्षणम्।

(प्र.रत्ना. 4/1)

विभुत्व

० सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वं विभुत्वम्।

(प्र.रत्ना. 4/1)

विरुद्ध (हेतु)

० साध्यविपरीतेन साध्याभावेन निश्चितोऽविनाभावस्तदभाववदवृत्तित्वं यस्यासौ विरुद्धः।

(प्र.रत्ना 6/29)

विरुद्धउत्तरचरभाव लिङ्ग

० साध्यभूतनिषेधप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नविरुद्धोत्तरचरत्वमस्य लक्षणम्।

(प्र.रत्ना. 3/76)

विरुद्धकार्यरूपभाव हेतु

० साध्यभूतनिषेधप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नविरुद्धकार्यत्वमस्य लक्षणम्

(प्र.रत्ना. 3/73)

विरुद्धकारणरूपभाव लिङ्ग

० साध्यभूतनिषेधप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नविरुद्धकारणत्वमस्य लक्षणम्।

(प्र.रत्ना. 3/74)

विरुद्धपूर्वचरभाव लिङ्ग

० साध्यभूतनिषेधप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नविरुद्धपूर्वचरत्वमस्य लक्षणम्।

(प्र.रत्ना. 3/75)

विरुद्धव्याप्यरूपभावहेतु

० साध्यभूताभावप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नविरुद्धव्याप्यत्वमस्य लक्षणम्।

(प्र.रत्ना. 3/72)

विरुद्धसहचरभाव हेतु

० साध्यभूतनिषेधप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नविरुद्धसहचरत्वमस्य लक्षणम्।

(प्र.रत्ना. 3/77)

विशेष (न्यायवैशेषिक मत)

० विशेषाणां स्वतो व्यावृत्तत्वं लक्षणम्।

(प्र.रत्ना. 4/1)

विषयाभास

० परस्परतादात्म्यापन्नसामान्यविशेषातिरिक्तविषयत्वं विषयाभासलक्षणम्।

(प्र.रत्ना. 6/61)

वैशद्य

० प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन भासनं प्रतीत्यन्तराप्रयोज्यविषयताकत्वं ज्ञानस्य वैशद्यमित्यर्थः।

(प्र.रत्ना. 2/4)

व्यञ्जनावग्रह

० तत्र द्वित्रादीन्द्रियावयवसन्निकर्षजन्यमस्फुटार्थग्रहणं व्यञ्जनावग्रहः।

(प्र.रत्ना. 2/5)

व्यतिरेक दृष्टान्त

० व्यतिरेकव्याप्तिविशिष्टसाधनावच्छिन्नविशेष्यकसाध्यप्रकारकबोधजनकावयवत्वं व्यतिरेकोदाहरणस्य लक्षणम्।

(प्र.रत्ना. 3/49)

व्यतिरेकदृष्टान्ताभास

० व्यतिरेकव्याप्तिनिश्चयस्थानत्वाभाववत्त्वे सति व्यतिरेकदृष्टान्ततया अभिधीयमानत्वं व्यतिरेकदृष्टान्ताभास-लक्षणम्।

(प्र.रत्ना. 6/44)

व्यापकानुपलब्धि

० साध्यभूताभावप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नव्यापकाभावत्वमस्य लक्षणम्।

(प्र.रत्ना. 3/80)

व्याप्य हेतु

० साध्योत्पत्तिसमानकालीनोत्पत्तिभिन्नत्वे सति साध्याभाववदवृत्तित्वघटितव्याप्तिमत्त्वं व्याप्यहेतोर्लक्षणम्।

(प्र.रत्ना. 3/65)

शब्दनय

० कालकारकलिङ्गसंख्यासाधनोपग्रहभेदप्रयुक्तार्थभेदविषयकज्ञानं शब्दनयः। कालादिभेदेन भिन्नमर्थं शपतीति शब्द इति व्युत्पत्तेः।

(प्र.रत्ना. 6/74)

शब्दनयाभास

० सर्वथाऽर्थभेदं विना शब्दभेदकथनं शब्दनयाभासः।

(प्र.रत्ना. 6/74)

संशय

० तत्रैकधर्मिनिष्ठविशेष्यतानिरूपितविरुद्धनानाधर्मनिष्ठप्रकारताकज्ञानं संशयः।

(प्र.रत्ना. 6/2)

संग्रहनय

० अनेकभेदाश्रयवस्तुगतसामान्यनिष्ठैकत्वविषयकज्ञानं सङ्ग्रहः।

(प्र.रत्ना. 6/74)

समभिरूढ़नय

० पर्यायभेदप्रयोज्यार्थभेदविषयकज्ञानं समभिरूढ़नयः।

(प्र.रत्ना. 6/74)

समभिरूढ़नयाभास

० पर्यायभेदमन्तरेणैवेन्द्रादिभेदकथनं तदाभासः।

(प्र.रत्ना. 6/74)

समवाय (न्यायवैशेषिक मत)

० नित्यत्वे सति सम्बन्धत्वं समवायस्य लक्षणम्।

(प्र.रत्ना. 4/1)

सहचर लिङ्ग

० साध्यसमकालोत्पन्नत्वे सति साध्याभाववदवृत्तित्वं तल्लक्षणम्।

(प्र.रत्ना. 3/70)

सहचरानुपलब्धि

० साध्यभूतनिषेधप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नसहचराभावत्वमस्य लक्षणम्।

(प्र.रत्ना. 3/85)

सहभाव

० तत्र सहभावनियमः साध्याभाववदवृत्तित्वघटिता व्याप्तिः।

(प्र.रत्ना. 3/16)

साध्य (पक्ष)

० पर्वते वह्न्यनुमितिर्जायतामित्याकारकेच्छाविषयीभूतः पर्वतो वह्न्यभाववानिति बाधज्ञानाविषयीभूतः पर्वतो बह्निमानिति साध्यविषयीभूतवह्निविशिष्टपर्वतादिः साध्यं पक्ष इत्यर्थः।

(प्र.रत्ना. 3/20)

साधकतम

० साधकतमत्वं च तदव्यवहितपूर्ववृत्तित्वे सति तदभिन्नत्वम्।

(प्र.रत्ना. 1/1)

सामान्य (न्यायवैशेषिक मत)

- नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वं सामान्यस्य लक्षणम्।

(प्र.रत्ना. 4/1)

सुख

- इतरेच्छानधीनेच्छाविषयत्वं सुखस्य लक्षणम्।

(प्र.रत्ना. 4/1)

स्मृत्याभास

- अननुभूतविषयकस्मृतित्वं स्मृत्याभासस्य लक्षणम्।

(प्र.रत्ना. 6/8)

स्वभावलिङ्ग

- साध्यतादात्म्यापन्नत्वे सति साध्यव्याप्यत्वं स्वभावलिङ्गत्वम्।
  यथा वृक्षः शिंशपात्वादित्यादौ वृक्षत्वतादात्म्यस्य शिंशपात्वे स्वीकारात्।

(प्र.रत्ना. 3/61)

स्वभावानुपलब्धि हेतु

- साध्यभूतनिषेधप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्ननिष्ठविषयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकप्रत्यक्षाभावत्वमस्य लक्षणम्।

(प्र.रत्ना. 3/79)

हेतु

- पञ्चम्यन्तत्वे सति लिङ्प्रतिपादकत्वे सति न्यायावयवत्वं हेतोर्लक्षणम्।

(प्र.रत्ना. 3/34)

- साध्यनिरूपितव्याप्तिप्रकारकनिश्चयविशेष्यत्वं हेतोर्लक्षणम्।

(प्र.रत्ना. 3/15)

■■■

परिशिष्ट

प्रसिद्ध व उपयोगी न्यायोक्तियाँ

न्यायपरक ग्रन्थों में अनेक न्यायोक्तियां प्रयुक्त हुई हैं, जिन्हें संग्रहीत किया जाय तो उनका भी एक कोश निर्मित हो सकता है। लोक व शास्त्र में प्रसिद्ध घटना-विशेष या स्थिति-विशेष पर आधारित 'दृष्टान्त' (या सिद्धान्त-विशेष) ही 'न्याय' पद से यहाँ अभीष्ट हैं। धवला (13, पृ. 286) ग्रन्थ में ज्ञेयानुसारी सिद्धान्त को ही 'न्याय' कहा गया है। अतः कुछ न्याय शास्त्रीय अर्थ-निर्धारण के प्रसंग में सामान्य सिद्धान्त के रूप में होते हैं तो कुछ न्याय लौकिक दृष्टान्त पर आधारित नियम-विशेष होते हैं। वस्तुतः 'न्याय' दृष्टान्त का ही एक प्रकार है। इस दृष्टि से कहीं-कहीं दृष्टान्त व न्याय दोनों एक दूसरे के पर्याय हो गए हैं।

लोकव्यवहार की प्रसिद्धि ही 'न्याय' का आधार बनती है। धवला (12 पृ. 289), स्याद्वादमंजरी (का. 19, पृ. 190) में न्याय व उदाहरण को पर्याय माना गया है।

इसी पृष्ठभूमि में कुछ चयनित या विशिष्ट न्यायोक्तियों को यहाँ संकलित कर प्रस्तुत किया जा रहा है। इनमें कुछ शास्त्रीय सिद्धान्तपरक हैं, जो विशेषतः धवला में प्रयुक्त हैं, उन्हें पहले प्रस्तुत किया गया है। उसके अनन्तर, लौकिक दृष्टान्तों पर आधारित 'न्याय' प्रस्तुत किये गये हैं, जिन्हें दृष्टान्त न कहकर 'न्याय' पद से अभिहित किया गया है। अन्त में 'दृष्टान्त' नाम से अभिहित कुछ प्रसिद्ध सिद्धान्तों को (जो वस्तुतः न्याय ही हैं) को भी स्थान दिया गया है।

(अ) धवला आदि में प्रयुक्त विशिष्ट शास्त्रीय न्याय

'अन्वय व्यतिरेक' आधारित 'कार्य-कारणभाव' का न्याय

० 'जस्स अण्णय-वदिरेगेहिणियमेण जस्सण्णय-वदिरेगा उवलंभंति तं तस्स कज्जमियरं च कारणं' इदि णायादो।

(धवला पु. 7 पृ. 10)

प्रस्तुत न्याय का निहितार्थ इस प्रकार है- 'जिसके अन्वय और व्यतिरेक के साथ नियम से जिसके अन्वय और व्यतिरेक पाये जावें, वह उसका कार्य और दूसरा कारण होता हैं।' अर्थात् जब एक के सद्भाव में दूसरे का सद्भाव और उसके अभाव में दूसरे का भी अभाव पाया जावे, तभी उनमें कार्य-कारण भाव संभव हो सकता है, अन्यथा नहीं।

अन्वय-व्यतिरेक आधारित वस्तु-निर्णय (न्याय)

० 'अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां वस्तुनिर्णयः' इति न्यायात्.....।

(धवला पु. 4, पृ. 95)

प्रस्तुत न्याय का निहितार्थ इस प्रकार है- 'अन्वय और व्यतिरेक के आधार पर वस्तु का निर्णय होता है।'

अवयव-समुदाय न्याय

० 'अवयवेषु प्रवृत्ताः शब्दाः समुदायेष्वपि वर्त्तन्ते' इति न्यायात्.....।

(धवला पु. 10, पृ. 454;
य धवला पु. 13, पृ. 307)

'अवयवों में प्रवृत्त हुए शब्द समुदायों में भी प्रवृत्त होते हैं।' प्रस्तुत न्याय का निहितार्थ स्पष्ट है। इसका उदाहरण है- कौए को काला कहना। यद्यपि कौआ परमार्थतः पाँच वर्णों से युक्त होता है, किन्तु कृष्ण गुण (अवयव) की अपेक्षा से 'कृष्ण काक' कहा जाता है।

उद्देशानुसारी निर्देश न्याय

० जहा उद्देसो तहा णिद्देसो त्ति णायाणुसरणट्ठं ...।

(धवला पु. 6, पृ. 4-5, धवला पु.7, पृ. 28,
धवला पु. 8, पृ. 4, धवला पु. 9, पृ. 248,
धवला पु. 13, पृ. 2)

प्रस्तुत न्याय का निहितार्थ यह है- 'जैसा उद्देश होता है, उसी के अनुसार निर्देश किया जाता है।'

एकदेशविकृत न्याय

० 'एकदेशविकृतमनन्यवद्' इति न्यायात्।

(धवला पु. 10, पृ. 456; धवला पु. 14, पृ. 503)

प्रस्तुत न्याय का निहितार्थ यह है कि 'एकदेश विकृत' वस्तु अनन्य के समान, अर्थात् उसी के समान होती है। (अर्थात् काना व्यक्ति आंशिक विकृति वाला होते हुए भी अन्य व्यक्ति नहीं हो जाता, वही रहता है।)

करणिगत-रूपगत भागहार (न्याय)

० करणीए करणी चेव, रूवगयस्स रूवगयं चेव भागहारो होदि त्ति णायादो....।

(धवला पु. 10, पृ. 151)

प्रस्तुत न्याय गणित-विधि का अंग है, जिसका प्रयोग गच्छ लाने की विधि में किया जाता है। इसका निहितार्थ यह है- करणिगत का करणिगत ही भागहार होता है और रूपगत का रूपगत ही भागहार होता है। अतः करणि में चार से तथा रूपगत में दो से भाग लेना चाहिए।

कारणकार्य न्याय

० कारणपुव्वं कज्जमिदि णायादो.....।

(धवला पु. 10, पृ. 396)

'कारणपूर्वक कार्य होता है' -इस न्याय से।

प्रस्तुत न्याय का निहितार्थ है कि बिना कारण के कार्य नहीं होता है।

कारणकार्य न्याय

० नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्तीति न्यायात्।

(धवला पु.14, पृ. 438)

ऐसा जरूरी नहीं कि कोई कारण कार्य वाला (सदा कार्योत्पादक) नियमतः हो ही।

कारण कार्य न्याय

० यद्यस्मिन् सत्येव भवति नासति तत्तस्य कारणमिति सयलणइयाइयअजणप्पसिद्धं।

.....नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्ति, कुम्भमकुर्वत्यपि कुम्भकारे कुम्भकार-व्यवहारोपलम्भात्।

(धवला पु.12, पृ. 288-289)

जो जिसके होने पर ही होता है और जिसके न होने पर नहीं होता है, वह उसका कारण होता है, ऐसा समस्त नैयायिक जनों में प्रसिद्ध (न्याय) है।.....यह जरूरी नहीं है कि कारण के होने पर कार्य हो ही, क्योंकि कुम्भकार घड़े का निर्माण नहीं भी करे, तब भी वह 'कुम्भकार' कहा जाता है।

कारणानुरूप कार्य न्याय

० कारणानुविधायीनि कार्याणि इति कृत्वा यवपूर्वका यवा यवा एवेति न्यायेन.....।

(समयसार 68 पर आत्मख्याति)

कारण के अनुरूप ही कार्य होते हैं, जैसे 'जौ' से 'जौ' ही पैदा होते हैं' (गेंहू नहीं) -यह न्याय है।

कार्य कारण-अव्यभिचारिता न्याय

० ''सुविवेचितं कार्य कारणं न व्यभिचरति।''

(षड्दर्शनसमुच्चय, का. 19, पृ. 98)

''अच्छी तरह देखा एवं विचारा गया कार्य कभी कारण का व्यभिचारी नहीं हो सकता।'' तात्पर्य यह है कि कारण से कार्य का अनुमान किया जा सकता है, जैसे बादलों की घटा देख कर भावी वृष्टि का अनुमान। किन्तु कभी-कभी बादल होते हैं, और वृष्टि नहीं होती है, वहां जो वृष्टि का अनुमान कोई कर ले तो वह विवेकयुक्त नहीं था -ऐसा मानना चाहिए। वस्तुस्थिति यह है कि विशिष्ट रंग-ढंग वाले बादल ही बरसते हैं, सब नहीं, और उसका निर्णय सुविचारणा (प्रतिभा, अभ्यास-पटुता, बारबार अनुभव आदि) से ही सम्भव है।

गले पादिका न्याय

० 'गले पादिकान्यायेन'।

(षड्दर्शनसमुच्चय, का. 49, पृ. 237)

किसी सिद्धान्त को मानने की स्थिति में सहवर्ती स्थिति को भी मानना भी गले पड़ जाता है - यह प्रस्तुत न्याय का निहितार्थ है। जैसे आत्मा को पदार्थों का ज्ञाता मानने पर उसे ज्ञानस्वभावी मानने की बाध्यता होगी ही।

धर्मी-धर्म सद्भाव (न्याय)

० 'सति धर्मिणि धर्माश्चिन्त्यन्ते' इति न्यायात्...।

(धवला पु. 7, पृ. 24)

प्रस्तुत न्याय का निहितार्थ यह है कि- 'धर्मी के सद्भाव में ही धर्मों का चिन्तन किया जाता है'।

नय-अनतिक्रमण न्याय

० 'यदस्ति न तद् तद्वयमतिलंघ्य वर्त्तते'....।

(धवला पु. 8, पृ. 6)

'जो है, वह दोनों नयों (द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक) का अतिक्रमण कर नहीं रहता है।' (अर्थात् जो भी सद्वस्तु है, वह किसी न किसी नय के दृष्टिगोचर होती ही है।)

नयानतिक्रमण न्याय

० यदस्ति न तद् द्वयमतिलंघ्य वर्त्तते इति।

(धवला पु. 9, पृ. 171 तथा धवला पु. 8, पृ. 6)

जो है, वह (भेद व अभेद -इन) दोनों का उल्लंघन कर नहीं रहता। प्रस्तुत न्याय का निहितार्थ यह है कि प्रत्येक वस्तु या तो भेदरूप (विशेषात्मक) होती है, या अभेदरूप (सामान्यात्मक)। वह द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक -इन दो नयों में से किसी एक का विषय बनती ही है।

नैगम नय न्याय

० न एकगमो नैगम इति न्यायात्।

(धवला पु. 9, पृ. 181)

नैगम नय किसी एक को विषय न करके (भेद या अभेद-) दोनों को विषय करता है- यह न्याय (सिद्धान्त) है।

(वस्तुतः यहां 'न्याय, पद सिद्धान्त अर्थ का प्ररूपक है।)

मण्डूकप्लुति न्याय

० एसो 'अणंतगुणहीण'-णिद्देसो उवरि वि मंडूगुप्पदेण अणुवट्टदे।

(धवला पु. 12, पृ. 41)

मंडूकोत्प्लवन न्याय का सम्बन्ध सूत्रों में पदों की अनुवृत्ति से है। पूर्व सूत्रों से पदों की अनुवृत्ति सामान्यतः 'अव्यवहितपूर्व' सूत्र से होती है, किन्तु कभी, जैसे 'मेंढक उछल कर चला जाता है', उसी तरह पूर्वसूत्रों से किसी अभीप्सित पद की अनुवृत्ति आगे के किसी सूत्र में हो सकती है, भले ही वह पद मध्य के किसी सूत्र में अनुवृत्त न भी हुआ हो।

याचितकमण्डनन्याय

० याचितकमण्डनन्यायः।

(प्रमाणमीमांसा 1/1/8)

इस न्याय का निहितार्थ यह है कि मांगकर अपने को अलंकृत करना उचित नहीं है। अर्थात् जहां स्वयं में योग्यता न हो, किन्तु अन्य से सम्बद्ध होने के आधार पर योग्यता प्राप्त करना मांगे हुए आभूषणों के समान निरर्थक है। जैसे निर्विकल्पक ज्ञान में प्रमाणता नहीं मानी जाती है, किन्तु कुछ दार्शनिक उसे इस आधार पर प्रमाण मानते हैं क्योंकि वह परवर्ती सविकल्पक ज्ञान को उत्पन्न करता है। उनका यह प्रयास इस न्याय के अनुसार उपहासास्पद सिद्ध होता है।

लक्षण-लक्ष्य न्याय

० 'लक्खणविणासे लक्खविणासस्स णाइयत्तादो'।

(धवला पु. 6, पृ. 58)

प्रस्तुत न्याय का निहितार्थ यह है -लक्षण के नाश होने पर लक्ष्य का नाश होता है (जैसे वस्तु के स्वभाव के नष्ट होने पर वस्तु का नाश प्राप्त होता है।)।

वर्तमान काल न्याय

० अप्पिदपज्जायपढमसमयप्पहुडि आचरिमसमयादो एसो वट्टमाणकालो त्ति णायादो।

(धवला पु.9, पृ. 243)

विवक्षित पर्याय के प्रथम समय से लेकर अन्तिम समय तक यह 'वर्तमान काल होता है' ऐसा न्याय है। (यहां 'न्याय' पद 'सिद्धान्त' या 'सामान्य नियम' के अर्थ में प्रयुक्त है।)

विशेषण-विशेष्यभाव न्याय

० 'जहासंभवं विसेसण-विसेसिय भावो' त्ति णायादो....।

(धवला पु. 6, पृ. 244)

विशेषण व विशेष्य भाव यथासंभव होता है। (जो विशेषण उपयुक्त हो, वही विशेष्य के साथ उपयुक्त होता है। जैसे- 'अढाई द्वीपसमुद्र' इस कथन में 'अढाई' यह विशेषण 'द्वीप' का ही विशेषण है, न कि समुद्र का।)

० सति संभवे व्यभिचारे च विशेषणमर्थवद् भवति।

(धवला, पु. 10, पृ. 36)

व्यभिचार के होने पर या उसकी सम्भावना होने पर ही विशेषण प्रयोजन वाला होता है। अन्यथा वह निरर्थक होता है। जैसे 'श्वेत दूध' इस कथन में श्वेत विशेषण व्यर्थ है, क्योंकि वहां व्यभिचार नहीं है। ऐसे ही 'काला दूध' इस कथन में काला विशेषण व्यर्थ है, क्योंकि उसकी संभावना ही नहीं है।

सदसद्भावसम्बन्ध न्याय

० यद्यस्य भावाभावानुविधानतो भवति तत्तस्येति वदन्ति तद्विद इति न्यायात्।

(धवला, पु. 14, पृ. 13)

जो जिसके सद्भाव और असद्भाव का अविनाभावी होता है, वह उसका है, ऐसा कार्य-कारणभाव के ज्ञाता कहते हैं। (जैसे कर्मों के उदय से जीवत्व होता है, कर्मों के असद्भाव में नहीं होता, इसलिए जीवत्व 'औदयिक' भाव है (भले ही चैतन्यगुण की अपेक्षा से वह पारिणामिक है।)

समुदायावयव न्याय

० समुदायेषु प्रवृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्ते - इति न्यायात्।

(धवला, पु. 13, पृ. 302)

समुदाय में प्रवृत्त शब्द अवयवों में भी प्रवृत्त होते हैं -यह न्याय है। (चूंकि समुदाय अवयवों का ही समुदित रूप होता है, इसलिए उक्त न्याय फलित होता है।)

सामान्य-विशेष न्याय

० 'सामान्यचोदनाश्च विशेषेष्ववतिष्ठन्ते' इति न्यायात्।

(धवला, पु. 7, पृ. 79, 83)

प्रस्तुत सामान्य-विशेष न्याय का निहितार्थ यह है-'सामान्य से कहे गये भाव अपने विशेषों में रहते हैं।'

० सामण्णं विसेसाविणाभावि त्ति.....।

(धवला, पु. 10, पृ. 21)

सामान्य विशेष का अविनाभावी होता है।

सिंहावलोकन न्याय

० सीहावलोगण्णाएण।

(धवला, पु. 13, पृ. 317)

इस न्याय का निहितार्थ यह है कि जैसे सिंह पीछे मुड़ कर देखता है, वैसे ही आगे के सूत्र से भी किसी शब्द या पद की अनुवृत्ति होती है।

■■■

(आ) लौकिक दृष्टान्तपरक विशिष्ट न्याय

सिंहावलोकन न्याय तथा नदी-स्रोत न्याय

० एत्थतणउवरिसद्दो हेट्ठा सिंघावलोअणक्कमेण उवरि 'णदीसोदक्कमेण' अणुवट्टावेदव्वो।

(धवला, पु. 12, पृ. 205)

ये दोनों न्याय सूत्र में किसी पूर्वसूत्र से अभीष्ट पद की अनुवृत्ति से सम्बद्ध हैं। जैसे सिंह शिकार की तलाश में आगे बढता भी जाता है और पीछे मुड़ कर भी देखता रहता है, वैसे ही सूत्रों में पूर्वसूत्रों से तथा आगे के सूत्रों में पदों की अनुवृत्ति होती है। नदी का बहाव भी आगे बढ़ता जाता है, वैसे ही पदों की अनुवृत्ति होती है।

अन्धगज न्याय

० सोऽयमन्धगजन्यायः।

(स्याद्वादमञ्जरी, का. 14, पृ. 125)

इस न्याय का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है- अनेक जन्मान्ध पुरुष मिले, उन्होंने एक हाथी के अनेक अंग अपनी-अपनी स्पर्शनेन्द्रिय से अलग-अलग जाने। जैसे एक ने उसकी सूँड छुई और समझा कि वह सर्पवत् होता है। दूसरे ने उसकी टाँग टटोली और सोचा कि वह स्तम्भ समान होता है। तीसरे ने पूँछ पकड़ी, उसे वह हाथी रस्सी के समान प्रतीत होता है। इस प्रकार, हाथी को विभिन्न रूपों में जाना। आँखों के बिना पूर्ण सर्वांग हाथी को न जानने से हाथी के स्वरूप को अनेक प्रकार से कहकर (एक अंग को ही सर्वांग मानकर) वे परस्पर वाद-विवाद करने लगे। तब आँख वाले पुरुष ने हाथी का यथार्थ निर्णय करके उनकी भिन्न-भिन्न कल्पना को दूर कर दिया। इसी प्रकार जहां किसी वस्तु के आंशिक ज्ञान से उसके पूर्ण स्वरूप का मिथ्या अनुमान किया जाता है, वहाँ यह न्याय व्यवहृत होता है।

इस न्याय का निर्देश आचार्य शंकर ने छान्दोग्य उपनिषद् (5/18/1) पर अपने भाष्य में न्याय के रूप में इस प्रकार किया है- "एकस्येव आत्मतत्त्वस्य अनेकता-कल्पना गजदर्शनन्यायतुल्या।"

इस न्याय का संकेत पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (श्लोक 2) में भी प्राप्त होता है। नैष्कर्म्यसिद्धि (2/93 पद) में इस न्याय को इस प्रकार प्रयुक्त किया गया है-

तदेतदद्वयं ब्रह्म निर्विकारं कुबुद्धिभिः।

जात्यन्धगजदृष्ट्येव कोटिशः परिकल्प्यते।।

अर्धजरतीय न्याय

० अर्धजरतीयन्यायप्रसङ्गः।

(षड्दर्शनसमुच्चय, का. 50, पृ. 270)

प्रस्तुत न्याय का आधार लोकप्रचलित विचार-आचार विशेष है।

प्रायः वृद्धावस्था में कोई स्त्री वृद्ध कही जाती

है और युवावस्था में युवती। किन्तु कभी कभी युवति-विशेष में ऐसा देखा जाता है कि वृद्धावस्था में भी कुछ अंग-विशेष, जैसे मुख आदि युवाकाल जैसे ही रहते हैं। ऐसी स्थिति में कोई या प्राय: व्यक्ति उसे दो रूपों में देखते हैं, उस वृद्धा के जर्जरित अवयवों को गौण कर अजर्जरित अवयवों को चाहते हैं -इस प्रकार वे उस एक ही युवती में आधे अंश में युवतीत्व और आधे अंश में वृद्धात्व को स्वीकार करते हैं। वस्तुत: उनका यह अज्ञान ही है, क्योंकि सामान्यत: तो वह वृद्धा ही है।

उक्त न्याय का प्रयोग वहां किया जाता है, जहां कोई वादी या दार्शनिक एक ही वस्तु में परस्पर-विरुद्ध धर्मों का अस्तित्व प्रतिपादित कर रहा होता है, तब उस पर 'अर्धजरतीय न्याय' स्वीकार करने का दोष डाला जाता है।

प्रस्तुत न्याय का संकेत आचार्य शंकर ने तथा महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी किया है- तद्यथा- अर्धं जरत्या: कामयन्ते अर्धं नेति (पातंजल महाभाष्य, 4/1/78)।

'अर्द्धं मुखमात्रं जरत्या वृद्धाया:, कामयते, नाङ्गानीति सोऽयमर्धजरतीन्याय: (ब्रह्मसूत्र-1/2/8 शंकर भाष्य)। ब्रह्मसूत्र 1/1/19 के शंकर भाष्य में भी यह न्याय निर्दिष्ट है।

इतो व्याघ्र इतस्तटी

० (स्याद्वादमञ्जरी, का. 17, पृ. 178)

इधर व्याघ्र है, तो दूसरी ओर नदी है। [जहां सम्भावित दोनों पक्षो में अनिष्ट प्रसंग होने का भय हो, वहां यह न्याय प्रयुक्त होता है।]

इत्यादि बहुवचनान्त न्याय

० ''इत्यादिबहुवचनान्ता गणस्य संसूचका भवन्ति'' इति न्यायाद्.....।

(स्याद्वादमञ्जरी, का. 22, पृ. 203)

''इति आदि बहुवचन वाले पद शब्दसमूह के सूचक होते हैं।'' अर्थात् किसी वाक्य में किसी शब्द के आगे 'इति' शब्द प्रयुक्त हो तो वहाँ अन्य अपठित अनेक वस्तुओं का संसूचन है- ऐसा समझना चाहिए।

घटकुट्यां प्रभातम् न्याय

० ''घटकुट्यां प्रभातम्'' इति न्याय:।

(स्याद्वादमञ्जरी, का. 6, पृ. 39)

इस न्याय का निहितार्थ यह है- जैसे कोई मनुष्य महसूली (चुंगी अदा करने योग्य) सामान का महसूल न देने के विचार से रास्ते में आने वाले चुंगीघर को छोड़कर किसी दूसरे रास्ते से शहर के भीतर जाने के लिये रात भर इधर-उधर चक्कर मारता है, किन्तु दुर्भाग्यवश प्रात:काल फिर से उसी चुंगी घर पर ही जा पहुँचता है, उसी प्रकार वाद-प्रतिवाद में कोई दार्शनिक दोष निराकरण हेतु अनेक युक्तियों का आश्रय लेता है, किन्तु अन्त में वह अपने दोष से स्वयं ही ग्रस्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में इस न्याय का निदर्शन किया जाता है।

घण्टालाला न्याय

० ''घण्टालालान्यायेन''

(स्याद्वादमञ्जरी, का. 6, पृ. 42)

इस न्याय को मध्यमणिन्याय या देहलीदीपक न्याय भी कहा जाता है। (जैसे एक ही मणि, अथवा दीपक घर की देहली पर रखने से दोनों ओर की वस्तुओं को प्रकाशित करते हैं, अथवा एक ही घण्टा अपने दोनों तरफ बजता है। अत: यह न्याय उस समय प्रयुक्त किया जाता है, जब एक ही 'पद' आगे-पीछे, दोनों और अन्वित किया जाता हो।

चारिसंजीविनीचार न्याय

० चारिसंजीवनीचार न्याय एष सतां मत:।

(आ. हरिभद्र कृत योगबिन्दु. 119)

इस न्याय का निहितार्थ निम्नलिखित कथा से इंगित होता है- एक स्त्री की इच्छा थी कि उसका पति उसके वश में रहे। उसे एक तान्त्रिक ने दो प्रकार की जड़ी-बूटी दी। जिसमें पहली जड़ी-बूटी खाने वाला मनुष्य बैल बन जाता था, और दूसरी जड़ी-बूटी पिलाने से बैल हो जाता था। वह स्त्री अपने पति को जब चाहती तब उसे मनुष्य से बैल और बैल से मनुष्य बना लेती थी। एक दिन वह दूसरी जड़ी-बूटी की पहचान भूल गई, अत: उसके लिये यह कठिन हो गया कि जंगल में उस जड़ी-बूंटी को कैसे पहचान कर निकाले। उसके लिये अपने पति को पुन: मनुष्य बनाना कठिन हो गया। ऐसी स्थिति में उस स्त्री को किसी समझदार ने यह सलाह दी कि अपने बैल रूपी पति को उस जंगल में चरने के लिये खुला छोड़ दे, कभी न कभी वह जड़ी उसके मुँह में पड़ जाएगी तो उसका पति बैल से मनुष्य बन जाएगा। उस स्त्री ने वैसा ही किया और उसका पति एक दिन बैल से मनुष्य बन गया।

उक्त कथा या घटना-विशेष के आधार पर प्रस्तुत न्याय के रूप में यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि जहाँ विविध वस्तुओं में अभीष्ट वस्तु को पहचानना कठिन हो, वहाँ उन सभी वस्तुओं को प्रयोग में लाते रहना चाहिए, कभी न कभी उन वस्तुओं में ही अभीष्ट वस्तु हाथ लगेगी और अपना चमत्कार स्वयं प्रकट करेगी। इस न्याय के माध्यम से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि जैसे, कौन वन्दनीय है, और कौन अवन्द्य -इसका निर्णय कर पाना जब कठिन हो, तब सभी व्यक्तित्वों (तथाकथित देवताओं) के प्रति वन्दना का भाव रखना चाहिए, क्योंकि कभी न कभी यथार्थत: वन्दनीय व्यक्ति मिलेगा ही, और उसे वन्दना करने से अभीष्ट फल प्राप्त हो ही जाएगा।

तटादर्शिशकुन्तपोत न्याय

० तटादर्शिशकुन्तपोतन्यायात्।

(स्याद्वादमञ्जरी, का. 19)

० य: शकुन्तपोत: पक्षिशावक: तस्य न्याय:।

(स्याद्वादमञ्जरी, का. 19, पृ. 186, 190)

इस न्याय का निहितार्थ इस प्रकार है- जिस प्रकार किसी पक्षी का बच्चा अथाह और विशाल समुद्र के बीच में पहुँच जाने पर अपनी मूर्खता के कारण जहाज के मस्तूल पर से उड़ान भरता है, थक जाने पर वह पुन: समुद्र के किनारे पर वापिस आने की इच्छा करता है, परन्तु वह चारों तरफ जल ही जल देखता है और कहीं भी किनारे का कोई निशान न पाकर, उपायान्तर न होने से फिर से मस्तूल पर वापिस लौट जाता है।

यह न्याय वहां प्रयुक्त होता है, जहां कोई दार्शनिक अपने मत को सिद्ध न कर पाने पर किसी अन्य पक्ष को अनिच्छा से स्वीकार करने हेतु बाध्य होता है।

पंकप्रक्षालन न्याय

० प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य, दूरादस्पर्शनं वरम्।

(हरिभद्रकृत अष्टकप्रकरण, 2/6)

कीचड़ में पाँव लिप्त कर, फिर उसे धोने की अपेक्षा से तो यही उचित है कि कीचड़ में पाँव दिया ही न जाये। यह लोकप्रचलित न्यायोक्ति है। इस न्याय का निहितार्थ है कि उन सभी परिस्थितियों से बचा जाय, जिनमें पड़ने के बाद फिर उसके दुष्प्रभाव को मिटाने का यत्न करना पड़े।

देव पूजा आदि का फल मोक्ष न चाहकर राज्य, सम्पत्ति आदि लौकिक वैभव की इच्छा करना और इसके समर्थन में यह कहना कि वैभव के परिग्रह से होने वाले पाप को, दान आदि से होने वाले पुण्य से धोया जा सकता है, दोनों ही बातें अनुचित हैं। उक्त तथ्य को हृदयगंम कराने के लिये आचार्य हरिभद्र ने उक्त न्याय का उपयोग किया है। उन्होंने कहा कि कोई व्यक्ति वैभवादि की इच्छा इसलिये करता है कि उस सम्पत्ति से दानादि धर्म (शुभ कार्य) किये जा सकेंगे तो वह अनुचित करता है क्योंकि इससे तो यही अच्छा होगा कि वैभवादि की इच्छा ही न की जाये। इस न्याय का निहितार्थ यह है कि परिस्थितियों से पहले ही बचना उत्तम है, जिनमें पड़ने के पश्चात् फिर उनके प्रभाव को मिटाने का यत्न किया जाये।

इस न्याय का प्रयोग शंकाराचार्य ने भी ब्रह्मसूत्र (3/2/22) के भाष्य में किया है।

पंग्वन्ध न्याय

० 'वृत्तिः पंग्वन्धयोरिव'।

यथा कश्चिदन्धः सार्थेन समं पाटलिपुत्रनगरं प्रस्थितः, स सार्थश्चौरैरभिहतः। अन्धस्तत्रैव रहित इतश्चेतश्च धावन् वनान्तरपंगुना दृष्टोऽभिहितश्च 'भो भो अन्ध मा भैषीः, अहं पंगुर्गमनादिक्रिया-विकलत्वेनाक्रियश्चक्षुर्भ्यां सर्वं पश्यन्नस्मि, त्वं तु गमनादिक्रियावान्न पश्यसि'। ततः अन्धेनोचे-'रुचिरमिदम्, अहं भवन्तं स्कन्धे करिष्यामि, एवमावयोर्वर्तनमस्तु' इति। ततोऽन्धेन पंगुर्ब्रष्टृत्व-गुणेन स्वं स्कन्धमधिरोपितो नगरं प्राप्य नाटकादिकं पश्यन् गीतादिकं चेन्द्रियविषय-मन्यमप्युपलभ्यमानो यथा मोदते, तथा पंगुकल्पः शुद्धचैतन्यस्वरूपः पुरुषोऽप्यन्धकल्पां जडां प्रकृतिं सक्रियामाश्रितो बुद्ध्यध्यवसितं शब्दादिकं स्वात्मनि प्रतिबिम्बितं चेतयमानो मोदते, मोदमानश्च प्रकृतिं सुखस्वभावां मोहान्मन्यमानः संसारमधिवसति।

(षड्दर्शन समुच्चय, का. 42, टीका पृ. 152-153)

[इस न्याय का निर्देश सांख्यकारिका, 21 में भी किया गया है।]

जैसे -एक अन्धा सार्थ-व्यापारी यात्री के साथ पाटलिपुत्र की ओर रवाना हुआ। मार्ग बीहड़ था। लुटेरों ने व्यापारी दल को मार डाला। बेचारा अन्धा अपने साथी के वियोग से तथा मार्ग नहीं सूझने के कारण विकल हो उस भयानक जंगल में इधर-उधर भटकने लगा। वहीं एक लंगड़ा दृष्टिसम्पन्न होकर भी चलने की शक्ति न होने

के कारण पड़ा हुआ था। उसने उस भटकते हुए अन्धे को देखकर कहा -'हे भाई अन्धे, मत डरो, मैं कहता हूँ वह सुनो- मैं लंगड़ा हूँ सब कुछ देखता हूँ, पर चलने की ताकत न होने से पड़ा हूँ, तुम चल तो सकते हो पर देख नहीं पाते'। यह सुनते ही अन्धा खुशी के मारे उछल पड़ा और बोला -'अरे, बड़ा अच्छा हुआ, मैं अपने कन्धे पर तुम्हें बैठा लेता हूँ, बस हम दोनों का काम चल जायगा।' इस तरह अन्धे ने लँगड़े को द्रष्टा होने के कारण अपने कन्धे पर बिठाया और अन्धा उसे देश-देश में घुमाने लगा। लँगड़ा नगर में पहुँचा। वहाँ वह नाटक देखकर, गाना सुनकर तथा अन्य इन्द्रियों के विषयों का यथेष्ट अनुभवन कर जिस प्रकार खुश हुआ, इसी तरह क्रिया-शक्ति से विकल-अकर्ता शुद्ध चैतन्य स्वरूपी यह लँगड़ा पुरुष अन्धे के समान सक्रिय -सब कुछ करने-धरने वाली जड़ प्रकृति के कन्धे पर चढ़कर अर्थात् प्रकृति का संसर्ग पाकर बुद्धि के द्वारा अध्यवसित शब्दादि विषयों को, जो अपने स्वच्छ स्वरूप में प्रतिबिम्बित हो रहे हैं, अनुभव करता हुआ खुश हो रहा है। और इस खुशी में वह अज्ञान के कारण प्रकृति को ही सुखरूप मान बैठता है और इसीलिए उस अन्धी प्रकृति के कन्धे पर चढ़ा हुआ संसार-परिभ्रमण करता रहता है। जैसे कि लँगड़ा अन्धे पुरुष के संसर्ग को सुखरूप मान उसे कभी भी नहीं छोड़ना चाहता, उसी तरह पुरुष भी प्रकृतिसंसर्ग को ही सब कुछ मानकर मोह के कारण उसे छोड़ना नहीं चाहता और संसार में पड़ा रहता है।

इस न्याय का प्रयोग वहाँ होता है, जहाँ पारस्परिक लाभार्थ सहयोग किया जाय।

मण्डूकचूर्ण (भस्म) न्याय

० मण्डूक-भस्म-न्यायेन।

(योगबिन्दु, 423)

इस न्याय का संकेत आचार्य हरिभद्रकृत योगशतक (गाथा 86) में भी किया गया है। उक्त न्याय वर्षा ऋतु की एवं घटना पर आधारित है। मेंढक का शरीर टुकड़े-टुकड़े भी हो गया हो, तो भी वर्षा के जल में वे सभी टुकड़े मिल जाते हैं और मेंढक पुनर्जीवित हो जाता है। किन्तु मेंढक के शरीर को जलाकर राख कर दिया जाए, तो उस राख पर कितना ही वर्षा का जल गिरे, मेंढक जीवित नहीं होता।

उक्त न्याय का निहितार्थ यह है कि आन्तरिक पवित्रता के साथ किया गया तप मनोविकारों को भस्मीभूत कर देता है, इस प्रकार कर्मों या मनोविकारों के पुनः प्रादुर्भूत होने की सम्भावना समाप्त हो जाती है। किन्तु आन्तरिक भावना के बिना, मात्र शारीरिक काय-क्लेश रूपी तप से दोषों का सर्वथा क्षय नहीं होता, और वे अनुकूल परिस्थिति प्राप्त करते ही पुनः प्रादुर्भूत/विकसित हो सकते हैं। इस न्याय का संकेत आचार्य वाचस्पति ने भी योगसूत्र (1/19) पर तत्त्ववैशारदी टीका में किया है-

यथा वर्षातिपाते मृद्भावमुपागतो मण्डूकदेहः पुनरम्भोद-वारिधारावसेकाद् मण्डूकदेह-भावमनुभवति।

वणिक् दिनभणन न्याय

० ''अदित्सोर्वणिजः प्रतिदिनं पत्रलिखित-श्चस्तनदिनभणनन्यायः।''

(स्याद्वादमञ्जरी, का. 16, पृ. 149)

जिस प्रकार कोई कर्जदार साहुकार के कर्ज को न चुकाने की इच्छा से कर्ज चुका देने का प्रतिदिन वायदा करने पर भी कभी अपने कर्ज को नहीं चुका पाता है, उसी तरह यह न्याय वहाँ प्रयुक्त होगा जहां कोई वादी विद्वान् अपने अभीष्ट मत या प्रतिज्ञा को निभा नहीं पाता है।

शत्रुसंकटविमुक्ति न्याय

० (आचार्य हरिभद्रकृत, उपदेश पद, 861-864)

इस न्याय का सम्पूर्ण नाम है- शत्रुग्रह-नष्टाध्वभ्रष्ट-तज्ज्ञान न्याय। शत्रु-संकट ग्रस्त व्यक्ति के लिए संकट से छूटने हेतु 'आप्त' का तथा स्वविवेक का सहारा लाभकारी हो सकता है- यह इस न्याय का निहितार्थ है। इस न्याय का आधार घटना-विशेष इस प्रकार है- कोई व्यक्ति पटना की ओर चला। रास्ते में खतरनाक जंगल था, वहाँ डाकुओं/शत्रुओं के चंगुल में फंस गया। उसकी सम्पत्ति तो लूटी ही गई, रास्ते से भी वह भटक गया। इस स्थिति में वह सही मार्ग किससे पूछे? हो सकता है कि जिससे पूछे, वह शत्रु-पक्ष का ही हो। अत: सोच समझ कर ही किसी से मार्ग पूछना उचित होगा। उचित तो यह होगा कि बालक, वृद्ध, स्त्री या पशु चराने वाला-इनमें किसी से रास्ता पूछा जा सकता है, क्योंकि ये सभी प्राय: सत्यवादी होते हैं। उक्त न्याय के माध्यम से यह समझाने का प्रयास किया गया है कि आगम के पद, वाक्य, महावाक्य आदि अर्थों को हृदयगंम कर, पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को समझा जा सकता है। अन्यमत के उपदेशकों के वाग्जाल के कारण साधक या जिज्ञासु मार्गभ्रष्ट हो गया हो तो उसे चाहिए कि वह आगम के 'महावाक्यार्थ (पूरे प्रकरण का पूर्वापर-संगत अर्थ) पर ही अधिक विश्वास करे। पृथक्-पृथक् पदार्थ व वाक्यार्थ पर अधिक विश्वास नहीं किया जाना चाहिए।

सापेक्ष असमर्थ न्याय

० 'सापेक्षमसमर्थम्' इति न्यायात्।

(षड्दर्शनसमुच्चय का. 45-46 पर श्रीसोमतिलकसूरी कृत लघुवृत्ति पृ. 483)

जो किसी कार्य की निष्पत्ति में अपने से अन्य की अपेक्षा रखने वाला होता है, वह असमर्थ कहा जाता है अर्थात् समर्थ व्यक्ति किसी कार्य को करने में किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखता।

इस न्याय का संकेत (प्रमाण मीमांसा1/1/32) में भी प्राप्त होता है।

सावधारण वाक्य न्याय

० सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायाद्।

(षड्दर्शन-समुच्चय, का. 9, पृ. 55)

इस न्याय का निहितार्थ यह है-

'सभी वाक्य सावधारण अर्थात् निश्चयात्मक होते हैं,' अर्थात् 'चैत्र धनुर्धर है' इस वाक्य का अर्थ है- चैत्र धनुर्धर ही है। इसी तरह, जीव व अजीव ये- दो पदार्थ हैं- इस वाक्य का अर्थ यह है कि ये दो पदार्थ ही हैं, न कि एक या तीन आदि।

■■■

जैनेतर न्याय ग्रन्थों में उपलब्ध विशिष्ट परिभाषाएं

प्रस्तुत कोश में जैन पारिभाषिक शब्दों का संग्रह है और उससे सम्बद्ध स्वरूपादि जो जैन न्याय ग्रन्थों में प्राप्त हैं, उन्हें प्रस्तुत किया गया है। पाठकों को यह सहज जिज्ञासा होगी कि अन्य दर्शनों में उनका क्या पारिभाषिक स्वरूप माना गया है। इस जिज्ञासा के समाधान हेतु तथा तुलनात्मक अध्ययन में उपयोगिता की दृष्टि से न्याय-वैशेषिकादि दर्शनों की भी परिभाषाएं संगृहीत की हैं। प्रमुखतया इस संग्रह में पू. महा. भीमाचार्य झलकीकर कृत न्यायकोश को आधार बनाया गया है। संग्रहण में संक्षेप पद्धति को अपनाया गया है, अतः विशेष जानकारी के लिए सम्बद्ध शास्त्रीय मूल ग्रन्थ अनुशीलनीय है।

अतिव्याप्ति

० - अलक्ष्यवृत्तित्वम्। यथा गोः शृङ्गित्वस्य लक्षणत्वेतिव्याप्तिः।

(त.दी., ल.व.)

अतीन्द्रियत्व

० इन्द्रियजन्यलौकिकप्रत्यक्षाविषयत्वम्। यथा कालस्यातीन्द्रियत्वम्।

अत्यन्ताभावः

० त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽभावः

(त.सं.)

० त्रैकालिकः संसर्गाभावः

(त.कौ.)

० नास्तीत्यनुभवसिद्धो नित्यः संसर्गाभावः

(न्या.म.1) (मु.1)

० प्रतियोग्याश्रयोऽभावोऽत्यन्ताभावः।

(सर्व.औलु. पृ. 232)

अधिक (निग्रहस्थानम्)

० हेतूदाहरणाधिकमधिकम् (गौ. 5/2/13)। नियमश्चैकस्यैव हेतोर्दृष्टान्तस्य वेदितव्यमिति। वा प्रयोगः कर्तव्य इत्याकारको वादिप्रतिवाद्युभयसंमतः पूर्वकृतः संकेतः।

० अधिकहेत्वादिकथनम्। यथा शब्दोऽनित्यः शब्दत्वाच्छ्रावणत्वाच्चेत्यादि।

(नील., दि.1)

अधिगम

० (1) ज्ञानम्। (2) प्राप्तिः।
(3) स्वीकारः (वाच.)।
(4) निध्यादेः प्राप्तिरिति व्यवहारज्ञाः।

(सर्व. आर्ह. पृ. 63)

अनध्यवसाय

० विपर्ययः। यथा इदं किंचित् इति ज्ञानम्। अयं विशेषादर्शनेन जन्यत इति विज्ञेयम्।

(सि.च. 4)

० अविद्याविशेषः। अनध्यवसायोऽपि प्रत्यक्षानुमानविषये एव संजायते। तत्र प्रत्यक्षविषये तावत्-प्रसिद्धार्थेष्वप्रसिद्धार्थेषु वा व्यासङ्गादनर्थित्वाद्वा किमिदम् इत्यालोचनामात्रमनध्यवसायः। यथा-वाहीकस्य पनसादिष्वनध्यवसायो भवति। अनुमानविषयेपि नारिकेलद्वीपवासिनः सास्नामात्र-दर्शनात् को नु खल्वयं प्राणी स्यात् इत्यनध्यवसायो भवति।

(प्रशस्त. 2, पृ. ४८)

अनध्यवसित (हेत्वाभासः)

० यश्चानुमेये विद्यमानस्तत्समानासमानजातीययोरसन्नेव सोऽन्यतरत्रासिद्धः अनध्यवसायहेतुत्वादनध्यवसितः। यथा-सत् कार्यमुत्पत्तेः इति। (प्रशस्त. 2, पृ. 29-30) तथा च अनध्यवसितत्वं पक्षमात्रवृत्तित्वम्। यथा-पर्वतो वन्हिमान् पर्वतत्वात् इत्यादौ पर्वतत्वहेतौ अनध्यवसितत्वम्।

अननुभाषण (निग्रहस्थानम्)

० विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्याप्यप्रत्युच्चारणमननुभाषणम्।

(गौ. 5/2/16, नील)

० विज्ञातस्य वाक्यार्थस्य परिषदा प्रतिवादिना त्रिरभिहितस्य यदप्रत्युच्चारणं (अननुवादः) तदननुभाषणं नाम निग्रहस्थानमिति। अप्रत्युच्चारयन्किमाश्रयं परपक्षप्रतिषेधं ब्रूयात्। (वात्स्या. 5/2/16)

अनवस्था (तर्कः)

० क्लृप्तवस्तुसजातीयवस्तुपरंपराकल्पनस्य विरामाभावः। यथा जातौ जात्यन्तरं तत्रापि जात्यन्तरमित्येवं तत्र तत्र जात्यन्तरस्वीकारेऽनवस्था।

अव्यवस्थितपरंपरोपाधीनोऽनिष्टप्रसङ्गः। यथा-यदि घटत्वं घटजन्यत्वव्याप्यं स्यात्कपालसमवेतत्वव्याप्यं न स्यात् इति।

(गौ. व. 1/1/40)

अनित्य

० उत्पत्तिमान्ध्वंसप्रतियोगी च। यथा-नैयायिकमते शब्दः अनित्यः।

(त.प्र.ख., पृ. 124)

अनित्यत्व

० प्रतियोगितासंबन्धेन ध्वंसवत्त्वम् (मू.म.)। ध्वंसप्रतियोगित्वमित्यर्थः (त.दी.)। यस्य ध्वंसः

संभवति तत्त्वमिति फलितम्। इदं लक्षणं च प्रागभावानङ्गीकारपक्षे ध्वंसस्य नित्यत्वपक्षेऽपि च संगच्छत इति विज्ञेयम्।

अनित्यसम (जातिः)

० साधर्म्यात्तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वानित्यत्वप्रसङ्गादनित्यसमः।

(गौ. 5/1/32)

० अनित्येन घटेन साधर्म्यादनित्यः शब्द इति ब्रुवतोऽस्ति घटेनानित्येन सर्वभावानां साधर्म्यमिति सर्वस्यानित्यत्वमनिष्टं संपद्यते। सोऽयमनित्यत्वेन प्रत्यवस्थानादनित्यसम इति।

(वात्स्या. 5/1/32)

अनुत्पत्तिसम (जाति)

० प्रागुत्पत्तेः कारणाभावादनुत्पत्तिसमः।

(गौ. 5/1/12)

० अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद्घटवदित्युक्ते अपर आह। प्रागुत्पत्तेरनुत्पन्ने शब्दे प्रयत्नानन्तरीयकत्वमनित्यत्वकारणं नास्ति। तदभावान्नित्यत्वं प्राप्तम्। नित्यस्य चोत्पत्तिर्नास्ति। अनुत्पत्त्या प्रत्यवस्थानमनुत्पत्तिसमः।

(वात्स्या. 5/1/12)

अनुपलब्धि

०

ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवासाधारणकारणमनुपलब्धिरूपं प्रमाणम्। अस्यार्थः-ज्ञानरूपं यत्करणं तदजन्यो योऽभावानुभवो नामाभावज्ञानं तस्य यदसाधारणं कारणं तदनुपलब्धिरूपं प्रमाणं बोध्यमिति। अनुमानादिना जन्योऽत एवातीन्द्रियो योऽभावानुभवस्तस्य हेतुभूतेऽनुमानादावतिव्याप्तिवारणायाजन्यान्तम्। अदृष्टादौ साधारणकारणेतिव्याप्तिवारणायासाधारणेति। अभावस्मृत्यसाधारणहेतौ संस्कारेतिव्याप्तिवारणायानुभवेति विशेषणम्। एवं च घटादिज्ञानाभावो घटाद्यभावज्ञाने कारणमिति फलितोऽर्थः। तथा च घटाभाववति भूतले घटज्ञानाभावाद्घटाभावस्य ज्ञानं भवति। आत्मनि धर्माधर्माद्यनुपलब्धिसत्त्वेऽपि तदभावानिश्चयेन योग्यानुपलब्धेरेवाभावग्राहकत्वं बोध्यम्। अनुपलब्धेर्योग्यता च तर्कितप्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्वरूपा। अस्यार्थः-तर्कितं यत्प्रतियोगिसत्त्वं तेन प्रसञ्जित आपादितः प्रतियोगी यस्य तस्य भावस्तत्त्वमिति। तथा च स्फीतालोकवति भूतले यदि घटः स्यात्तदा घटोपलम्भः स्यादित्यापादनसंभवात्तादृशभूतले घटाभावोऽनुपलब्धिगम्यः। अन्धकारे तु तादृशापादनासंभावान्नानुपलब्धिगम्यता। अत एव स्तम्भे तादात्म्येन पिशाचसत्त्वे स्तम्भवत्प्रत्यक्षतापत्त्या तदभावोनुपलब्धिगम्यः स्तम्भः पिशाचो नेति। आत्मनि धर्माधर्मादिसत्त्वेऽपि तस्यातीन्द्रियतया निरुक्तोपलम्भापादनासंभवान्न धर्माद्य-भावस्यानुपलब्धिगम्यत्वम्। ननूक्तरीत्याधिकरण इन्द्रियसंनिकर्षस्थले अभावास्यानुपलब्धिगम्यत्वं तवानुमतम्। तत्र च क्लृप्तेन्द्रियमेवाभावाकारवृत्तावपि कारणम्।

इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुरोधादिति चेत् न। प्रतियोग्यनुपलब्धेरभावग्रहे हेतुत्वेन क्लृप्तत्वात्करणत्वमात्रस्य कल्पनात्। इन्द्रियस्य चाभावेन समं संनिकर्षाभावेनाभावज्ञाने हेतुत्वाभावात्। इन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोरधिकरणज्ञानार्थमुपक्षीणत्वेनान्यथासिद्धे: (वेदान्तपरि.) इति मायावादिनो वेदान्तिन:। अत्र नैयायिका: तर्कितप्रतियोगिसत्त्वविरोध्यनुपलब्धिसहकृतेनेन्द्रियेणैवाभावज्ञानोपपत्तावनुपलब्धे: प्रमाणन्तरत्वासंभव इत्याहु:।

(त.दी. 18)

अनुपलब्धिसम (जाति)

- तदनुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धौ तद्विपरीतोपपत्तेरनुपलब्धिसम:।

(गौ. 5/1/29)

- प्रतिकूलतर्कदेशनाभासोऽयमिति ज्ञेयम्।

(गौ.व. 5/1/29)

- अनुपलब्धेरप्यनुपलब्धिस्तस्या अप्यनुपलब्धिरित्येवंरूपेण प्रत्यवस्थानमनुपलब्धिसम:। नैयायिकैस्तावच्छब्दानित्यत्वमेव साध्यते। यदि शब्दो नित्य: स्यादुच्चारणात्प्राक् कुतो नोपलभ्यते। न हि घटाद्यावरणकुड्यादिवत् शब्दस्यावरणमस्ति तदनुपलब्धेरिति। तत्रैवं जातिवादी प्रत्यवतिष्ठते। यद्यावरणानुपलब्धेरावरणाभाव: सिध्यति तदा आवरणानुपलब्धेरप्यनुपलम्भादावरणानुपलब्धेरप्यभाव: सिध्येत्। तथा चावरणानुपलब्धिप्रमाणक आवरणाभावो न स्यात्, अपि त्वावरणोपपत्तिरेव स्यादिति शब्दनित्यत्वे नोक्तं बाधकं युक्तम्।

(गौ.वृ. 5/1/29)

अनुभव

- स्मृतिभिन्नं ज्ञानम्। (त.सं.) (त.भा. 2) (न्या.म. 1/12) (त. कौ. 6) यथा अयं घट:: इति चाक्षुषप्रत्यक्षमनुभव:।
- अनुभवामि इत्यनुगतप्रतीतिसिद्धानुभवत्वजातिमान्।

(न्या.म. 1/12)(त. कौ. 6)

अनुमान (प्रमाज्ञानविशेष:)

- यथा धूमेन प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षस्य वह्नेर्ग्रहणमनुमानम्।

(वात्स्या. 2/1/46)

- अत्र मितेन लिङ्गेनार्थस्य पश्चान्मानमनुमानमिति व्युत्पत्ति:।

(वात्स्या. 1/1/3)

अनुमानम् (प्रमाणम्)

- अनुमितिकरणम्।

(त.स.)

- अनुमितिकरणं द्विविधम्। तत्र प्रथमं व्याप्तिज्ञानम्। (गौ.वृ. 1/1/5)
- यथा पर्वतो वह्निमान् धूमादित्यादौ धूमो वह्निव्याप्य: इति व्याप्तिज्ञानमनुमितिकरणं भवति। (त.कौ. 10)

० अनुमानं च लिङ्गिलिङ्गिनोः संबन्धदर्शनम्।

(वात्स्या. 1/1/5)

अनुवाद (अर्थवादः)

० विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः।

(गौ. 2/1/64)

० प्राप्तस्यानु पश्चात्कथनं सप्रयोजनमनुवाद इति सामान्यलक्षणम्। (गौ.व. 2/1/65)

० विध्यनुवचनं चानुवादो विहितानुवचनं च। पूर्वः शब्दानुवादो परोऽर्थानुवादः। किमर्थं पुनर्विहितमनूद्यते। अधिकारार्थम्। विहितमधिकृत्य स्तुतिर्बोध्यते निन्दा वा विधिशेषो वाभिधीयते। विहितानन्तरार्थोऽपि चानुवादो भवति। लोकेऽपि चानुवादः। पचतु पचतु भवानित्यभ्यासः। क्षिप्रं पच्यतामिति वा। अङ्ग पच्यतामित्यध्येषणार्थम्।
- पच्यतामेवेति वावधारणार्थम्।

(वात्स्या. 2/1/65)

० प्रमाणान्तरेणावधृतस्यार्थस्य प्रतिपादकः। यथा अग्निर्हिमस्य भेषजमित्यादिः।

(सि.च. 33) (म.प्र. 64)

भेषजं विरोधीत्यर्थः।

० ज्ञातस्य कथनमनुवादः।

(जै.न्या.अ. 1 पा. 4 अधि. 6)

अनुवृत्ति

० दवीयःस्थानान्तरस्थितस्य (पदस्य) सर्वत्रानुसंधानम्।

(दि. 4/188)

० तच्च व्याकरणादौ पूर्वसूत्रस्थपदस्योत्तरसूत्रे आकाङ्क्षापूरणार्थमनुसंधानम्। यथा इको यणचि इत्यतः अचीति सप्तम्यन्तपदस्य आद्गुणः इत्यादावनुवृत्तिः।

(दि. 4/188)

अनैकान्तिक

० अत्र व्युत्पत्तिः। एकस्य साध्यस्य तद्भावस्य वा योऽन्तः सहचारः अव्यभिचरितसहचार एकान्तः। तद्वानैकान्तिकः।

(गौ.वृ. 1/2/46)

० अनैकान्तिकः सव्यभिचारशब्देन व्यवह्रियते। वैशेषिकमते तु संदिग्ध इत्युच्यते च इति बोध्यम्।

(मु.)

अन्त

० यथा ते विभक्त्यन्ताः पदम् इत्यत्र।

(गौ.सू. 2/2/60)

० ध्वंसः। यथा सादिरनन्तः प्रध्वंसः इत्यादावन्तः।

(त.सहं.)

अन्तःकरणम्

० मनोवदस्यार्थोनुसंधेयः।

(प.मा.)

० ज्ञानसुखादिसाधनमाभ्यन्तरं मनोबुद्ध्यहंकारचित्तादिपदाभिलप्यमानमिन्द्रियमिति मायावादिन आहुः। तन्मते अन्तःकरणं चतुर्विधम्। तदुक्तम्-

मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमान्तरम्। संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे इत्युक्त-कार्यभेदात्।

(वाच.)

अन्यत्व

० (1) भेदः। यथा-उत्थितं सदृशेन्यच्च कबन्धेभ्यो न किंचनेत्यादौ। यथा वा घटः पटादन्य इत्यादौ। एवमितरत्वं भिन्नत्वमित्यादि बोध्यम्।

2. सादृश्यम्। यथा-नान्वये सति सर्वस्वं यच्चान्यस्मै प्रतिश्रुतम् इत्यादौ।

(वाच.)

अन्यथानुपपत्ति

० स्वाभावप्रयोज्यासम्भवः। देवदत्तो दिवा न भुङ्क्त इत्यादौ रात्रिभोजनानङ्गीकारे रात्रिभोजनाभाव-प्रयोज्यपीनत्वासंभवात्मिका पीनत्वान्यथा-नुपपत्तिः। अत्र दिवा अभोक्तुर्देवदत्तस्य पीनत्वं रात्रिभोजनं विनानुपपन्नम् (असंभवि) इति ज्ञानाद्दिवा भोजनाकर्तृवृत्तिपीनत्वेन रात्रिभोजनं कल्प्यते। तथा च भोजनस्य (साध्यस्य) पीनत्वव्यापकतया व्यापकाभावस्य च व्याप्याभाव-व्याप्यतया साध्याभाव (रात्रि-भोजनाभाव) व्यापकीभूताभाव-(दिवा भोजनाकर्तृवृत्तिपीनत्वाभाव-)-प्रतियोगित्व-रूपव्यतिरेकव्याप्तिज्ञानात् देवदत्तो रात्रिभोजी इत्युनमितिरूपार्थापत्तिरुदेति।

(वाच.)

० इदं चार्थापत्तिप्रमाणामनुमाने एव अन्तर्भवतीति विज्ञेयम्।

अन्योन्याभाव

० नित्यत्वे सति अत्यन्ताभावभिन्नत्वे सति अभावः (ग.सि.)

० अत्यन्ताभावव्यतिरिक्तत्वे सत्यनवधिरभावः।

(सर्व.औलु., पृ. २३२)

० तादात्म्यसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकः अभावः।

(त.सं.)

० इदमिदं न भवति इदमेतद्भिन्नम् इति प्रतीति-साक्षिकः अभावः।

(न्या.म.1/11)

अन्वय

० कारणाधिकरणे कार्यस्य सत्त्वम्। यथा यत्सत्त्वे (कारणसत्त्वे) यत्सत्त्वं (कार्यसत्त्वम्)-इत्यन्वयः।

(राम. 52)

० कार्यकारणयोः साध्यसाधनयोर्वा साहचर्यम्।

(सि.च. 2/26)

अन्वयदृष्टान्तः

० निश्चितसाध्यवान्।

(वाक्य. 2)

० पक्षे हेतुप्रत्यक्षान्तरं यदन्तर्भावेण साध्यनिरूपित-व्याप्तिः स्मर्यते सः। यथा पर्वते धूमेन वह्निसाधने महानसोऽन्वयदृष्टान्तः।

(वाक्य 2)

अन्वयव्यतिरेकी (अवयव)

० प्रतीतान्वयव्यतिरेकव्याप्तिकहेतुबोधको हेत्व-वयवः।

(गौ. वृ. 1/1/34)

अन्वयव्यतिरेकि (लिङ्ग)

० गृहीतान्वयव्यतिरेकिसाध्यकम्।

(दीधि. 2/156)

० अन्वयव्यतिरेकि तु पञ्चरूपोपपन्नं भवति। पञ्च रूपाणि च पक्षधर्मत्वम्, सपक्षे सत्त्वम् विपक्षाद्-व्यावृत्तिः अबाधितविषयत्वम् असत्यप्रतिपक्षत्वं चेति।

(सि.च. 2/26 त.कौ. 2/12)

० सत्सपक्षविपक्षो हेतुः। यथा वह्निमान् धूमा-दित्यादौ।

(मु. 219)

अत्र सपक्षस्य महानसादेः विपक्षस्य जलह्रदादेश्च सत्त्वात् इति।

(मु. 219)

० अन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिमत्।

(त.सं.)

० अन्वयसहचारग्रहग्राह्यव्याप्तिमत्त्वे सति व्यतिरेक-सहचारग्रहग्राह्यव्याप्तिमदित्यर्थः।

(नील. 2/23)

० यत्रान्वयव्याप्तिर्व्यतिरेकव्याप्तिश्च विद्यते तत्। यथा वह्निमान्धूमादित्यादौ निरुक्तपञ्चरूपोपपन्नो धूमः।

(प्र.प्र., त.कौ. 12)

० अत्र पर्वतः पक्षः। तस्य वह्निमत्त्वं साध्यम्। धूमात् इति हेतुः। तस्मिन् हेतौ यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निर्यथा महानसादौ इत्यन्वयव्याप्तिः। यत्र यत्र वह्नयभावस्तत्र तत्र धूमाभावः यथा जल-ह्रदादौ इति व्यतिरेकव्याप्तिश्चास्तीति ज्ञेयम्।

(त.कौ. 12)

अन्वयव्याप्ति

० हेतुसाध्ययोर्व्याप्तिः।

(त.दी. 2/23)

० यथा यत्र धूमस्तत्राग्निः इति साहचर्यनियमः।

(त.सं.)

अपकर्षसम (जाति)

० साध्ये धर्माभावं दृष्टान्तात्प्रसञ्जयतोऽपकर्षसमः। लोष्टः खलु क्रियावानविभुर्दृष्टः काममात्मापि क्रियावानविभुरस्तु। विपर्यये वा विशेषो वक्तव्य इति।

(वात्स्या. 5/1/4)

अपसिद्धान्त (निग्रहस्थान)

० सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात्कथाप्रसङ्गः।

(गौ. 5/2/24)

० कस्यचिदर्थस्य तथाभावं प्रतिज्ञाय प्रतिज्ञातार्थविपर्ययादनियमात्कथां प्रसञ्जयतोऽपसिद्धान्तो वेदितव्यः। यथा न सदात्मानं जहाति न सतो विनाशो नासदात्मानं लभते नासदुत्पद्यत इति सिद्धान्तमभ्युपेत्य स्वपक्षं व्यवस्थापयति-एकप्रकृतीदं व्यक्तम्। विकाराणामन्वयदर्शनात्। मृदन्वितानां शरावादीनां दृष्टमेकप्रकृतित्वम्। तथा चायं व्यक्तभेदः सुखदुःखमोहान्वितो दृश्यते। तस्मात्समन्वयदर्शनात्सुखादिभिरेकप्रकृतीदं शरीरमिति। एवमुक्तवाननुयुज्यते। अथ प्रकृतिर्विकार इति कथं लक्षितव्यमिति। यस्यावस्थितस्य धर्मान्तरनिवृत्तौ धर्मान्तरं प्रवर्तते सा प्रकृतिः। यच्च धर्मान्तरं प्रवर्तते स विकार इति। सोयं प्रतिज्ञातार्थविपर्यासादनियमात्कथां प्रसञ्जयति। प्रतिज्ञातं खल्वनेन नासदाविर्भवति न सत्तिरोभवतीति। सदसतोश्च तिरोभावाविर्भावमन्तरेण न कस्यचित्प्रवृत्तिः प्रवृत्त्युपरमश्च भवति। मृदि खल्ववस्थितायां भविष्यति शरावादिलक्षणं धर्मान्तरमिति प्रवृत्तिर्भवति। अभूदिति च प्रवृत्त्युपरमः। तदेतन्मृद्धर्माणामपि न स्यात्। एवं प्रत्यवस्थितो यदि सतश्चात्महानम् असतश्चात्मलाभमभ्युपैति तदस्यापसिद्धान्तो निग्रहस्थानं भवति। अथ नाभ्युपैति पक्षोऽस्य न सिध्यति।

(वात्स्या. 5/2/24)

अपार्थक (निग्रहस्थानम्)

० पौर्वापर्यायोगादप्रतिसंबद्धार्थम्।

(गौ. 5/2/10)

० यत्रानेकस्य पदस्य वाक्यस्य वा पौर्वापर्येणान्वययोगो नास्तीत्यसंबन्धार्थत्वं गृह्यते तत्समुदायोऽर्थस्यापायादपार्थकम्। यथा दश दाडिमानि षडपूपाः कुण्डमजाजिनं पललपिण्डः अधरोरुकमेतत्कुमार्याः स्फैय्यकृतस्य पिता प्रतिशीन इति।

(वात्स्या. 5/2/10)

अपोह

० अतद्व्यावृत्तिः। यथा विज्ञानवादिबौद्धमते नीलत्वादिर्धर्मः अनीलव्यावृत्तिरूपः।

(दि. 1)

तन्मतेऽयं धर्मोऽपारमार्थिक एवेति सर्वस्यापि विज्ञानरूपत्वं क्षणिकत्वं चेति च ज्ञेयम्।

अप्रतिभा (निग्रहस्थानम्)

० उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा।

(गौ. 5/2/19)

० परपक्षप्रतिषेध उत्तरम्। तद्यदा न प्रतिपद्यते तदा निगृहीतो भवति।

(वात्स्या. 5/2/19)

० उत्तरार्हं परोक्तं बुद्ध्वाऽपि यत्रोत्तरसमये उत्तरं न प्रतिपद्यते, तत्राप्रतिभा।

(गौ.वृ. 5/2/19) (दि. 1)

अप्राप्तकाल (निग्रहस्थानम्)

० अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम्।

(गौ. 5/2/11)

० प्रतिज्ञादीनामवयवानां यथालक्षणमर्थ-वशात्क्रमः। तत्रावयवविपर्यासेन वचनमप्राप्त-कालमसंबद्धार्थकालं निग्रहस्थानमिति।

(वात्स्या. 5/2/11)

अभाव

० असमवायत्वे सत्यसमवायः।

(सर्व. पृ. 232 औलु.)

समवायभिन्नत्वे सति समवायशून्य इत्यर्थः।

अयुतसिद्ध

० ययोर्द्वयोर्मध्य एकमविनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ। नाशपूर्वक्षण-पर्यन्तमित्यर्थः। अत्रेदं बोध्यम्-न घटाद्यवयवी कपालाद्य-वयवासंबद्धः सन् तिष्ठति।

(वै.वि. 7/2/13)

० अवयव्यादयो हि अविनश्यन्तोऽवयवाद्याश्रिता एवावतिष्ठन्ते। अवयवादिनाशानन्तरं विनश्यन्तस्तु क्षणमात्रं निराश्रिता एवावतिष्ठन्त इति।

(त.कौ. 20)

अर्थ

० अर्थ इति द्रव्यगुणकर्मसु।

(वै. 8/2/3)

० एतेषां द्रव्यगुणकर्मणामर्थ्यमानत्वं तेन तेन विधिनोक्तम्। तेन तेषु त्रिषु वैशेषिकाणामर्थ इति परिभाषा। अर्थपदेन त्रयाणामुपस्थितेः। तदुक्तं प्रशस्तदेवाचार्यैः -त्रयाणामर्थशब्दाभिधेयत्वं च इति (वै.उ. 8/2/3)।

अर्थापत्ति (अनुमान)

० वाक्यार्थसंप्रत्ययेनानभिहितस्यार्थस्य प्रत्यनीक-भावाद्ग्रहणमर्थापत्तिः।

(वात्स्या. 2/2/2)

० अनुपपद्यमानेनार्थेनोपपादककल्पनम्। यथा वृष्ट्या मेघज्ञानम्।

(गौ.वृ. 2/2/1)

० यत्राभिधीयमानेऽर्थे योऽन्योर्थः प्रसज्यते, सोऽर्थापत्तिः। यथा मेघेषु असत्सु वृष्टिर्न भवति इति। किमत्र प्रसज्यतेसत्सु भवतीति (वात्स्या. 2/2/1)

अवधान

० चित्तस्य विलक्षणः सम्बन्धविशेषः। तद् द्विविधम् -अनुप्रेक्षणीयत्वं विषयान्तर-संचारराहित्यं च (त.प्र. 2)।

यथा शिष्यावधानाय चिकीर्षितं प्रतिजानीते इत्यादौ (म.प्र./प. 3)

अवर्ण्यसम (जाति)

० स्थापनीयो वर्ण्यः। विपर्ययादवर्ण्यः। तावेतौ

साध्यदृष्टान्तधर्मौ विपर्यस्यतो वर्ण्यावर्ण्यसमौ भवतः।

(वात्स्या. 5/1/4)

अविज्ञातार्थ (निग्रहस्थान)

० परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थम्।

(गौ. 5/2/9)

० यद्वाक्यं त्रिरभिहितमपि परिषदा प्रतिवादिना च न विज्ञायते शिष्टशब्दमप्रतीतप्रयोगमतिद्रुतोच्चारितमित्येवमादिना कारणेन तदविज्ञातमविज्ञातार्थमसामर्थ्यसंवरणाय प्रयुक्तमिति निग्रहस्थानमिति।

(वात्स्या. 5/2/9)

अविनाभाव

० व्याप्तिः। यथा कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्। अविनाभावनियमोऽदर्शनान्न न दर्शनात्।

(सर्व. बौद्ध. पृ. 16)

० अविनाभावशब्दार्थो व्याप्तिः।

अवशेषसम (जाति)

० एकधर्मोपपत्तेरविशेषे सर्वाविशेषप्रसङ्गात्सद्भावोपपत्तेरविशेषसमः।

(गौ. 5/1/23)

० एको धर्मः प्रयत्नानन्तरीयकत्वं शब्दघटयोरुपपद्यत इत्यविशेष उभयोरनित्यत्वे सर्वस्याविशेषः प्रसज्यते। कथम्। सद्भावोपपत्तेः। एको धर्मः सद्भावः सर्वस्योपपद्यते। सद्भावोपपत्तेः सर्वाविशेषप्रसङ्गात्प्रत्यवस्थानमविशेषसमः।

(वात्स्या. 5/1/23)

अव्याप्ति (लक्षणदोष)

० लक्ष्यतावच्छेदकसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्।

(न्या.बो. 1 पृ. 3)

अत्र गोः कपिलत्वं लक्षणमित्युक्तौ गौर्लक्ष्या भवति। लक्ष्यतावच्छेदकं गोत्वम्। तस्य समानाधिकरणः गोत्वस्याधिकरणे शुक्लगवि वर्तमानः कपिलत्वस्यात्यन्ताभावः। तस्य प्रतियोगि कपिलत्वं भवति। तथा च प्रतियोगित्वं कपिलत्वे वर्तत इति द्रष्टव्यम्।

० लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वम्। यथा गोः कपिलत्वस्य लक्षणत्वाङ्गीकारे शुक्लगवि कपिलत्वस्याभावेन अव्याप्तिः।

(त.दी. 1 पृ. 4)

० लक्ष्यैकदेशे लक्षणस्यावर्तनम्। यथा शिखासूत्रवान् ब्राह्मणः इत्यस्य लक्षणस्य संन्यासिन्यव्याप्तिः। संन्यासिनः शिखासूत्रवत्त्वाभावादिति भावः।

(त.कौ., पृ 21)

असिद्ध (हेत्वाभास)

० यत्र व्याप्तिः पक्षधर्मत्वं वा नास्ति सः असिद्धः।

(वै.वि. 3/1/15)

० व्याप्तिपक्षधर्मतान्यरहितो हेतुः।

(प्र.प्र.)

यथा घटो द्रव्यं श्रावणत्वादित्यादौ श्रावणत्वादिर्हेतुरसिद्धः। असिद्धस्त्रिविधः। आश्रयासिद्धः स्वरूपासिद्धः व्याप्यत्वासिद्धश्चेति।

(त.कौ. 2पृ. 14) (प्र.प्र.) (भा.प.श्लो. 76)

अस्तित्व

० कालसंबन्धित्वम्।

(दि. 1) (प.मा.)

यथा-घटोऽस्तीस्यादौ घटादेरस्तित्वम्।

अहेतुसम (जाति)

० त्रैकाल्यासिद्धेर्हेतोरहेतुसमः।

(गौ. 5/1/18)

० हेतुः साधनम्। तत् साध्यात्पूर्वम् पश्चात् सह वा भवेत्। यदि पूर्वं साधनम् असति साध्ये कस्य साधनम्। अथ पश्चात् असति साधने कस्येदं साध्यम् अथ युगपत्साध्यसाधने द्वयोर्विद्यमानयोः किं कस्य साधनं किं कस्य साध्यमिति हेतुना न विशिष्यते। अहेतुना साधर्म्यात्प्रत्यवस्थानम-हेतुसमः।

(वात्स्या. 5/1/18)

आकार

० (विषयता) निरूप्यनिरूपकभावापन्नतत्त-द्विषयता। वा यथा अयं घटः इत्याकारकं ज्ञानमित्यादौ तादृशविषयता।

(वाक्यार्थ. 2 पृ. 20)

० सांख्यास्तु अभेदस्थानीयः पदार्थविशेषः विषयितावाशेषो वा। यथा यत्संबद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत्प्रत्यक्षमित्यादौ इत्याहुः।

(सां.सू.)

० अतथाभूतस्य तथाभूतेन सामान्यम्। तद्यथा स्थाण्वाकारः पुमान् इत्यत्र पुरुषस्य स्थाणोराकारः पुरुषेण यत् सामान्यम् सः।

(न्या.वा. 1/1/13-14 पृ. 76)

आगम

० वेदशास्त्रमन्त्रादिः। यथा आगमः खल्वपि ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेत्यादौ।

(म.भा. 1/1/1)

० आगमः शास्त्रमाप्तानामाप्तास्तत्त्वार्थवेदिनः।।

आज्ञा

० यस्या इच्छाया भङ्गे भयं सा। यथा गच्छतु भवान्देशान्तरमिति राजाज्ञा।

(कु. 5)

आत्माश्रय (तर्क)

० स्वस्य स्वापेक्षापादकः प्रसङ्गः। (जग. तर्क.)

यथा कार्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणत्वं साधारणकारणत्वमित्यादौ। अत्र एकं कार्यत्वमवच्छेदकम्। अपरं त्ववच्छेद्यम्। तथा चावच्छेदकज्ञानं विना अवच्छेद्यज्ञानं न भवति। अवच्छेद्यज्ञानं विनाप्यवच्छेदकज्ञानं च न भवति। परस्परसापेक्षत्वादित्यात्माश्रय इति बोध्यम्।

आप्त

० आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा। ऋष्या-र्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम्। तथा च सर्वेषां व्यवहाराः प्रवर्तन्ते। साक्षात्करणमाप्तिस्तया प्रवर्तत इत्याप्त इत्यर्थः।

(वात्स्या. 1/1/7)

आप्तोपदेश

० यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्तः शब्दः। प्रकृतवाक्यार्थयथार्थज्ञानप्रयुक्तः शब्दः। अथवा आप्तो यथार्थ उपदेशः शाब्द-बोधो यस्मात्। (गौ.वृ. 1/1/7)

यथा ब्रह्मसूत्रन्यायसूत्रादिराप्तोपदेशः।

आलोचनम्

० विशेषधर्मादिना विवेचनम्। चाक्षुषज्ञानं वा। सांख्यास्तु सामान्यविशेषशून्यतयेन्द्रियजन्यो निर्विकल्पकस्थानीयोऽन्तःकरणवृत्तिविशेष इत्याहुः।

(वाच.)

इन्द्रिय

० स्वविषयग्रहणलक्षणानीन्द्रियाणि।

(वात्स्या. 1/1/12)

० शरीरसंयुक्तं ज्ञानकरणमतीन्द्रियम्।

(त.कौ.पृ. 3)

इन्द्रियार्थसंनिकर्ष

० प्रत्यक्षात्मकज्ञानहेतुरिन्द्रियस्य विषयेण संबन्धः।

(राम. 1 पृ. 128)

० अत्रेदमवधेयम्। यदा इदं किंचिदिति निर्विकल्पकं ज्ञानं जायते, तदा तस्य ज्ञानस्येन्द्रियं करणम्। इन्द्रियार्थसंनिकर्षोऽवान्तरव्यापारः। निर्विकल्पकज्ञानं फलम्। यदा निर्विकल्पकज्ञानानन्तरं सविकल्पकं ज्ञानमुत्पद्यते तदेन्द्रियार्थसंनिकर्षः करणम्। निर्विकल्पकज्ञानमवान्तरव्यापारः। सविकल्पकज्ञानं फलम् इति।

(त.भा. पृ. 6)

० स चेन्द्रियार्थसंनिकर्षो द्विविधः। लौकिकः अलौकिकश्च। तत्र लौकिको लौकिकप्रत्यक्षे कारणम् स च षडिन्द्रियसहकारी इति।

(प्र.प्र.पृ. 3, न्या.य. 1, पृ. 7) (त.कौ. पृ. 8)

० अलौकिकः संनिकर्षश्च त्रिविधः। सामान्यलक्षणः ज्ञानलक्षणः, योगजधर्मश्चेति (भा.प. 1, श्लो. 63-65)। (मु. 1, पृ. 119-122)। एष च अलौकिकप्रत्यक्षे कारणम्।

० अलौकिकसंनिकर्षत्रयं तु षडिन्द्रियसहकारीति संप्रदायविदः। मनस एव सहकारीति शूलपाणिमिश्राः (त.कौ.)।

तत्र लौकिकः षड्विधः संयोगः संयुक्त-समवायः संयुक्त-समवेतसमवायः समवायः समवेतसमवायः विशेषणविशेष्यभावश्चेति।

(त.कौ. 1 पृ. 9)

० अत्रायं नियमः। येनेन्द्रियेण यद्गृह्यते तेनेन्द्रियेण तद्गतं सामान्यम् तत्समवायः तदभावश्च गृह्यते इत्यनुसंधेयः।

(त.कौ. 1, पृ. 10)

० द्रव्यसमवेतसमवेतस्य चाक्षुषरासनघ्राणजस्पार्शनमानसेष्विन्द्रियसंयुक्तसमवेतसमवाय एव संनिकर्षः। चक्षुरादिसंयुक्ते घटे समवेतं रूपादि। तत्र रूपत्वादेः समवायादिति भावः।

(सि.च. 1 पृ. 22)

उत्कर्ष

० अविद्यमानधर्मारोपः। यथा उत्कर्षसमो जातिरित्यादावुत्कर्षः

(गौ.वृ. 5/1/4)

० गुणनिष्ठजातिविशेषः। स च रूपत्वादिव्याप्यो रूपादिनिष्ठः। एतन्मूलिकैव अयमस्मादुत्कृष्ट इति प्रतीतिः।

उत्कर्षसम (जाति)

० दृष्टान्तधर्मं साध्येन समासजन्नुत्कर्षसमः। यदि क्रियाहेतुगुणयोगाल्लोष्टवत्क्रियावानात्मा लोष्टवदेव स्पर्शवानपि प्राप्नोति। अथ न स्पर्शवान् लोष्टवत्क्रियावानपि न प्राप्नोति। विपर्यये वा विशेषो वक्तव्य इति।

(वात्स्या. 5/1/4)

उदाहरण (न्यायावयव)

० साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्।

(गौ. 1/1/36)

० दृष्टान्तो दृष्टान्तवचनम्। दृष्टान्तकथनयोग्यावयवः इत्यर्थः।

(गौ.वृ. 1/1/36)

० हेतावुक्ते कथमस्य गमकत्वम् इत्याकाङ्क्षायां व्याप्तिपक्षधर्मतयोः प्रदर्शनप्राप्तौ व्याप्तेः प्राथम्यात् तत्प्रदर्शनायोदाहरणम्।

(चि. 2 पृ. 80)

० व्याप्तिज्ञानमुदाहरणस्य प्रयोजनम्।

(त.दी. 2 पृ. 22)

० व्याप्तिप्रतिपादकं दृष्टान्तवचनम्।

(त.दी. 2, पृ. 22)

तदर्थश्च प्रकृतहेतुमति प्रकृतहेतुव्यापकत्वविशिष्टसाध्यबोधकवाक्यम्। उदाहरण-घटकसाध्यपदान्निरूढलक्षणया हेतुव्यापकत्वविशिष्टस्य साध्यस्य बोधनात् उदाहरणस्य व्याप्तिप्रतिपत्तिपरत्वमक्षतमिति बोध्यम्।

(नील. 2 पृ. 11)

उद्देश

० नामधेयेन पदार्थमात्रस्याभिधानम्।

(वात्स्या. 1/1/2)

० वस्तुप्रतिपादकनाममात्रम्।

(नील. 1 पृ. 7)

० लक्ष्यतावच्छेदकमात्रेण लक्ष्यसंकीर्तनम्।

(त. कौ. पृ. 21)

यथा द्रव्यं गुणः कर्मेत्यादिकथनम्।

उपचार

० सहचरणादिनिमित्तेनातद्भावे तद्वदभिधानम्।

(वात्स्या. 1/2)

उपचारच्छल (छल)

० धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम्।

(गौ. 1/2/14)

० अभिधानस्य धर्मो यथार्थप्रयोगः। धर्मविकल्पोऽन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र प्रयोगः। तस्य निर्देशे धर्मविकल्पनिर्देशे। यथा मञ्चाः क्रोशन्तीति। अर्थसद्भावेन प्रतिषेधः मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति न तु मञ्चाः क्रोशन्ति।

(वात्स्या. 1/2/14)

उपनयः (न्यायावयव)

० उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः।

(गौ. 1/1/38)

० साध्यस्य पक्षस्योदाहरणापेक्ष उदाहरणानुसारी य उपसंहार उपन्यासः स इत्यर्थः।

(गौ.वृ. 1/1/38)

० उदाहरणानन्तरं भवतु व्याप्तिस्तथापि व्याप्तं किं पक्षे वर्तते न वा इत्याकाङ्क्षायां व्याप्तस्य पक्षधर्मत्वप्रदर्शनायोपनयः। पक्षधर्मताज्ञानमुपनयस्य प्रयोजनम्।

(त.दी. 2 पृ. 22)

उपपत्तिसम (जाति)

० उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसमः।

(गौ 1/1/38)

० यद्यनित्यत्वकारणमुपपद्यते शब्दस्येत्यनित्यः शब्दः तदा नित्यत्वकारणमप्युपपद्यतेऽस्यास्पर्शत्वमिति नित्यत्वमप्युपपद्यते। उभयस्यानित्यत्वस्य नित्यत्वस्य च कारणोपपत्त्या प्रत्यवस्थानमुपपत्तिसमः।

(वात्स्या. 5/1/25)

उपमान (प्रमाण)

० प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्। तदर्थश्च प्रसिद्धस्य पूर्वप्रमितस्य गवादेः साधर्म्यात्सादृश्यात् तज्ज्ञानात् साध्यस्य गवयादिपदवाच्यत्वस्य साधनं सिद्धिरुपमानमुपमितिः। यत इत्यध्याहारेण च करणलक्षणम्। अथवा साध्यसाधनमिति करणल्युट्या करणलक्षणमेवेदम्।

(गौ.वृ. 1/1/6)

उपयोग

० इष्टसाधनत्वम्। यथा यागः स्वर्गोपयोगी इत्यादौ यागस्य स्वर्गात्मकेष्टसाधनत्वमं।

० सहजचिद्रूपपरिणतिं स्वीकुर्वाणे ज्ञानदर्शने उपयोगः।

(सर्व. सं. पृ. 67 आर्ह.)

उपलब्धिसम (जाति)

० निर्दिष्टकारणाभावेऽप्युपलम्भादुपलब्धिसमः।

(गौ. 5/1/27)

० प्रतिकूलतर्कदेशनाभासः बाधदेशनाभासश्चायम्।

(गौ.वृ. 5/1/27)

० निर्दिष्टप्रयत्नानन्तरीयकत्वस्यानित्यत्वकारणस्याभावेऽपि वायुनोदनाद्वृक्षशाखाभङ्गजस्य शब्दस्यानित्यत्वमुपलभ्यते। निर्दिष्टस्य साधनस्याभावेपि साध्यधर्मोपलब्ध्या प्रत्यवस्थानमुपलब्धिसमः।

(वात्स्या. 5/1/27)

उपादान

० समवायिकारणम्। यथा उपादानस्य चाध्यक्षं प्रवृत्तौ जनकं भवेत् (भा.प.श्लो. 153) इत्यादौ इति प्राचीननैयायिकाः।

० अधिष्ठानमात्रम्। यथा यागादेर्हविःशब्दस्य मृदङ्गादिः प्राणसंचारादेश्च प्राणवहनाड्यादिरुपादानमिति नवीननैयायिकाः।

(दि. पृ. 231)

उपाधि

० निमित्तम्। तदर्थश्च प्रयोजकम्।

(त.भा.)

० कारणम्। यथा वायोः प्राणापानादिसंज्ञायां हृदादिस्थानं मुखनिर्गमादिक्रिया चोपाधिः।

(मु. 1 पृ. 85)

० धर्ममात्रम्। स च धर्मः क्वचिज्जात्यादिः। क्वचित्तद्भिन्नोऽपि भवति। यथा पदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वमित्यादौ। पदार्थविभाजकोपाधयस्तावत् द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वसामान्यत्वविशेषत्वसमवायत्व-अभावत्वरूपाः सन्ति। तत्र द्रव्यत्वादयो जातिरूपाः। सामान्यत्वादयस्तु तद्भिन्नाः। जातिभिन्नो धर्मोऽपि द्विविधः सखण्डोपाधिः अखण्डोपाधिश्चेति। तत्राद्यः आकाशत्वादिः।

(सि.च. पृ. 3)

द्वितीयः प्रमेयत्वकुण्डलित्वप्रतियोगित्वादिः।

(त.कौ. पृ. 20)

ऊह

० तर्कः। स च परीक्षणम्। यथा ऊहः (जै.सू. 1/2/52) इत्यादौ।

० अनुमानम् न पिता वर्धते न माता इत्युक्ते अन्ये वर्धन्त इति गम्यते।

(शाबरभा. 1/2/52)

० अध्याहारः।

एकत्व (संख्या)

० एकम् इति प्रतीतिविषयो गुणविशेषः यथा गगनमेकम् काल एक इत्यादावेकत्वम्। रूप-रसगन्धस्पर्शव्यतिरेकादर्थान्तरमेकत्वम्।

(वै.वि. 7/2/1)

इत्येवमेकत्वस्य सूत्रकृता अर्थान्तरत्वमुक्तम्।

० धीविशेषविषयत्वम्। यथा एकः समवायः एकः अभाव इत्यादौ समवायादीनामेकत्वम्।

(वै.वि. 7/2/1)

एकान्त

० अव्यभिचारः। यथा अनैकान्तिक इत्यादावेकान्तः।

० नियमः। यथा न तावदयमेकान्तेनाविषयः (शारी. भा.) इत्यादौ।

ऐतिह्यम्

० इति होचुः इत्यनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारम्पर्यम्।

(वात्स्या. 2/2/1)

० अनिर्दिष्टप्रवक्तृकं परम्परागतं वाक्यम्। यथा वटे वटे यक्षः इत्यादि। तद्धि इति होचुरित्यनेन प्रकारेण उच्यते।

(गौ.वृ. 2/2/1)

० अज्ञातमूलवक्तृकः शब्दः। विशिष्यानिश्चित-प्रथमवक्तृकः शब्द इत्यर्थः।

(नील. पृ. 34)

करण

० स्वनिष्ठव्यापाराव्यवधानेन फलनिष्पादकम्। इदमेव साधकतमम्।

(ल.मञ्जु. पृ. 32)

० साधकतमं करणम् अस्यार्थः।

(पाणि. 1/4/42)

० क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं करणसंज्ञं स्यात्। यद्व्यापाराव्यवधानेन क्रियानिष्पत्तिस्तत्प्रकृष्टं बोध्यम्। यथा रामेण बाणेन हतो बाली। अत्र हि बाणनिष्ठव्यापाराव्यवधानेन प्राणवियोग-रूपक्रियानिष्पत्तेः तस्य करणसंज्ञा। तदुक्तं हरिणा क्रियायाः परिनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम्। विवक्ष्यते यदा यत्र करणं तत्तदा स्मृतम्। इति। क्रियाया इत्यस्य फलात्मिकाया इत्यर्थः।

कर्म (पदार्थः)

० एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्ष-कारणमिति कर्मलक्षणम्। (वै. 1/1/7)

० अत्र एकद्रव्यत्वं चे एकमात्रमूर्तसमवायि-कारणकत्वम्।

(वै.उ. 2/1/21)

० मूर्तमात्रसमवेतत्वं वा।

(वै.वि. 2/1/21)

० संयोगविभागयोः प्रत्येकमेव कारणत्वम् न मिलितयोः।

(वै.व. 2/1/21)

कल्पन

० अनुमानवदस्यार्थोनुसंधेयः।

(दि. 1, नील.)

० अर्थापत्तिरिति मीमांसका वेदान्तिनश्चाहुः। आरोप इति मायावादिनः। रचना विधानं चेति काव्यज्ञा आहुः।

(वाच.)

कारण

० कारणं हि तद्भवति यस्मिन् सति यद्भवति यस्मिंश्चासति यन्न भवति।

(न्या.वा. 1, पृ. 24)

० न्यायमते कारणत्वं द्विविधम्। फलोपहितत्वं स्वरूपयोग्यत्वं चेति। तत्राद्यं यथा अनुमितिं प्रति परामर्शस्य कारणत्वम्। फलोपहितत्वं च उपधायकत्वशब्देनापि व्यवह्रियते। द्वितीयं यथा अरण्यस्थदण्डादिसाधारणम् जनकतावच्छेदक-लक्षणं दण्डत्वादिस्वरूपं घटकारणत्वम्।

यस्य कार्यात्पूर्वभावो नियतोऽनन्यथासिद्धश्च तत्।

(त.भा. पृ. 2)

० अनन्यथासिद्धकार्यनियतपूर्ववृत्ति। यथा तन्तुवे-मादिकं पटस्य कारणम्।

(त. भा. पृ. 2, त.सं.)

कार्यम्

० प्रागभावप्रतियोगि (त. सं.)। यथा घटपटादि सर्वम् प्रागभावभिन्नम् अनित्यजातं कार्यं भवति। अत्रायमाशयः। घटोत्पत्तेः पूर्वमिह घटो भविष्यति इति या प्रतीतिर्जायते तत्प्रतीतिविषयीभूतो यः अभावः स एव घटप्रागभावः तत्प्रतियोगि घटादिरूपं कार्यम् इति।

(न्या. बो. 1 पृ. 8)

कार्यसम (जाति)

० प्रयत्नकार्यानेकत्वात्कार्यसमः।

(गौ. 5/1/37)

० प्रयत्नानन्तरीयकत्वादनित्यः शब्द इति। यस्य प्रयत्नानन्तरमात्मलाभः खल्वभूत्वा भवति। यथा घटादिकार्यमनित्यमिति च भूत्वा न भवतीत्ये-तद्विज्ञायते। एवमवस्थिते प्रयत्नकार्यानेकत्वादिति प्रतिषेध उच्यते। प्रयत्नानन्तरमात्मलाभश्च दृष्टो घटादीनाम् व्यवधानापोहाभिव्यक्तिर्व्यवहितानाम्। तत्किं प्रयत्नानन्तरमात्मलाभः शब्दस्याहो अभि-व्यक्तिरिति विशेषो नास्ति। कार्याविशेषेण प्रत्यवस्थानं कार्यसमः।

(वात्स्या. 5/1/37)

कालात्ययापदिष्ट (हेत्वाभास)

० कालस्य साधनकालस्यात्यये अभावेऽपदिष्टः प्रयुक्तो हेतुः। एतेन साध्याभावप्रमा लक्षणार्थ इति सूचितम्। साध्याभावनिर्णये साधनासंभवात्। अयमेव बाधितसाध्यक इति गीयते। यथा वह्निरनुष्णः, कृतकत्वादित्यादौ।

(गौ.वृ. 1/2/9)

० कालात्ययापदिष्टः कालातीतः।

(गौ. 1/2/9)

० कालात्ययेन प्रयुक्तो यस्यार्थस्यैकदेशोपदिश्यमानस्य स कालात्ययापदिष्टः कालातीत इत्युच्यते। निदर्शनम् नित्यः शब्दः संयोगव्यंग्यत्वाद्रूपवत्।

(वात्स्या. 1/2/9)

केवलव्यतिरेकि (लिङ्ग/अनुमान)

० अगृहीतान्वयव्याप्तिकसाध्यकम्।

(दीधि. 2 पृ. 156)

० अत्र साध्याभावसाधनाभावयोः साहचर्यं व्यतिरेकः। तथा च व्यतिरेकेणैव व्याप्तिर्यस्मिंस्तत् इति समासो द्रष्टव्यः। केवलव्यतिरेकि तु चतूरूपोपपन्नं भवति। चत्वारि रूपाणि च पक्षधर्मत्वम् विपक्षाद्व्यावृत्तिः अबाधितविषयत्वम् असत्प्रतिपक्षत्वं चेति। अत्र सपक्षाभावेन सपक्षसत्त्वं नास्तीति चत्वारि रूपाण्येवेति भावः।

(सि.च. 2 पृ. 27)

० तेन चतूरूपोपपन्नमेव तत्स्वसाध्यं साधयितुं क्षमते।

(वै.उ. 3/1/17)

० केवलव्यतिरेकिणि प्रतिज्ञाहेतू तुल्यावेव। उदाहरणोपनयनिगमानि तु भिद्यन्ते। यथा जीवच्छरीरं सात्मकं प्राणादिमत्त्वात् इत्यत्र यत्सात्मकं न भवति तत्प्राणादिमन्न भवति यथा घटः, न चेदं जीवच्छरीरं प्राणादिमन्न भवति तस्मान्न तथा इति।

(त.कौ. 2 पृ. 13)

केवलान्वयिहेतु

० अत्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसमानाधिकरणपक्षसपक्षसद्भेतुवचनम्।

(चि. 2 अव. पृ. 79)

० यथा घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वादित्यादौ प्रमेयत्वात् इति हेतुपदम्।

क्रम

० उद्दिष्टानामर्थवशाद्यथावद्ग्रहणम्। यथा द्रव्यनिरूपणानन्तरं क्रमेण गुणादिकं निरूप्यते इत्यादौ।

० अर्थानां नैयत्येन पूर्वापरावस्थानम्। यथा उद्देशक्रमेण द्रव्यादिनिरूपणम् इत्यादौ।

० परिपाट्यां यथोचितसंनिवेशः।

(वाच.)

० यथा शेषशेषिभावे अधिकृताधिकारे वा सत्येव वैदिककर्मणोऽनुष्ठाने पौर्वापर्यरूपक्रमग्रहणम् इत्यादौ।

(मीमांसान्यायप्रकाश पृ. 73)

क्रिया

० धात्वर्थः स च धातूपनीतफलानुकूलसजातीयविजातीयव्यापारप्रचयः।

(त.प्र.ख. 4, पृ. 50)

० यथा चैत्रस्तण्डुलं पचतीत्यादौ पचनादिक्रिया।

(ल.म.)

गुण

० प्रमाया असाधारणकारणम्। यथा प्रमाया गुणजन्यत्वम् उत्पत्तौ परतस्त्वम् इत्यादौ। प्रत्यक्षे विशेषणविशेष्यसंनिकर्षो गुण:।

(भा. प.गु.श्लो. 132-135)

० अनुमितौ च व्यापकवति व्याप्यज्ञानं यथार्थ-परामर्श: गुण:।

(त.दी.प्रामा. प. 37, चि.1 प्रामा)

छल

० वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्।

(गौ. 1/2/10)

० छलं निरनुयोज्यानुयोगरूपे निग्रहस्थाने एवान्त-र्भवति नातिरिक्त: पदार्थ: इति ज्ञेयम्।

(गौ. 1/1/1)

० अभिप्रायान्तरेण प्रयुक्तस्य शब्दस्य अर्थान्तरं प्रकल्प्य दूषणाभिधानम्।

(त.भा. पृ. 50, त.दी. पृ. 43)

० शब्दवृत्तिव्यत्ययेन प्रतिषेधहेतु:।

(सर्व.सं.पृ. 240 अक्ष.)

० छलं त्रिविधम्-वाक्छलम्, सामान्यच्छलम्, उपचारच्छलं चेति।

(गौ. 1/2/11)

० प्रकारान्तरेण छलं त्रिविधम्-अभिधानतात्पर्योप-चारवृत्तिव्यत्यभेदात्।

(सर्व.सं. पृ. 240 अक्ष.)

जडत्व

० ज्ञानादिमान् यो य: तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकभेदकूटवत्त्वम्। तेन सुषुप्तिकाले ज्ञानादिसामान्याभावसत्त्वेपि अव्याप्यवृत्तिधर्मा-वच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदस्याव्याप्यवृत्तित्वेन ज्ञानाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदस्य चात्मनि सत्त्वेपि न दोष:।

(ल.व.)

जय

० ग्रहणावच्छिन्नपराभव:। यथा शत्रुं शतानि जयतीत्यत्र जयत्यर्थ:। पराभवश्च तिरस्कार:। अत्र शतस्य ग्रहणानुकूलो य: शत्रुकर्मक: पराभव: तत्कर्ता इत्येवं बोध:।

(श.प्र.श्लो. 73 पृ. 98)

जल्प

० कथा। यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थान-साधनोपालम्भो जल्प:। यथोक्तोपपन्न इति।

(गौ. 1/2/2)

० प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ: सिद्धान्ताविरुद्ध: पञ्चावयवोपपन्न: पक्षप्रतिपक्षपरिग्रह:। छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भ इति। छलजातिनिग्रहस्थानै: साधनमुपालम्भश्चास्मि-न्क्रियत इति। एवंविशेषणो जल्प:।

(वात्स्या. 1/2/2)

० स च छलादिसम्पन्नो जल्प:, अस्य विजय: फलमिति (ता.र.श्लो. 78)। जल्पश्च यथासंभवं

सर्वनिग्रहाणामधिकरणम्। परपक्षे दूषिते स्वपक्षस्थापनप्रयोगावसानश्च भवतीति बोध्यम्।

(त.भा. पृ. 44)

जाति (सामान्य)

० समानप्रसवात्मिका जातिः।

(गौ. 2/2/38)

० समानः समानाकारकः प्रसवो बुद्धिजननमात्मा स्वरूपं यस्याः सा। तथा च समानाकार-बुद्धिजननयोग्यत्वमर्थः।

(गौ.वृ. 2/2/68)

० यच्च केषाचिद्भेदं कुतश्चिद्भेदं करोति तत् सामान्यविशेषो जातिरिति।

(वात्स्या. 2/2/68)

० समानाकारबुद्धिजननयोग्यधर्मविशेषः नित्यानेक-समवेतः इत्यपि वदन्ति।

(गौ.वृ. 2/2/68)

तत्त्वज्ञान

० यथार्थज्ञानम्। अत्रोक्तम्। तत्त्वज्ञानं तु खलु मिथ्याज्ञानविपर्ययेण व्याख्यातम्।

(वात्स्या 1/1/2)

० तञ्च ईश्वरनोदनाभिव्यक्ताद् धर्मादेव भविष्यति इस्यर्थः।

(किर. 1/1/1, पृ. 11)

० यथावस्थितपदार्थाधिगतिः। तच्च प्रमाणम्।

(न्या.वा. पृ. 4)

तत्त्व

० सतश्च सद्भावः असतश्चासद्भावः। सत् सत् इति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतम् तत्त्वं भवति। असच्च असत् इति गृह्यमाणं यथा भूतमविपरीतम् तत्त्वं भवति।

(वात्स्या. 1/1/1 प्रस्तावना)

० यथा प्रमाणप्रमेय.....तत्त्वज्ञानान्निः-श्रेयसाधिगमः इत्यादौ प्रमेयादिकं तत्त्वम्।

(गौ. 1/1/1)

तर्कः

० आन्वीक्षिकी विद्या न्यायशास्त्रम्।

(गौ.वृ. 1/1/1)

० अनुमानम् (युक्तिः)।

(तत्त्व प्रकाशिका, दि. 4, गौ.वृ. 1/1)

० ऊहः। अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितः तत्त्वज्ञानार्थम् ऊहस्तर्कः।

(गौ.कू. 1/1/40

तर्काभासः

० अङ्गान्यतमवैकल्ये तर्कस्याभासता भवेत्।

तादात्म्य

- तद्वृत्तिधर्मविशेषः। यथा प्राचीनोक्ते तादात्म्य-संबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताको यः अभावः सोऽन्योन्याभावः इत्यन्योन्याभावस्वरूपे निरूपणीये घटान्योन्याभाव इत्यत्र घटत्वमेव घटतादात्म्यम्। तादात्म्यं च संबन्धताविशेषः प्रतीतिसाक्षिकः।
- स्ववृत्त्यसाधारणो धर्मः। तादृशधर्मः तद्व्यक्ति-त्वादिरूपः।

(ग.व्यु.का.1, पृ. 5)

दर्शनम्

- चाक्षुषप्रत्यक्षम्। यथा घटं पश्यतीत्यादौ धात्वर्थः। अत्र घटपदोत्तरद्वितीयाया लौकिक-विषयित्वमर्थः। तस्य धात्वर्थेऽन्वयः।

(ग. व्यु. का. 2)

- ज्ञानम्। यथा विश्वं मिथ्या दृश्यत्वात् शुक्तिरजतवत् इत्यादौ।

  सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टावशेषचाक्षुषस्पर्शादि-विषयं ज्ञानं दर्शनम्।

(सर्वसं. पृ. 166 नकुली.)

- तत्त्वज्ञानसाधकं शास्त्रम्। तच्च दर्शनं द्विविधम्-आरिन्तकदर्शनं नास्तिकदर्शनं चेति।

दृष्टान्त

- लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः।

(गौ. 1/1/25)

- लोकसाम्यमनतीता लौकिका नैसर्गिकं वैनयिकं बुद्ध्यतिशयमप्राप्ताः। तद्विपरीताः परीक्षकास्तर्केण प्रमाणैरर्थं परीक्षितुमर्हन्तीति। यथा यमर्थं लौकिका बुध्यन्ते, तथा परीक्षका अपि, सोऽर्थो दृष्टान्तः। दृष्टान्तविरोधेन हि प्रतिपक्षाः प्रतिषेद्धव्या भवन्तीति। दृष्टान्तसमाधिना च स्वपक्षाः स्थापनीया भवन्तीति। अवयवेषु चोदाहरणाय कल्पत इति।

(वात्स्या. 1/1/25)

- वादिप्रतिवादिनोः साध्यसाधनोभयप्रकारकत-दभावद्वयप्रकारकान्यतरनिश्चयविषयः।

(गौ.वृ. 1/1/25)

- व्याप्ति संवेदनभूमिः।

(सर्व.पृ. 238 अक्ष.)

देश

- येनार्थानुसंधानपूर्वकं ज्ञानतपोवृद्धी प्राप्नोति स देशो गुरुजनादिः।

(सर्व.सं. पृ. 163 नकु.)

द्रव्य (पदार्थ)

- गुणाश्रयः। (त.दी. पृ. 4)
- अत्रायं नियमः। प्रथमं द्रव्यं निर्गुणं निष्क्रियं चैवोत्पद्यते पश्चात्तत्समवेता गुणक्रिया उत्पद्यन्ते इति। गुणाश्रयत्वं चात्र गुणयोग्यत्वम्। तच्च गुणात्यन्ताभावानधिकरणत्वम् (त.भा.)। इदं द्रव्यलक्षणम् द्रव्यत्वजातिमत्त्वं वा द्रव्यलक्षणम् इति बोध्यम्।

(त.दी. 1/4)

द्रव्यत्व (सामान्य)

० गगनारविन्दसमवेतत्वे सति नित्यत्वे सति गन्धासमवेतत्वम्।

(सर्व. पृ. 215 औलू.)

नय

० मतम्। यथा न्यायनयः मीमांसकनयः इत्यादौ।

(मल्लि.टी. 2/3)

० नीतिशास्त्रम्। यथा विषमोऽपि विगाह्यते नयः कृततीर्थः पयसामिवाशयः इत्यादौ। इति नीतिशास्त्रज्ञा वदन्ति।

नास्तित्व

० अत्रोच्यते द्वयी संविद्वस्तुनो भूतशालिनः। एका सा स्पष्टविषया तन्मात्रविषया परा।। तन्मात्रविषया वापि द्वयी साऽथ निगद्यते। प्रतियोगिनि दृश्ये च घटादिप्रतियोगिनः।।

(सर्व.सं. पृ. 430 शां.)

निक्षेप

० समक्षं समर्पणं निक्षेपः।

(मिताक्षरा अ. श्लो. 67)

निगमन

० हेत्वपदेशात्प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्।

(गौ. 1/139)

० तदर्थश्च हेतोः व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मस्य अपदेशः कथनम्। प्रतिज्ञायाः प्रतिज्ञार्थस्य साध्यविशिष्टपक्षस्य वचनम् इति।

(गौ.वृ. 1/1/39)

० साधर्म्योक्ते वैधर्म्योक्ते वा यथोदाहरणमुपसंह्रियते तस्मादुत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः शब्दः इति निगमनम्। निगम्यन्तेऽनेनेति प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनया एकत्र इति निगमनम्। निगम्यन्ते समर्थ्यन्ते संबध्यन्ते। तत्र साधर्म्योक्ते तावद्हेतौ वाक्यम्-अनित्यः शब्दः इति प्रतिज्ञा। उत्पत्तिधर्मकत्वात् इति हेतुः, उत्पत्तिधर्मकं स्थाल्यादि द्रव्यमनित्यं दृष्टम् इत्युदाहरणम्। तथा चोत्पत्तिधर्मकः शब्दः इत्युपनयः। तस्मादुत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः शब्दः इति निगमनम्। वैधर्म्योक्तेऽपि अनित्यः शब्दः उत्पत्तिधर्मकत्वात् अनुत्पत्तिधर्मकमात्मादि द्रव्यं नित्यं दृष्टम्। न च तथा अनुत्पत्तिधर्मकः शब्दः इति। तस्मादुत्पत्तिधर्मकत्वाद् अनित्यः शब्दः इति। सर्वेषामेकार्थप्रतिपत्तौ सामर्थ्यप्रदर्शनं निगमनम् इति।

(वात्स्या. 1/1/39)

० पक्षे साध्योपसंहारः।

(त.भा. पृ. 43)

० लिङ्गसंबन्धप्रयुक्तनिश्चितसाध्यवत्त्ववचनम्। यथा पर्वतपक्षकवह्निसाध्यकधूमहेतुकस्थले पर्वतो वह्निमान् धूमादित्यादौ, तस्मादग्निमानिति तस्मात्तथेति वा वाक्यं निगमनम्।

(त.भा. पृ. 43, त.कौ. 2, पृ. 13, त.सं.)

निग्रहस्थानम्

० वादिनोपजयहेतुः शब्दप्रयोगः।

(त.दी. पृ. 45)

० यथा विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् (गौ.1/2/60) इत्यादौ। तदर्थश्च विप्रतिपत्तिः विरुद्धा प्रतिपत्तिः। अप्रतिपत्तिः प्रकृताज्ञानम्। तथा च विप्रतिपत्ति-अप्रतिपत्तिएतदन्यतरोन्नायक-धर्मवत्वम्।

(गौ.वृ. 1/2/19)

० यद्वा विपरीता वा कुत्सिता वा प्रतिपत्ति-र्विप्रतिपत्तिः। विप्रतिपद्यमानः पराजयं प्राप्नोति। निग्रहस्थानं खलु पराजयप्राप्तिः। अप्रतिपत्तिस्तु आरम्भविषये न प्रारम्भः। परेण स्थापितं वा न प्रतिषेधति प्रतिषेधं वा नोद्धरति।

(वात्स्या. 1/2/19)

नित्य

० उत्पत्तिविनाशशून्यं वस्तु। अनवच्छिन्नसद्भावं वस्तु यद्देशकालतः। तन्नित्यं विभु चेच्छन्ती-त्यात्मनो विभुनित्यता।।

(सर्व.सं. पृ. 181)

० प्रागभावाप्रतियोगित्वे सति ध्वंसाप्रतियोगित्वम्।

(त.प्र. 1 पृ. 18)

नित्यसम (जाति)

० नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेर्नित्यसमः।

(गौ. 5/1/35)

० नित्यसमस्योदाहरणं यथा अनित्यः शब्द इति प्रतिज्ञायते। तदनित्यत्वं किं शब्दे नित्यमथा-नित्यम्। यदि तावत्सदा भवति धर्मस्य सदा-भावाद्धर्मिणोऽपि सदाभाव इति नित्यः शब्द इति। अथ न सर्वदा भवति अनित्यत्वस्या-भावान्नानित्यः शब्दः। एवं नित्यत्वेन प्रत्यव-स्थानान्नित्यसमः।

(वात्स्याः 5/1/35)

निदर्शनम्

० उदाहरणम् (प्रशस्त. 2 पृ. 28),

० दृष्टान्तः। यथोक्तं मायावादिभिः आत्मा ह्याकाशवज्जीवैर्घटाकाशैरिवोदितम्। घटादिवच्च संघातैर्जातावेतन्निदर्शनम्।।

निमित्त (कारण)

० समवायिकारणभिन्नमसमवायिकारणभिन्नं च कारणम्। यथा तुरीवेमादिकं पटस्य दण्डचक्रा-दिकं च घटस्य निमित्तकारणम्।

(त.सं., त.कौ. पृ. 9)

० समवायिकारणताभिन्ना असमवायिकारणता-भिन्ना च या कारणता तद्वदित्यर्थः।

(त.कौ. 1 पृ. 8)

निरनुयोज्यानुयोग (निग्रहस्थान)

० अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानु-योगः।

(गौ. 5/2/22)

० निग्रहस्थानलक्षणस्य मिथ्याध्यवसायादनिग्रह-स्थाने निगृहीतोऽसीति परं ब्रुवन्निरनुयोज्यानुयोगा-न्निगृहीतो वेदितव्य इति।

(वात्स्या. 5/2/22)

निरर्थक (निग्रहस्थान)

० अस्य संभवः प्रमादात् इत्यवधेयम्।

(गौ. वृ. 5/2/8)

० वर्णक्रमनिर्देशवत् निरर्थकम्।

(गौ. 5/2/8)

० तदर्थश्च-वर्णानां क्रमेण निर्देशो जबगडेत्यादि-प्रयोगः, तत्तुल्यो निर्देश इति।

(गौ.वृ. 5/2/8)

० यथा नित्यः शब्दः कचटतपाः जबगडदश्त्वात् झभञ्घढधष्वत् इति। एवं प्रकारं निरर्थकम्। अभिधानाभिधेयभावानुपपत्तावर्थगतेर-भावाद्वर्णा एवं क्रमेण निर्दिश्यन्त इति।

(वात्स्या. 5/2/8)

निर्णय

० तदभावाप्रकारकं तत्प्रकारकं ज्ञानम्।

(गौ.वृ. 1/1/41, त.भा. पृ. 44)

० यथा घटे अयं घटः इति ज्ञानम्। अत्रोच्यते। निर्णयो विशेषदर्शनजमवधारणम् संशयविरोधि। तत् द्विविधम्। प्रत्यक्षम् अनुमानं च। तत्राद्यं यथा स्थाणुपुरुषयोरूर्ध्वतामात्रसादृश्यालोचनाद्विशेषेषु प्रत्यक्षेषूभयविशेषानुस्मरणात् किमयं स्थाणुः पुरुषो वा इति संशयोत्पत्तौ शिरःपाण्यादिदर्शनात् पुरुष एवायम् इत्यवधारणज्ञानं प्रत्यक्षनिर्णयः। द्वितीयं यथा विषाणमात्रदर्शनात् गौर्गवयो वा इति संशयोत्पत्तौ सास्नामात्रदर्शनात् गौरेवायम् इत्यव-धारणज्ञानम् अनुमाननिर्णयः इति।

(प्रशस्त. 2 पृ. 32)

० विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः।

(गौ. 1/1/41)

० अत्रायं विशेषो ज्ञेयः। निर्णयस्तत्त्वज्ञानम् प्रमाणानां फलम्।

(वात्स्या. 1/1/1 पृ. 6, त.भा. पृ. 44)

० स्थापना साधनम्। प्रतिषेध उपलम्भः। तौ साधनोपालम्भौ पक्षप्रतिपक्षाश्रयौ व्यतिषक्तावनु-बन्धेन प्रवर्तमानौ पक्षप्रतिपक्षावित्युच्येते। तयोरन्यतरस्य निवृत्तिरेकतरस्यावस्थानम-वश्यंभावि। यस्यावस्थानं तस्यावधारणं निर्णयः।

(वात्स्या. 1/1/41)

० यथार्थानुभवपर्याया प्रमितिर्निर्णयः।

(सर्व. सं. पृ. 239 अक्षपाद)

निर्देश

० शब्दप्रयोगः।

(गौ.वृ. 5/2/8)

० यथा वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम् (गौ. 5/2/8) इत्यादौ।

० उच्चारणम्। यथा अनुनासिक इति निर्देशात् इत्यादौ निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति (सि. कौ.) इत्यादौ च।

० यत्किंचिदर्थप्रतिपादकः शब्दः। यथा साध्य-निर्देशः प्रतिज्ञा (गौ. 1/1/33) इत्यादौ।

नैगम

० ये वेदस्याप्रणीतत्वेन प्रामाण्यमिच्छन्ति पाशु-पतादयस्ते।

(मिताक्षरा 2/192)

न्याय

० प्रमाणैरर्थपरीक्षणम्। किमुक्तं भवति। समस्त-प्रमाणव्यापारादर्थाधिगतिर्न्यायः इति।

(न्या. वा. 1 पृ. 14)

० अत्र व्युत्पत्तिः। नीयते प्राप्यते विवक्षितार्थ-सिद्धिरनेन इति न्यायः इति।

० प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानम्।।

(वात्स्या. 1/1/1)

० परार्थानुमानम्।

(सर्व. पृ. 264, अक्ष.)

० आन्वीक्षिकी विद्या न्यायशास्त्रम्।

(वात्स्या. 1/1/1, गौ.वृ.1/1/1)

० साधनीयस्यार्थस्य यावति शब्दसमूहे सिद्धिः परिसमाप्यते स पञ्चावयवोपेतवाक्यात्मको न्यायः। पञ्चावयवाः प्रतिज्ञादयः समूहमपेक्ष्या-वयवा उच्यन्ते। तेषु प्रमाणसमवाय आगमः प्रतिज्ञा। हेतुरनुमानम्। उदाहरणं प्रत्यक्षम्। उपनयनमुपमानम्। सर्वेषामेकार्थसमवाये सामर्थ्यप्रदर्शनं निगमनम्। सोऽयं परमो न्यायः इति। अत्रायं नियमः-संशयितेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते इति।

(वात्स्या. 1/1/1)

न्यून (निग्रहस्थान)

० हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम्।

(गौ. 5/2/12)

० प्रतिज्ञादीनामवयवानामन्यतमेनाप्यवयवेन हीनं न्यूनं निग्रहस्थानम्। साधनाभावे साध्या-सिद्धिरिति।

(वात्स्या. 5/2/12)

० यत्र विवक्षितार्थसमर्पकात्किंचिन्न्यूनं तत्।

(त.भा. पृ. 51)

पक्ष

० विप्रतिपत्त्येककोटिः।

(गौ.वृ. 1/12/1)

० यथा पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः इत्यादौ शब्दो नित्यो न वेति विप्रतिपत्तौ नित्यः इति पक्षः अनित्यः इति प्रतिपक्षः।

(गौ.वृ. 1/2/1)

० पक्षतावान्।

(मु. 2 पृ. 146)

० यथा संदिग्धसाध्यधर्मा धर्मी सिषाधयिषित-साध्यधर्मा धर्मी वा पक्षः (चि. 2 पृ. 33,) इत्यादौ पर्वते धूमेन वह्निसाधने पर्वतः पक्षः।

(त. सं., त.भा. पृ. 14-15)

० पक्षता यस्मिन्नस्ति स पक्ष इत्यर्थः।

(वै.उ. 9/2/1)

पक्षधर्मता

० व्याप्यस्य (हेतोः) पक्षे वर्तमानत्वम्।

(त.सं. 2, भा.प. 2, श्लो. 69)

० पक्षताश्रयवृत्तित्वम् (त.कौ. 2 पृ. 11)।

यथा पर्वते धूमेन वह्नौ साध्ये वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः इत्यत्र धूमस्य पक्षधर्मता।

पदार्थ

० पदाभिधेयः।

(त.दी., त. कौ.)

० स च जात्याकृतिव्यक्तयः पदार्थः। यथा घटमानयेत्यादौ घटपदाभिधेयः घटत्वात्मक-जातिकम्बुग्रीवादिरूपाकृतिविशिष्टो व्यक्तिविशेषो घटपदार्थः।

(गौ. 2/2/69)

० वृत्त्या पदोपस्थाप्यत्वम्।

० पदतात्पर्यविषयत्वम्।

० अभिधेयत्वम्।

परार्थानुमानम्

० न्यायप्रयोज्यानुमानम्। (न्या.बो.2, पृ. 15, चि. 2, पृ. 76)

यथा परसमवेतानुमितिकरणं लिङ्गपरामर्शः परार्थानुमानम्। अत्र परस्य मध्यस्थस्यार्थः प्रयोजनं साध्यानुमितिरूपं मध्यस्थसंशय-निवृत्तिरूपं वा यस्मात् इति व्युत्पत्तिर्द्रष्टव्या।

(नील. 2 पृ. 21)

० पञ्चावयवेनैव वाक्येन संशयितविपर्यस्ता-व्युत्पन्नानां परेषां निश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानं विज्ञेयम्। अथावयवाः पुनः प्रतिज्ञापदेश-निदर्शनानुसंधानप्रत्याम्नायाः इति।

(प्रशस्त. 2 पृ. 28)

परिणाम

० जीर्णता। यथा भुक्तस्य परिणामहेतुरौदर्यम् तेजः (त.स.) इत्यादौ।

परीक्षा

० लक्षितस्य यथालक्षणमुपपद्यते न वा इति प्रमाणैरवधारणम्। इयं च शास्त्रस्य प्रवृत्तिः।

(वात्स्या. 1/1/2)

० प्रमाणादीनां षोडशानां पदार्थानां तत्त्वज्ञानार्थं परीक्षा कर्तव्या।

(त.भा. पृ. 1)

० प्रमाणतर्काभ्यां वस्तुतत्त्वावधारणम्।

० उद्देशलक्षणयोरुपपत्त्यनुपपत्त्यन्तरफलको विचारः।

(त.कौ. पृ .21)

परोक्षत्व

० साक्षात्कारभिन्नज्ञानत्वम्।

(म.प्र. 1, ग. शक्ति. टी. पृ. 117)

० यथा अनुमित्यादीनां ज्ञानानां परोक्षत्वम्। प्रत्यक्षज्ञानभिन्नज्ञानत्वम् इति तु वयं ब्रूमः। अत्रायं सिद्धान्तः परोक्षज्ञानमनाहार्यमेव निश्चयश्च इति।

(ग. हेत्वा. सामा.)

० अत्र अक्ष्णः परम् इति व्युत्पत्तिः। परोक्षे लिडिति निपातनात्साधुत्वम्।

(सि.कौ. पृ. 69)

० परोक्षज्ञानविषयत्वम्। यथा पर्वतो वह्निमान् धूमादित्यादौ वह्नेः परोक्षत्वम्। वक्तुः साक्षात्काराविषयत्वम्।

(ग.व्यु.ल. पृ. 139)

० यथा बभूव योगी किल कार्तवीर्यः इत्यादौ लिटोर्थः परोक्षत्वम्। वक्तृभिन्नकर्तृकत्वमेव परोक्षत्वम् इति केचिदाहुः।

(ग.व्यु.ल. पृ. 139)

पर्यनुयोज्योपेक्षण (निग्रहस्थान)

० निग्रहस्थानप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणम्।

(गौ. 5/2/21)

० पर्यनुयोज्यो नाम निग्रहोपपत्त्या चोदनीयस्तस्योपेक्षणम् निग्रहस्थानं प्राप्तोसि इत्यननुयोगः। एतच्च कस्य पराजय इत्यनुयुक्तया परिषदा वचनीयम्। न खलु निग्रहं प्राप्तः स्वकौपीनं विवृणुयादिति।

(वात्स्या. 5/2/21)

० निग्रहस्थानं प्राप्तवतो निग्रहस्थानानुद्-भावनम्।

(गौ.वृ. 5/2/21)

पर्याय

० समानप्रवृत्तिनिमित्तकत्वे सति विभिन्नानुपूर्वीकत्वम्। यथा घटः करीरः कलशः इति पर्यायः। अत्र पर्यायत्वं च शक्यतावच्छेद-कैक्ये सति विभिन्नशक्तितावच्छेदकत्वम्।

(त.प्र.ख. 4 पृ. 83)

पारमार्थिकत्व

० प्रमाविषयत्वम्। यथा घटपटादीनां पारमार्थिकत्वम्।

० कालत्रयसम्बन्धित्वम्।

पुनरुक्त (निग्रहस्थान)

० निग्रहस्थानम् शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात्।

(गौ. 5/2/14)

० अन्यत्रानुवादाच्छब्दपुनरुक्तमर्थपुनरुक्तं वा। तेन पुनरुक्तं शब्दपुनरुक्तार्थपुनरुक्तभेदेन द्विविधम् इति बोध्यते। नित्यः शब्दः नित्यः शब्दः इति शब्दपुनरुक्तम्। अर्थपुनरुक्तम् नित्यः शब्दः निरोधधर्मको ध्वानः इति।

(वात्स्या. 5/2/14)

पृथक्त्व

० असाहित्यम्। यथा युनोति चन्द्रात्पृथगप्यनङ्गः इत्यादौ पृथक्त्वमसाहित्यम्।

(ग.व्यु. का. 5 पृ. 110)

० गुण: अपोद्धारव्यवहारकारणम्। तत्पुनरेक-द्रव्यम् अनेकद्रव्यं च। तस्य च नित्यानित्यत्व-निष्पत्ति: संख्यावज्ज्ञेया।

(प्रशस्त. पृ. 16)

० पृथग्व्यवहारासाधारणकारणम् पृथक्त्वत्व-जातिमत् वा।

(त.सं., त.कौ.)

यथा इदमस्मात्पृथक् इत्यादौ।

० पृथग्व्यवहारश्च अयमस्मात् पृथक् इति व्यवहार:। तादृशव्यवहारजनकतावच्छेदक-मुख्यप्रकारतावत्त्वं लक्षणम् इति।

(वाक्य. 1 पृ. 8)

प्रकरणसम (जाति)

० उभयसाधर्म्यात्प्रक्रियासिद्धे: प्रकरणसम:।

(गौ. 5/1/16)

० उभयेन नित्येन चानित्येन साधर्म्यात्। पक्षप्रति-पक्षयो: प्रवृत्ति: प्रक्रिया। अनित्य: शब्द: प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद्घटवदित्येक: पक्षं प्रवर्तयति। द्वितीयश्च नित्यसाधर्म्यात्। एवं च सति प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिति हेतुरनित्य-साधर्म्येणोच्यमानो न प्रकरणमतिवर्तते। अनति-वृत्तेस्तन्निर्णयानिवर्तनम्। समानं चैतन्नित्य-साधर्म्येणोच्यमाने हेतौ। तदिदं प्रकरणानतिवृत्त्या प्रत्यवस्थानं प्रकरणसम:। समानं चैतद्वैधर्म्येऽपि। उभयवैधर्म्यात्प्रक्रियासिद्धे: प्रकरणसम इति।

(वात्स्या. 5/1/16)

प्रकरणसम (हेत्वाभास)

० यस्यात्प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्ट: प्रकरणसम:।

(गौ. 1/2/7)

० प्रकरणसमस्य लक्षणं तु तुल्यबलविरोधि-परामर्शकालीनपरामर्शविषयत्वम्। स्वसाध्य-परामर्शकालीनतुल्यबलविरोधिपरामर्शो वा।

(गौ.वृ. 1/2/7)

प्रकाश

० ज्ञानम्। यथा अर्थप्रकाशो बुद्धि: (त.भा., त.प्र.) इत्यादौ। अत्र वैशेषिका आहु:-प्राग्-प्रकाशरूपस्य जडस्यात्मनो मन:संयोगाज्ज्ञा-नाख्य: प्रकाशो जायते इति।

(सांख्य. प्र.भा.अ. 1 सू. 145)

० ज्ञानस्वरूप आत्मा प्रकाश इति सांख्या आहु:। अत्र सूत्रम्-जडप्रकाशयोगात् प्रकाश इति। (सांख्य सूत्र 1/145)

प्रणिधानम्

० सुस्मूर्षया (स्मर्तुमिच्छया) मनसो धारणम्।

(वात्स्या. 3/2/42)

० मनसो विषयान्तरसंचारवारणम्।

(गौ.वृ. 3/2/42)

० इदं च स्मृतेरुद्बोधकरूपं निमित्तं बोध्यम्। अत्र भाष्यम्-सुस्मूर्षितलिङ्गचिन्तनं चार्थस्मृति-कारणम् इति।

(वात्स्या. 3/2/42)

प्रतिज्ञा

० स्वकर्तव्यत्वेन निर्देशः (राम.)। कर्तव्यत्व-प्रकारकबोधानुकूलव्यापारः इति परमार्थः। यथा अथ हेत्वाभासास्तत्त्वनिर्णयप्रयोजकत्वान्नि-रूप्यन्ते इति मया तर्कसंग्रहः क्रियते इत्यादि च प्रतिज्ञा।

० कर्तव्यत्वज्ञानम् (राम. पृ. 21)

० साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा।

(गौ. 1/1/33)

० प्रज्ञापनीयेन धर्मेण धर्मिणो विशिष्टस्य परिग्रह-वचनं प्रतिज्ञा। साध्यनिर्देशः अनित्यः शब्दः इति।

(वात्स्या. 1/1/33)

प्रतिज्ञान्तर (निग्रहस्थान)

० प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात्तदर्थनिर्देशः प्रतिज्ञान्तरम्।

(गौ. 5/2/3)

० प्रतिज्ञातार्थः अनित्यः शब्दः ऐन्द्रियकत्वा-द्घटवदित्युक्ते योऽस्य प्रतिषेधः प्रतिदृष्टान्तेन हेतुव्यभिचारः सामान्यमैन्द्रियकं नित्यम् इति। तस्मिश्च प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे। धर्मविकल्पादिति। दृष्टान्तप्रतिदृष्टान्तयोः साधर्म्ययोगे धर्म-भेदात्सामान्यमैन्द्रियकं सर्वगतम्। ऐन्द्रिय-कस्त्वसर्वगतो घट इति धर्मविकल्पात्। तदर्थनिर्देश इति साध्यसिद्ध्यर्थम्। कथम्। यथा घटो सर्वगत एवं शब्दोऽप्यसर्वगतो घटवदेवानित्य इति। तत्रानित्यः शब्द इति पूर्वा प्रतिज्ञा। असर्वगत इति द्वितीया प्रतिज्ञा प्रतिज्ञान्तरम्।

(वात्स्या. 5/2/3)

प्रतिज्ञाविरोध (निग्रहस्थान)

० प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः।

(गौ. 5/2/4)

० गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यमिति प्रतिज्ञा। रूपादि-तोऽर्थान्तरस्यानुपलब्धेरिति हेतुः। सोयं प्रतिज्ञा-हेत्वोर्विरोधः। कथम्। यदि गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिर्नोपपद्यते। अथ रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिः गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यमिति नोपपद्यते। गुणव्यतिरिक्तं च द्रव्यं रूपादिभ्यश्चार्थान्तरस्यानुपलब्धिरिति विरुध्यते। व्याहन्यते न संभवतीति।

(वात्स्या. 5/2/4)

प्रतिज्ञासंन्यास (निग्रहस्थान)

० पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थस्यापनयनं प्रतिज्ञा-संन्यासः।

(गौ. 5/2/5)

० पक्षस्य स्वाभिहितस्य परेण प्रतिषेधे कृते सति तत्परिजिहीर्षया प्रतिज्ञातार्थस्यापनयनमपलापः इत्यर्थः।

(गौ.वृ. 5/2/5)

० यथा अनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वादित्युक्ते परो ब्रूयात् सामान्यमैन्द्रियकम् न चानित्यम् एवं शब्दोप्यैन्द्रियको न चानित्य इति। एवं प्रतिषिद्धे

पक्षे यदि ब्रूयात् कः पुनराह अनित्यः शब्दः इति। सोऽयं प्रतिज्ञातार्थनिह्नवः प्रतिज्ञासंन्यास इति।

(वात्स्या. 5/2/5)

प्रतिज्ञाहानि (निग्रहस्थान)

० प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः।

(गौ. 5/2/2)

० साध्यधर्मप्रत्यनीकेन धर्मेण प्रत्यवस्थिते प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तेऽभ्यनुजानन्प्रतिज्ञां जहातीति प्रतिज्ञाहानिः। निदर्शनम् ऐन्द्रियकत्वाद् अनित्यः शब्दो घटवद्इति कृते अपर आह- दृष्टमैन्द्रियकत्वं सामान्ये नित्ये कस्मान्न तथा शब्द इति प्रत्यवस्थिते इदमाह यद्यैन्द्रियकं सामान्यं नित्यम् कामं घटोनित्योस्त्विति। स खल्वयं साधकस्य दृष्टान्तस्य नित्यत्वं प्रसञ्जयन्नि- गमनान्तमेव पक्षं जहाति। पक्षं जहत्प्रतिज्ञां जहातीत्युच्यते प्रतिज्ञाश्रयत्वात्पक्षस्येति।

(वात्स्या. 5/2/2)

प्रतिदृष्टान्तसम (जाति)

० प्रतिदृष्टान्तेन प्रत्यवस्थानात्प्रतिदृष्टान्तसमः।

(गौ. 5/1/1)

० प्रतिदृष्टान्तेन प्रत्यवस्थानं प्रतिदृष्टान्तसमः। क्रियावानात्मा क्रियाहेतुगुणयोगाल्लोष्टवदित्युक्ते प्रतिदृष्टान्त उपादीयते क्रियाहेतुगुणयुक्तमाकाशं निष्क्रियम् इति। कः पुनराकाशस्य क्रियाहेतुर्गुणः वायुना संयोगः संस्कारापेक्षः वायुवनस्पति- संयोगवदिति।

(वात्स्या. 5/1/9)

० दृष्टान्तान्तरेण साध्याभावसाधनम्। (नील. पृ. 44)

प्रतिपक्ष

० विरोध्यनुमानम्। तच्च विरोधिव्याप्त्यादिमत्तया परामृश्यमानो हेतुः। विरोधिपरामर्शो वा।

(दीधि. 2 सत्प्रति. पृ. 208)

० यथा सत्प्रतिपक्ष इत्यत्र ह्रदे धूमेन वह्निसाधने वह्न्यभावव्याप्यवान् ह्रदः इति परामृश्यमानो जलरूपो हेतुः तादृशपरामर्शो वा प्रतिपक्षः।

० विप्रतिपत्त्यपरकोटिः।

(गौ.वृ. 1/1/41)

० यथा विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः (गौ. 1/1/41) इत्यादौ।

प्रतिवादी

० वादिप्रयुक्तन्यायवाक्यविरुद्धन्यायवाक्यप्रयोग- कर्ता। यथा पर्वते वह्निसिद्धये वादिना पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात् इत्यादिन्यायवाक्ये प्रयुक्ते तद्विरोधेन पर्वतो न वह्निमान् पाषाणमयत्वात् इत्यादि विरुद्धवाक्यं येन प्रयुज्यते सः।

प्रत्यक्ष

० इन्दियार्थसंनिकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभि- चारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।

(गौ. 1/1/4)

तदर्थस्तु अव्यपदेश्यम् अशाब्दं ज्ञानम्।

(वात्स्या. 1/1/4)

० इदं च जन्यप्रत्यक्षस्यैव लक्षणम् इति बोध्यम्। तदुत्पत्तिप्रकारस्तु आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन। ततः प्रत्यक्षं ज्ञान-मुत्पद्यते।

(वात्स्या. 1/1/4, तर्कभा. पृ. 6, त.कौ.)

० ज्ञानाकरणकं ज्ञानम्।

(चि. 1, न्या.बो. 1, पृ. 11,)

ज्ञानकरणकत्वाव्यभिचारिजातिशून्यज्ञानत्वम् इति विवक्षितोऽर्थः।

(दि. 1/3, पृ. 103)

० साक्षात्कारत्वव्यञ्जकविषयताविशेषवज्ज्ञानम्।

(ग. सत्प्र.)

प्रत्यभिज्ञा (प्रत्यक्ष)

० अतीतावस्थावच्छिन्नवस्तुग्रहणम्। प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्षे हि अतीतापि पूर्वावस्था स्फुरत्येव।

(त.भा.प्रमाण. शब्द. पृ. 19)

० प्रत्यभिज्ञाशब्दस्येत्थं व्युत्पत्तिः। प्रतिगता अभिज्ञाम् इति प्रत्यभिज्ञा।

(वाच.)

प्रत्यय

० बुद्धिवदस्यार्थानुसंधेयः। सांख्यास्तु स्रक्चन्दना-दिविषयसंनिकर्षादिन्द्रियप्रणालिकयैव सुख-दुःखाद्याकारो बुद्धेरेव यः परिणामविशेषः (महत्तत्त्वधर्मः) स प्रत्ययः इत्याहुः।

(वै.उ. 8/1/1)

० सहकारिकारणम्।

(वाच.)

प्रमाण

० प्रमाता येनार्थं प्रमिणोति तत्।

(वात्स्या. 1/1/1 प्रस्तावना)

० अत्र प्रमीयतेऽनेन इति व्युत्पत्तिर्द्रष्टव्या। प्रमाणस्य स्वभावस्तु सतः प्रकाशकं प्रमाणमसदपि प्रकाशयति इति।

(वात्स्या. 1/1/1 प्रस्तावना)

० तल्लक्षणं तु प्रमाणत्वमेव। तच्च तद्वति तत्प्रकार-कत्वरूपप्रकर्षविशिष्टज्ञानकारणत्वम्।

(गौ.वृ. 1/1/3)

० यद्वा अनुभवत्वव्याप्यजात्यवच्छिन्नप्रमावृत्ति-कार्यतानिरूपिताकारणताशालित्वे सति व्यापार-वत्त्वम्।

(त.प्र.ख. 1 पृ. 9)

० अथवा अनधिगतार्थकानुभवकारणत्वम्। तच्च गृहीतग्राहीतरानुभवकारणत्वम् इति मीमांसका आहुः।

(कु.टी. 3, त.प्र.ख. 4 पृ. 9)

० स्वसमानाधिकरणस्वाव्यवहितपूर्ववर्ति-स्वसमानाकारनिश्चयविषयविषयकेतरतद्वद्वि-शेष्यकतत्प्रकारकानुभवकारणत्वम् इति यावत्।

(कु.टी. 3)

प्रमाता

० यस्येप्साजिहासाप्रयुक्तस्य प्रवृत्तिः सः।

(वात्स्या. 1/1/1 प्रस्तावना)

० स च प्रमाता आत्मा।

(प्रशस्त. पृ. 26)

० यथा चैत्रो घटं प्रमिनोतीत्यादौ चैत्रः प्रमाता। अत्र प्रमातृत्वं च प्रमासमवायित्वम्। एतच्चाकारणत्वेपि प्रमाया ईश्वरस्य सिद्धम्।

(कु.टी. 4/5)

प्रमात्व

० तद्वति तत्प्रकारकज्ञानत्वम्।

(गौ.वृ. 1/1/4)

० तद्वति तद्वैशिष्ट्यज्ञानत्वं वा।

(चि. 1 प्रामा. पृ. 170)

आद्यलक्षणे दलद्वयस्यार्थश्च तद्वन्निष्ठविशेष्यतानिरूपिततन्निष्ठप्रकारताशाल्यनुभवत्वम्।

(त.प्र.ख. 1, पृ. 14, वाक्य.)

० अत्रेदं बोध्यम्। यद्वति तत्प्रकारकज्ञानत्वम् तद्वति तद्वैशिष्ट्यज्ञानत्वं वेति प्रमात्वद्वयं च निष्कम्पप्रवृत्युपयोगि मीमांसकमते स्वतो ग्राह्यं च भवति इति।

(चि. प्रामा. पृ. 170)

० अनधिगतार्थग्राहित्वं प्रमात्वम् इति मीमांसका आहुः। तच्च स्वसमानाधिकरणस्वाव्यवहितपूर्ववर्तिस्वसमानाकारज्ञानविषयविषयकत्वम् इति निष्कर्षः।

(कु. 4 टी., मू. म. प्रामा. पृ. 170)

० यथा सत्यरजते इदं रजतम् इति ज्ञानस्य प्रमात्वम्। यथा वा घटे अयं घटः इति ज्ञानस्य प्रमात्वम्। प्राभाकरमते सर्वज्ञानानां यथार्थत्वात् तत्प्रकारकज्ञानत्वमेव प्रमात्वम्।

(चि. 1 प्रामा., त.प्र.ख. 4 पृ. 133, न्या.म. 4 पृ. 35)

प्रामाण्यवाद

अथात्र प्रसङ्गात्प्रामाण्यवादः प्रदर्श्यते।

० परमकारुणिकमुनिप्रणीतायामष्टादशविद्यास्थानेष्वभ्यर्हिततमायां निःश्रेयसप्रयोजिकायामान्वीक्षिकीविद्यायां प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यर्थं प्रमाणप्रमेयसंशय..... तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः इति सूत्रेण प्रतिपादितानां षोडशपदार्थानां मध्ये प्रथमोद्दिष्टस्य प्रमाणस्याधीन इतरेषां निश्चय इति प्रमाणतत्त्वनिश्चय आवश्यकः। (गौत.सू. 1/1/1) स च प्रमात्वनिश्चयं विना न भवतीति प्रमात्वनिश्चयोपाय इदानीं चिन्त्यते। (चि. 1 प्रामा. पृ. 114-117)

० अत्र विप्रतिपत्तिः -प्रमात्वं स्वतो ग्राह्यं परतो वेति। ज्ञानप्रमात्वस्य स्वतो ग्राह्यत्वं च स्वत एव (स्वकीयेभ्य एव) स्वजनकसामग्रीस्वजन्यप्रत्यक्षसामग्रीस्वजन्यज्ञाततालिङ्गकानुमितिसामग्रीएतदन्यतमज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वम्। अत्र स्वजन्य इति पदद्वयं क्रमेण स्वप्रत्यक्षस्य ज्ञाततायाश्च विशेषणम्। पञ्चम्या जन्यत्वमर्थः।

(मू.म. 1 प्रामा. पृ. 126)

० गुरुभट्टमुरारिमिश्राणां मतत्रयसाधारणं स्वतस्त्वं च तदप्रामाण्याग्राहकयावज्ज्ञानग्राहकसामग्री-

ग्राह्यत्वम्। (त.दी.प्रामा. पृ. 34, त.कौ. पृ. 18)

तदर्थस्तु ज्ञाननिष्ठाप्रामाण्याग्राहिका यावती ज्ञानग्राहिका सामग्री इन्द्रियसंनिकर्षपरामर्शानुव्यवसायादिरूपा तज्जन्यग्रहविषयत्वम्। स च ग्रहः (प्राथमिकज्ञानग्रहः) गुरुमते व्यवसायः। भट्टमते ज्ञाततालिङ्गकानुमितिः। मुरारिमिश्रमते अनुव्यवसायः। (नील. प्रामा. पृ. 35) तत्तद्धर्मप्रकारकज्ञानग्राहकसामग्रीजन्यग्रहत्वव्यापकविषयिताप्रतियोगित्वम् इति निष्कर्षः। इदमेव ज्ञप्तौ स्वतस्त्वमित्युच्यते।

(नील.पृ. 34, सि.च. पृ. 33)

यया कारणसामग्र्या ज्ञानं गृह्यते तयैव तद्गतं प्रमात्वमपि गृह्यत इति स्पष्टार्थः। तथाहि ज्ञानग्राहकं च सर्वमते घटमहं जानामि इत्याकारकमेव ज्ञानं भवति। ज्ञानस्य स्वस्यैव स्वप्रामाण्यविषयकतया स्वजनकसामग्र्येव स्वनिष्ठप्रामाण्यनिश्चायिका भवति इति गुरव आहुः।

स्वोत्तरवर्तिस्वविषयकलौकिकप्रत्यक्षस्य स्वनिष्ठप्रामाण्यविषयकतया स्वजन्यस्वविषयकप्रत्यक्षसामग्री स्वनिष्ठप्रामाण्यनिश्चायिका भवति इति मिश्रा आहुः।

ज्ञानस्यातीन्द्रियतया प्रत्यक्षासंभवेन स्वजन्यज्ञाततालिङ्गकानुमितिसामग्री स्वनिष्ठप्रामाण्यनिश्चायिका भवति इति भट्टा आहुः।

(मू.म. 1 प्रामा. पृ. 126)

० तदप्रामाण्याग्राहकेत्यत्र पदप्रयोजनमित्थम्। नैयायिकमते प्रमात्वमनुमानेन इदं ज्ञानं प्रमा इत्याप्तवाक्येन च गृह्यते इति सिद्धसाधनम्। तद्वारणाय यावत् इति विशेषणम्। अनुमानं तु इदं ज्ञानं प्रमा समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात् इति। वस्तुतस्तु यावत् इति ग्रहस्य विशेषणम्। तथा च ज्ञानग्राहकसामग्रीजन्ययावद्ग्रहविषयत्वम् इति फलितम्। इदं ज्ञानमप्रमा इति ज्ञानेन व्यवसायनिष्ठप्रामाण्याविषयीकरणात् बाधाख्यो दोषः तद्वारणाय अप्रामाण्याग्राहिका इति विशेषणं दत्तम्। तथा च तादृशज्ञानसाम्ग्र्याः साध्यकोट्यनिविष्टत्वात् तया प्रामाण्यस्याग्रहणेपि न बाधः इति भावः। ज्ञाननिष्ठाप्रामाण्येत्यत्र ज्ञानं तु यादृशं प्रामाण्यं प्रकृतानुमितावुद्देश्यं तादृशप्रामाण्याश्रयः इति विज्ञेयम्। तेन इदं ज्ञानमप्रमा इत्यनुव्यवसायनिष्ठप्रामाण्यग्राहकस्याप्रामाण्याग्राहकत्वाभावेपि न स्वतस्त्वहानिः।

(त.दी., नील. प्रामा. पृ. 35)

० प्रामाण्ये स्वतस्त्वं नाम यावत्स्वाश्रयविषयकज्ञानग्राह्यत्वम्। प्रामाण्याश्रयविषयकज्ञानं च स्वप्रकाशं तदेव इति गुरव आहुः। ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वम् यावत्स्वाश्रयानुमितिग्राह्यत्वम्। प्रामाण्याश्रयानुमितिर्ज्ञाततालिङ्गका समर्थप्रवृत्तिलिङ्गकापि इति भट्टा आहुः। मिश्रमते स्वतस्त्वं च प्रामाण्यग्रहप्रतिबन्धकाभावकालीनयावत्स्वाश्रयानुव्यवसायग्राह्यत्वम्।

(त.प्र.ख. 4 पृ. 132, म.प्र. प्रामा. पृ. 70)

० उत्पत्तौ प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वं नाम कार्यकारणादेव कार्येण सहोत्पत्तिः।

(अथर्वभाष्य. पृ. 12)

० मायावादिनो वेदान्तिनस्तु दोषाभावे सति यावत्स्वाश्रयग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वं स्वतस्त्वम्।

यद्वा यावत्स्वाश्रयग्राहकग्राह्ययोग्यत्वं स्वतस्त्वम् इत्याहुः। एतन्मतेऽपि प्रमात्वं स्वत एवोत्पद्यते ज्ञायते च। प्रमात्वम् ज्ञानसामान्यसामग्री-प्रयोज्यम्।

० अप्रामाण्यं तु न ज्ञानसामान्यसामग्रीप्रयोज्यम्। प्रमायामप्यप्रामाण्यापत्तेः। किं तु दोषप्रयोज्यम्। नाप्यप्रामाण्यम् यावत्स्वाश्रयग्राहकग्राह्यम्। अप्रामाण्यघटकतदभावत्वादेर्वृत्तिज्ञानानुप-नीतत्वेन साक्षिणा ग्रहीतुमशक्यत्वात्। किंतु विसंवादिप्रवृत्त्यादिलिङ्गकानुमित्यादिविषयः इति परत एवाप्रामाण्यमुत्पद्यते ज्ञायते चेति।

(वेदान्त प. अनुपलब्धिपरिच्छेदः पृ. 71-72)

० तत्र प्रमात्वं स्वतोग्राह्यमिति वदतां मीमांस-कानामयमाशयः। यथा दूरात्प्रत्यक्षेण इन्द्रियेण जलादिज्ञाने जाते तत्र स्वत एव यथार्थज्ञान-त्वरूपप्रामाण्यमवधार्य जलार्थी प्रवर्तते। ज्ञानग्रहे तद्गतप्रामाण्यस्यापि ग्रहात्प्रमात्वस्य स्वतस्त्व-मुपपद्यते इति।

(त.कौ.प्रामा. पृ. 18)

० अन्यत्र चेत्थमुक्तम्। मीमांसकमते प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वं द्विविधम् उत्पत्तौ ज्ञप्तौ चेति। तत्र उत्पत्तौ स्वतस्त्वं नाम ज्ञानकरणमात्रजन्यत्वम्। येन ज्ञानं जायते तेनैव तद्गतं प्रामाण्यमपि जायत इति। ज्ञप्तौ स्वतस्त्वं नाम ज्ञानग्राहकमात्रग्राह्यत्वम्। येन ज्ञानं गृह्यते तेनैव तद्गतं प्रामाण्यमपि गृह्यत इति। नैयायिकमते परतस्त्वमपि द्विविधम् उत्पत्तौ ज्ञप्तौ चेति। तत्र उत्पत्तौ परतस्त्वं नाम ज्ञान-कारणातिरिक्तकारणजन्यत्वम्। ज्ञप्तौ परतस्त्वं नाम ज्ञानग्राहकातिरिक्तग्राह्यत्वम् इति वस्तुस्थितिः।

(प्र.च.परि. 1 पृ. 45)

० मीमांसकाश्च त्रयो मिथो विप्रतिपन्नाः। प्रभाकरा-परनामका गुरवः तुताताख्या भट्टाः मुरारिनामका मिश्राश्चेति। तत्र गुरूणां मतम् ज्ञानस्य स्वप्रकाश-रूपत्वात्तज्ज्ञानप्रामाण्यं तेनैव गृह्यते इति। भट्टानां मतं च ज्ञानमतीन्द्रियम्। ज्ञानजन्या ज्ञातता प्रत्यक्षा। तया च ज्ञानमनुमीयते। अत्रानुमानं तु घटो घटत्ववद्विशेष्यकघटत्वप्रकारकज्ञानविषयो घटत्वप्रकारकज्ञाततावत्त्वात्, यन्नैवं तन्नैवम् इति।

(नील.प्रामा. पृ. 35)

० मुरारिमिश्रमतं तु अनुव्यवसायेन ज्ञानं गृह्यते इति। सर्वेषामपि मते तज्ज्ञानविषयकज्ञानेन तज्ज्ञान-प्रामाण्यं गृह्यते। विषयनिरूप्यं हि ज्ञानम्। अतो ज्ञानवित्तिवेद्यो विषयः इति। (मु.गु.) तदर्थश्च विषयनिरूप्यं विषयज्ञानजन्यसाक्षात्कारविषयी-भूतम् इति।

(म.प्र. पृ. 69)

० इदमत्र तत्त्वम्। गुरुमते घटत्वेन घटमहं जानामि इत्याद्याकारकं व्यवसायात्मकमेव सर्वं ज्ञानम्। तच्च स्वप्रकाशम्। मितिमातृ-मेयैतत्त्रयविषय-त्वात्त्रिपुटीत्युच्यते। स्वप्रकाशसामर्थ्यादेव स्वात्मानमिव स्ववृत्ति-प्रामाण्यं स्वत एव गृह्णाति इति।

भट्टमते अयं घटः इति ज्ञानानन्तरं घटे ज्ञात-तानामकं फलं भवति। ततो ज्ञातो घटः इति प्रत्यक्षम्। पश्चात्तया ज्ञाततया ज्ञानमात्रस्यातीन्द्रियत्वाज्ज्ञानं तन्निष्ठप्रामाण्यं चानुमीयते इति।

मिश्रमते च अयं घटः इत्याकारकज्ञानानन्तरं घटत्वेन घटमहं जानामि इति ज्ञानविषय-कलौकिकमानसमुत्पद्यते। तेन प्रामाण्यस्य

ग्रहणम्। घटमहं जानामि इत्यनुव्यवसायस्तु घटं घटत्वं समवायं च विषयीकुर्वन्नात्मनि प्रकारीभूतघटमात्मानं तत्संबन्धीभूतव्यवसायं विषयीकरोति। एवं पुरोवित्ति-प्रकारसंबन्धस्यैव (पुरोवर्तिनि यः प्रकारसम्बधः तद्घटितस्यैव) प्रमात्वपदार्थत्वेन स्वत एव प्रामाण्यं गृह्णाति।

(नील., सि.च. पृ. 34)

अत्रायमाशयः। नैयायिका अपि अनुव्यवसाये विशेष्यत्वप्रकारत्वयोर्भानमङ्गीकुर्वन्ति। पुरोवर्तिनं घटत्वेन जानामि इत्याकारकस्यैवानुव्यवसायस्य तैरङ्गीकारात्। परन्तु पुरोवर्तिनि घटादौ घटत्वादिरूपप्रकारसम्बन्धभानं नाङ्गीकुर्वन्ति। अतस्तत्र प्रकारसंबन्धभानस्य व्यवस्थापने किमपि नावशिष्टम् इति प्रामाण्यस्य भानं न सिध्यति। अनुपस्थितयोरपि विशेष्यत्वप्रकारत्वयोर्भानस्य सर्वसंमतत्वात् इति।

(नील.प्रामा. पृ. 36)

० प्राभाकराश्चेत्थमाहुः। ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वमेव। प्रमात्वं स्वत एव गृह्यते। प्रमात्वाश्रयीभूतं यत् ज्ञानम् तत् यया कारणसाम्ग्र्या आत्ममनः संनिकर्षः इन्द्रियविषयसंनिकर्षः इत्यादिकया जन्यते तद्वृत्तिप्रमात्वमपि तयैव साम्ग्र्या गृह्यते। तथाच स्वप्रकाशमेव ज्ञानम्। अत्र व्युत्पत्तिः स्वं प्रकाशते भासते यत्र तत् इति।

(त.प्र.ख. 4 पृ. 128)

यथा न्यायनये घटज्ञानं घटविषयकत्वाद्घटप्रकाशम्। यथा वा ईश्वरज्ञानं स्वविषयकत्वात्स्वप्रकाशमपि (अन्यथा तज्ज्ञानस्य सर्वविषयकत्वं न स्यात्), तथा गुरुमते सर्वमेव ज्ञानं स्वविषयकत्वात्स्वप्रकाशमेव।

(म.प्र. पृ. 67)

तथा च अयं घटः इति ज्ञानम् यथा घटादिकं विषयीकरोति तथा स्वात्मानं स्वरूपं स्वस्याधिकरणम् आत्मानं च विषयीकरोति। ज्ञानस्य घटादिविषयस्वस्वरूपआत्मरूपाधिकरण-एतत्त्रयविषयत्वादेव सर्वमेव ज्ञानम् घटमहं जानामि इत्याकारकमेव। इत्थं सर्वस्य व्यवसायस्यानुव्यवसायात्मकत्वे च ज्ञानस्य मितिमातृमेयविषयकत्वात् त्रिपुटीप्रत्यक्षता इति प्रवादः। तदर्थश्च ज्ञानस्य सर्वस्य ज्ञानस्य। मितिः ज्ञानम्। माता आत्मा। मेयम् घटादि। तद्विषयकत्वात् मितिमातृमेयानां ज्ञानस्यैकसामग्रीकत्वात्। त्रिपुटी त्रयाणां पुटानां समाहारस्त्रिपुटी। मितिमातृमेयविषया तत्प्रत्यक्षता इति।

(त.प्र.ख. 4 पृ. 128-129)

० तथा च स्वप्रकाशमहिम्ना स्वमिव स्वप्रामाण्यमपि सिद्ध्यति (विषयीभवति) इत्याहुः।

(न्या.म. 4 पृ. 33-34, त.प्र.ख. 4 पृ. 128, म.प्र. पृ. 69)

० अत्रायं संग्रहः। प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः। नैयायिकास्ते परतः सौगताश्चरमं स्वतः।। प्रथमं परतः प्राहुः प्रामाण्यं वेदवादिनः। प्रमाणत्वं स्वतः प्राहुः परतश्चाप्रमाणताम्।। इति

(सर्व. पृ. 279, जैनि.)

० नैयायिकमते अप्रमात्वमपि परत एव अनुमानादिना गृह्यते उत्पद्यते च। इति (चि. 1 प्रामा., त.दी. पृ. 37, सि.च.)। अत्रानुमानादिनैवाप्रमात्वं गृह्यते (अनुमीयते)। एवं च अनुमानादिग्राह्यत्वाद-

प्रमाया ज्ञस्तौ परतस्त्वम् इति बोध्यम्। तथा अप्रमायाः पित्तमण्डूक्त्वसाङ्ग नचाकचक्य-दूरत्वादिदोषजन्यत्वादुत्पत्तावपि परतस्त्वमिति बोध्यम्। (सि.च.) अत्र पित्तदूरत्वादिदोषोऽन-नुगतोऽप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां हेतुर्भवति इति विज्ञेयम्।

(म.प्र.प्रामा. पृ. 73)

प्रमेय

० योर्थः तत्त्वतः प्रमीयते तत्प्रमेयम्।

(वात्स्या. 1/1/1 प्रस्तावना)

० यथा घटपटादि सर्वं जगत्प्रमेयम्। अत्र प्रमेयत्वं च ईश्वरीयप्रमाविषयत्वम्, तच्च केवलान्वयि। सर्वस्यापि जगत ईश्वरज्ञानरूपप्रमाविषयत्वम्।

(त.दी. 2)

० सामान्यतः प्रमाविषयत्वं वा प्रमेयत्वम्। मायावादिमते विशुद्धं चैतन्यमेव प्रमेयम्।

प्रश्न

० अभिधानप्रयोजनादिजिज्ञासा।

(कु. 5)

० यथा भोः किं तव नामधेयम् किमर्थं च भवतात्रागतम् इति प्रश्नः। अत्र जिज्ञासाशब्देन तत्प्रयोज्यकथानुकूलव्यापारो लक्ष्यते।

० अविज्ञातप्रार्थनं च प्रश्न इत्यभिधीयते।

० जिज्ञासाविष्करणम्। यथा कीदृशो गवयपदवाच्य इति प्रश्नः।

(म.प्र. 6, पृ. 34)

० जिज्ञासाज्ञानोद्देश्यकप्रवृत्त्यधीनशब्दः। यथा गुरुं धर्मं पृच्छतीत्यादौ पृच्छतेरर्थः।

(ग.व्यु.का. 2, पृ. 46)

प्रसङ्गसम (जाति)

० दृष्टान्तस्य कारणानपदेशात्प्रत्यवस्थानात्प्रसङ्ग-समः।

(गौ. 5/1/9)

० साधनस्यापि साधनं वक्तव्यमिति प्रसङ्गेन प्रत्यवस्थानं प्रसङ्गसमः प्रतिषेधः। क्रियाहेतु-गुणयोगी क्रियावाँल्लोष्ट इति हेतुर्नापदिश्यते। न च हेतुमन्तरेण सिद्धिरस्तीति।

(वात्स्या. 5/1/9)

० साधनपरम्पराप्रश्नः। यथा आत्मा सक्रियः क्रियाहेतुगुणवत्त्वात् लोष्टवदित्यादौ क्रियावत्त्वे क्रियाहेतुगुणवत्त्वं साधनम्। तत्र किं साधनम्। न हि साधनं विना कस्यचित् सिद्धिरस्ति। एवं तत्रापि किं साधनम् इत्यादि।

(नील. पृ. 44)

प्रागभाव

० प्रतियोगिसमवायिकारणवृत्तिः प्रतियोगिजनकः, भविष्यति इति व्यवहारहेतुरभावः।

(त.दी.)

० अनित्यः अनादितमः प्रागभावः।

(सर्व.सं. पृ. 232 अक्षपा.)

० उत्पत्तेः प्राक् समवायिकारणे कार्यस्य संसर्गाभावः।

प्राप्तिसम

० प्राप्य साध्यमप्राप्य वा हेतोः प्राप्त्याविशिष्टत्वात् असाधकत्वाच्च प्राप्तिसमः। (गौ. 5/1/7)। हेतुः प्राप्य वा साध्यं साधयेदप्राप्य वा। न तावत्प्राप्य। प्राप्त्यामविशिष्टत्वादसाधकः। द्वयोर्विद्यमानयोः प्राप्तौ सत्यां किं कस्य साधकं साध्यं वा। प्राप्त्या प्रत्यवस्थानं प्राप्तिसमः।

(वात्स्या. 5/1/9)

प्रामाण्य

० 1 प्रमात्वम्।

2 प्रमाणत्वम्।

बुद्धि (गुण)

० बुद्धित्वसामान्यवती।

(प्र.प्र., त.कौ. 1 पृ. 6)

० सा चात्ममात्रवृत्तिः। न त्वन्तःकरणवृत्तिः। अव्याप्यवृत्तिः मनोमात्रगम्या च। लक्षणं च बुद्ध्यादिपदवाच्यत्वम्। अनुभवसिद्धज्ञानत्व-जातिरेव वा।

(गौ.वृ. 1/1/15)

० अथवा जानामि इत्यनुव्यवसायगम्यज्ञानत्वम्।

(त.दी. 1, पृ. 14, सि.च. 1, पृ. 16)

भाव

० द्रव्यादिषट्कम्।

(मु. 1 पृ. 19)

० तल्लक्षणं च भावत्वमेव। तच्चात्र समवाय-एकार्थसमवायएतदन्यतरसंबन्धेन सत्तावत्त्वम्।

(दि. 1 पदार्थनि. पृ. 20)

० सत्ता (सामान्यम्)। यथा द्रव्यत्वगुणत्वप्रतिषेधो भावेन व्याख्यातः।

(वै. 7/2/27)

भावना (गुण)

० अनुभवजन्यः स्मृतिहेतुर्गुणविशेषः।

(त.सं. 4)

० स तु संस्कारप्रभेदः जीवमात्रवृत्तिः अतीन्द्रियश्चेति बोध्यम्।

(भा.प., त.सं.)

० ज्ञानजः संस्कारः।

मतानुज्ञा (निग्रहस्थान)

० *स्वपक्षदोषाभ्युपगमात् परपक्षदोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा।*

(गौ. 5/2/21)

० यः परेण चोदितं दोषं स्वपक्षेऽभ्युपगम्यानुद्धृत्य वदति भवत्पक्षे समानो दोषः इति, स स्वपक्षे दोषाभ्युपगमात्परपक्षे दोषं प्रसञ्जयन्परमतमनु-जानातीति मतानुज्ञा नाम निग्रहस्थानमापद्यते। इति

(वात्स्या. 5/2/21)

० परामिमतस्यार्थस्य स्वप्रतिकूलस्य स्वयमेवाभ्यनुज्ञा।

(त.भा.पृ. 51)

मन (द्रव्य)

० अत्र व्युत्पत्तिः मन्यते अनेन मनः इति। करणार्थे असुन् प्रत्ययः। तच्च मनः सर्वेन्द्रियप्रवर्तकम् आन्तरेन्द्रियम् स्वसंयोगेन बाह्येन्द्रियानुग्राहकम्, अत एव सर्वोपलब्धिकारणम्।

(त.भा. प्रमेयनि. पृ. 32)

० निस्पर्शमणु।

(न्या.म. 1/14, वै. 7/1/23, गौ.वृ. 1/1/16)

० युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्।

(गो. 1/1/16)

० द्रव्यसमवायिकारणत्वरहिताणुसमवेतद्रव्यत्वापरजातिः।

(सर्व.सं. पृ. 219 औलू.)

० मयि सुखम् इति सुखप्रत्यक्षस्य असाधारणं कारणम्।

(त.कौ.)

० तच्च मनः प्रत्यात्मनियतत्वाद् अनन्तम् अणु, नित्यम्, अतीन्द्रियं चेति।

(त.स., त.भा. प्रमे. पृ. 32)

० मनो विभु -इति मीमांसका आहुः।

(न्या.मं. 1/14)

० मनो नेन्द्रियम् -इतिमायावादिनो वेदाभन्तिनो वदन्ति। मायावादिनस्तु संकल्पविकल्पात्मकवृत्तिमदन्तःकरणं मन इत्याहुः।

मनःपर्याय

० ईर्ष्यान्तरायज्ञानावरणक्षयोपशमे सति परमनोगतस्यार्थस्य स्फुटं परिच्छेदकं ज्ञानं मनःपर्यायः।

(सर्व.सं. पृ. 64 आर्ह.)

मिथ्याज्ञान (भ्रमः)

० अनात्मनि देहादावात्मबुद्धिः।

(सर्व.सं. पृ. 244 अक्ष.)

मिथ्यात्वम्

० कालासंबन्धित्वम्। यथा शशविषाणकूर्मरोमवन्ध्यापुत्रादीनां मिथ्यात्वम्।

० तुच्छत्वम् -इति माध्वा आहुः।

० निरुपाख्यत्वम् (निःस्वरूपत्वम्) -इति बौद्धा आहुः।

मीमांसक

० मीमांसाशास्त्रज्ञः तदध्येता वा। यथा कुमारिलतुतातभट्टप्रभाकरादयो मीमांसकाः।

० कर्मैव वेदमुख्यतात्पर्यम् -इति यो मन्यते, सः। मीमांसकमते कर्मैव ईश्वरः।

मुख्य

० प्रथमकल्पः

० श्रेष्ठः

० प्रधानम्

० अत्रायं विशेषो ज्ञेयः। कारणनिष्ठं मुख्यत्वं च स्वेतरासाधारणकारणककार्यकाभिन्नत्वम् (त.प्र. 1, पृ. 7)।

यथा मुक्तिं प्रति तत्त्वज्ञानरूपकारणस्य मुख्यत्वम्। फलनिष्ठं मुख्यत्वं च प्रवृत्त्युद्देश्यवत्त्वम्। (राम.)

युतसिद्धि

० द्वयोरन्यतरस्य वा पृथग्गतिमत्त्वम्। युताश्रयाश्रयित्वं वा।

(वै.उ. 7/2/9)

यथा मेषयोः घटभूतलयोर्वा युतसिद्धिः।

० असम्बद्धयोर्विद्यमानत्वं पृथगाश्रयाश्रितत्वं वा।

(वै.उ. 7/2/13)

० परस्परसम्बन्धशून्ययोरवस्थानम्।

(वै.वि. 7/2/२३)

योग्यता

० कार्यविशेषजनने सामर्थ्यम्। तच्च एकपदार्थे अपरपदार्थप्रकृतसंसर्गवत्त्वम्।

(न्या.म. 4 पृ. 22)

० इयं योग्यता च ज्ञाता सती शाब्दबोधप्रयोजिका शब्दयोग्यता इति व्यवह्रियते। इयं योग्यता अयोग्यवाक्यनिरासिका च भवति। अत एव वह्निना सिञ्चतीत्यादिवाक्यान्नान्वयबोधः प्रमात्मको भवति, योग्यताविरहात्।

(त.कौ., त.सं.)

० बाधकप्रमाणाभावः।

० बाधकप्रमाविरहः।

० अबाधितार्थकत्वम्।

० अर्थाबाधः।

लक्षण

० उद्दिष्टस्यातत्त्वव्यवच्छेदको धर्मः।

(वात्स्या. 1/1/3)

यथा इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नं ज्ञानं....प्रत्यक्षम्। (वात्स्य. 1/1/4) इति प्रत्यक्षलक्षणम्।

० त्रिविधा शास्त्रस्य प्रवृत्तिः उद्देशः लक्षणम् परीक्षा चेति। तत्र उद्देशानन्तरं लक्षणम्। ततः परीक्षा। लक्षणस्य प्रयोजनं च सर्वं हि लक्षणमितरपदार्थव्यवच्छेदकम्।

(न्या.वा. 1/1/14 पृ. 82)

० पदार्थतत्त्वज्ञानं लक्षणस्य प्रयोजनम् इति तर्कभाषायामुक्तम्।

(त.भा. पृ. 1)

० व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्।

(त.दी. पृ. 5)

लक्षणाभास

० दोषयुक्तं लक्षणम्। तच्च त्रिविधम् -असंभवि अव्यापकम् अतिव्यापकं चेति। तत्राद्यं यथा गोरेकशफत्वं लक्षणम् इति। द्वितीयं यथां गोः शबलत्वं लक्षणम् इति। तृतीयं यथा गोः विषाणित्वं लक्षणम्।

(प्र.प. पृ. 2)

लिङ्ग (हेतु)

० व्याप्तिबलेन यद्यस्य गमकम् तत् तस्य लिङ्गम्। यथा पर्वतो वह्निमान्धूमादित्यादौ धूमो वह्नेर्लिङ्गम्।

(प्र.प्र.)

वचन

० ज्ञानोद्देश्यकप्रवृत्त्यधीनशब्दः। यथा शिष्यं धर्मं ब्रूते इत्यादौ ब्रूतोऽर्थः। अत्र धात्वर्थघटके ज्ञाने शिष्यवृत्तित्वस्य शब्दे च धर्मविषयकत्वस्यान्वयः।

(ग.व्यु.का. 2 ख. 1 पृ. 46)

वर्ण्यसम (जाति)

० स्थापनीयो वर्ण्यो विपर्ययादवर्ण्यस्तावेतौ साध्यदृष्टान्तधर्मौ विपर्यस्यतो वर्ण्यावर्ण्यसमौ भवतः।

(वात्स्या. 5/1/4)

० अत्र वर्ण्यत्वं वर्णनीयत्वम्। तच्च संदिग्धसाध्यकत्वादि। अयं वर्ण्यसमस्तु असाधारणदेशनाभासः साधनविकलदृष्टान्तदेशनाभासो वा इति ज्ञेयम्।

(गौ.वृ. 5/1/4)

वाक्छल

० अविशेषाभिहितेर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्।

(गौ. 1/2/12)

नवकम्बलोऽयं माणवक इति प्रयोगः। अत्र नवः कम्बलोऽस्य इति वक्तुरभिप्रायः, विग्रहे तु विशेषो न समासे। तत्रायं छलवादी वक्तुरभिप्रायादविवक्षितमन्यमर्थम् नव कम्बला अस्येति तावदभिहितं भवता इति कल्पयति। कल्पयित्वा चासंभवेन प्रतिषेधति एकोऽस्य कम्बलः कुतो नव कम्बलाः इति। तदिदं सामान्यशब्दे वाचि च्छलं वाक्छलमिति।

(वात्स्या. 1/2/12)

वाक्यम्

० पदसमूहः। वाक्यत्वं च विशिष्टार्थपरशब्दत्वम्।

(चि. 4)

० वाक्यं द्विविधम्-प्रमाणवाक्यम्, अप्रमाणवाक्यं चेति। तत्र प्रमाणवाक्यम् -आकांक्षा-योग्यता-संनिधिमतां पदानां समूहः। यथा गामानय इत्यादि।

(त.भा. 4, त.सं., सा.द.)

वाच्य

० वाचकबोध्योऽर्थः। शक्त्या बोध्यः इत्यर्थः। स एव मुख्यार्थः इत्युच्यते। यथा गवादिर्गोपदवाच्यः।

(ग.श. पृ. 3)

० मीमांसकास्तु यद् यस्माच्छब्दात् नियमतः प्रतीयते, तत्तस्य वाच्यम्। यथा गामानय इत्यस्मिन् वाक्ये गोशब्दस्य गोत्वं वाच्यम् -इत्याहुः।

(लौ.भा. पृ. 6)

वाद

० प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः।

(गौ. 1/2/1)

० एकाधिकरणस्थौ विरुद्धौ धर्मौ पक्षप्रतिपक्षौ प्रत्यनीकभावादस्त्यात्मा नास्त्यात्मेति। नानाधिकरणौ विरुद्धौ न पक्षप्रतिपक्षौ। यथा नित्य आत्मा अनित्या बुद्धिरिति। परिग्रहोऽभ्युपगमव्यवस्था। सोऽयं पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः। तस्य विशेषणं प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः। प्रमाणैस्तर्केण च साधनमुपालम्भश्चास्मिन्क्रियत इति। साधनं स्थापना। उपालम्भः प्रतिषेधः।

(वात्स्या. 1/2/1)

वादी

० प्रकृतसाध्यसाधनाय न्यायप्रयोगकर्ता। यथा पर्वते वह्निसाधने विपरीतोद्भावकस्य प्रतिवादिनो निवृत्त्यर्थं वादी प्रतिज्ञादिघटितपञ्चावयवोपेतं न्यायवाक्यं प्रयुङ्क्ते इति।

प्रथमपक्षप्रतिपादकोऽर्थी इति व्यवहारशास्त्रज्ञा आहुः।

(वाच.)

विकल्प

० प्रकारता। यथा सविकल्पकं ज्ञानम् इत्यादौ।

० वैचित्र्यम्। तच्च क्वचित्सत्त्वम् क्वचिदसत्त्वम्।

(गौ.वृ. 5/1/4)

० यथा साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पात् (गौ. 5/1/4) इत्यादौ।

० द्वैविध्यम्। यथा विकल्पसमा जातिः इत्यादौ।

(गौ.वृ. 5/1/4)

विकल्पसम (जाति)

० साधनधर्मयुक्ते दृष्टान्ते धर्मान्तरविकल्पात्साध्यधर्मविकल्पं प्रसजतो विकल्पसमः। यथा आत्मा सक्रियः क्रिया-हेतुगुणवत्त्वाल्लोष्टवत् इत्यादौ। क्रियाहेतुगुणयुक्तं किंचिद्गुरु। यथा लोष्टः। किंचिल्लघु। यथा वायुः। एवं क्रियाहेतुगुणयुक्तं किंचित्क्रियावत्स्याद्यथा लोष्टः। किंचिदक्रियं यथा आत्मा। विशेषो वा वाच्य इति।

(वात्स्या. 5/1/4)

विक्षेप (निग्रहस्थान)

० कार्यव्यासङ्गात्कथाविच्छेदो विक्षेपः।

(गौ. 5/2/19)

० यत्र कर्तव्यं व्यासज्य कथां व्यवच्छिनत्ति इदं मे करणीयं विद्यते, तस्मिन्नवसिते कथयिष्यामि इति, विक्षेपो नाम निग्रहस्थानम्। एकनिग्रहावसानायां कथायां स्वयमेव कथान्तरं प्रतिपद्यते। इति

(वात्स्या. 5/2/19)

० असम्भवत्कालान्तरकत्वेन आरोपितं कार्यव्यासङ्गमुद्भाव्य कथाविच्छेदः।

(गौ.वृ. 5/2/19) (नील. पृ. 46) (दि. 1)

वितण्डा (कथा)

० सप्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा।

(गौ. 1/2/3)

० स जल्पो वितण्डा भवति। किंविशेषण:। प्रतिपक्षस्थापनया हीन:। यौ तो समानाधिकरणौ विरुद्धौ धर्मौ पक्षप्रतिपक्षावित्युक्तौ तयोरेकतरं वैतण्डिको न स्थापयतीति परपक्षप्रतिषेधेनैव प्रवर्तते।

(वात्स्या. 1/2/3)

वितर्क

० प्रयोक्तु: संभावनात्मकं ज्ञानम्। यथा किमिन्दु: किं पद्मं किमु मुकुरबिम्बं किमु मुखम् इत्यादौ किंपदार्थ:। अत्र अव्ययकिमर्थस्य संभावनात्मकज्ञानस्य विशेष्यतासंबन्धेन प्रथमान्तपदोपस्थाप्यविशेष्ये अन्वय:। प्रकारितासंबन्धेन तत्र च विशेषणस्य चन्द्रादेरन्वय:।

(ग.शक्ति. पृ. 108)

विधि

० इष्टसाधनताबोधकप्रत्ययसमभिव्याहृतवाक्यम्।

(गौ.वृ. 2/1/63)

० प्रवृत्तिपरं वाक्यम्। यथा ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत.....इत्यादि।

(त.कौ.)

विपक्ष

० निश्चितसाध्याभाववान्। यथा पर्वते वह्निसाधने ह्रदो विपक्ष:।

(त.सं. 2)

० विपक्षत्वं च साध्याभावप्रकारकनिश्चयविशेष्यत्वम्।

(न्या.बो. 2)

० अथवा विशेष्यतासंबन्धेन साध्यभावप्रकारकनिश्चयवत्त्वम् इति ज्ञेयम्।

(वाक्य. 2)

विपर्यय (अप्रमा)

० मिथ्याज्ञानापरपर्याय: अयथार्थनिश्चय:।

(गौ.वृ. 4/1/3)

० अयथार्थज्ञानमेव नास्ति -इति प्राभाकरादय आहु:।

(प्र.प. पृ 4)

० वेदान्तिनस्तु विपरीतनिश्चय: (प्र.प., पृ 4) इति मन्यन्ते अत्र विपरीतत्वं च पुरोवर्तिनि अविद्यमानप्रकारकत्वम्।

(प्र.प.टी. वेदेशतीर्थी, पृ. 10)

विपरीतनिश्चयश्च प्रत्यक्षानुमानागमाभासेभ्यो जायते।

विप्रतिपत्ति

० व्याहतमेकार्थदर्शनं विप्रतिपत्ति:। इदं च संशयप्रयोजकम्। तथा हि अत्र व्याघातो विरोधोऽ-

सहभाव इति। अस्यात्मा इत्येकं दर्शनम्, नास्त्यात्मा इत्यपरम्। न च सद्भावासदभावौ सहैकत्र संभवतः। न चान्यतरसाधको हेतुरुपलभ्यते। तत्र तत्त्वानवधारणं संशयः इति।

(वात्स्या. 1/1/23)

- विरुद्धा प्रतिपत्तिः।

(गौ.वृ. 1/2/19)

- विरुद्धकोटिद्वयोपस्थापकः शब्दः।

(गौ.वृ. 1/1/23)

विभाग (गुण)

- संयोगनाशको गुणः। स च सर्वद्रव्यवृत्तिः अव्याप्यवृत्तिश्च।

(नील., त.सं.)

- प्रतियोगितासंबन्धानवच्छिन्ननाशनिष्ठजन्यतानिरूपितजनकतावान्- इत्यर्थः इति केचिदाहुः। तेन संयोगस्यापि स्वनाशं प्रति प्रतियोगिविधया कारणत्वेपि संयोगे नातिव्याप्तिः इति विज्ञेयम्।
- परे तु संयोगनाशत्वावाच्छिन्ननिरूपितसमवायावाच्छिन्नकारणतावान् इत्यर्थ इत्याहुः।

(नील. 1, पृ. 14)

विरुद्ध (हेत्वाभास)

- सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः।

(गौ. 1/2/6)

- यत्र वक्ष्यमाणो विरोधः वक्ष्यमाणं विरुद्धत्वं चास्ति, स विरुद्धः इति परमार्थः।

(त.भा., वाक्य.)

- यो ह्यनुमेये विद्यमानेऽपि तत्सजातीये सर्वस्मिन्नास्ति तद्विपरीते चास्ति, स विपरीतसाधनाद्विरुद्धः। यथा यस्माद्विषाणी तस्मादश्वः इति।

(प्रशस्त. 2 पृ. 29)

- विपरीतव्याप्तिकश्च विरुद्धः।

(वै.उ. 3/1/15)

- साध्याभावव्याप्तो हेतुः। यथा अयं गौरश्वत्वात् इति।

(त.कौ., त.सं.)

विरोध (निग्रहस्थान)

- इष्टार्थभङ्गः।

(त.भा. पृ. 51)

- क्वचित् तद्वत्ताग्रहप्रतिबन्धकज्ञानविषयत्वम्

(ग.सत्प्र.)

विवर्त

- अतात्त्विकोऽन्यथाभावः। स च अपरित्यक्तपूर्वरूपस्य रूपान्तरप्रकारकप्रतीतिविषयत्वम्।

(वै.सा.द. पृ. 2)

- यथा मायावादिमते परब्रह्मणि सर्वस्य जगतो विवर्तः।
- स्वरूपापरित्यागेन रूपान्तरापत्तिः विवर्तः।

(सर्व.सं. पृ. 420 शं.)

विशेष (पदार्थ)

० अन्योन्याभावविरोधिसामान्यरहितः समवेतः पदार्थविशेषः।

(सर्व. पृ. 217 औलू.)

० जातिरहितत्वे सति नित्यद्रव्यमात्रवृत्तिः। तथा चोक्तम् अजातिरेकवृत्तिश्च विशेष इति शिष्यते। इति

(ता.र.श्लो. 53)

० एकद्रव्यः स्वभावसन् इति न्यायलीलावती-काराः। स च अन्त्यो नित्यद्रव्यसमवेतः। अन्ते अवसाने वर्तत इत्यन्त्यः। तदपेक्षया विशेषो नास्तीत्यर्थः। एकमात्रवृत्तिरिति फलितोर्थः।

(मु. 1/1 पृ. 37)

विषय

० विषयतावान्। यथा अयं घटः इति ज्ञाने घटत्वम् विषयः। जगत् प्रमेयम् इति ज्ञाने प्रमेयत्वेन जगद्विषयः। विषयता चात्र विषयः इत्याकारक-प्रतीतिसाक्षिकः स्वरूपसंबन्धविशेषः।

(न्या.म.ख. 1 पृ. 4)

० घटो ज्ञानविषयः पटो ज्ञानविषयः इत्यनुगत-प्रतीतिसाक्षिको ज्ञानविषयस्वरूपसंबन्धविशेषः इत्यर्थ।

(त.प्र.)

वृद्धि

० कारणवतो द्रव्यस्यावयवोपचयः। अवर्धत गौरिति।

(वात्स्याः 2/2/59)

वैतण्डिक

० वितण्डया प्रवर्तमानः पुरुषः।

वैधर्म्यदृष्टान्त (दृष्टान्त)

० व्यतिरेकव्याप्तिग्रहणस्थलम्। यथा पर्वते धूमेन वह्न्यनुमाने महाह्रदः। यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोपि नास्ति यथा महाह्रदः इति।

(प्र.च.परि. 1 पृ. 28)

वैधर्म्यसम (जाति)

० वैधर्म्येणोपसंहारे तद्धर्मविपर्ययोपपत्तेर्वैधर्म्यसमः।

(गौ. 5/1/2)

० यथा वा क्रियाहेतुगुणयुक्तो लोष्टः परिच्छिन्नो दृष्टो न च तथा आत्मा-तस्मान्न लोष्टवत् क्रियावा-निति। न चास्ति विशेषहेतुः क्रियावत्साधर्म्या-त्क्रियावता भवितव्यम् न पुनः क्रियावद्वैधर्म्याद-क्रियेण इति विशेषहेत्वभावाद्वैधर्म्यसमः।

(वात्स्या. 5/1/2)

व्यञ्जन

० ज्ञानम्। यथा चक्षुषा रूपव्यञ्जनम् इत्यादौ।

व्यतिरेक (अभाव)

० अत्यन्ताभावः।

(न्या.बो. 2, पृ. 15, वाक्य. 2 पृ. 15)

० भिन्नत्वम्

० कारणाभावाधिकरणे कार्यासत्त्वम्।

० अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्।

० क्वचित् निश्चितकोटिद्वयवद्व्यावृत्तत्वज्ञानम्।

(ग.सत्प्र. पृ. 21)

व्यतिरेकदृष्टान्त

० वैधर्म्यदृष्टान्तः।

व्यतिरेकव्याप्ति (व्याप्ति)

० साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वम्।

(मु. 2, नील. 2 पृ. 23, न्या.बो. 2, पृ. 15)

० व्यतिरेकः साध्याभावहेत्वभावयोः साहचर्यम्। तत्प्रयोज्या व्याप्तिर्व्यतिरेकव्याप्तिः इति व्यतिरेक-व्याप्तिशब्दः संगमनीयः।

(सि.च. 2 पृ. 26)

० यद्वा व्यतिरेकेण व्याप्तिः इति विग्रहः। व्यतिरेकनिरूपिता व्याप्तिरित्यर्थः।

(कु. 3)

व्यभिचार

० (अनेकान्तिकत्वरूपो हेतुदोषः) एकत्राव्य-वस्था। यथा नित्यः शब्दः अस्पर्शत्वात् इति।

(वात्स्य. 1/2/5)

यथा वा धूमवान् वह्नेः इत्यादौ वह्नेः धूम-व्यभिचारः।

व्यवसाय

० ज्ञानविषयीभूतं ज्ञानम्। पूर्वज्ञानम् इति यावत्। यथा व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्। (गौ. 1/1/4) इत्यादौ।

० अत्र घटचाक्षुषप्रत्यक्षानन्तरं जायमानेन घटं साक्षात्करोमि इत्यनुव्यवसायेन गम्यो घट-साक्षात्कारः सविकल्पकज्ञानरूपः व्यवसायः। अत्र भाष्यम्। सर्वत्र प्रत्यक्षविषये ज्ञातुरिन्द्रियेण व्यवसायः। पश्चात् मनसा अनुव्यवसायः। उपहतेन्द्रियाणामनुव्यवसायाभावात् इति।

(वात्स्या. 1/1/4)

व्यवहार

० शब्दप्रयोगः। (न्या.बो. 1 पृ. 6)

यथा व्यवहरन्ति जना इत्यादौ।

बुबोधयिषापूर्वकवाक्यप्रयोगः। यथा सर्व-व्यवहारहेतुर्ज्ञानं बुद्धिः इत्यादौ व्यवहारः।

(वाक्य. 1 पृ. 9)

० तद्रूपावच्छिन्नबोधकशब्दः। यथा अयं गौः इति शब्दः। अत्रायं कार्यकारणभावो बोध्यः व्यवहारे व्यवहर्तव्यज्ञानं हेतुः इति।

(नील. 1 पृ. 5, त. प्र.)

व्याख्यानम्

० विवरणम्।

(हलायु.)

० अप्रतिपत्त्यादिनिवारणप्रयोजनकं तत्समानार्थक-पदान्तरेण विस्तरेण तदर्थकथनम्। यथा न्याये तत्त्वचिन्तामणेर्दीधितिर्मथुरानाथी च व्याख्यानम्। वेदान्ते तु ब्रह्मसूत्रार्थप्रतिपादकानुव्याख्यानस्य न्यायसुधा व्याख्यानम्।

० पदच्छेदः, पदार्थोक्तिः, विग्रहो वाक्ययोजना। आक्षेपेषु समाधानं व्याख्यानं पंचलक्षणम्।

(पराशर पु.अ. 18)

आक्षेपोऽथ समाधानं व्याख्यानं षड्विधं मत-मित्यन्यत्र पाठान्तरम्।

व्याप्ति

० संबन्धविशेषः। अत्र केचिदाहुः। केवलान्व-यिनि केवलान्वयिधर्मसंबन्धः। व्यतिरेकिणि साध्य-वदन्यावृत्तित्वं व्याप्तिः। एतयोरनुमितिविशेष-जनकत्वम्। अनुमितिमात्रे तु पक्षधर्मतैव प्रयोजिका। न चातिप्रसङ्गः। विशेषसामग्री-सहिताया एव सामान्यसामग्याः कार्यजनकत्वम् इति नियमात् इति।

(चि. 2 पृ. 5)

० स च साध्यसाधनस्थले अनौपाधिकः सम्बन्धः। स चानुमित्यौपयिकः साधननिष्ठः साध्यस्य सम्बन्धः इति विज्ञेयम्। अत्र अनौपायिकत्वं तु यावत् स्वव्यभिचारिव्यभिचारिसाध्यसामानाधि-करण्यम्।

० स्वाभाविकः साध्यहेत्वोः सम्बन्धः।

(त.भा.)

० यद्विशिष्टसमानाधिकरणा यावन्तः साध्य-समानाधिकरणाः, तद्वत्त्वम्।

(न्या.म. 2, पृ. 16)

० उपाध्यभावग्रहणजनितसंस्कारसहकृतेन भूयो-दर्शनजनितसंस्कारसहकृतेन साहचर्यग्राहिणा प्रत्यक्षेणैव व्याप्तिः अवधार्यते।

(त.भा.पृ. 10)

व्यावृत्ति

० तत्तद्धर्मावच्छिन्नेतरभेदः।

(नीलः पृ. 5)

० यथा व्यावर्तकस्यैव लक्षणत्वे व्यावृत्तावभिधेय-त्वादौ चातिव्याप्तिः इत्यादौ व्यावृत्तिशब्द-स्यार्थः।

(त.द.)

० इतरभेदानुमितिः। यथा व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम् इत्यत्र व्यावृत्तिशब्दस्यार्थः पृथिवीतरेभ्यो भिद्यते इत्यनुमितिः। तथा हि गन्धाभावे इतरत्वव्यापकत्वग्रहे सति गन्धवती पृथिवी इति पक्षधर्मताग्रहे पृथिवीतरेभ्यो भिद्यते इत्युनुमितिरुत्पद्यते सैव व्यावृत्तिः।

(वाक्य. पृ. 2)

शब्द

० श्रोत्रग्रहणो योऽर्थः स शब्दः। शब्दलक्षणं च श्रोत्रग्राह्यगुणविभाजकधर्मवत्त्वम्।

(वाक्य. 4)

० अथ वा श्रवणेन्द्रियजन्यलौकिकप्रत्यक्षविषय-वृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमत्त्वम्। तादृशी जातिश्च शब्दत्वरूपा।

(वै.वि. 2/2/21)

० अत्रेयं व्युत्पत्तिः। शब्द्यतेऽनेनार्थ इत्यभिधीयते ज्ञाप्यते इति।

(वात्स्या. 1/1/3)

० शब्दस्तु आकाशमात्रवृत्तिः बाह्यैकेन्द्रियग्राह्यः द्विक्षणावस्थायी तृतीयक्षणे नश्यति च। अत एवानित्यः इति नैयायिकराद्धान्तः। पृथिव्यादिषु पञ्चसु शब्दस्तिष्ठति इति सांख्या वेदान्तिन आहुः।

(सि.च. 1, पृ. 18)

० शब्दोऽम्बरगुणः श्रोत्रग्राह्यः क्षणिकः कार्य-कारणोभयविरोधी संयोगविभागशब्दजः प्रदेश-वृत्तिः समानासमानजातीयकारणकः।

(प्रशस्तः गुणनि. पृ. 55)

कार्यकारणविरोधीत्यत्र कार्यमुत्तरशब्दः कारणं संयोगविभागशब्दाः, एतदुभयेनाप्ययं विरुद्ध्यते इति।

० श्रोत्रग्राह्यो गुणः।

० येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुर-विषाणिनां संप्रत्ययो भवति, स शब्दः।

० स च द्विविधः -वर्णलक्षणः, अवर्णलक्षणश्च। तत्र अकारादिः वर्णलक्षणः। ध्वनिलक्षणश्च अवर्णलक्षणः।

(प्रशस्त.गुण. पृ. 55)

० तत्र वर्णलक्षणस्योत्पत्तिः। आत्ममनसोः संयोगात् स्मृत्यपेक्षाद् वर्णोच्चारणेच्छा। तदनन्तरं प्रयत्नः। तमपेक्षमाणाद् आत्मवायुसंयोगाद् वायौ कर्म जायते। स च वायुः ऊर्ध्वं गच्छन् कण्ठादीन् अभिहन्ति। ततः स्थानवायुसंयोगापेक्षात् स्थाना-काशसंयोगाद् वर्णोत्पत्तिः।

शास्त्र

० प्रमाणादिवाचकसमूहः व्यूहविशिष्टः। यथा पञ्चाध्यायी न्यायदर्शनम् शास्त्रम्।

(न्या.वा. पृ. 1-2)

० अत्र व्युत्पत्तिः शिष्यतेऽनेन (शासष्ट्रन्) इति शास्त्रम्।

० ज्ञानविशेषाधायकग्रन्थः। यथा वैशेषिकदर्शनम्।

संख्या

० एकत्वादिव्यवहारहेतुर्गुणविशेषः।

(प्रशस्तः पृ. 13)

० संख्यात्वसामान्यवती।

० गणनाव्यवहारासाधारणकारणम्। सा चैकत्व-द्वित्वबहुत्वभेदात् त्रिविधा। एकत्वादिपरार्ध-पर्यन्ता च।

(त.सं., त.कौ.)

० सा च संख्या एकत्वादिपरार्धपर्यन्ता नवद्रव्यवृत्तिः चक्षुरिन्द्रियेण त्वगिन्द्रियेण च गृह्यते।

संनिकर्ष

० प्रत्यक्षजनकः संबन्धः। यथा चाक्षुषप्रत्यक्षे चक्षुर्विषययोः संसर्गः। संनिकर्षो द्विविधः लौकिकः अलौकिकश्चेति। वार्तिककारैश्चेत्थमुक्तम्। योऽयं संनिकर्षशब्दः संयोगसमवायविशेषणविशेष्यभावव्यापकत्वादुपात्त इति सोऽयं संनिकर्षः प्रत्यक्षस्य कारणं भवति।

(न्या. वा. 1 पृ. 33)

संबन्ध

० संबन्धिभिन्नत्वे सति संबन्ध्याश्रितः। स्वभिन्नसंबन्ध्याश्रितः स्वभिन्नप्रतियोगिकः पदार्थः।

(सि.च. 1 पृ. 3)

यथा घटभूतलयोः संयोगः। यथा वा प्रत्यक्षस्थले इन्द्रियार्थसंनिकर्षः।

० संबद्धव्यवहारहेतुः (सि.च.)। यथा घटवद् भूतलम् -इति शाब्दबोधस्थले संयोगः। संबन्धत्वं च यत्-किंचित्पदार्थानुयोगिकत्वविशेषः।

(ग 2, व्याप्ति. सिद्धा.)

संयोग (गुण)

० संयुक्तप्रत्ययनिमित्तम्।

(प्रशस्त. गुण. पृ. 30)

० विभागजनककर्मजगुणवृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमत्त्वं संयोगलक्षणम्।

(ल.व.)

० संयोगः अव्याप्यवृत्तिरनित्यः सर्वद्रव्यवृत्तिश्च।

(वाक्य.)

संवृति

० असत्प्रकाशनशक्तिरविद्या संवृतिरिति पर्यायाः।

(सर्व.सं. पृ. 439 शां.)

संशय

० एकस्मिन्धर्मिणि विरुद्धनानाकोटिकं ज्ञानम्।

(त.सं.)

० इदं तु बोध्यम्। संशयश्च प्रत्यक्षरूपः संनिकर्षजन्यत्वात् इति। अत एवोक्तम् परोक्षज्ञानमनाहार्यं निश्चयश्चेति सिद्धान्तात् इति। संशयो न्यायस्याङ्गं भवति। यस्मान्नानुपलब्धे, न निर्णीते न्यायः प्रवर्तते अपि तु संदिग्धे।

(न्या.वा. 1 पृ. 14)

० अत्र विशेषादर्शनम् कोटिद्वयस्मरणम् धर्मिज्ञानं च संशयमात्रे हेतुः इति विज्ञेयम्।

(सि.च., त.प्र. 4 पृ. 131)

संशयसम (जाति)

० सामान्यदृष्टान्तयोरैन्द्रियकत्वे समाने नित्यानित्यसाधर्म्यात्संशयसमः।

(गौ. 5/1/14)

० अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद्घटवदित्युक्ते हेतौ संशयेन प्रत्यवतिष्ठते सति प्रयत्नानन्तरीयकत्वेऽस्त्येवास्य नित्येन सामान्येन साधर्म्यमैन्द्रियकत्वम्, अस्ति च घटेनानित्येन। अतो नित्यानित्यसाधर्म्यादनिवृत्तः संशयः इति।

(वात्स्या. 5/1/14)

संसर्ग

० संबन्धः। यथा पक्षे साध्यसंसृष्टत्वज्ञानमनुमिति-कारणम्, इत्यादौ।

(मु. 2)

० व्यवहारशास्त्रज्ञास्तु विभागानन्तरं यत्तव मम च धनं तदावयोः इति कृतसमयेनैकत्रावस्थानरूपो धनसंबन्धः (संसृष्टिः) संसर्गः इत्याहुः।

० संसर्गताख्यविषयतावान्। यथा शाब्दबोधे चैक-पदार्थे अपरपदार्थस्य संसर्गः संसर्गमर्यादया भासते (ग.व्यु.।) इत्यादौ।

घटवद्भूतलम् -इति शाब्दबोधीयः संयोगाख्यः संसर्गः।

संस्थान

० अवयवसमुच्चयः। यथा सहजसंस्थानशून्य-चरणवान् खञ्जः इत्यादौ संस्थानशब्दस्यार्थः।

(श.प्र.श्लो. 94 टी. पृ. 118)

० केचित्तु अवयवारम्भक संयोगविशेष इत्याहुः।

० अवयवरचनाविशेषः।

० प्रचयाख्यः संयोगः।

(न्या.वा. 1/14/ पृ. 81)

सत्

० सत्यं वस्तु। यथा नैयायिकमते घटपटादि सर्वं जगत्सत्। अत्र सत्ताविशिष्टं सत् इत्यर्थो बोध्यः। न्यायमते घटादीनामुत्पत्तिनाशवत्त्वेपि मिथ्यात्वा-भावेन कालसंबन्धित्वरूपं सत्यत्वं संगच्छते इति विज्ञेयम्। मायावादिमते तु परं ब्रह्मैव सत्। तन्मते तत्र सत्यत्वं च त्रिकालाबाध्यत्वमेव।

० साधु।

० प्रशस्तम्। यथा सत्स्वभाव इत्यादौ।

० विद्यमानम्। यथा सच्चिदानन्दः इत्यादौ इति माध्वा आहुः।

सत्ता (सामान्य)

० द्रव्यगुणकर्मसमवेता।

(सर्व. 220 औलू.)

० इयं च वैशेषिकमते परसत्ता परसामान्यं वा इत्युच्यते द्रव्यगुणकर्मवृत्तिश्चेति बोध्यम्।

(भा.प.)

सपक्ष

० निश्चितसाध्यधर्मा धर्मी (सपक्षः)।

(त.भा. प्रमाणनि. पृ. 15)

० निश्चितसाध्यवान्। यथा पर्वते धूमेन वह्निसाधने महानसः सपक्षः।

(त.सं., त.भा. पृ. 15)

० तल्लक्षणं च साध्यप्रकारकनिश्चयविशेष्यत्वम्।

(न्या.बो. 2, पृ. 17)

० अथ वा विशेष्यतासंबन्धेन साध्यप्रकारक-निश्चयवत्त्वम्।

(वाक्य. 2 पृ. 16)

समय

० अस्य शब्दस्येदमर्थजातमभिधेयम् इत्यभिधानाभिधेयनियमनियोगः (शक्तिः)। तस्मिन्नुपयुक्ते शब्दादर्थसंप्रत्ययो भवति।

(वात्स्या. 2/1/55)

० ईश्वरसंकेतः। अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्यः इत्याकारः। यथा सामयिकः शब्दादर्थप्रत्ययः।

(वै. 7/2/20)

समवाय (पदार्थ)

० इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः।

(वै. 7/2/26)

० तदर्थश्च कार्यकारणयोरवयवावयविनोर्यतः संबन्धात् इहेदम् इति प्रत्ययः, स समवायः।

(वै.वि. 7/2/26)

० अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः संबन्धः इहप्रत्ययहेतुः स समवायः।

(प्रशस्त. 1 पृ. 25)

० स च अयुतसिद्धयोः संबन्धः।

(त.भा. 1)

० स च यथा अवयवावयविनोः गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावतोः जातिव्यक्त्योः विशेषनित्यद्रव्ययोश्च संबन्धः।

(त.सं.)

समवाय (सम्बन्ध)

० समवायत्वं च नित्यसम्बद्धत्वम्।

(त.सं.)

० समवायस्तु समवायरहितः सम्बन्धः।

(सर्व.सं. पृ. 217 औलू.)

० सर्वत्र समवायस्तु एक एव नित्यश्च -इति न्याय-वैशेषिकसिद्धान्तः। अत्र एकत्वं च स्वाश्रयान्योन्याभावासमानाधिकरणपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वम्।

(प्र.च.)

० नैयायिकानां मते समवायत्वं न जातिः। तद्बाधकस्य असंभवस्य सत्त्वात्। यद्यपि समवायत्वजातिबाधको व्यक्त्यभेद एव, तथापि प्राभाकरादिमते उत्पादविनाशशीला बहवः समवायाः। तन्मते असंबन्ध एव जातिबाधकः इति ज्ञेय।

(वै.उ. 1/1/3)

० समवायो नाना अनित्यश्च इति प्राभाकरा नव्याश्चाहुः।

० समवायः प्रत्यक्षः इति नैयायिका आहुः। समवायोऽतीन्द्रियः अनुमेय एवेति वैशेषिका आहुः।

० सर्वत्र स्वरूपस्यैव संबद्धत्वोपपत्तौ समवायो न पदार्थान्तरम् -इति भट्टा वेदान्तिनः सांख्याश्च मन्यन्ते।

(ता.र.श्लो. 54, वै.उ. 7/2/28 दि. 1, सि.च., राम. 1,, पृ. 122)

सम्यग्ज्ञान

० यथार्थज्ञानम्। यथा सत्यरजते इदं रजतम् इति ज्ञानम्। अविसंवादकं ज्ञानम्। यतश्चार्थसिद्धिस्तत् इति बौद्धा आहुः।

(न्या.बि.टी. पृ. 3-6)

० येन स्वभावेन जीवादयः पदार्था व्यवस्थितास्तेन स्वभावेन मोहसंशयरहितत्वेनावगमः इत्यार्हता आहुः। तन्मते सम्यग्ज्ञानं पञ्चविधम् मतिः श्रुतम् अवधिः मनःपर्यायः केवलं च।

(सर्व.सं. पृ. 63 आर्ह.)

सविकल्पक

० विशिष्टग्रहणम्। वैशिष्ट्यावगाहि सप्रकारकं वा ज्ञानम्।

(न्या.म. पृ. 4, त.सं.)

० अत्र वैशिष्ट्यावगाहि इत्यस्य नामजात्यादि-विशेषणविशेष्यसंबन्धावगाहि ज्ञानमित्यर्थः।

(त.दी. 1 पृ. 18, त.कौ.)

साकारत्व

० धर्माश्रयत्वम्।

(मू.म. 1)

० स्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितप्रकारितासंबन्धेन यत्किंचिद्धर्मविशिष्टत्वम् इत्यर्थः।

सादृश्य

० असाधारणान्यतद्गतबहुधर्मवत्त्वम्।

(चि. 3 पृ. 3-4)

० यथा चन्द्रवन्मुखम्, घटसदृशः पटः इत्यादौ मुखादावाह्लादकत्वादिना चन्द्रादिसादृश्यम्।

(मु. 1, चि. 3 पृ. 4)

० तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्। तच्च स्वरूपसम्बन्धविशेषः।

(त.व.)

साधन (हेतु)

० सिद्धिजनकम्।

(दि.गु.)

० अत्र जनकत्वं च जनकज्ञानविषयत्वम् इति वक्तव्यम्। तेन धूमज्ञानस्यैव सिद्धिजनकत्वेन धूमे सिद्धिजनकत्वाभावेपि न क्षतिः। यथा पर्वतो वह्निमा धूमात् इत्यादौ धूमः साधनम.।

० कारणम् (मथुरा.)। यथा घटस्य साधनं दण्डः, पटस्य साधनं तन्तुः इत्यादौ साधनशब्दार्थः।

साधर्म्यदृष्टान्त

० अन्वयव्याप्तिग्रहणस्थलम्। यथा धूमेन वह्न्य-यनुमाने महानसः। यत्र धूमस्तत्राग्निर्यथा महानसः इति।

(प्र.च. पृ. 28)

साधर्म्य

० समानधर्मः। यथा कमलमिव सुन्दरं मुखम् इत्यादौ सौन्दर्यं मुखकमलयोः साधर्म्यम्। यथा वा षण्णां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्यतत्त्वज्ञानं निःश्रेयसहेतुः

(प्रशस्त.) इत्यादौ साधर्म्यशब्दार्थः।

(न्या.कन्द. पृ. 6)

० अनुगतो धर्मः।

(वै.उ. 1/1/4)

० समानो धर्मः इति फलितोऽर्थः।

(मु. 1 पृ. 45)

० यथा अस्तित्वम् ज्ञेयत्वम् प्रमेयत्वम् अभिधेयत्वं च द्रव्यादीनां सप्तानां पदार्थानां साधर्म्यं भवति।

साधर्म्यसम (जाति)

० साधर्म्येणोपसंहारे तद्धर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्यसमः।

(गौ. 5/1/2)

० साधर्म्येणोपसंहारे साध्यधर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्येणैव प्रत्यवस्थानमविशिष्यमाणं स्थापनाहेतुतः साधर्म्यसमः प्रतिषेधः। निदर्शनम् क्रियावानात्मा। द्रव्यस्य क्रियाहेतुगुणयोगात्। द्रव्यं लोष्टः क्रियाहेतुगुणयुक्तः क्रियावान्। तथा चात्मा। तस्मात्क्रियावान् इति। एवमुपसंहृते परः साधर्म्येणैव प्रत्यवतिष्ठते। निष्क्रिय आत्मा। विभुनो द्रव्यस्य निष्क्रियत्वात्। विभु चाकाशं निष्क्रियं च। तथा चात्मा। तस्मान्निष्क्रियः इति। न चास्ति विशेषहेतुः क्रियावत्साधर्म्यात् क्रियावता भवितव्यम् न पुनरक्रियसाधर्म्यान्निष्क्रियेण इति। विशेषहेत्वभावात् साधर्म्यसमः प्रतिषेधो भवति।

(वात्स्या. 5/1/2)

साध्य

० साधनीयम्। तच्च साध्यत्ववत्। यथा पर्वतो वह्निमान् धूमात् इत्यादौ वह्निः साध्यम्।

(मु. 2)

० साध्यं च द्विविधम् धर्मिविशिष्टो वा धर्मः। यथा शब्दस्यानित्यत्वम् इति। धर्मविशिष्टो वा धर्मी। यथा अनित्यः शब्दः इति।

(वात्स्या. 1/1/36)

सामान्य

० या समानां बुद्धिं प्रसूते भिन्नेष्वधिकरणेषु यया बहूनीतरेतरतो न व्यावर्तन्ते योऽर्थोनेकत्र प्रत्ययानुवृत्तिनिमित्तम् तत्सामान्यम्।

(वात्स्या. 2/2/68, प्रशस्त. 1 पृ. 2, त. भा.)

सामान्यच्छल (छल)

० संभवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसंभूतार्थकल्पना सामान्यच्छलम्।

(गौ.सू. 1/2/13)

० अत्र व्युत्पत्तिः सामान्यनिमित्तं छलं सामान्यच्छलम् इति। यद्विवक्षितमर्थमाप्नोति क्वचिदत्येति च तदतिसामान्यम्। यथा ब्राह्मणत्वं विद्याचरणसंपदं क्वचिदाप्नोति क्वचिदत्येति। अहो खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसंपन्नः इत्युक्ते कश्चिदाह। संभवति हि ब्राह्मणे विद्याचरणसंपत् इति। अस्य वचनस्य विघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या असंभूतार्थकल्पनया क्रियते यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसंपत्संभवति व्रात्येपि संभवेत्, व्रात्योऽपि ब्राह्मणः

सोऽप्यस्तु विद्याचरणसंपन्नः।

(वात्स्या. 1/2/13)

सिद्धान्त

० तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः।

(गौ. 1/1/26)

० समुदितार्थश्च तन्त्रार्थसंस्थितिस्तन्त्रसंस्थितिः। अधिकरणानुषक्तार्थसंस्थितिरधिकरणसंस्थितिः। अभ्युपगमसंस्थितिरनवधारितार्थपरिग्रहः। तद्विशेषपरीक्षणायाभ्युपगमसिद्धान्तः।

(वात्स्या. 1/1/26)

सूनृत

० प्रियं पथ्यं वचस्तथ्यं सूनृतं व्रतमुच्यते।

(सर्व.सं. पृ. 65 आर्ह.)

स्फोट

० वर्णातिरिक्तो वर्णाभिव्यङ्ग्योऽर्थप्रत्यायको नित्यः शब्दः।

(सर्व.सं. पृ. 300 पाणि., तर्कप्र.ख. पृ. 126)

स्मरण

० स्मृतिः।

० अर्थालंकारविशेषः इत्यालंकारिका आहुः। तुदक्तम् सदृशानुभवाद्वस्तुस्मृतिः स्मरणमुच्यते इति।

(सा.द.परि. 10 श्लो. 27)

स्मृति

० संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानम्।

(त.सं.)

० प्रत्यक्षबुद्धिनिरोधे तदनुसंधानविषयः स्मृतिः इति वार्तिके उक्तम्।

(न्या.वा.)

० यथा मातुः स्मरति इत्यादौ स्मृधात्वर्थः। संस्कारमात्रजन्यम् इत्यस्य चक्षुराद्यजन्यत्वे सति संस्कारजन्यम् इत्यर्थः। मात्रपदोपादानेन प्रत्यभिज्ञायां नातिव्याप्तिः। प्रत्यभिज्ञायाश्चक्षुर्जन्यत्वात् इति।

(नील. 1 पृ. 14)

स्वतःप्रामाण्य

० विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदतिरिक्तहेत्वजन्यत्वं प्रमायाः स्वतस्त्वम्।

(सर्व.सं. पृ. 283 जैमि.)

स्वार्थ

० न्यायाप्रयोज्यानुमानम्।

(न्या.बो. 2 पृ. 15)

० अत्रार्थे स्वार्थशब्दस्य व्युत्पत्तिरर्थश्च स्वस्यार्थः प्रयोजनं साध्यसंशयनिवृत्तिरूपम् यस्मात् इति व्युत्पत्त्या स्वीयसंशयनिवृत्तिप्रयोजनकमनुमानम्। इति

(नील. 2 पृ. 20)

हेतु

० ज्ञापकः। यथा पर्वते धूमेन वह्निमान् धूमात् इत्यादौ धूमः। अयमेव लिङ्गशब्देन अनुमानशब्देनापि च व्यवह्रियत इति बोध्यम्। अत्र सूत्रम् हेतुरपदेशो लिङ्गं प्रमाणं करणमित्यनर्थान्तरम्।

(वैशे. सू. 9/2/4)

हेत्वन्तर

० अवविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम्।

(गौ. 5/2/6)

० अत्र भाष्यम्। निदर्शनम् एकप्रकृतीदं व्यक्तमिति प्रतिज्ञा। कस्माद्धेतोः। एकप्रकृतीनां विकाराणां परिमाणात्। मृत्पूर्वकाणां शरावादीनां दृष्टं परिमाणम्। यावान्प्रकृतेर्व्यूहो भवति तावान्विकार इति। दृष्टं च प्रतिविकारं परिमाणम्। अस्ति चेदं परिमाणं प्रतिव्यक्तम्। तदेकप्रकृतीनां विकाराणां परिमाणात्पश्यामो व्यक्तमिदमेकप्रकृति। अस्य व्यभिचारेण प्रत्यवस्थानम् नानाप्रकृतीनामेकप्रकृतीनां च विकाराणां दृष्टं परिमाणमिति। एवं प्रत्यवस्थिते आह। एकप्रकृतिसमन्वये सति शरावादिविकाराणां परिमाणदर्शनात् सुखदुःखमोहसमन्वितं हीदं व्यक्तं परिमिते गृह्यते। तत्र प्रकृत्यन्तररूपसमन्वयाभावे सत्येकप्रकृतित्वमिति। तदिदमविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषं ब्रुवतो हेत्वन्तरं भवति। तदिदमविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषं ब्रुवतो हेत्वन्तरं भवति। सति च हेत्वन्तरभावे पूर्वस्य हेतोरसाधकत्वान्निग्रहस्थानम्। हेत्वन्तरवचने सति यदि हेत्वर्थनिदर्शनो दृष्टान्त उपादीयते नेदं व्यक्तमेकप्रकृति भवति, प्रकृत्यन्तरोपादानात्। अथ नोपादीयते। दृष्टान्ते हेत्वर्थस्यानिदर्शितस्य साधकभावानुपपत्तेरानर्थक्याद्धेतोरनिवृत्तं निग्रहस्थानमिति।

(वात्स्या. 5/2/6)

० परोक्तदूषणोद्दिधीर्षया तत्रैव हेतौ पूर्वोक्तहेतुतावच्छेदकातिरिक्तहेतुतावच्छेदकविशिष्टवचनम्।

हेत्वाभास

० हेतोर्दोषः। यस्य हि ज्ञानमनुमितिप्रतिबन्धकम् सः।

(चि. 2 बाध. पृ. 116)

० अत्र हेतोः हेतौ वा आभासः इति व्युत्पत्त्या हेत्वाभासपदस्य हेतुदोषः इत्यर्थः। हेत्वाभासत्वं च अनुमितिकारणीभूताभावप्रतियोगि (अनुमितिप्रतिबन्धक) यथार्थज्ञानविषयत्वम्। अनुमितिप्रतिबन्ध कीभूतयथार्थज्ञानविषयत्वम् इति समुदितार्थ।

(त.दी. 2)

० यद्विषयकत्वेन (लिङ्ग) ज्ञानस्य अनुमितिविरोधित्वं तत्त्वमिति वा।

■■■

ग्रन्थप्रतीकः (ग्रन्थचिन्हम्)	तच्चिन्हानामर्थः (ग्रन्थनाम)	ग्रन्थकर्ता
अथर्व, भा.	अथर्वभाष्यम् (प्रस्तावना)	सायणाचार्यः
कु.	न्यायकुसुमांजलिः	उदयनाचार्यः
ग.	गदाधरी	गदाधरभट्टाचार्यचक्रवर्ती
ग.व्यु.	गदाधरीव्युत्पत्तिवादः	गदाधरभट्टाचार्यचक्रवर्ती
ग. शक्ति.	गदाधरीशक्तिवादः	गदाधरभट्टाचार्यः
गौ.	न्यायदर्शनम्	गौतमः
गौ.वृ.	गौतमसूत्रवृत्तिः	विश्वनाथपंचाननः
चि.	तत्त्वचिन्तामणिः	गङ्गेशोपाध्यायः
जैमि.	जैमिनिसूत्रम्	जैमिन्याचार्यः
जै.न्या.	जैमिनीयन्यायमाला	माधवाचार्यः
त.कौ.	तर्ककौमुदी	लौगाक्षि–भास्करः
त.दी.	तर्कदीपिका	अन्नंभट्टः
त.प्र.	तर्कप्रकाशः (शितिकण्ठी)	श्रीकण्ठः (शितिकण्ठः)
त.भा.	तर्कभाषा	केशवमिश्रः
त.व.	तत्त्वावलिः	चन्द्रकान्ततर्कालंकारः
तत्वप्र.	तत्त्वप्रकाशिका	जयतीर्थार्यः
त.सं.	तर्कसंग्रहः	अन्नंभट्टः
ता.र.	तार्किकरक्षा	वरदराजः
दि.	दिनकरी	महादेवभट्टः
दीधि. 2	दीधितिः, अनुमानखण्डः	रघुनाथभट्टाचार्यतार्किकशिरोमणिः
नील.	नीलकण्ठी	नीलकण्ठभट्टः
न्या.बि.टी.	न्यायबिन्दुटीका	धर्मोत्तराचार्यः
न्या.बो.	न्यायबोधिनी	गोवर्धनः
न्या.म.	न्यायसिद्धान्तमंजरी	जानकीनाथभट्टाचार्यचूडामणिः
न्या.वा.	न्यायवार्तिकम् (गोतमसूत्रटिप्पणम्)	उद्योतकराचार्यः
प.च.	पदार्थचन्द्रिका (सप्तपदार्थटीका)	शेषालन्तः
प.मा.	पदार्थमाला	जयरामभट्टाचार्यः
प्र.च.	प्रमाणचन्द्रिका वेदेशतीर्थीसंहिता	शेषाचार्यः
प.प.	प्रमाणपद्धतिः	जयतीर्थार्यः

ग्रन्थप्रतीकः (ग्रन्थचिन्हम्)	तच्चिन्हानामर्थः (ग्रन्थनाम)	ग्रन्थकर्ता
प्र.प्र.	प्रमाणादिपदार्थप्रकाशिका	लौगाक्षि–भास्करः
प्रशस्त.	कणादसूत्रभाष्यम्	प्रशस्तपादाचार्यः
भा.प.	भाषापरिच्छेदः	विश्वनाथपंचाननभट्टाचार्यः
म.प्र.	न्यायसिद्धान्तमंजरीप्रकाशः	लौगाक्षिभास्करः
मिता.	मिताक्षरा(याज्ञवल्क्यस्मृतिव्याख्या)	विज्ञानेश्वरः
मु.	नयायसिद्धान्तमुक्तावली	विश्वनाथपंचाननभट्टाचार्यः
मू.म.	मूलमथुरानाथी (तत्त्वचिन्तामणि–व्याख्या	मथुरानाथतर्कवागीशभट्टाचार्यः
राम.	रामरुद्री	रामरुद्रभट्टः
ल.म.	लघूमंजूषा	नागेशभट्टः
ल.व.	लक्षणावलिः	सुखदयालुशास्त्री
लौ.भा.	मीमांसार्थसंग्रहः	लौगाक्षिभास्करः
वाक्य.	वाक्यवृत्तिः	मेरुशास्त्री गोडबोले
वाक्यार्थ.	संग्रहवाक्यार्थः (संग्रहार्थविवेचनी)	पट्टाभिरामः
वाच.	वाचस्पत्यम्	तारानाथतर्कवाचस्पतिः
वात्स्या.	गौतमसूत्रभाष्यम्	पक्षिलस्वामी
वेदा.प.	वेदान्तपरिभाषा	धर्मराजाध्वरीन्द्रः
वै.	वैशेषिकदर्शनम्	कणादर्षिः
वै.उ.	वैशेषिकोपस्कारः (कणादसूत्रव्याख्या)	शंकरमिश्रः
वै.वि.	कणादसूत्रविवृत्तिः	जयनारायणतर्कपंचाननः
वै.सा.	वैयाकरणभूषणसारः (भट्टोजीकृतकारिकाणां व्याख्या)	कोण्डभट्टः
श.प्र.	शब्दशक्तिप्रकाशिका	जगदीशभट्टाचार्यः
शाब.भा.	शाबरभाष्यम् (जैमिनिसूत्रभाष्यम्)	शबरमुनिः
शारी.भा.	शारीरकमीमांसा (ब्रह्मसूत्रभाष्यम्)	शंकरभारती (शंकराचार्यः)
सर्व.	सर्वदर्शनसंग्रहः	सायणाचार्यः
सांख्य.भा.	सांख्यप्रवचनभाष्यम्	विज्ञानभिक्षुः
सांख्यसू.	सांख्यसूत्रम्	कपिलः
सि.च.	सिद्धान्तचन्द्रोदयः	श्रीकृष्णधूर्जटिदीक्षितः
स्व.	स्वयम्	न्यायकोशकर्ता भीमाचार्यः

संदर्भ ग्रन्थ–सूची

1. **अकलङ्कग्रन्थत्रयम्** [लघीयस्त्रयम्, न्यायविनिश्चयः प्रमाणसंग्रहश्च]–पं. महेन्द्र कुमार शास्त्री, सिंघी जैन ज्ञानपीठ, कलकत्ता, ई. 1939
2. **अणुओगदाराइं (अनुयोगद्वाराणि)**–(संपादक) आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती इस्टीट्यूट, लाडनूँ, ई. 1996
3. **अध्यात्मसार**–पं. मुनि नेमिचन्द्र, श्री निर्गन्थ साहित्य प्रकाशन संघ, दिल्ली, ई. 1976
4. अष्टसहस्री–(विद्यानन्दि विरचित), (संपादक) पं. बंशीधर, प्रकाशक – श्री सत् दान समिति, सोलापुर (स्वाध्याय मंडल, सोलापुर), ई. 1989
5. **अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणम्**–(उपा. यशोविजयप्रणीत), श्री जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा, राजनगर, 1937
6. **आचारसारः**, वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती, माणिकचन्द दि. जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई, वि.सं. 1974
7. **आदिपुराण**–(भाग – 1–2) (संपादक – अनुवादक) पं. पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, ई. 1963–65
8. **आप्त–परीक्षा (विद्यानन्द प्रणीत)** –(संपादक) डॉ. दरबारी लाल जैन काठिया, प्रकाशक–वीर–सेवा–मन्दिर, सहारनपुर, ई. 1949
9. **आलापपद्धति**–(आ. देवसेन विरचित), (अनुवादक) पं. रतनचन्द्र जैन, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्, लोहारिया (राज.), ई. 1989–90
10. **आवश्यकनिर्युक्ति**–(संपादक) डॉ. समणी कुसुमप्रज्ञा, प्रकाशक – जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ, ई. 2001
11. **उत्तरज्झयणाणि** (भाग 1–2)–वाचना प्रमुख, आचार्य तुलसी, (संपादक) मुनि नथमल, जैन विश्व भारती, लाडनूं, ई. 1993

12. **कसायपाहुड**–(आ. गुणधर विरचित, आ. वीरसेन कृत जयधवला टीका सहित), (संपादक) पं. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, अखिल भारतीय दिगम्बर जैन संघ, मथुरा, ई. 1961–1984

13. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा**–(संपादक) ए.एन. उपाध्ये, (अनुवादक) कैलाशचन्द्र शास्त्री, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, ई. 1997, वी.नि. संवत् 2512

14. **गोम्मटसार (कर्मकाण्ड)**–(भाग 1–2), आ. नेमिचन्द्र रचित, (संपादक) डॉ. ए.एन. उपाध्ये, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, ई. 1980–1981

15. **गोम्मटसार (जीवकाण्ड)**– (भाग – 1–2),(आ. नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती रचित, श्रीमत्केशवण्ण–रचित कर्णाटवृत्ति एवं संस्कृत टीका जीवतत्त्वप्रदीपिका के साथ), (संपादक) डा. ए.एन. उपाध्ये, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, ई. 1978–1979

16. **जैनतर्कभाषा**–(यशोविजयगणिप्रणीत), श्रीतिलोकरत्नस्थानकवासी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी, (अहमदनगर), ई. 1964

17. **जैन योगग्रन्थ चतुष्टय** (आ. हरिभद्रसूरि) (योगदृष्टिसमुच्चय, योगबिन्दु, योगशतक एवं योगविंशिका का संग्रह), (अनुवादकः) डॉ. छगनलाल जी शास्त्री, मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन, ब्यावर (राज.), ई. 1982

18. **जैनसिद्धान्तदीपिका**–(आचार्य तुलसी विरचित), आदर्श साहित्य संघ, सरदारशहर (राज.), ई. 2007

19. **ठाणं (स्थानांग)** – वाचनाप्रमुख, आचार्य तुलसी, (संपादक) मुनि नथमल, जैन विश्वभारती, लाडनूं, ई. 1976

20. **तत्त्वानुशासन** –(श्रीरामसेनाचार्य प्रणीत), (संपादक) जुगल किशोर मुख्तार 'युगवीर', वीर सेवा मन्दिर–ट्रस्ट, दिल्ली, 1963

21. **तत्त्वार्थवार्तिकम् (राजवार्तिकम्)**– (संपादक) प्रो. महेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, ई. 1953

22. **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम्**–(संपादक) पं. मनोहरलाल, प्रकाशक – रामचंद्रनाथारंगजी, मुम्बई, ई. 1918

23. **तत्त्वार्थसार**–(आ. अमृतचन्द्रसूरिकृत), (संपादक) पं. पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य, श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी, ई. 1970

24. **तत्त्वार्थसूत्र**–(व्याख्या) उपा. श्रुतसागर मुनिराज, श्री श्रुतविद्या प्रकाशन, दिल्ली, ई. 2002

25. **तत्त्वार्थसूत्र एवं भाष्य**– (हिन्दी अनुवादक) पं. खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, ई. 1932

26. **तिलोयपण्णत्ती**–(यतिवृषभाचार्य विरचित) भाग–1, प्रो. ए.एन. उपाध्ये, प्रो. हीरालाल जैन, जैन संस्कृति संरक्षक संघः, शोलापुर, ई. 1943

27. **द्रव्यानुयोगतर्कणा**–(भोजकवि विरचित), श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, ई. 1977

28. **द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिकाः** (सिद्धसेन-कृत), व्याख्याकार श्री विजयलावण्यसूरि जी, (संपादक) श्री विजय सुशील सूरि जी, श्री विजयलावण्यसूरीश्वर ज्ञानमन्दिर, बोटाद (सौराष्ट्र), ई. 1977

29. **नन्दी** – वाचनाप्रमुख आ. तुलसी, (संपादक) आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ, ई. 1977

30. **नन्दी सूत्र**–जिनदासगणि कृत चूर्णी सहित, (सम्पादक) मुनि पुण्यविजय, प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी, ई. 1966

31. **नन्दी सूत्र**–युवाचार्य श्री मिश्रीमल जी महाराज 'मधुकर', श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1991

32. **नयचक्र (णयचक्को)**–(माइल्लधवल विरचित), (संपादक) पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, चौथा संस्करण, ई. 2007

33. **नयोपदेशः**– उपाध्याय यशोविजयगणि विरचित, स्वोपज्ञवृत्ति नयामृततरङ्गिणी सहित, श्री विजयलावण्यसूरीश्वर ज्ञान मन्दिर, बोटाद (सौराष्ट्र), वि.सं. 2008

34. **नियमसार**–(आ. कुन्दकुन्द), श्री पद्मप्रभ मलधारिदेवरचित तात्पर्यवृत्ति सहित, (हिन्दी अनुवादक) आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी, दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर (उत्तर प्रदेश), ई. 1985

35. **न्यायकुमुदचन्द्र**–(संपादक) महेन्द्रकुमार, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, गिरगाँव (बंबई), ई. 1995

36. **न्यायदीपिका**–(संपादक) दरबारीलाल जैन 'कोठिया', वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, ई. 1968

37. **न्यायावतार**–(आ. सिद्धसेन), परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, ई. 1976

38. **न्यायावतारवार्तिकवृत्ति** (श्रीशान्तिसूरि), (संपादक) पं. दलसुख मालवणिया, सरस्वती पुस्तक भण्डार, अहमदाबाद, (पुमर्मुद्रण), ई. 2002

39. **पंचास्तिकाय** – (कुन्दकुन्दस्वामिविरचित), तत्त्वप्रदीपिका, तात्पर्यवृत्ति आदि टीकाओं सहित, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, ई. 1986

40. **परीक्षामुख सूत्र** – माणिक्यनन्दिस्वामिविरचित, (संपादक) मोहनलाल शास्त्री, शिखरचन्द्र व सुरेन्द्रकुमार जैन, सरल जैन ग्रन्थ भण्डार, जबलपुर।

41. **प्रमाण–नय–तत्त्वालोक** – (वादिदेवसूरि–रचित), आत्म–जागृति–कार्यालय, ब्यावर, ई. 1942

42. **प्रमाण–परीक्षा** (विद्यानन्द प्रणीत)– (संपादक) डॉ. दरबारी लाल कोठिया, वीर–सेवा–मन्दिर– ट्रस्ट, वाराणसी, ई. 1977

43. **प्रमाणप्रमेयकलिका** (नरेन्द्रसेन विरचित), सम्पादक : दरबारीलाल जैन कोटिया, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वीर निर्वाण संवत् 2487

44. **प्रमाणमीमांसा** (हेमचन्द्राचार्य विरचित), (संपादक) पं. सुखलाल संघवी, पं. महेन्द्रकुमार, पं. दलसुख मालवणिया, सरस्वती पुस्तक भण्डार, अहमदाबाद, ई. 1989

45. **प्रमा प्रमेय**–(भावसेन त्रैविद्य विरचित), (संपादक) डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर, गुलाबचंद हिराचंद दोसी, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, ई. 1966

46. **प्रमेयकमलमार्तण्ड** (प्रभाचन्द्र रचित), (संपादक) महेन्द्रकुमार शास्त्री, श्री सतगुरू पब्लिकेशन्स, दिल्ली, ई. 1990

47. **प्रमेयरत्नमाला**–(संपादक) पं. हीरालाल जैन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, ई. 1964

48. **प्रमेयरत्नालंकार**–(अभिनव चारूकीर्ति पण्डिताचार्य), (संपादक) पण्डितरत्न ए. शान्तिराज शास्त्री, ऑरियन्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, मैसूर, ई. 1948

49. **प्रवचनसार**–(आ. कुन्दकुन्द), आ. अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति तथा आ. जयसेनकृत तात्पर्यवृत्ति सहित, श्री पांडे हेमराजजी कृत बालावबोध भाषा टीका के साथ (संपादक) डॉ. ए.एन. उपाध्ये, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, स्टेशन–अगास, पो. बोरीया, वाया – आणंद–388130 (गुजरात), तृतीय संस्करण, ई. 1964

50. **प्रशमरतिप्रकरण**–(उमास्वाति विरचित), (संपादक) पं. राजकुमार जी साहित्याचार्य, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, ई. 1950

51. **बृहद्द्रव्यसंग्रह**– (नेमिचन्द्रसिद्धान्त-चक्रवर्ती रचित), ब्रह्मदेव रचित संस्कृतवृत्ति सहित, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, ई. 1989

52. **भगवई**–(विआहपण्णत्ती भाग–1–3), वाचनाप्रमुख आचार्य तुलसी, (संपादक) आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूँ, ई. 2000

53. **भगवती आराधना**–(शिवाचार्य विरचित), (सम्पादक एवं अनुवादक) पं. कैलाशचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री, प्रकाशक–श्री जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, वीर संवत् 2532

54. **भिक्षुन्यायकर्णिका**–आचार्य तुलसी, (संपादक) आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ, ई. 2007

55. **मूलाचार** (वट्टकेर आचार्य), पूर्वर्द्ध–उत्तरार्द्ध, (संपादक) सिद्धान्ताचार्य, पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री आदि, हिन्दी टीका–आर्यका ज्ञानमती माताजी, प्रकाशक–भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, ई. 1984–1986

56. **रत्नाकरावतारिका**–(प्रमाण–नय– तत्त्वालोक पर आ. श्री रत्नप्रभसूरि कृत संस्कृत टीका), प्रवचन प्रकाशन, पूना (रविवार पेठ), वि.सं.2055

57. **राजप्रश्नीयसूत्र**–युवाचार्य श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर', श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, तृतीय संस्करण, ई. 2001

58. **लघीयस्त्रय**–पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री (हिन्दी अनुवाद), (संपादक) डॉ. कमलेश कुमार जैन, श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, वाराणसी, ई. 2000

59. **लाटी–संहिता** (राजमल्ल विरचित), हिन्दी टीका पं. लालाराम शास्त्री, विनयदक्ष प्रकाशन ट्रस्ट, मुम्बई, ई.

60. **श्री हरिभद्रसूरिग्रन्थसङ्ग्रहः** –(आ. हरिभद्र विरचित), श्री जैनग्रन्थ प्रकाशक सभा, राजनगर, 1939 ई.

61. **षट्खण्डागम**–पुष्पदन्तभूतबलि कृत), आ. वीरसेनकृत धवलाटीका सहित, भाग 1–16, (संपादक) डॉ. हीरालाल जैन, जैन साहित्य उद्धारक फण्ड कार्यालय, कारंजा, अमरावती, भिलसा, विदिशा (मध्य प्रदेश), ई. 1936–1956 एवं संशोधित संस्करण ई. 1955–1990

62. **षड्दर्शनसमुच्चय**–(संपादक) डॉ. महेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, ई. 1989

63. **सत्यशासनपरीक्षा**– (विद्यानन्द प्रणीत) – (संपादक) गोकुलचन्द्र जैन, प्रकाशन–भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, ई. 1964

64. **सन्मतितर्क**–(सन्मति प्रकरण), सिद्धसेन दिवाकर, ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, 1963

65. **सप्तभंगीतरंगिणी**–(श्रीविमलदासविरचित), श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, ई. 1977

66. **सभाष्यतत्त्वार्थाधिगम सूत्र**–(आ. उमास्वातिविरचित), श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, ई. 1992

67. **समन्तभद्र ग्रन्थावली**–{देवागम (आप्तमीमांसा), युक्त्यनुशासन, स्वयम्भूस्तोत्र, जिनशतक और रत्नकरण्डश्रावकाचार}, (आचार्य समन्तभद्र विरचित), वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट प्रकाशन, वाराणसी, 1989

67. **समवाओ** – वाचनाप्रमुख आचार्य तुलसी, (संपादक) युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूँ, ई. 1984

69. **समयसार**–(आ. कुन्दकुन्द), आत्मख्याति व तात्पर्यवृत्ति सहित, अंहिसा मन्दिर प्रकाशन, दिल्ली–7, ई. 1956

70. **सर्वार्थसिद्धि**–(संपादक) पं. फूलचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, ई. 1999

71. **सिद्धिविनिश्चय टीका**–(संपादक) डॉ. महेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1959

72. **स्याद्वादमंजरी**–(आ. मल्लिषेणसूरि प्रणीत), श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, ई. 1992

73. **स्याद्वादरहस्य**–(उपाध्याय यशोविजय रचित), दिव्यदर्शन ट्रस्ट, धोलका (अहमदाबाद), द्वितीय आवृत्ति, वि.सं. 2058

1. **ILLUMINATOR OF JAINA TENETS**-(Jaina-Siddhanta Dipika), Ganadhipati Tulsi, Translated by - Dr. Satkari Mukherjee, (Edited by) Dr. Nathmal Tatia, Muni Mahendra Kumar, Anekanta Sodhapitha, Jain Vishva Bharati, Ladnun, 1995

■■■

कोश : स्वरूप-परिचय

'पारिभाषिक' शब्द को व्यापक परिप्रेक्ष्य में यहाँ लिया गया है। परिभाषा से तात्पर्य है—संक्षिप्त स्वरूप का निरूपण। वह नपी-तुली परिभाषा के रूप में भी हो सकता है और उनसे सम्बद्ध स्वतंत्र विचारों के रूप में भी। इसी तरह पारिभाषिक शब्दों के पर्याय व भेद भी परम्परया उसके स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं। अत: परिभाषा के साथ-साथ उसके पर्याय व भेदों का भी निर्देश किया गया है।

परिभाषाओं के पौर्वापर्य में काल-क्रम को प्रमुखता दी गई है, ताकि कालक्रम से हुए उनमें परिवर्तन आदि को हृदयंगम किया जा सके।

कुछ जैन आचार्यों का काल-निर्धारण प्राय: विवादास्पद रहा है, फिर भी सभी मत-मतान्तरों को दृष्टि में रखकर उन्हें सुनियोजित व सुसंगत करने का प्रयास किया गया है। संदर्भ-ग्रंथों के चयन में दिगम्बर व श्वेताम्बर —इन दोनों परम्पराओं को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। सन्दर्भों के चयन में भी यह ध्यान रखा गया है कि दोनों परम्पराओं के आचार्यों को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो।

जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय), लाडनूं के संस्कृत एवं प्राकृत विभाग के वर्तमान अध्यक्ष **प्रो. दामोदर शास्त्री** (भूतपूर्व अध्यक्ष, जैनविद्या एवं तुलनात्मक धर्म-दर्शन विभाग) के निर्देशन में निर्मित प्रस्तुत कोश में करीब 125 से अधिक महत्त्वपूर्ण जैन ग्रन्थों से 950 से अधिक पारिभाषिक शब्दों का संकलन हो पाया है। यह एक सीमित प्रयास है, अत: इसका वृहत् संस्करण भी भविष्य में सम्भाव्य है।



जैन विश्वभारती संस्थान

(मानित विश्वविद्यालय)

लाडनूँ-341 306, राजस्थान